TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_178266
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—391—29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 891.431 Accession No. H 2256

Author G 27 S

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

अनुसन्धान परिषद् का ग्यारहवां ग्रन्थ

सूर की काव्य-कला

(दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रबन्ध)

लेखक
मनमोहन गौतम
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक
दिल्ली कालेज, दिल्ली

१९५८
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, की ओर से
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा—दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
आसफअली रोड नई दिल्ली
फव्वारा दिल्ली
लालबाग लखनऊ
माईहीरां गेट जालन्धर

मूल्य दस रुपये

प्रकाशक—गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली
मुद्रक—श्यामकुमार गर्ग, हिंदी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली

वात्सल्यमूर्ति स्वर्गीय पूज्य पिता

श्री हरिहर प्रसाद गौतम

की

पावन स्मृति

में

हमारी योजना

'सूर की काव्य-कला' हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, ग्रन्थमाला का ग्यारहवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यत: दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' तथा 'अरस्तू का काव्य-शास्त्र'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर गण्यमान विद्वानों के निबन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ है—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य। इसी वर्ग के अन्तर्गत छठाँ ग्रन्थ 'सूर की काव्य-कला' आपके सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्

हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

परिचय

'सूर की काव्य-कला' शीर्षक प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के थीसिस का संवर्द्धित रूप है जिस पर दिल्ली विश्वविद्यालय ने उन्हें पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी। एक परीक्षक के नाते मुझे उसी समय इसे आद्योपान्त ध्यानपूर्वक पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ था और मैं योग्य लेखक द्वारा दिये गये विषय के वैज्ञानिक और सर्वांगीण विवेचन से अत्यन्त प्रभावित हुआ था।

हिन्दी के मध्ययुगीन अथवा आधुनिक कवियों, लेखकों अथवा कालों के अब तक के अध्ययन प्रायः बाह्य अंगों तक सीमित रहे हैं, जैसे जीवनी, ग्रंथ, विचारधारा आदि। इधर कुछ समय से हिन्दी की रचनाओं की शिल्पकला के अध्ययन की ओर भी अनुसन्धानकर्त्ताओं का ध्यान जा रहा है। यह ग्रन्थ इस अन्तिम श्रेणी से सम्बन्धित है। अतः सूर पर अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थों के प्रकाशित होने के बाद भी मैं इस रचना का इसलिए विशेष स्वागत करता हूँ क्योंकि लेखक ने इस महाकवि की कृति के एक नये और लगभग अछूते पहलू का प्रथम क्रमबद्ध तथा वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सूर-साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थायी और असाधारण महत्त्व रहेगा और भावी अनुसन्धानकर्त्ताओं को इससे हिन्दी के अन्य कवियों और लेखकों की काव्य-कला अथवा शिल्प-कला के अध्ययन को अग्रसर करने में प्रेरणा मिलेगी तथा यह बहुत कुछ पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा।

डा० गौतम प्रयाग विश्वविद्यालय के पुराने विद्यार्थी हैं। मुझे इस बात से विशेष गर्व और संतोष है कि उनकी अध्ययनशीलता में कमी नहीं आयी है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में उनके द्वारा अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आवेंगी। उनके इस सुन्दर ग्रन्थ के प्रकाशन पर मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
नवम्बर, १९५७

धीरेन्द्र वर्मा

विषय-क्रम

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्राक्कथन	१		

पृष्ठभूमि (६-५१)

काव्य और कला के सम्बन्ध में विभिन्न मत	६	सूर के ग्रन्थ	१६
हमारा आशय	१२	वर्ण्य-विषय	२३
काव्य-शिल्प के उपकरण	१३	भाव-भूमि	२६
सूर की कला की आधार-भूमि	१६	चिन्ता-धारा	३८
		भक्ति-पद्धति	४२

प्रकरण १ : सूर का गीति-काव्य (५२-९६)

गीति-काव्य का स्वरूप	५२	सूर के गीति-काव्य में वस्तुगत आधार	७७
सूर के गीति-काव्य का वर्गीकरण	५८	प्रबन्धात्मक गीतात्मकता	८२
कला-गीत	५९	सूर के गीति-काव्य का स्वरूप विश्लेषण	८६
शुद्ध गीत	६२	स्वान्तःसुख और भावना का उन्नयन	९३
परिष्कृत लोक-गीत	६५	सूर के गीतों का सहज गुण	९४
छन्दात्मक पद	७५		
दृष्टकूट पद	७७		

प्रकरण २ : अभिव्यंजना-कौशल (९७-१५२)

वर्ण-योजना	९७	अभिधा-शक्ति	११३
वर्ण-संगीत	९८	लक्षणा-शक्ति	११८
वर्ण-मैत्री	१००	व्यंजना	१२३
वर्ण-संगति	१०२	पर्याय-ध्वनि	१३३
माधुर्य गुण	१०४	चित्रण-कला	१४३
प्रसाद-गुण	१०६	आलम्बन-चित्र	१४८
ओज-गुण	११०	अनुभाव-चित्र	१५०
शब्द-शक्ति	११२		

प्रकरण ३ : अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य (१५३-२०९)

अप्रस्तुत योजना से अभिप्राय और उसका प्रयोजन	१५३	प्रभाव-साम्य	१५८
साम्यमूलक अप्रस्तुत योजना	१५३	काल्पनिक साम्य	१६०
रूप-साम्य	१५३	व्यंग्य-साम्य	१६३
धर्म-साम्य	१५७	अतिशयमूलक अप्रस्तुत योजना	१६६
		विरोधमूलक अप्रस्तुत योजना	१७०

वषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
		उक्ति-वैचित्र्य	
वक्रोक्ति	१७४	संवृति वक्रता	१८५
वचन-चातुरी	१७४	काल-वक्रता	१८६
विनोद	१७७	लिंग-वैचित्र्य वक्रता	१८६
उपहास	१७८	प्रत्यय-वक्रता	१८७
व्याज-निन्दा	१८०	चमत्कारमूलक प्रयोग	१८७
कटूक्ति	१८१	श्लेष	१८९
मानवीयकरण	१८३	मुद्रालंकार	१९०
अन्य विदग्ध प्रयोग	१८४	दृष्टकूट	१९१
प्रकरण-वक्रता	१८४		
		सर्वेक्षण	
परम्परा का अनुसरण	१९९	ग्रामीण उपमान	२०७
परम्परा से मुक्ति	२०३	रसोत्कर्ष में साधक या बाधक	२०
अलौकिक उपमान	२०४		
		प्रकरण ४ : सूर की भाषा (२१०-२५६)	
ब्रजभाषा और इसके स्वरूप-निर्माण में सूर का योग	२१०	ब्रज-भाषा की रूप-रचना में सूर का योग-दान	२३९
भाषा-समृद्धि	२१२	भाषा-सौष्ठव	२३९
तत्सम शब्द	२१३	अनुप्रास	२३९
तद्भव शब्द	२१९	तुक	२४१
अनुकरणात्मक शब्द	२२०	वीप्सा	२४३
देशज शब्द	२२१	पुनरुक्ति-प्रकाश	२४४
विदेशी शब्द	२२१	अर्थ-ध्वनन	२४६
समानार्थक शब्द	२२२	कान्ति-गुण	२४८
मुहावरे और लोकोक्तियाँ	२२४	दोष	२५०
रूप-रचना	२२९	च्युत संस्कृति	२५०
संज्ञा	२३०	ग्राम्यत्व, अप्रतीतत्त्व	२५२
सर्वनाम	२३१	क्लिष्टत्व, पुनरुक्ति	२५३
परसर्ग	२३५	अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व	२५३-२५४
क्रिया-पद	२३७	श्रुति-कटुत्व, अश्लीलत्व	२५४
		सूर का भाषा पर अधिकार	२५५

प्राक्कथन

सन्त-मनीषियों के वचनों और आशीर्वादों में अपूर्व चमत्कार होता है। जो शब्द उनके मुखारविन्द से अनायास निकल पड़ते हैं वे कालान्तर में सत्य होते देखे जाते हैं। स्वामी वल्लभाचार्य जी तो पहुँचे हुए साधु थे। सूरदास जी के पदों को वे 'सूर-सागर' कहा करते थे। यह उस समय की बात है जब सूर के पदों की संख्या भी बहुत अधिक न हुई थी। धीरे-धीरे सूर के पद-संकलन 'सूर-सागर' नाम से विख्यात हो गये। सूर-काव्य को 'सूर-सागर' कहना कितना युक्ति-युक्त है यह इसी से स्पष्ट है कि साहित्य-मरजीवों ने 'सागर' में गोते लगा-लगा कर न जाने कितने अमूल्य रत्न निकाले पर शोध का अनन्त क्षेत्र अभी भी शेष है।

सूर पर विभिन्न दृष्टिकोण से जो कार्य हुए हैं उनका सूक्ष्म विवरण देकर यहाँ हम सूर-काव्य के उस पक्ष की ओर संकेत करेंगे जिस पर अभी तक पर्याप्त विवेचन नहीं हुआ है।

अब तक सूर-काव्य पर जो विचारणीय ग्रंथ उपलब्ध हैं उनकी संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है—

१—भ्रमरगीत सार की भूमिका	आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
२—सूरदास	,,
३—सूरदास (अंग्रेजी)	डा० जनार्दन मिश्र
४—सूर-साहित्य	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
५—भक्तशिरोमणि महाकवि सूरदास	श्री नलिनी मोहन सान्याल
६—सूर साहित्य की भूमिका	डा० रामरतन भटनागर, वाचस्पति त्रिपाठी
७—सूर-सौरभ	डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम'
८—भारतीय साधना और सूर साहित्य	,,
९—सूरदास	डा० ब्रजेश्वर वर्मा
१०—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डा० दीनदयालु गुप्त
११—सूर-निर्णय	श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख और प्रभुदयाल मीतल
१२—महाकवि सूरदास	आचार्य नंददुलारे वाजपेयी
१३—सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा

इन ग्रंथों के अतिरिक्त भी 'सूर : एक अध्ययन' नाम से कई पुस्तकें प्रकाशित हैं तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं और सूर-संग्रहों की भूमिकाओं में प्रचुर आलोचनात्मक सामग्री उपलब्ध है। सर्वत्र सूरदास जी के जीनव-वृत्त, उनकी

भक्ति तथा उनके ग्रंथों की संक्षिप्त विवेचना हुई है। जीवनी पर निश्चय ही प्रशंसनीय प्रयत्न किये गये हैं यद्यपि अन्तिम निर्णय उस सम्बन्ध में भी सर्वमान्य नहीं हुआ। भक्ति तथा दार्शनिक सिद्धान्तों पर अच्छा विवेचन उपलब्ध हो चुका है। किन्तु काव्य-कला (Craftsmanship) पर अभी तक कार्य बहुत शेष है। कला-पक्ष पर सामग्री सर्वत्र अत्यंत संक्षिप्त है। काव्य के विभिन्न अंगों और पक्षों पर सामान्य दृष्टि ही डाली गयी है। आलोचनाओं में भाव-पक्ष इतना प्रधान हो गया है कि उससे आगे बढ़कर कला-पक्ष पर सम्यक् दृष्टि डालने का अवसर ही लोगों को न मिल सका। सूरदास जी ने सीमित विषयों पर 'सहस्रावधि' पदों की रचना की, उन्होंने अपने पदों की रचना में न तो अधिक वृत्त लिया और न ज्ञान-सामग्री का अधिक आधार ही। उनका प्रयत्न तो कम-से-कम विषय प्रस्तुत करने का रहा है, फिर भी इतने अधिक पद उन्होंने रच डाले। निश्चय ही प्रज्ञाचक्षु सूरदास जी के पास अपनी मौलिक सूझ ही अधिक थी। उन्होंने रस और उसकी अभिव्यक्ति की ही प्रधानता अपने काव्य में रखी, विषय की नहीं। रसाभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकारों और रूपों के कारण ही उनके पदों की संख्या बढ़ती गयी और विषय जहाँ का तहाँ रहा। ग्रन्थ के इतने वृहदाकार में भी उन्होंने कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, देशकाल, सामाजिक स्थिति और दार्शनिक तथ्यों के विस्तार की यथासम्भव अवहेलना ही करनी चाही है। इस प्रकार सूर-काव्य के अध्ययन में रस अथवा भावपक्ष के उपरान्त सबसे प्रधान विषय है उनकी कला और शैली। उनकी कला का अध्ययन सूर-काव्य सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का भी समाधान कर सकता है। प्रत्येक आलोचक सूर को एक महत्त्वपूर्ण कलाकार और शैलीकार मानता है पर संयोग की बात है कि उपलब्ध सूर-साहित्य में इस विषय की सामग्री बहुत ही कम है। उपर्युक्त ग्रंथों में या तो कला का प्रकरण ही नहीं है या है तो अति सूक्ष्म। संक्षेप में इन ग्रंथों में प्राप्त सामग्री का उल्लेख कर देना समीचीन होगा।

पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने 'भ्रमरगीत सार की भूमिका' में सूर-काव्य की कुछ गुत्थियाँ सुचारु रूप से सुलझायी हैं। इसमें काव्य के विभाव पक्ष का सुन्दर विश्लेषण सर्वथा मौलिक ढंग से किया गया है। काव्य-कला के सम्बन्ध में भी शुक्ल जी ने भूमिका में जितना सम्भव हो सकता था, लिखा है। भाषा, रस और अलंकारों का सूक्ष्म विवेचन इसमें किया गया है। पर भूमिका में इतना अवसर नहीं प्राप्त हो सकता था कि सूर की कला का विस्तृत विवेचन वे दे सकते। एकाध स्थान पर उन्होंने सूर की गीतात्मक शैली के महत्त्व मात्र का संकेत किया है।[1] इसीलिए 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका के अन्त में उन्होंने लिखा है कि—

"भ्रमरगीत की भूमिका के रूप में ही यहाँ सूर के सम्बन्ध में कुछ विचार संक्षेप

---

१. आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।

में प्रकट किये गये हैं। आशा है विस्तृत आलोचना का अवसर भी कभी मिलेगा।"

दुर्भाग्यवश शुक्ल जी को वह अवसर न मिल सका। अपने ग्रंथ 'सूरदास' के केवल दो अध्याय—भक्ति का विकास और श्री वल्लभाचार्य—ही लिख पाये थे कि स्वर्ग से उनका आह्वान हो गया, कला का प्रकरण उनके द्वारा अछूता ही रह गया।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रचित 'सूर-साहित्य' छोटा पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें सूर-साहित्य के अध्ययन सम्बन्धी दृष्टिकोण पर गम्भीर विचार है। साहित्य में कृष्ण के विकास पर मौलिक और विद्वत्तापूर्ण विचार प्रस्तुत किये गये हैं तथा पाश्चात्य विद्वानों की भ्रमपूर्ण स्थापना का निराकरण किया गया है। सूर के ग्रंथों पर समीक्षात्मक सामग्री इस पुस्तक में नहीं है। वास्तव में यह पुस्तक सूर-साहित्य पर आचार्य जी द्वारा लिखे हुए कतिपय निबन्धों का संग्रह है। सूर-साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करने का उद्देश्य इसमें नहीं था। इसीलिए काव्य-कला सम्बन्धी सामग्री भी उसमें उपलब्ध नहीं है।

श्री नलिनीमोहन सान्याल-कृत 'भक्तशिरोमणि सूरदास', डा० रामरत्न भटनागर और श्री वाचस्पति पाठक रचित 'सूर-साहित्य की भूमिका' और डा० मुशीलाल शर्मा 'सोम' के 'सूर-सौरभ' में सूर की जीवनी और सूर-काव्य के विभिन्न पक्षों पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इन ग्रंथों में अध्ययन अधिक गम्भीर नहीं है। वास्तव में ये ग्रंथ छात्रोपयोगी ही हैं। 'सूर-सौरभ' में फिर भी पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है। सूर की जीवनी, ग्रंथों की प्रामाणिकता और भक्ति-विवेचन में लेखक का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण है। काव्य-समीक्षा का प्रकरण भी 'सूर-सौरभ' में अपेक्षाकृत बड़ा है किन्तु पुस्तक के ४४ पृष्ठों में 'सागर' का अवगाहन हो ही क्या सकता है? इस प्रकरण में लेखक का दृष्टिकोण उतना अनुसन्धानपरक भी नहीं है जितना औरों में।

द्वारिकाप्रसाद पारीख और प्रभुदयाल मीतल-कृत 'सूर-निर्णय' में विद्वान् लेखकों ने परिश्रमपूर्वक सूरदास सम्बन्धी सभी संदिग्ध प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार किया है। जीवनी और सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनके निर्णय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। काव्य-निर्णय ग्रंथ का अन्तिम परिच्छेद है। इसमें भाषा, रस और कलात्मकता पर अति सूक्ष्म विवरण है। विषय की पूर्णता मात्र के लिए ही लेखकों ने इस परिच्छेद को लिखकर खानापूरी की है। लेखक महोदयों ने स्वयं ग्रंथ की भूमिका में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

"पंचम परिच्छेद काव्य-निर्णय में सूरदास के काव्य की आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में अब तक जितना और जैसा लिखा जा चुका है उससे अधिक और उत्तम लिखने की हम में योग्यता भी नहीं है। हमारा विचार पहले इस परिच्छेद का नहीं था किन्तु हमारे कुछ मित्रों का सुझाव था कि विषय की पूर्णता के लिए इस परिच्छेद को लिखना आवश्यक है।......वास्तव में यह एक स्वतन्त्र कार्य है जिसे संगीतशास्त्र का कोई अनुभवी विद्वान ही कर सकता है। हमने इस विषय का संकेत मात्र कर दिया है। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी संक्षिप्त रूप से लिखकर हमने परिच्छेद समाप्त कर दिया है।" (सूर-निर्णय, भूमिका; पृष्ठ १०)

नंददुलारे वाजपेयी-कृत 'महाकवि सूरदास'—वाजपेयी जी जैसे गम्भीर विचारक हैं उसी प्रकार उन्होंने सूरदास जी के भक्ति-विवेचन में ऐतिहासिक क्रम और दार्शनिक तथ्यों का सुन्दर प्रतिष्ठापन किया है। सूर-काव्य की भ्रान्तियों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने दर्शन और भक्ति के मूल सिद्धान्तों द्वारा भक्ति का विकास तथा दार्शनिक-पीठिका अपूर्व रूप से उपस्थित की है। वाजपेयी जी ने अपनी पुस्तक में धर्म-ग्रंथों तथा मान्य तथ्यों के उदाहरणों द्वारा सभी गुत्थियों को सुलझाकर सूरदास जी की विचारधारा को अधिक प्रशस्त कर दिया है, पर काव्य-कला वाजपेयी जी का भी आलोच्य विषय न बन सकी। पुस्तक के अन्त में केवल १६ पृष्ठों का एक अध्याय—काव्य-सौंदर्य—वे दे सके हैं। इस प्रकरण में भी वे सूर-काव्य के रहस्यात्मक काव्य-सौंदर्य तक ही सीमित रहे हैं। अभिव्यक्ति-कौशल और शैली पर उन्होंने लेखनी ही नहीं उठाई और भूमिका में वे भी आचार्य शुक्ल की भांति ही इस विषय पर इस प्रकार लिख गये है—

"सूर के काव्य का महान् सौदर्य उद्घाटित करना हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात रही है, एक छोटे निबन्ध की सीमा में उस सौंदर्य को समाहित कर दिखाना तो असम्भवप्राय कार्य था······सूर की काव्य-भाषा पर भी एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता रह गयी है।"

—महाकवि सूरदास; प्राक्कथन, पृष्ठ १५

सूरसागर पर थीसिस के रूप में भी पाँच विद्वानों ने अध्ययन प्रस्तुत किया है। ये हैं—१. डा० जनार्दन मिश्र, २. डा० दीनदयालु गुप्त (अष्टछाप में सूरदास जी भी हैं), ३. डा० ब्रजेश्वर वर्मा, ४. डा० मुंशीराम शर्मा तथा ५. डा० हरवंशलाल शर्मा।

डा० जनार्दन मिश्र तो सूरदास जी के जीवन, उनके ग्रंथ, श्री वल्लभाचार्य तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की ही छान-बीन में रह गये यद्यपि जीवनी और ग्रंथों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में दिये हुए उनके मत न तो नवीन हैं और न खोजपूर्ण। डा० दीनदयालु गुप्त ने उनकी मान्यताओं का सयुक्ति निराकरण किया है। सूर की काव्य-कला तो उनके अध्ययन का विषय भी न बन सकी।

डा० दीनदयालु गुप्त का 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' अपने विषय पर महत्वपूर्ण ग्रंथ है। विद्वान् लेखक ने बड़े विस्तार तथा गम्भीरता से विषय में प्रवेश किया है। अष्टछाप की पृष्ठभूमि, अष्टछाप के कवियों की जीवनी, अष्टछाप के ग्रंथ, कवियों के दार्शनिक विचार, भक्ति तथा परमानन्ददास और नन्ददास जी के काव्यों की समीक्षा के रूप में यह ग्रंथ अनुपम है। यद्यपि सूरदास जी इनके अध्ययन के प्रधान विषय न थे तथापि अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी की जीवनी, उनके दार्शनिक विचार, उनकी भक्ति सबसे महत्वपूर्ण है, अतः इन पर अधिक से अधिक विश्वसनीय निर्णय इस ग्रंथ में प्राप्त हो जाता है। ग्रंथों की प्रामाणिकता पर भी गुप्त जी ने बड़े शोध के साथ विचार किया है। पर संयोग से इन्होंने काव्य-समीक्षा वाले प्रकरण पर केवल परमानन्ददास और नन्ददास जी को अपना विषय बनाया है। स्पष्ट है सूर की काव्य-कला को डा० गुप्त की समीक्षा का सुअवसर न मिल सका।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा ने अपने प्रबन्ध सूरदास में सूर-काव्य का प्रचुर परिशीलन किया है। बड़े परिश्रम से कई वर्षों तक वे सूरदास जी के जीवन-वृत्त तथा काव्य का वैज्ञानिक अध्ययन करते रहे। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दों में यही ग्रन्थ 'सूरदास की जीवनी तथा काव्य का प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन' है। इनकी थीसिस का विषय भी बड़ा व्यापक है। विद्वान् लेखक ने जीवनी, रचनाएँ, ग्रंथों की प्रामाणिकता, भक्ति, इष्टदेव, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, भावानुभूति, सौंदर्यानुभूति, वर्णन-वैचित्र्य, कल्पना-सृष्टि, अलंकार-विधान तथा भाषा, शैली और छन्द—सभी पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। काव्य-समीक्षा पर ग्रंथ में चार प्रकरण हैं—भावानुभूति और भाव-चित्रण, सौंदर्यानुभूति और वर्णन-वैचित्र्य, कल्पना-सृष्टि और अलंकार-विधान तथा भाषा-शैली और छन्द। इनमें काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, शब्द-योजना, छन्द आदि के क्रम से सूरसागर के पदों से उदाहरण संकलित किये गये हैं। भाव-चित्रण में स्थायी और संचारी भावों की एक लम्बी तालिका है और प्रत्येक पर सूरसागर के गद्यानुवाद रूप में उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। वर्णन-वैचित्र्य प्रकरण में पुरुष रूप, नारी रूप, प्राकृतिक सौंदर्य—वन, द्रुम, वर्षा, शरद आदि—संस्कार, व्रत, पूजा, उत्सव आदि के अन्तर्गत सूरसागर का वस्तुपरक विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार अलंकार-विधान के अन्तर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के उदाहरण और उनका विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भाषा-शैली-छंद प्रकरण में शैली के विविध रूप—तत्सम, तद्भव, विदेशी और देशज शब्द—मुहावरे, लोकोक्तियाँ तथा मात्रिक और वार्णिक छन्द सूरसागर का अवगाहन कर खोज निकाले गये हैं। विशालकाय 'सागर' में से इतनी अधिक सामग्री का अनुसन्धान तथा विपुल रत्न-राशि का संचय करना साहित्यिक शोध की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति है। इतने पर भी विषय की व्यापकता के कारण सूर की काव्य-कला का विवेचन पूर्ण रूप से नहीं किया जा सका।

डा० मुंशीराम शर्मा के प्रबन्ध 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में सूर की हरिलीला के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का विवेचन है। भारतीय साधना और हरिलीला की शास्त्रीय और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देकर डा० शर्मा ने सूर के सैद्धान्तिक तथ्यों की व्याख्या की है। ग्रंथ में सूर के राधा-कृष्ण और श्रृंगार रस का आध्यात्मिक पक्ष प्रस्तुत किया गया है। इसमें काव्य-कला का कोई प्रकरण ही नहीं है।

डा० हरवंशलाल शर्मा ने अनुसंधान के निमित्त मूलतः श्रीमद्भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक अध्ययन किया था। वह प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। उनका दूसरा ग्रंथ 'सूर और उनका साहित्य' प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ में सूर-, साहित्य सम्बन्धी उपलब्ध समस्त सामग्री का सुन्दर विवेचन हुआ है। सूर की जीवनी, ग्रंथ-रचना, सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि, पुराण-साहित्य में कृष्ण का विकास, श्रीमद्भागवत और सूरसागर, सूर के दार्शनिक सिद्धान्त और सूर के भक्तिपक्ष आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। सूर-काव्य के कला-पक्ष और भाव-पक्ष पर भी १०० पृष्ठों का एक अध्याय है जिसमें सूर की कला-सम्बन्धी पद-रचना, वर्णन, अलंकार-योजना छन्दोविधान और भाषा-समृद्धि का सीमित परिधि में विवेचन, विश्लेषण किया गया

है। किन्तु सूर की काव्य-कला के सम्यक् विवेचन के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है—वास्तव में सूर की काव्य-कला इनका भी मुख्य विवेच्य नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर-काव्य पर आलोचना तो बहुत हुई है पर उनकी कला, जिसमें उनका महान् कृतित्व निहित है, स्वतन्त्र अध्ययन और विश्लेषण का विषय अब तक नहीं बन पाई है। इस विषय पर स्वतन्त्र प्रबन्ध की आवश्यकता आचार्य-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे विचारक अनुभव करते रहे हैं।

महात्मा सूरदास में ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा अधिक थी। विषय की दृष्टि से देखें तो इन्होंने हिन्दी-साहित्य को बहुत अधिक वस्तु नहीं दी। उनका उद्देश्य गोस्वामी तुलसीजी की भाँति 'नाना पुराण निगमागम' से विचार संगृहीत कर उपस्थित करना न था। एक ही ग्रंथ श्रीमद्भागवत और मुख्यतया उसके दशम स्कंध को ही उन्होंने अपने काव्य का आधार बनाया पर भागवत के विचारों को भी यथासम्भव संक्षिप्त करने का प्रयत्न किया। जो भी नवीन विषय सूरसागर में उन्होंने प्रस्तुत किये वे उनके न होकर बहुत कुछ उनके गुरु वल्लभाचार्य के थे, पर इन विचारों में अन्तर्भूत रस और अभिव्यक्ति उनकी अपनी थी। शैली और भाषा का निर्माण उन्होंने अपनी नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के बल पर किया। सूरदास जी भक्ति रस में पगे तो थे ही, काव्य-कला-मर्मज्ञ भी थे। वे एक शिल्पी थे जिसने आत्माभिव्यंजन के रूप में एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न रूपों में गढ़ा है। वे अप्रतिम "गढिया" और शिल्पकार थे। उनके इस शिल्प का विश्लेषण ही प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है।

इस प्रबन्ध के प्रथम प्रकरण में सूर के गीतिकाव्यत्व का विवेचन किया गया है। क्योंकि गीति-काव्य सूर के काव्य-शिल्प का सबसे प्रधान अंग है। गीति-काव्य के अपेक्षित तत्वों की कसौटी पर सूर के गीतों की परीक्षा की गयी है और सूर-साहित्य में प्राप्त गीतों को शास्त्रीय दृष्टि से वर्गीकृत किया गया है।

काव्य-शिल्प का स्थूल कृतित्व अभिव्यंजना-कौशल है। इसे हमने द्वितीय प्रकरण में उपस्थित किया है। इसमें वर्ण-योजना, शब्द-शक्ति और चित्रण-कला का विवेचन है। अभिव्यंजना-कौशल के अन्तर्गत ही अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य भी आते हैं किन्तु विषय के विस्तार को देखकर इनका विवेचन तृतीय प्रकरण में अलग से किया गया है।

चतुर्थ प्रकरण में सूर की ब्रजभाषा की समृद्धि, उसकी रूप-रचना, उसके सौष्ठव और उसके दोष पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। भाषा की ऐतिहासिक और तुलनात्मक व्याख्या न करके उसके कलात्मक सौंदर्य का निरूपण किया गया है।

पंचम प्रकरण में सूर की पद-रचना का अध्ययन किया गया है। सूर की पद-रचना में शास्त्रीय संगीत का पुट अधिक है अतः शास्त्रीय संगीत के सम्यक् ज्ञान बिना इसका यथावत् विवेचन बहुत कठिन है। सम्भवतः यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पर्याप्त शोध-कार्य इस पर अभी तक नहीं हुआ है। हमने यहाँ संगीत और काव्य-परम्परा की प्रमुख पद्धतियों को दृष्टि में रखकर सूर की पद-रचना का विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

छठवें प्रकरण में इस बात का विवेचन किया गया है कि सूर ने अपनी कला के निर्माण में पूर्व शैलीकारों से कितना प्रभाव ग्रहण किया और अपने पीछे कौनसी परम्परा छोड़ी है। वास्तव में सूरदास जी ने बाहर से प्राप्त कम किया था। फिर श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द और विद्यापति-पदावली आदि का कुछ प्रभाव उनकी शैली पर था ही। सूरदास जी ने प्रदान अवश्य ही अपेक्षाकृत बहुत अधिक किया। नन्ददास आदि अष्टछाप के कवि, हितहरिवंश और तुलसीदास ने पद-रचना में सूरदास जी का ही अनुसरण किया। रीतिकालीन कवि देव, बिहारी, केशव आदि भी ब्रजभाषा की प्रकृति, अभिव्यंजना-कौशल, अप्रस्तुत-विधान, शब्द-चमत्कार आदि में सूर के ही पद-चिह्नों पर चले। आधुनिक ब्रज-भाषा-काव्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० सत्यनारायण कविरत्न और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि ने सूरदास की शैली और अभिव्यंजना का अनुसरण करना चाहा है। इस प्रकार इस प्रकरण में प्रयत्न किया गया है कि सूर की शैली का अनुसन्धान हो और परवर्ती काव्य पर उसके प्रभाव का भी यथासम्भव दिग्दर्शन हो।

सातवें प्रकरण में सूर की कला का मूल्यांकन है। तुलनात्मक आलोचना का क्रम हिन्दी में द्विवेदी-युग से ही चलता आ रहा है। रस, छन्द, अलंकार, भाषा और विषय-क्षेत्र आदि के माध्यम से श्रेष्ठ कवियों का मूल्यांकन किया जाता रहा है। काव्य-कला सम्बन्धी जितने दृष्टिकोणों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उन पर दृष्टि न डालने के कारण ही सूर-काव्य के क्षेत्र को सीमित बताया गया है और सूर को केवल ब्रजभाषा और शृंगार रस ही का कवि बताकर मिश्रबन्धुओं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे श्रेष्ठ आलोचकों ने भी उनके काव्य के उचित मूल्यांकन में भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। विषय और दृष्टिकोण के सर्वथा भिन्न होते हुए भी उन महानुभावों ने सूर और तुलसी की तुलना की है और तुलसी को सूर से बढ़कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है पर जिस गीति-काव्य के क्षेत्र में सूर और तुलसी समान रूप से उतरे हैं उसमें किसी ने तुलना करने का कष्ट नहीं किया। हमारा उद्देश्य तुलना द्वारा किसी महाकवि को बड़ा या छोटा सिद्ध करने का नहीं है, अपने-अपने क्षेत्र में तुलसी और सूर दोनों ही अद्वितीय हैं। हमारी तो धारणा केवल इतनी है कि कला के क्षेत्र में सूरदास जी हिन्दी साहित्य में अग्रगण्य हैं।

सूर का कला का विश्लेषण तथा उनका मूल्यांकन करना इस अकिंचन लेखक की सामर्थ्य से परे है। इतने पर भी ऐसे गुरुतर दायित्व को उठाना सचमुच कागज की नाव द्वारा 'सागर' को पार करना ही है।[1] पर हमें तो मार्ग भी स्वयं सूरदास जी बता गये हैं—

'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो'

इसीलिए हमने गुरु-कृपा की डोर पकड़कर 'सागर' के अन्तराल की कुछ मुक्ताओं के संकलन का प्रयास किया है।

---

१. **'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्'** (कालिदास)

प्रबन्ध-लेखन में यदि मुझे कुछ भी सफलता मिली है तो उसका समस्त श्रेय श्रद्धेय डा० नगेन्द्र को है जिनके निर्देशन में मैंने 'सागर' का अवगाहन किया। उनकी प्रकाण्ड विद्वता, कार्य-तत्परता और शिष्य-वत्सलता से मेरा रोम-रोम प्रभावित है, उनके प्रति कृतज्ञता किन शब्दों में व्यक्त करूँ ?

'संगीत-विशारद' डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट ने संगीत सम्बन्धी सामग्री के संचयन में पर्याप्त योग दिया है। उनके प्रति मैं अनुगृहीत हूँ।

मनमोहन गौतम

शोराकोठी, सब्जीमंडी, दिल्ली।
तिलक जयन्ती, १६५६.

पृष्ठभूमि

काव्य और कला

काव्य और कला के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

पाश्चात्य काव्य-लक्षणों में काव्य को कला कहा गया है। काव्य को कला कहने का मूल कारण यह है कि काव्य में भी अभिव्यक्ति की वैसी ही उत्कट इच्छा होती है जैसी कि चित्र, मूर्ति और संगीत आदि कलाओं में। मानव में अभिव्यक्ति की सहज अभिलाषा थी, भावना और कल्पना उसकी सम्पत्ति थे, जब उसने पत्थर को छैनी से काट-छाँटकर उस पर अपने भावों का प्रकाशन किया तो वह मूर्तिकला कही गयी, जब उसने इन्हीं भावों को कागज या परदे पर तूलिका द्वारा रंगों के माध्यम से प्रस्तुत किया तो उसका नाम चित्रकला पड़ा, जब उसने नाद, लय, गान, पद-गति, अंग-भंगी और नर्तन आदि के माध्यम से भावों को साकार किया तो संगीत-कला का सृजन हुआ; इसी प्रकार जब उसने अपने मनोभावों का व्यक्तीकरण शब्दों और छन्दों में किया तो कविता बनी। सबके साध्य एक ही हैं, भेद केवल साधनों का हैं। बेन जान्सन ने लिखा है कि कविता और चित्र एक प्रकार की कलाएँ हैं और दोनों ही अनुकरण में संलग्न हैं, कविता शब्द-चित्र है तो चित्र मूक कविता।[1] ड्राइडेन के अनुसार कविता और चित्र में केवल शब्दों और रंगों का भेद है, कविता में जो काम शब्द करते हैं वही चित्र में रंग। टॉलस्टॉय, क्रोचे, हेगिल आदि सभी विचारकों ने काव्य को कला ही माना है।

भारतीय परम्परा में काव्य की गणना कलाओं में नहीं की गयी थी। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग रखा गया है। कला में संगीत और शिल्प दोनों की स्थिति मानी गयी है।[2] पर काव्य का क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक बताया गया है। कला काव्य की पोषक है, उसका एक अंग मात्र है। नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि ने सभी विधाओं, कलाओं और शिल्प को काव्य का अंगांगी मात्र कहा है।[3] आचार्य भामह ने भी

---

1. Poetry and picture are arts of like nature and both are busy about imitation. It was excellently said of Plutarch—Poetry was a speaking picture and picture a mute poesy—Discoveries—
—Loci-Critici–Saintsbury 1931 edition, page 114.

२. **कला शिल्पे संगीत भेदे च।**

अमरकोष ३।१९८

३. **न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न सा कला।**

नाट्यशास्त्र १।११३

काव्य से कला को पृथक् ही बताया है। उनके मत में कलाओं में विचक्षणता आती है।[1] इसीलिए काव्य वस्तु के चार प्रकारों में केवल एक—कलाश्रय वस्तु—में कला सहायक रूप में स्वीकार की गयी है।[2] तात्पर्य यह कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को कला नहीं कहा गया। उसका क्षेत्र कला से कहीं अधिक विस्तृत और अधिक गम्भीर माना गया है।

आधुनिक हिन्दी विद्वानों में कुछ तो काव्य को कला मानने लगे हैं पर कुछ लोग काव्य को कला से स्वतन्त्र रखना चाहते हैं। बाबू-गुलाबराय काव्य को कला मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। क्योंकि वे काव्य और कला की आत्मा एक मानते हैं।[3] स्वर्गीय प्रसादजी भी इसी विचार के समर्थक प्रतीत होते हैं। अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में वे काव्य को कला मानने में आपत्ति नहीं करते थे और अलंकार, वक्रोक्ति, रीति आदि को अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में कला की सत्ता स्वीकार करने को प्रस्तुत भी थे। उनके मत में काव्य में आत्मानुभूति की प्रधानता तो होती है पर अनुभूति सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण रमणीय आकार में होती है। वह आकार वर्णनात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होता है।[4] आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के मत में काव्य का क्षेत्र कला से भिन्न ही है।[5] उनका विचार था कि काव्य की गणना कलाओं में करने के फलस्वरूप ही काव्य में वैचित्र्यवाद, कलावाद और अभिव्यंजनावाद चल निकले।

काव्य और कला सम्बन्धी इस विरोधी दृष्टिकोण का कारण यह है कि कला के दो अर्थ किये गये हैं—व्यापक और संकुचित। व्यापक अर्थ में कला अभिव्यक्ति का पर्याय है। इस कारण कला की परिधि काव्य से भी अधिक व्यापक है, काव्य उसका एक अंग मात्र है। कला का यह दृष्टिकोण अर्वाचीन है।

संकुचित अर्थ में कला का सम्बन्ध उस कौशल से है जिसके द्वारा कवि अथवा

---

१. वैचक्षण्यं कलासु च। —काव्यालंकार १।२

२. वृत्त देवादि चरितशंससि चौत्पाद्यवस्तु च
कला शास्त्राश्रयं चेति चतुर्धामियते पुनः ।। —काव्यालंकार १।१७

३. कला और काव्य के कलेवर भिन्न होते हुए भी उनकी आत्मायें एक हैं।
—सिद्धान्त और अध्ययन; पृष्ठ ३०

४. काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौंदर्यमयी संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। यह आकार वर्णनात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है।
—काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध; पृष्ठ ४४

५. कलाओं के सम्बन्ध में जिनका लक्षण केवल सौंदर्य अनुभूति उत्पन्न करना है यह मत कुछ ठीक कहा जा सकता है। इसी से चौंसठ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई है। —चिन्तामणि, भाग १; पृष्ठ ३६४

कलाकार अपने भाव या विचार को रूप-आकार देता है। इस दृष्टि से यह शिल्प का वाचक है जिसे अंग्रेजी में क्रेफ्ट (Craft) कहा जाता है।

भारतीय शास्त्रों में कला का विवेचन संकुचित अर्थ में हुआ था। कला का अर्थ कौशल माना गया था और कला की गणना उपविधाओं में की गयी थी। उपविधाओं का सम्बन्ध विज्ञान और शास्त्रों से था। कला में निपुणता या चातुर्य की प्रधानता मानी जाती थी। उसमें आन्तरिक सौंदर्य या अनुभूति का योग न होकर बाह्य-कौशल और चमत्कार की प्रधानता थी। इसीलिए कला को कामाश्रयी कहा गया था।[1] कामसूत्र में चौंसठ कलाओं का जो उल्लेख मिलता है उसमें ऐसे ज्ञान की अपेक्षा है जिसमें थोड़ा ही चमत्कार या कौशल है। जैसे--पुस्तक बाँधना, प्रहेलिका, काव्य-समस्या-पूर्ति, देश-भाषा-ज्ञान, छन्द-ज्ञान, द्यूत-क्रीड़ा, शुक-सारिका पढ़ाना, इंद्रजाल, शृंगार करना, चोली सीना, सेज बिछाना, गीत, वाद्य, नृत्य इत्यादि। इनमें अधिकांश विनोद और विलास-क्रीड़ा से सम्बन्धित हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों की पूरक हैं। काव्य-कला का इसमें कोई स्थान नहीं है। समस्या-पूर्ति और छन्द-ज्ञान ही इसमें परिगणित हैं क्योंकि समस्या-पूर्ति, छन्द-रचना, प्रहेलिका, विन्दुमती आदि का सम्बन्ध शब्दों की जोड़जाड़ से है और उनका अभिप्राय विनोद उत्पन्न करना मात्र है। कला के इस सीमित अर्थ के लिए प्रतिभा अनिवार्य नहीं है। जो प्रतिभा रस की निष्पत्ति करती है, रमणीयार्थ का सृजन करती है, उसका क्षेत्र कला के चमत्कार से परे था। दरबारों के प्रभाव से वक्रभंगिमा और अलंकार-विधान के द्वारा वाक्-कौशल दिखाना ही कवियों के लिए आवश्यक हो गया था अतः कलाश्रय-काव्य को भी काव्य का एक प्रकार मान लिया गया था।

पश्चिमी देशों में कला के प्रति संकुचित दृष्टिकोण नहीं रहा। वहाँ के आचार्यों ने कला पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। आरम्भ में तो वहाँ भी कला से कारीगरी का ही अर्थ लिया गया था किन्तु १२वीं शताब्दी में वहाँ पर इस विचार में परिवर्तन हुआ और 'आर्ट' को व्यापक अर्थ में माना गया।

निष्कर्ष यह कि काव्य और कला दोनों का प्रयोजन रसानन्द की प्रतीति है और दोनों का स्वरूप सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार कला का घनिष्ठ और अनिवार्य सम्बन्ध सौदर्य से है उसी प्रकार काव्य का सम्बन्ध रमणीयता से है। अपने तत्त्व रूप में कला एक सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया है जिसका विवेचन क्रोचे ने किया है और व्यवहार रूप में वह एक मूर्त्त सचेष्ट अथवा अर्द्धसचेष्ट प्रक्रिया है जो कौशल की पर्याय है। यह शैली से भी अधिक व्यापक है। शैली में अभिव्यंजना से इतर तत्त्वों का समावेश प्रायः नहीं किया जाता। किन्तु कुछ रीतिकार शैली का प्रयोग भी इसी व्यापक अर्थ में करते हैं। ऐसी दशा में शैली और काव्य-शिल्प पर्याय हो जाते हैं।

---

१. नृत्य गीत प्रभृतयः कला कामार्थ संश्रयाः। —काव्यादर्श ३।१६२

हमारा आशय

प्रस्तुत प्रबन्ध में कला से हमारा आशय काव्य-शिल्प से ही है। शिल्प शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शिला' से सम्बन्धित है। शिला एक स्थूल वस्तु है। कर्तृत्व के बल पर काट-छाँटकर उसे शिल्प का स्वरूप दिया जाता है। शिल्प में आकार का आग्रह है। चित्र, मूर्ति और वस्तु को इसीलिए शुद्ध शिल्प कहा गया है। कलाकार अनगढ़ और बेढंगे आकार वाली वस्तु को लेता है, अपने हस्तकौशल और कल्पना के द्वारा काट-छाँट, बनाव-सिंगार करके अन्त में ऐसा आकार प्रस्तुत करता है कि दर्शक उसे देखकर विभोर हो जाता है और अपनी वृत्तियों को भूलकर कलाकार की भावना के साथ साधारणीकरण करता है।

काव्य के उपकरण शब्द और अर्थ हैं। इनमें चित्र, मूर्ति या वास्तु की भाँति तो स्थूल सामग्री नहीं है फिर भी शब्द और अर्थ न तो संगीत के नाद की भाँति ध्वन्यात्मक मात्र हैं और न सर्वथा अमूर्त्त ही। कवि शब्दों और अर्थों द्वारा जो चित्र प्रस्तुत करता है वह वैसा ही मूर्त हो जाता है जैसा कि सामान्य चित्र या मूर्ति। साधारण-से-साधारण कल्पना वाला सहृदय भी कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र देखकर किसी चित्र या मूर्ति से कम प्रभावित नहीं होता। फिर काव्य के साधन न केवल शब्द और अर्थ हैं वरन् संगीत भी उसका एक उपकरण है। कविता की गेय ध्वनि श्रोता की भावना पर अधिकार करने में बड़ा योग देती है और उसमें रमणीयता तथा रागात्मकता दोनों के पुट देने में सहायक होती है।

काव्य भी चित्र, मूर्ति या वास्तु-कला की भाँति शिल्पत्व (काट-छाँट और कारीगरी) की अपेक्षा रखता है। 'विशिष्ट-पद-रचना', 'अलंकरण' इसी कर्तृत्व के बोधक हैं। जिस प्रकार चित्रकार, मूर्तिकार या वास्तुकार अपनी उत्पाद्य वस्तु को पुनः पुनः काटता, छाँटता या सँवारता है, उसी प्रकार कवि भी अपने शब्दों को अनेक बार बदलता, उसमें स्वर का निक्षेप करता, अलंकरण भरता और रस तथा ध्वनि से समन्वित करता है। इस बनाव-सिंगार में कलाकार की भाँति कवि भी कभी-कभी इतना एकनिष्ठ हो जाता है कि उसके सम्मुख कर्तृत्व के अतिरिक्त विचार आदि गौण हो जाते हैं और 'कला के लिए कला' का दृष्टिकोण कविता में भी दृष्टिगत होने लगता है।

जिस प्रकार चित्र, मूर्ति और वास्तुकलाएँ देश की संस्कृति, विचारधारा और सामाजिक आदर्शों की द्योतक हैं, उनमें देश की संस्कृति और सभ्यता का इतिहास सुरक्षित होता है, उसी प्रकार काव्य भी देश और समाज की चित्तवृत्तियों का प्रतिविम्ब है। प्रत्येक देश के काव्य का इतिहास उस देश की संस्कृति के इतिहास से साम्य रखता है और उसी के समानान्तर भाव, तात्कालिक चित्रों, मूर्तियों और भव्य भवनों में प्राप्त होते हैं।

सारांश यह कि काव्य का भी अपना शिल्प होता है। चित्र-मूर्ति आदि का उद्देश्य जिस प्रकार रसाभिव्यक्ति है, रंग आदि का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं, उसी प्रकार काव्य का प्रयोजन भी रसानन्द की सृष्टि है। चित्र-मूर्ति आदि स्थूल रूप का कर्तृत्व

उपस्थित करते हैं, तो काव्य भी शब्द-चित्रों तथा दृश्य-नाटकों के द्वारा भावों को साकार कर देता है। चित्र, मूर्ति और वास्तु के लिए जहाँ काट-छाँट और कौशल आवश्यक है वहाँ काव्य के लिए भी भावानुरूप शब्दावली, पद-लालित्य, गुण और अलंकार आदि वाह्य प्रसाधन अपेक्षित हैं। ऐसी दशा में काव्य-शिल्प के विभिन्न उपकरणों का सूक्ष्म विवेचन कर लेना समीचीन होगा।

काव्य-शिल्प के उपकरण

हमारे विचार से काव्य-शिल्प के उपकरण निम्नलिखित हैं—

१–वर्ण-योजना, २–शब्द-सौंदर्य, ३–अप्रस्तुत-योजना, ४–उक्ति-वैचित्र्य, ५–चित्रण-कला और ६–संगीत।

१. वर्ण-योजना—काव्य की सामग्री शब्द और शब्द की सामग्री वर्ण हैं। मनोरम वर्ण-योजना पर ही काव्य का सौंदर्य निखरता है। कवि की शैली प्रधानतया वर्णों पर ही पड़ती है और वह उन्हें छील-छाँटकर स्निग्ध और सुकोमल कर देती है। भाव और चित्र के अनुरूप वर्णों का संकलन और उनका परिमार्जन करना होता है। सँवारने में वह शब्दों की शुद्धता या संस्कृतता की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी उनके लालित्य की। वर्णों की समवेत ध्वनि, एक दूसरे से संगति, उनकी सजावट, माधुर्य तथा स्वाभाविकता आदि ही उसके लक्ष्य होते हैं। शब्दालंकार जैसे अनुप्रास, वीप्सा और यमक में वर्ण-योजना का ही वैभव होता है। वर्णावृत्ति पंक्ति में लालित्य उत्पन्न करती है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों में भी वर्ण-योजना ही प्रधान है। माधुर्य में मधुर वर्णों -कण्ठ्य, तालव्य, दन्त्य, ओष्ठ्य और अनुनासिक का ही प्रयोग होता है। ये शृंगार, करुण और शान्त रसों में विशेष सुन्दर लगते हैं। ओज में संयुक्त वर्ण और मूर्द्धन्य वर्णों का चयन होता है। ये वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों में भावों का उत्कर्ष करते है। प्रसाद गुण में ऋजु पदावली होती है जो कि वात्सल्य, करुण व शान्त रसों के लिए अधिक उपयुक्त होती है। कुशल कवि रसानुरूप वर्ण-योजना से भाषा को सजाता है। उपयुक्त वर्ण-योजना एक वर्ण-संगीत की उत्पत्ति करती है जो स्वतः पदगत अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होती है। कवि वर्णों की संगति के लिए एकरूपता की पालिश उत्पन्न कर देता है जो कि पद की कोमलता, स्निग्धता और लालित्य को चतुर्गुण कर देती है।

२. शब्द सौन्दर्य—कवि की कवित्व-शक्ति शब्द और अर्थ पर ही अवलम्बित है। शब्दों का ऐसा चयन जो अर्थ-सौरस्य से भरपूर है, काव्य-शिल्प का प्रमुख प्रसाधन है। शब्द के विविध रूपों से भाव में गति उत्पन्न की जाती है। जिस कवि का भाषा पर अधिकार होता है वह एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न पर्यायों के सुन्दरतम प्रयोग प्रस्तुत करता है। पर्यायवाची शब्द समानार्थक होते हुए भी सौंदर्य, अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से आपस में भिन्न होते हैं। कुशल कवि स्थल विशेष की अनुरूपता को दृष्टि में रखकर उपयुक्त शब्द को ही लेता है उससे अपनी रचना को सुशोभित करता है। जो कवि जितना ही शब्दों का धनी होता है, उतने ही अमूल्य शब्द-रत्न अवसर-अवसर पर वह प्रस्तुत करता रहता है। पर्याय इस प्रकार काव्य-शिल्प का प्रमुख अंग है और

सभी श्रेष्ठ कवियों में इसका अतुल वैभव दृष्टिगत होता है।

शब्द-चयन का दूसरा प्रयोग विशेषणों में दिखाई पड़ता है। विशेषणों से भाव में गुरुता आती है और अनुभूति की गहराई स्पष्ट होती है। कविता की पंक्ति में साहित्यिकता के दर्शन होते हैं, प्रवाह में गाम्भीर्य आता है और उक्ति चमत्कृत हो उठती है। साभिप्राय विशेषण और विशेष्यों से भावों के व्यक्तीकरण में मनोहरता और अर्थ-गाम्भीर्य का निक्षेप होता है।

शब्द की शक्तियों अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से लक्षणा और व्यंजना पर ही अभिव्यंजना की शक्ति अधिकांश अवलम्बित होती है। लक्षणा से भाषा में विदग्धता और समृद्धि आती है और व्यंजना से वक्रता और मर्मस्पर्शिता। श्रेष्ठ कवि इन्हीं के सहारे वस्तु, रस और अलंकार उपस्थित करते हैं। कविता में लक्षणा और व्यंजना की सहायता से साधारण शब्द वैसे ही बदल जाते हैं जैसे शिल्पकार अनगढ़ पत्थर को गढ़कर उसको सर्वदा नवीन रूप देता है। शब्द-चित्रों की मूर्तिमत्ता बहुत कुछ लक्षणा और व्यंजना पर ही आधारित होती है। इनसे उक्ति में वह वैलक्षण्य उत्पन्न होता है कि पद का न केवल वाह्य-सौंदर्य बढ़ता है वरन् आन्तरिक भावानुभूति में भी सौष्ठव का सन्निवेश हो उठता है।

३. अप्रस्तुत-योजना—अनुभूति की रमणीयता को स्थूल रूप देने के लिए कवि जिन प्रसाधनों का उपयोग करता है उनमें सबसे सरल एवं सबल साधन अप्रस्तुत-योजना है। वह प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के हेतु अप्रस्तुत का उपयोग करता है, मुख, आँख, नाक, अलकावलि आदि के लिए चन्द, कमल और भ्रमरावली आदि कवि परम्परा के माने हुए उपमान प्रस्तुत कर रम्य चित्र उपस्थित करने में सफल होता है। अप्रस्तुत-योजना में साम्यमूलक अलंकार प्रधान होते हैं। साम्य तीन प्रकार का होता है—रूप साम्य, धर्म साम्य और प्रभाव साम्य। रूप-साम्य के लिए सादृश्यमूलक उपमानों की एक कवि-परम्परा बनी हुई है। अंग-प्रत्यंग के वर्णन में इन्हीं का उपयोग होता है। इस प्रक्रिया में समानता या उपमानों की असमर्थता के द्वारा प्रस्तुत का सौंदर्य बढाना ही कवि का अभिप्रेत होता है। जहाँ रूप-साम्य या सादृश्य नहीं होता किन्तु गुणों में समानता होती है वहाँ भी धर्म-साम्य के आधार पर उपमान प्रस्तुत किये जाते हैं। कभी-कभी कवि का प्रतिपाद्य साधर्म्य से भी नहीं प्राप्त होता। ऐसी अवस्था में अप्रस्तुत के प्रभाव-साम्य द्वारा प्रस्तुत को उपस्थित करने में कवि समर्थ होता है। सारांश यह कि अप्रस्तुत-विधान काव्य-शिल्प के मूर्त्त उपकरणों में प्रमुख है।

४. उक्ति-वैचित्र्य—कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा कहा था।[1] उनका यह मत सर्वमान्य तो न हो सका पर विलक्षण-उक्ति को काव्य-शिल्प का सौंदर्य प्रसाधन मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। इससे भाषा में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और आकर्षण बढ़ जाता है। अनेक अलंकारों

---

१. **शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापारशालिनि।**
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ —वक्रोक्तिजीवितम् १।७।

के मूल में उक्ति-वैचित्र्य ही रहता है। विरोधमूलक अलंकार—विरोधाभास, विभावना असंगति, विशेषोक्ति तथा वैचित्र्य-मूलक अलंकार, पर्यायोक्ति, काव्य लिंग, कारण-माला, एकावली, परिसंख्या आदि उक्ति नें वैचित्र्य ही उपस्थित करते हैं। उक्ति के बाँकपन से ध्वनि में चमत्कार उत्पन्न होता है और कविता की रमणीयता बढ़ जाती है। स्वभावोक्ति में चटपटापन नहीं होता, विषय का महत्त्व होता है पर उक्ति-वैचित्र्य से अभिव्यंजना का महत्त्व बढ़ जाता है। अभिव्यंजना के चमत्कारिक होने से अनुभूति भी चमक उठती है। इसीलिए काव्य-कला में उक्ति-वैचित्र्य को शिल्प का महत्त्वपूर्ण प्रसाधन माना जाना चाहिए।

५. **चित्रण-कला**—कवि-कर्म में अनुभूति को साकार करना होता है। अनुभूति का कोई आकार नहीं होता, उसे आकार देना, शब्दों के चित्र प्रस्तुत करना ही कवि-कर्म है। चित्र को मूर्तिमान करने के लिए कवि विभाव पक्ष की सम्यक् योजना करता है, आलम्बन, उद्दीपन, हाव और अनुभाव-विधान सूक्ष्म भावों को आकार देते हैं। इतना ही नहीं वरन् कवि अपने चित्र को पूर्णता देने के लिए अनुकूल वातावरण और पृष्ठभूमि अंकित करता है। वह मानव-चेष्टाओं तथा तज्जनित प्रभावों को विस्तार से उपस्थित करता है। ऐसा करने से काव्य-शिल्प में रंगीनी और भव्यता आ जाती है। इस प्रकार चित्रण काव्य-कला का प्रधान अंग है। प्रत्येक कुशल कृति में इसका वैभव देखने को मिलता है।

६. **संगीत**—यद्यपि कविता शब्दार्थ-साधना ही मानी गई है तथापि जन्म से ही इसका चिर सम्बन्ध गेयत्व, लय और स्वरों से हो गया है। छन्द-विधान, शब्दार्थ-साधना और संगीत के समन्वय का परिणाम है। कविता का साधारण अर्थ पद्य-बद्ध-रचना या पद-रचना समझा जाता है। छन्द, लय और स्वर आदि अनुभूति में भावुकता ला देते हैं। संगीत भावानुभूति के लिए मनोरम वातावरण सुलभ कर देता है और अपने स्वरों के माधुर्य से मानव-मन पर अनिर्वचनीय प्रभाव डाल देता है। कविता में सहायक होकर यह विषयानुभूति को रसात्मक बनाने में योग देता है। पद-रचना में संगीत का योग छन्दोबद्ध रचना से भी अधिक होता है। भारत में संगीत-शास्त्र, काव्य-शास्त्र की भाँति ही सम्पन्न है। शास्त्रीय संगीत अपने संगीत के बाह्य प्रसाधनों द्वारा उसी लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है जो काव्य का भी साध्य है। इस प्रकार जब संगीत-प्रसाधनों का योग काव्य में हो जाता है तब काव्य की शक्ति और बढ़ जाती है। सूर जैसे पद-रचना करने वाले कवि के शिल्प में तो संगीत, काव्य-कला का अति प्रमुख उपकरण है।

संक्षेप में हमारा उद्देश्य काव्य-शिल्प के उपर्युक्त उपकरणों के माध्यम से सूर के उस कृतित्व को प्रस्तुत करना है जिसके द्वारा वे अपने हृदय-स्थित रस को इतने चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त कर सके।

सूर की कला की आधार-भूमि

सूर के ग्रंथ

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा उद्देश्य सूर के ग्रंथों की प्रामाणिकता आदि पर विचार करना नहीं है, उनकी काव्य-कला का विवेचन करना है। फिर भी कला की सामग्री के लिए हम जिसे आधार बनाते हैं, उसकी सीमा निर्धारित करना आवश्यक है, विशेषकर तब जबकि सूर के ग्रंथों तथा उनके रचे हुए पदों की संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों के एक मत नहीं हैं। उनके प्रमुख ग्रंथ सूरसागर में ही एक ओर जहाँ अत्यन्त उच्चकोटि के सरस पद हैं, वहीं दूसरी ओर भरती के निम्न श्रेणी के पद भी हैं। यह वैषम्य देखकर सहसा यह भ्रम हो जाता है कि दोनों प्रकार के पद एक ही कवि की लेखनी से कैसे निकले होंगे? इस भ्रान्ति का एक कारण पदों के रचना-क्रम का अज्ञात होना है। ऐसी स्थिति में इन सब पर संक्षेप में विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सूरदास जी के ग्रंथों की नामावली नहीं प्राप्त होती, केवल 'एक लक्ष पद बन्द'[१] का उल्लेख मिलता है। तत्कालीन साहित्य में भी इनके ग्रंथों के नाम नहीं मिलते, केवल 'सहस्रावधि'[२] या 'लक्षावधि'[३] पदों का कथन-मात्र वार्ताओं में प्राप्त होता है। फिर भी नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज रिपोर्टों, प्राचीन पुस्तकालयों तथा विद्वानों के कथनों के आधार पर निम्नलिखित २५ ग्रंथों की नामावली उपस्थित की गई है—

१—सूरसागर	१०—गोवर्धन लीला	१९—सूर पचीसी
२—सूर सारावली	११—दानलीला	२०—सेवाफल
३—साहित्य-लहरी	१२—भँवरगीत	२१—सूरदास के विनय के स्फुट पद
४—भागवत भाषा	१३—नामलीला	२२—हरिवंश टीका (संस्कृत)
५—दशमस्कन्ध भाषा	१४—व्याहलो	२३—एकादशी महात्म्य
६—सूरसागर सार	१५—प्राणप्यारी	२४—नल दमयन्ती
७—सूर रामायण	१६—दृष्टकूट के पद	२५—रामजन्म
८—मानलीला	१७—सूरशतक	
९—राधारसकेलि कौतुक	१८—सूरसाठी	

१. सूर-सारावली छन्द संख्या ११०६ वेंकटेश्वर प्रेस का सूरसागर; पृष्ठ ४८।

२. तैसे ही सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं—प्रसंग ३, अग्रवाल प्रेस से प्रकाशित—भावनावली, पृष्ठ ८४।

३. और सूरदास जी ने ठाकुर जी के लक्षावधि पद किये हैं।
प्रसंग ११ वार्ता में सूरदास जी की वार्ता।

हमारे मत में सूर विरचित ग्रन्थ तीन ही हैं — १–सूरसागर, २–सूर सारावली, ३—साहित्य लहरी। शेष ग्रन्थ सूरसागर के अंश मात्र हैं। कुछ ग्रन्थ जैसे हरिवंश टीका, रामजन्म, एकादशी महात्म्य और नल-दमयन्ती किसी अन्य सूरदास की रचनाएँ होंगी।

सूरसागर—सूरसागर की पद संख्या के सम्बन्ध में एक ओर तो मोतीलाल मेनारिया जैसे लोग हैं जो 'सहस्त्रावधि' पदों में समाप्त होने वाले ग्रन्थ को एक हजार पदों का ही ग्रन्थ समझते हैं। दूसरी ओर सूर निर्णयकार हैं जो सवा लाख की किंवदन्ती को भी अधिक शंका से नहीं देखते। पुष्टिमार्गीय सेवा-पद्धति के क्रम से सूर के पदों का हिसाब लगाकर उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

"यदि इन पदों को पूर्व संख्या में जोड़ दिया जाय तो सूरदास द्वारा रचे हुए सवा लाख पदों की बात प्रामाणिक हो जाती है।"[1] इनका मत है कि अभी तक सूर के पदों का पूर्ण अनुसन्धान नहीं हुआ है, हो जाने पर "अब तक प्राप्त पदों से कई गुना और पद सूर-कृत पाये जा सकते हैं।"[2]

प्राप्त सूरसागर के दो रूप मिलते हैं—एक द्वादशस्कन्धात्मक और दूसरा संग्रहात्मक। द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ था जिसमें ४,५७८ पद हैं। अब नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने द्वादशस्कन्धात्मक रूप प्रकाशित किया है जिसमें प्रामाणिक पद ४,९३६, अर्द्ध प्रामाणिक पद २०३ और प्रक्षिप्त पद ६७, कुल ५,२०६ पद हैं। संग्रहात्मक पूर्ण सूरसागर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने "पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ" में 'सूरसागर का विकास और रूप' लेख लिखा है। इस लेख में उन्होंने यह मत उपस्थित किया है कि सूरसागर का असली रूप संग्रहात्मक था और उसमें भगवान श्रीकृष्ण की जन्म-बधाई, बाल-लीला, ब्रज की अन्य लीलाएँ, भ्रमरगीत, नृसिंह, वामन और राम जयन्तियों के पद तथा विनय के पद ही थे, अन्य समस्त पद क्षेपक हैं।

चतुर्वेदी जी का उक्त मत अनुमान पर ही आधारित है। उन्होंने जो सामग्री अपने लेख में प्रस्तुत की है, उसी से पता चलता है कि द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर, जो कलेवर में अपेक्षाकृत बड़ा है, व्यापक भी इतना रहा है कि न केवल बम्बई में वरन् आगरा, दिल्ली, मथुरा, कलकत्ता और काशी में भी प्राप्त हुआ है। इसके विपरीत संग्रहात्मक सूरसागर की केवल एक पूर्ण प्रति (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ) मिलती है, शेष सभी प्राप्त प्रतियाँ अपूर्ण हैं। यह हो सकता है कि आरम्भ में सूरदास जी ने स्कन्धात्मक सूरसागर की रचना न की हो। फिर भी उन्हीं के द्वारा द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर की रचना अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से सिद्ध है। वर्णनात्मक पदों की रचना में सूरदास जी स्पष्ट कहते गये हैं कि "जिस प्रकार शुकदेव जी ने द्वादश स्कन्धों में भागवत कहा था उसी प्रकार मैं भी पद-भाषा में हरि-लीला का गान कर रहा हूँ।" ऐसा कथन

१. सूर निर्णय; पृष्ठ १७४।
२. वही, पृष्ठ १८२।

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध से बारहवें स्कन्ध तक प्राप्त होता है ।[1] इस प्रकार सूरदास द्वारा द्वादशस्कन्धात्मक सूरसागर की रचना सिद्ध है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि महाप्रभु ने सम्भवत: भागवतानुसार ग्रन्थ-रचना करने की प्रेरणा सूर को नहीं दी थी । यदि ऐसी प्रेरणा मिली होती तो गुरु-कृपा को ही अपने सम्पूर्ण कृतित्व का अवलम्बन मानने वाले सूर कहीं इसका संकेत अवश्य करते । ग्रन्थ में उन्होंने शुकदेव जी का नाम भागवतानुसार ग्रन्थ रचना प्रसंग में इक्कीस बार लिया है किन्तु गुरु प्रेरणा का उल्लेख इस प्रसंग में कहीं नहीं किया है । इससे लगता है कि महाप्रभु के जीवन-काल में सूरदास जी के कृष्ण-विषयक—जन्म-बधाई, बाल-

---

१. (१) व्यास कहे सुकदेव सों द्वादशस्कन्ध बनाइ ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ ।। प्रथम स्कन्ध पद २२५

(२) कहे कछुक गुरु कृपा ते श्री भागवतानुसार । द्वितीय स्कन्ध पद ३६

(३) तिन हित जो जो किये अवतार ।
कहौं सूर भागवत अनुसार ।। तृतीय स्कन्ध पद ६

(४) ताके भयो दत्त अवतार ।
सूर कहत भागवत अनुसार ।। चतुर्थ स्कन्ध पद २

(५) वरन्यो ऋषभदेव अवतार ।
सूरदास भागवत अनुसार ।। पंचम स्कन्ध पद २

(६) ज्यों सुक नृप सों कहि समुझायो ।
सूरदास त्योंही कहि गायो ।। षष्ठ स्कन्ध पद ५

(७) हरि चरननि सुकदेव सिर नाइ ।
राजा सों बोल्यो या भाइ ।।
कहौं सो कथा सुनो चित लाइ ।
सूर तरों हरि के गुन गाइ ।। सप्तम स्कन्ध पद १

(८) सुक नृपति पाहिं जिहि विधि सुनाई ।
सूर जनहूँ तिहीं भाँति गाई । अष्टम स्कन्ध पद ११

(९) सुक जैसे नृप को समुझायौ ।
सूरदास त्योंही कहि गायौ ।। नवम स्कन्ध पद २

(१०) जैसे सुक नृप कौ समुझायौ ।
सूरदास त्योंही कहि गायो ।। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध पद २

(११) कही जो व्यास शुकदेव भागवत में ।
कही अब सूर जन गाइ सोई ।। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध पद ४,१९८

(१२) यों भयो नारायण अवतार ।
सूर कह्यो भागवत अनुसार ।। एकादश स्कन्ध पद ३

(१३) सुक नृप सों कह्यो जा परकार ।
सूर कह्यो ताही अनुसार ।। द्वादश स्कन्ध पद ३

लीला, ब्रज-लीला और भ्रमरगीत आदि—प्रसंगों पर स्फुट पदों की रचना हो चुकी थी पर इनका कोई ग्रन्थ-रूप न था। इनमें प्राप्त रस-सागर को देखकर महाप्रभु ने ही इन पदों को 'सूरसागर' कहना प्रारम्भ कर दिया था। यह वही रूप है जो प्राचीन प्रतियों में संग्रहात्मक रूप में मिलता है। महाप्रभु के गोलोकवास के उपरान्त सूरदास जी ने किसी के परामर्श अथवा स्वप्रेरणा के फलस्वरूप ही अपने पदों का सम्पादन भागवतानुसार कर दिया और जहाँ कमी देखी वहाँ वर्णनात्मक पदों की भरती से ग्रन्थ को पूरा कर डाला। इसी कारण एक से लेकर आठ स्कन्धों तक केवल वर्णनात्मक छन्दों में भागवत की संक्षिप्त कथा है। आरम्भ में भागवत-माहात्म्य के स्थान पर विनय के पूर्वरचित पद रख दिये हैं। नवम स्कन्ध की रचना भी कर दी है परन्तु रामावतार की कथा में सूरदास जी को लोक-कौतुक मिला। अतः उसमें उन्होंने अपने लीला-पदों की पद्धति अपना ली है। दशम स्कन्ध के पूर्व उचित स्फुट पदों में जहाँ-जहाँ कथात्मक दृष्टिकोण का अभाव देखा वहाँ-वहाँ वर्णनात्मक पदों की रचना कर डाली। एकादश और द्वादश स्कन्ध भी वर्णनात्मक पदों में लिखकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया। इस प्रकार भागवतानुसार ग्रन्थ की रचना हो जाने पर पदों की संख्या "सहस्राविधि" से बढ़कर "लक्षावधि" हो गई।

सूरसागर के पदों का शिल्प-विधान भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। प्रायः कृष्ण-लीला के प्रत्येक प्रसंग पर शैली के दो रूप मिलते हैं। एक तो वे पद जो सर्वथा मुक्तक हैं—आकार में छोटे, अपने आप में पूर्ण, रसात्मकता में पगे हुए, कथात्मकता से यथासम्भव दूर और कवि की आत्माभिव्यक्ति से युक्त। इन पदों में कवि, लीला के घटना-विस्तार की ओर ध्यान नहीं देता वह तो प्रभु के सौन्दर्य, क्रीड़ा और माधुर्य को अंकित करने में लीन है। विषय की पुनरुक्ति मिलती जाती है किन्तु कथन की नवीनता सर्वत्र है। प्रत्येक पद स्वतन्त्र और रसस्निग्ध है। दूसरा रूप वह जिसमें पद लम्बे हैं, चौपाई, रोला या सार जैसे छन्दों में उनकी रचना है। पद में वर्णनात्मकता है कथा का दृष्टिकोण प्रधान है। काव्य-सौष्ठव अपेक्षाकृत बहुत कम है। अधिकांश प्रसंगों पर दोनों ही शैलियों में कथा का गान मिलता है। इन सबका कारण यह है कि पहले सूरदास जी ने स्फुट पदों में लीला का गान किया था किन्तु उसमें भागवतीय कथात्मक दृष्टिकोण गौण था। बाद में जब वे भागवतानुसार ग्रन्थ का सम्पादन करने लगे तो कथा की शृंखला पूरी करने के लिए उन्हें वर्णनात्मक लम्बे पदों की रचना करनी पड़ी।

तात्पर्य यह कि दशम स्कन्ध के लीला सम्बन्धी स्फुट पद ही महाप्रभु के जीवन-काल में रचे गये, ये पद 'सहस्रावधि' मात्र थे। महाप्रभु के गोलोकवास के बाद सूरदास जी ने ग्रन्थ को भागवतानुसार बनाया और नये वर्णनात्मक पदों को जोड़कर उन्होंने ग्रन्थ पूरा कर डाला।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम सूरसागर के पदों को काल-क्रम के अनुसार तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१–संवत् १५६७ (शरणागति तिथि[1]) से पूर्व के रचे हुए पद—ये पद अधिकांश विनय के पदों में संगृहीत हैं तथा प्रथम और द्वितीय स्कंधों में द्रौपदी-सहाय, भीष्म-प्रतिज्ञा, नाम-महिमा, ध्यानविधि, भक्ति-साधन और वैराग्य आदि शीर्षकों से यथास्थान रखे गये हैं। इन पदों में सन्त परम्परा की विचारधारा और शैली मिलती है। इन पदों में सूर का कृतित्व नहीं है। सूर में कलात्मकता का आविर्भाव तो तब हुआ जब पुष्टिमार्गीय भावधारा ने उनके हृतल पर रसावतार कृष्ण की लीलाओं की अवतारणा की।

२–संवत् १५६७ से १५८७ तक रचे हुए पद—इस काल में सूरदास जी ने लीला विषयक स्फुट पद लिखे। ये पद—जन्म-बधाई, बाल-लीला, माखन-चोरी, मुरली, आँख और नैन, समय तथा भ्रमरगीत आदि—सरस प्रसंगों पर लीला का आधार लेकर सूर की सख्य-भक्ति की मनोरम अभिव्यंजना करते हैं। इन पदों में इतिवृत्तात्मकता या तथ्य-कथन नहीं है। इनमें कथा तो उपादान मात्र है। सूर की कला की मूल सामग्री यही है।

३–संवत् १५८७ (महाप्रभु वल्लभाचार्य की निधन तिथि[2]) से १६०० तक रचे हुए पद—भागवत-भाषा प्रस्तुत करने के हेतु सूरदास जी ने ही अपने सूरसागर का सम्पादन भागवत के अनुसार कर दिया। विनय के प्रथम दो पद 'चरन कमल बंदौं हरि राई' तथा 'अविगत गति कछु कहत न आवै' सूरसागर को ग्रंथ रूप देने के हेतु जान पड़ते हैं। पहले पद में मंगलाचरण और दूसरे में ग्रंथ का प्रयोजन प्रस्तुत किया गया है। प्रथम पद में पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रकाशन है। "जाकी कृपा पंगु गिरि लंघे", में पुष्टि की व्यंजना है और "अंधे को सब कुछ दरसाई" में सूर (अंधे) द्वारा रचित काव्य तथा उसकी प्राप्त प्रतिष्ठा की आनन्दपूर्ण स्वीकृति है। कम शब्दों में अधिक भाव, भाषा-नैपुण्य, सरल और सीधे शब्दों में विलावल के स्वरों की मनोहारिता, गीत की आत्माभिव्यक्ति की कुशलता आदि उसी कला-निपुणता के द्योतक हैं जो कवि ने सहस्रावधि स्फुट पदों की रचना में प्राप्त किया था। द्वितीय पद भी इसी प्रकार शैली की दृष्टि से बड़ा प्रौढ़ है। महाप्रभु से प्राप्त भगवद्भक्ति का 'लीला-भेद' ही सूर का अपना दृष्टिकोण था। सूरसागर में इसी लीला-भेद का स्पष्टीकरण ही सूर का प्रतिपाद्य था इसीलिए ग्रन्थ के मंगलाचरण में व्यंजना से कवि ने ग्रन्थ का प्रयोजन प्रस्तुत कर दिया। भागवत के अन्य स्कन्धों की कथाएँ सूरदास जी ने छन्दों में रच डालीं और जैसे-तैसे स्कन्ध पूरे कर दिये। इन भरती के पदों में सूर की आत्मा नहीं है। भागवत की उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही इनमें दृष्टिगोचर होती है। इन समस्त पदों में सूर की कला के दर्शन नहीं होते।

---

१. **इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूर का शरणागति संवत् १५६७ विक्रमी निश्चित होता है।**

—सूर और उनका साहित्य (डा० हरवंशलाल शर्मा) पृष्ठ ४६।

२. वल्लभ दिग्विजय; पृष्ठ ५५।

सूर-सारावली—सूरदास जी का द्वितीय ग्रंथ सूर-सारावली अन्तःसाक्ष्य से प्रमाणित है।[1] डा० ब्रजेश्वर वर्मा को छोड़कर सभी विद्वान् इसे सूर-कृत ही स्वीकार करते हैं। सारावली की कोई अलग प्रति उपलब्ध नहीं है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, और नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, से प्रकाशित सूरसागरों के आरम्भ में सारावली छपी है। दोनों ग्रंथों में पाठ प्रायः एक ही है। हम भी सारावली को सूर-कृत ही स्वीकार करते हैं। हमारा मत है कि भागवतानुसार सूरसागर की रचना हो जाने के पश्चात् सिद्धान्त-प्रतिपादन और लीला के मर्म-उद्‌घाटन को भी सूर ने आवश्यक समझा। इसी समय अर्थात् संवत् १६०० के पश्चात् ही गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने निकुंज-लीला और सरस संवत्सर-लीला का निरूपण किया।[2] सारावली में निकुंज लीला और संवत्सर-लीला का वर्णन है। सूरसागर में यह वर्णन नहीं है। अन्तःसाक्ष्य से सारावली का रचना-काल भी संवत् १६०२ बनता है क्योंकि सारावली की रचना के समय कवि की अवस्था ६७ वर्ष कही गयी है।[3] वार्ता के आधार पर सूरदास जी की जन्म-तिथि १५३५ होती है क्योंकि वह महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे और महाप्रभु की जन्म-तिथि वैसाख कृष्णा १० सं० १५३५ निश्चित है। इस प्रकार सारावली का रचना-काल (१५३५—६७) सं० १६०२ हुआ।

डा० दीनदयाल गुप्त के शब्दों में "सारावली सूरसागर की एक प्रकार की भूमिका है।"[4] सूरसागर में लीला का दृष्टिकोण इतना प्रधान था कि उसमें सैद्धान्तिक विवेचन का अवसर न था। सूरदास जी का भक्त-हृदय इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने को व्यग्र हो उठा। फलतः उन्होंने सारावली की स्वतन्त्र रचना कर डाली। स्वतन्त्र इसलिए कि यह ग्रंथ सिद्धान्त ग्रंथ है। सूरसागर की अपेक्षा इसकी रचना में कवि ने श्रीमद्‌भागवत और पुरुषोत्तम सहस्रनाम का आधार अधिक लिया, यद्यपि

---

१. **सूरदास जी रचित सूरसागर सारावली**
तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र—वेंकटेश्वर प्रेस का सूरसागर पृष्ठ १
तथा
इति श्री सूरदास-कृत सवंत्सर-लीला
तथा सवा लाख पदों का सूचीपत्र समाप्त। वेंकटेश्वर प्रेस सूरसागर पृष्ठ ४८।
और

श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायो लीला भेद बतायौ।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।
ताको सार सूर सारावली गावत अति आनन्द॥

सारावली—वैं० प्रे०, सूरसागर, पृष्ठ ४८, छन्द ११०३

२. सूर-निर्णय ; पृष्ठ ११०।

३. **"गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।"** - सारावली, छन्द १००२

४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय; पृष्ठ २८४।

सिद्धान्त की दृष्टि से तो सूरसागर का भी मूल भागवत ही है। इसलिए तत्त्व रूप में यह ग्रंथ सूरसागर का पूरक है। इसीलिए सूरसागर के सम्पादन के पश्चात् सूरदास जी ने सूरसारावली को सूरसागर के आरम्भ में ही स्थान दिया।

साहित्य-लहरी—सूरदास जी की अन्तिम रचना साहित्य-लहरी है। साहित्य-लहरी की पद संख्या १०९ में इसका रचना-काल दिया गया है।[१] टीकाकारों ने इसका अर्थ १६०७ दिया है। डा० दीनदयाल गुप्त संवत् १६१७ और डा० मुंशीराम शर्मा १६२७ उसका अर्थ लगाते हैं। सटीक साहित्य-लहरी का मुद्रित संस्करण पुस्तक भंडार लहेरिया सराय से प्रकाशित है। इसमें ११८ पद हैं और इसके पश्चात् उपसंहार क और ख नाम से ५३ पद और हैं। उपसंहार के समस्त पद सूरसागर में प्राप्त हो जाते हैं। वास्तव में ये सूरसागर के ही दृष्टिकूट पद हैं, जिनकी टीका उपस्थित करने के उद्देश्य से उन्हें साहित्य-लहरी में जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। साहित्य-लहरी को भी डा० ब्रजेश्वर वर्मा को छोड़कर अन्य सभी विद्वान सूर-कृत मानते हैं। केवल पद संख्या ११८ अप्रामाणिक माना जाता है। डा० मुंशीराम शर्मा तो इस पद को भी प्रामाणिक मानते हैं।[२] हम भी साहित्य-लहरी के १ से लेकर ११७ पद तक को सूर-कृत मानते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त १०९वें पद पर ग्रंथ की समाप्ति का अनुमान करते हैं क्योंकि इसमें ग्रंथ का रचना-काल है किन्तु पद सं० ११३ से ११६ तक अलंकारों का उल्लेख वैसा ही मिलता है जैसा कि ग्रंथ के पूर्व पदों में है। केवल सात पदों—१०६ से ११२ को छोड़ कर प्रत्येक पद में नायिका अलंकार या रसावयवों का उल्लेख पद की अन्तिम पंक्ति में मिलता है। इस क्रम का अन्तिम पद ११६ है जिसमें संकर अलंकार का नाम है। संकर और संसृष्टि ही अलंकार ग्रंथों में अन्तिम अलंकार के रूप में पाये जाते हैं। पद संख्या ११७ में कृष्ण और राधा की प्रार्थना है[3] जो कि ग्रंथ की समाप्ति का द्योतक

---

१. **मुनि पुनि रसन के रस लेष**
दसन गौरी नंद को लिषि सुवलसंवत पेष
नंदनंदन मास छैते हीन त्रितिया बार
नंदनंदन जनम ते हैं बान सुष आगार
त्रितिय रीछ सुकर्म जोग विचारि "सूर" नवीन
नंदनंदन दास हित साहित्य लहरी कीन ॥
—साहित्य लहरी (पुस्तक भंडार; लहेरिया सराय) प्रथम संस्करण; पृष्ठ १२७।

२. भारतीय साधना और सूर साहित्य; पृष्ठ ४६०।

३. **इन्द्र उपवन इन्द्र अरि दनुजेन्द्र इष्टसहाय।**
सुन एक जु पाय कीनें होत आदिमिलाय।
उभय रास समेत दिनमनि कंनका ए दोइ।
सूरदास अनाथ के हैं सदा राषन सोइ।
भावार्थ—नन्दनन्दनकृष्ण और वृषभानु कुमारी राधा, ये दोनों अनाथ सूरदास के रक्षक हैं।—साहित्य लहरी; पृष्ठ १३६।

पद संख्या ११८ में कोई भी तथ्य प्रामाणिक नहीं है। इसमें ग्रंथ की दृष्टकूट शैली भी नहीं है, भाषा शिथिल है, अतः हम भी इस पद को क्षेपक मानते हैं। कवि ने तो ११७वें पद में ही युगल मूर्ति के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करके शान्ति ले ली होगी।

सारांश यह कि हम नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर, प्राप्त सारावली और साहित्य-लहरी के १ से ११७ पदों को प्रामाणिक मानकर चलते हैं। इन्हीं के आधार पर हम सूर के काव्य-शिल्प का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

वर्ण्य-विषय—सूर-साहित्य की भाव-भूमि वस्तुपरक होते हुए भी आत्मपरक है। सूरदास जी को भगवल्लीला के माध्यम से अपने अन्तस्तल का उद्घाटन ही अभिप्रेत था, इसीलिए लोक-धर्म प्रधान और अध्यात्मप्रधान भागवत का अवलम्बन करने पर भी वे भागवत के प्रतिपाद्य अध्यात्म, लोक-धर्म तथा परमेश्वर की शक्ति और शील की ओर उन्मुख न हो सके। यद्यपि ईश्वर के चौबीस अवतारों की लीलाओं को इन्होंने भी सूरसागर में स्थान दिया है तथापि कृष्णोत्तर अवतारों की लीलाओं को उन्होंने बहुत ही चलते ढंग से आगे बढ़ा दिया है। कृष्णावतार का भी सूरसागर में पूर्ण रूप से वर्णन नहीं है। कृष्णावतार के तीन पक्ष हैं—ब्रज-लीला, द्वारका-लीला और महाभारत-लीला। वेदव्यास जी ने ब्रज और द्वारका-लीलाओं को भागवत में और महाभारत-लीला को महाभारत में चित्रित किया था। महाभारत की कथावस्तु विवरणात्मक और शुद्ध वस्तुपरक है। सूर की आत्मपरक वृत्ति के लिए उसमें प्रवेश करने का अवसर नहीं है। इसीलिए सूर ने कृष्ण के जीवन के उस अंश की ओर दृष्टि भी नहीं डाली। भागवत की द्वारका-लीला में भी उनकी वृत्ति नहीं रमी। सूर की आत्मा तो कृष्ण की बाल-लीला और प्रणय-लीला तक ही सीमित रह गयी। वे कृष्ण के बाल्य-काल की निर्द्वन्द्व क्रीड़ाओं, प्रणय-लीलाओं और बिहार में ही रस-धारा प्रवाहित करते रह गये। अन्य प्रसंगों की खानापूरी मात्र किसी प्रकार पदों की जोड़-जाड़ करके कर दी गयी है। उनके तीनों ग्रंथों—सूरसागर, सारावली और साहित्य-लहरी—में एक ही वस्तु के तीन रूप प्राप्त होते हैं। सूरसागर में लीला-वर्णन मुख्य है, सिद्धान्त पक्ष अति स्वल्प है। सारावली में सैद्धान्तिक पक्ष प्रधान है और भागवत-सार तथा संवत्सर-लीला के द्वारा उसमें कृष्ण के ईश्वरत्व और पुष्टिमार्गीय सेवा के व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन हुआ है। साहित्य-लहरी में कृष्ण-लीला का काव्य शास्त्रीय रस, अलंकार और नायिकाभेद रूप उपस्थित किया गया है। सूरसागर में लीला का मूर्त्त रूप है तो सारावली और साहित्य-लहरी में उसी के दो सूक्ष्म पक्ष हैं। सूरसागर भागवतानुसार है। उसमें कथा आदि से अन्त तक क्रमानुसार है। फिर भी एक-एक प्रसंग पर उसमें इतने अधिक स्वतन्त्र पदों की रचना है कि कथा विशृंखल हो गयी है और अन्विति सूत्र लुप्त-सा प्रतीत होता है। सारावली में कथा-सूत्र अविच्छिन्न है पर दृष्टिकोण कथात्मक न होकर सैद्धान्तिक है। साहित्य-लहरी में कथा है ही नहीं।

सूर-साहित्य के वर्ण्य-विषय पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि महाकवि सूर का काव्य-जगत वास्तव में वही था जो उनकी मौलिक उद्भावना से

समुद्भूत था। सूरसागर के उस अंश में, जो सर्वथा निजी है, उनकी कला का सच्चा स्वरूप मिलता है। भिन्न-भिन्न स्थलों से वस्तु संगृहीत करके उसे उपस्थित करना उनकी प्रतिभा के अनुकूल न था। नाना स्थलों से चयन की हुई सामग्री को सर्वथा नवीन ढंग से उपस्थित करना भी कवि का एक प्रकार का कौशल है। महाकवि तुलसीदास और कविवर बिहारीलाल इस प्रणाली में बड़े सफल सिद्ध हुए हैं। किन्तु सूरदास जी जब अमौलिक वस्तु उपस्थित करते हैं तो उसमें उनका कौशल दृष्टिगत नहीं होता। ऐसे स्थलों में न तो भावाभिव्यक्ति में रसात्मकता मिलती है और न भाषा-शैली में किसी प्रकार की कलात्मकता दिखाई पड़ती है। शब्दावली तक इतनी अशक्त और लचर होती है कि प्रतीत होने लगता है कि कवि के शब्द-भंडार में अकाल-सा पड़ गया है। भाषा नीरस और बोझिल हो जाती है। किसी प्रकार कथा-सार ही दे पाना बहुत हो जाता है। सूरदास जी के ऐसे पद अत्यन्त साधारण कोटि की रचना के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं। किन्तु वे स्थल जो सूरदास जी की मौलिक उद्भावना के हैं, विपरीत गुण रखते हैं। यहाँ पर रसानुभूति मूर्तिमती और भाषा काव्योपयुक्त होती है। उसमें केवल भावों की सरसता, आत्माभिव्यंजन की मनोहारिता और विषय का अधिकाधिक विस्तार ही नहीं होता वरन् कला का नैपुण्य भी चरम सीमा का प्राप्त होता है। सूरदास जी पुनीत भावों की कुटिया नहीं बनाते थे वे तो अपने काव्य-देवता के लिए उस भव्य देवालय का निर्माण करते थे जिसमें शब्द और अर्थ के ईंट-पत्थर, संगीत का चूना-गारा, अलंकार के बेल-बूटे तथा कान्ति-गुण का औज्ज्वल्य होता था।

सूर की कथावस्तु से उनकी दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि यद्यपि उनके लीला-वर्णन में सहज मानव-गुण का प्राधान्य है तथापि उसमें धार्मिक चेतना सर्वत्र विद्यमान है। सूरदास जी कृष्ण-लीला में अलौकिकत्व का प्रतिष्ठापन कम-से-कम करना चाहते हैं। भागवत या तुलसी-रामचरितमानस की भाँति पद-पद पर वे ईश्वरत्व की झलक और प्रेम-लीला के परोक्ष तत्त्व का संकेत नहीं करते। यही कारण है कि उनकी लीलाओं का स्वरूप अधिक मनोहारी, सरस और मनोवैज्ञानिक बन सका है। बाल-छवि, माखन-चोरी, विहार, दान-लीला, मान-लीला, वसन्त-लीला तथा भ्रमर-गीत आदि में सर्वत्र ही मानवोचित ललित वर्णन मिलते हैं। ऐसा होने पर भी किसी भी पद में उनकी पुनीत धार्मिकता या भक्ति-भावना का अभाव नहीं है। प्रत्येक पद के अन्त में 'सूर के प्रभु' या 'सूर के स्वामी' का संकेत लौकिक वर्णन में अलौकिकता की सत्ता वर्तमान रखता है। संयोग-शृंगार के वर्णनों में सूरदास जी रस के अन्तर्गत हाव-भाव आदि के विस्तार उपस्थित करने में संकोच नहीं करते किन्तु अन्तिम पंक्ति में अपने प्रभु की लीला पर बलिहारी होने की आत्माभिव्यक्ति प्रस्तुत करके वर्णन द्वारा उद्भूत लौकिक भावना पर धार्मिकता का रंग चढ़ा देते हैं। भागवत में नन्द-यशोदा, गोप-गोपी आदि एक क्षण के लिये भी कृष्ण के ईश्वरत्व को नहीं भूल पाते। यही कारण है कि भागवत में कृष्ण-लीला नर-लीला नहीं हो पायी, उसमें मानवीय दृष्टिकोण उभर नहीं पाया। सूरदास जी ने भागवत की विषय-वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया और स्थल-स्थल पर कृष्ण का ईश्वरत्व भी वे प्रकट करते रहे हैं।

बाल-कृष्ण के अँगूठा चूसने पर प्रलय का चित्र, दही की मथनी पकड़ने पर सागर-मंथन का भ्रम तथा माटी-भक्षण में विराट की झाँकी आदि संकेत सूरदास जी ने भी उपस्थित किये हैं। बकासुर, अघासुर आदि के वध, दावानल-पान तथा गोवर्धन धारण आदि सभी में कृष्ण का ईश्वरत्व है किन्तु उनमें मानव-गुणों की स्वाभाविकता लाने के लिए यह अलौकिकत्व अधिक समय तक ब्रजवासियों के हृदय-पटल पर सूर अंकित रहने नहीं देते। कृष्ण की प्रेम-ठगौरी ईश्वरत्व को क्षण भर में ही दूर कर देती है। ऐसा करने से लीला-वर्णन में मानव गुणों के समावेश का सुअवसर मिल जाता है, साथ ही वस्तु में यथास्थान ईश्वरत्व के प्रतिष्ठापन से पाठक या श्रोता के सम्मुख आध्यात्मिकता और धार्मिकता का प्रभाव भी अक्षुण्ण रह जाता है। यही कारण है कि चीर-हरण, वृन्दावन-विहार, रास-लीला, दान-लीला, मान-लीला और वसन्त-लीला, जैसे सरस प्रसंगों में भी जिनका बाह्य रूप सर्वथा लौकिक है, आध्यात्मिक पुनीतता झलकती रहती है। सूरदास जी ने सूर-सागर में भागवत की भाँति शुकदेव और नारद आदि के द्वारा बार-बार इन लीलाओं का आध्यात्मिक विश्लेषण नहीं करवाया है फिर भी हरि-लीला की धार्मिक प्रतीकात्मकता स्वतः सुस्पष्ट होती गयी है।

सूरदास जी द्वारा प्रस्तुत शृंगार भी असाधारण है। उसमें वासना की गन्ध, भोगेच्छा की तृषा और कामातुरता की शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। कृष्ण के साक्षात्कार होते ही मानव-दुर्बलताएँ इस प्रकार विलीन हो जाती हैं जैसे प्रकाश-पुंज के समक्ष तम-राशि। चीर-हरण, रास-लीला, विहार या सुख-विलास जैसे प्रसंगों में भी वासनात्मक शृंगार की अनुभूति पाठक को नहीं होती। सुरति, विपरीत-रति एवं राधा के नखशिख वर्णनों में शब्दों के द्वारा भले ही क्रियाविशेष या अंगांगों का निस्संकोच कथन हो किन्तु कवि वर्णन से इतना तटस्थ और अपने स्वामी की लीला से उद्भूत श्रद्धा-मिश्रित रसानन्द में इतना मग्न है कि वह लौकिक अनुभूति उभरने ही नहीं देता। विद्यापति जी ने भी प्रायः उन्हीं प्रसंगों पर पद-रचना की है किन्तु उनके पदों में यौन-भाव, उद्दाम वासना और भोगेच्छा की ऐसी लहरें प्रवाहित होती रहती हैं कि राधा और कृष्ण के स्पष्ट उल्लेख के होते हुए भी उनमें भक्ति-भाव की झलक भी नहीं मिलती। सूरदास जी के शृंगारिक पदों में विद्यापति जैसी ही शब्दावली मिलती है किन्तु उनमें भावों की पुनीतता नष्ट नहीं होती। सूरदास जी ने शृंगार का उन्नयन बड़ी चतुराई से किया है। तत्त्वकथन, धार्मिकता, उपदेश आदि बाह्य-प्रसाधनों के बिना भी उन्होंने शृंगार के अन्तस्तल को पुनीत कर दिया है। परिणाम यह हुआ कि सूर का शृंगार निर्दोष, दिव्य और अनुपम हो गया है। इस प्रकार सूर प्रायः सभी अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की अपेक्षा शृंगार का उन्नयन करने में सबसे अधिक सफल हुए हैं और यह उन्नयन मानव-गुणों की परिधि में ही हुआ है। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर था किन्तु सूर की यही विशेषता भी है कि इसे उन्होंने सहज और साकार कर दिया।

धार्मिक काव्य के दो पक्ष होते हैं—एक ईश्वरत्व और अलौकिकत्व का निरूपण दूसरे नीति, उपदेश, मर्यादा तथा आदर्श आदि का दृष्टिकोण। भागवत में इन

दोनों पक्षों का विस्तृत निरूपण है। उसमें न केवल चौबीस अवतारों की कथा है, वरन् लोक-धर्म, वर्ण-व्यवस्था, नीति, लोकाचार, पुण्य-पाप और क्षत्रिय-कुलों की वंशावली आदि भी है। सूरदास जी भक्त होने के कारण धार्मिक काव्य के आध्यात्मिक पक्ष की ओर सचेष्ट थे। भागवत के अन्य करोड़ों आख्यानों को उन्होंने अपने भक्ति-काव्य के लिए आवश्यक न समझा। उनका भक्त हृदय नीति-उपदेश और मर्यादा-संयम आदि के प्रतिबन्ध को स्वीकार करने को तैयार न था। सूर तो अपने मोहन की बाँकी अदाओं पर इतना बिक गये थे कि नीति और मर्यादा के बन्धन उन्हें बाँध न सके। उनके लिए पाप-पुण्य, नीति-अनीति और श्लील-अश्लील आदि का भेद शून्य हो गया और इस प्रकार उन्हें मनोनुकूल विषय की अभिव्यक्ति को उन्मुक्त क्षेत्र मिल गया।

तात्पर्य यह कि सूर-साहित्य में एक ओर तो आध्यात्मिक रहस्य आद्योपान्त है, जिसके कारण हम इसे निस्सन्देह धार्मिक काव्य मानते हैं और दूसरी ओर उसमें भावों की वह बन्धन-विहीन क्रीड़ा-भूमि है जिसमें लौकिक शृंगार-लीला को भी सम्यक् विकास पाने का पूर्ण अवकाश प्राप्त है।

भाव-भूमि—कवि के दो व्यक्तित्व होते हैं—एक लौकिक और दूसरा नितान्त व्यक्तिगत। लौकिक व्यक्तित्व में वह साधारण मानव की भाँति सुख-दु:खादि की सीमा के अन्तर्गत रहता है। यह जगत के विचार, लोकादर्श, विधि-निषेध आदि की ओर जागरूक रहता है। 'स्वान्त:सुखाय' रचना करते हुए भी अन्तराल में कवि-सुयश की एक क्षीण रेखा टिमटिमाती रहती है।[१] ऐसा कवि नीति और लोक-हित पर प्रधान दृष्टि रखता है। वह अपने अन्तर्जगत् की अपेक्षा बाह्य-जगत् के कार्य-व्यापारों का अंकन अधिक करता है। व्यक्तिगत भावों को व्यक्त करता अवश्य है पर परोक्ष रीति से—अपने किसी पात्र के माध्यम से। उसका काव्य प्राय: प्रबन्ध का सहारा लेता है और वह आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों के चुनने और उनका सरस चित्रण करने में दत्तचित रहता है।

इसके ठीक विपरीत जिस कवि का व्यक्तित्व आत्मपरक होता है उसकी सुख-दुखात्मक अनुभूति साधारणीकृत होती है। निजत्व और परत्व की सीमा से परे होकर वह भय-विषाद तथा हर्षोल्लास से समन्वित तान अलापता है। श्लाघ्य-हेय, कु-सु, शोभन-अशोभन सब में वह समान स्वर्णाभा देखता है और जैसा देखता है उससे भी अधिक मनोहर चित्रित करता है। वह कलाकार है और अपनी कला के अतिरिक्त और कुछ देख ही नहीं सकता। जो कुछ उसकी स्वानुभूति है उसकी अभिव्यंजना के अतिरिक्त और कुछ जानने, सुनने या व्यक्त करने का उसे अवकाश ही नहीं है। दूसरों की आलोचनाओं पर सोचने की कौन कहे, वह स्वयं भी अपनी रचना के सदसत् रूप पर पुनर्विचार

---

१. **भाग छोट अभिलाख बड़, करउं एक विस्वास।**
दैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास।।

—तुलसी-रामचरितमानस, बालकांड, दोहा ८

नहीं कर पाता। उसका काव्य कोई प्रबन्ध लेकर नहीं चलता, उसमें तो निजी अनुभूतियों का गानमात्र ही होता है, किसी प्रबन्ध का सहारा लिया भी तो अनुभूति के व्यक्त करने के साधन रूप में ही। भावना से विह्वल कवि के लिए सम्भव नहीं है कि वह वस्तु रूप में चरित-काव्य का निर्माण कर सके। कलाकार का व्यक्तित्व उसे भाव-जगत में ही बाँध रखता है। स्थूल-चरित भी उसकी प्रवृत्ति में ढलकर हृदयस्थित आनन्द-सागर में तिरोहित हो जाता है। वस्तु-जगत् का जब वह चित्रण करने लगता है तब उसके आनन्द-सागर की एक लहर उठती और समस्त वस्तु-चित्र आच्छादित कर लेती है। भावुकता का ही साम्राज्य वहाँ दिखाई पड़ता है।

इस भावुकता के तीन प्रधान गुण होते हैं—१. विस्तार, २. तीव्रता, और ३. सूक्ष्मता। कवि का भाव-क्षेत्र विशेषोन्मुख होता है। जब वह जीवन के समग्र रूप को न लेकर उसका एक अंश मात्र ही ले पाता है तब इस सीमित क्षेत्र में वह इतना अधिक विस्तार प्रस्तुत करता है कि उससे आगे विस्तार की सम्भावना ही नहीं रह जाती। भावुकता में निमग्न कवि न केवल भाव-क्षेत्र का विस्तार प्रस्तुत करता है वरन् उन भावों में निहित तीव्रता अंकित करता है। उसके भावों में अपूर्व आवेश होता है, पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द में भावों की गहराई होती है। मर्मस्पर्शिता उनमें इतनी होती है कि पाठक या श्रोता अपने को भूलकर कवि की भावधारा में बह उठता है। भावों की तीव्रता के साथ ही भावों की सूक्ष्मता भी उसमें होती है। कवि में सूक्ष्म-तरल भावों को पहिचानने की अपूर्व शक्ति होती है। उसी के बल पर वह मनोभावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्र उपस्थित करता है।

सूर-साहित्य में भावुकता के उक्त तीनों गुणों का समावेश सबसे अधिक है। काव्य का आनन्द-पक्ष ही कवि का लक्ष्य है। आवेश-तत्त्व जितना सूर के गीतों में है अन्यत्र सम्भवतः उपलब्ध नहीं हो सकता। सूर-काव्य की इस विशेषता ने ही उसके शिल्प-विधान का स्वरूप निर्माण किया है। अतएव आवश्यक है कि भावुकता की उक्त तीन कसौटियों का संक्षिप्त परिशीलन कर लिया जाय।

विस्तार—सूरसागर में भावुकता के सरस स्थल वे ही हैं जिन्हें हम कवि के मौलिक प्रसंग कहते हैं। रस की दृष्टि से वात्सल्य और शृंगार के अन्तर्गत इनका सन्निवेश हो जाता है। कृष्ण-जन्म और बधाई, नामकरण, अन्नप्राशन, कृष्ण का चलना, बाल-छवि-वर्णन, कर्णछेदन, चन्द्रप्रस्ताव, क्रीड़न, माखनचोरी, गोदोहन और गोचारण प्रसंगों में वात्सल्य के अन्तर्गत विविध भावों का निरूपण हुआ है। कृष्ण-जन्म के साथ-ही-साथ नंद-यशोदा तथा ब्रज-वासियों में हर्षोल्लास का एक सागर लहर उठता है[1], नन्द द्वार पर भीड़[2] एकत्र हो जाती है, सखियाँ परस्पर वार्तालाप करती हैं, कोई वस्त्र-भूषण पहनती है कोई नहीं पहनती, दूध-दधि-रोचन आदि से भरी कंचन

---

१. सूरसागर (ना० प्र० सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या २४।

२. वही, २५

थार लेकर नंद-घर को प्रस्थान करती हैं। बधाई-गान[1] होते हैं, नन्द-द्वार पर निसान[2] बजता है, चारों ओर दान होता है। गोपी-ग्वाल ताली बजाकर नाचते हैं। सूत, मागध और भाट बिरुदावली गाते हैं। डाढी-डाढिन का नाच-गान होता[3] है। गौरी, गनेश[4] और शारदा की विनती होती है। बाल-वृद्ध, नर-नारी, यमुना, वनस्थली, आकाश सब में अपार हर्षोल्लास होता है। आनन्द-सागर की उत्ताल तरंगें उमड़ती दृष्टिगोचर होती हैं।

कृष्ण का पालने में शयन करना, घुटरुनों चलना, पाँवों चलना अपार आनन्द का सृजन करता है। उनकी बाल-छवि का विस्तृत वर्णन सूरदास जी करते हैं। कृष्ण के बढ़ने के साथ ही नंद-यशोदा और गोप-गोपियों में कृष्ण के निरापद जीवन के लिए अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं। माँ अपने लाल के बड़े होने की, उसे माँ कहने की, तोतली वाणी से बोलने और आँचल पकड़कर हठ करने की अभिलाषाएँ करती है[5] कनछेदन के अवसर पर माँ का हृदय काँप उठता है। जब कृष्ण पूतना, तृणावर्त, शकटासुर आदि का निपात कर देते हैं तब यशोदा का मातृ-हृदय भय से त्रस्त हो उठता है। माखन-चोरी का प्रसंग मातृ-हृदय के चित्रण का अनुपम स्थल है। कृष्ण-रूप की प्यासी गोपियाँ अभिलाषा करती हैं कि कभी कृष्ण हमारे घर माखन-चोरी के निमित्त आवें।[6] जब कृष्ण उनके यहाँ चोरी करते हैं तो छिपकर गोपियाँ दर्शन-लाभ करती हैं और फिर फूली हुई इतराती फिरती हैं।[7] इस आनन्द की प्रतिक्रिया घर-घर में होती है और माखन-चोरी के व्यापक रूप—उपालम्भ, यशोदा और गोपियों की नोंक-झोंक, कृष्ण की बाल-सुलभ चेष्टाएँ, प्रेम-ठगोरी, उत्तर-प्रत्युत्तर, गोपियों और यशोदा की विवशता, यशोदा की खीझ, ऊखल-बन्धन, गोपियों की आलोचना तथा यशोदा की ग्लानि आदि पर एक-से-एक बढ़कर पद मिलते हैं।

---

१. सूरसागर (ना० प्र० सभा) दशम स्कन्ध पद संख्या २७, २८।

२. वही, ३० से ३४।

३. वही, ३५ से ३९।

४. वही, ४०।

५. वही, ७६।

६. **ब्रज जुवती इक पाछै ठाढ़ी, सुनत श्याम की बात।**
मन मन कहति कबहुँ अपने घर, देखौं माखन खात॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद संख्या २६४।

७. **फूली फिरति ग्वालि मन में री।**
पूछति सखी परस्पर बातें पायौ परयौ कछू कहुँ तैंरी।
पुलकित रोम रोम गद्‌गद्‌ मुख बानी कहत न आवै।
× × ×
सूरदास वह ग्वालि सखिन सौं देख्यौ रूप अनूप॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद संख्या २६६।

यशोदा का वात्सल्य सर्वत्र प्रधान रहता है। कृष्ण की अलौकिक लीलाओं का प्रभाव सब पर पड़ जाता है पर माता यशोदा पर नहीं। माटी-भक्षण जैसे प्रसंगों पर उन्होंने स्वयं भी इनका विराट रूप देखा था तथापि स्वप्न सुनकर वे अकुला उठती हैं, अपशकुन देख चिन्ता से उद्विग्न हो जाती हैं और असुरों के निपात की कहानी सुन कर आश्चर्य में पड़ जाती हैं। वे समझ नहीं पातीं कि कृष्ण जैसा नन्हा बालक ऐसे कार्य कैसे कर सकता है। वे बार-बार उन्हें वन जाने से रोकती हैं।[1] गोवर्धन-धारण के पश्चात् वह कृष्ण के हाथ दबाती हुई बार-बार पूछती हैं कि तुमने गोवर्धन को कैसे उठाया ? अक्रूर के आने पर वे बिलखती हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि उनके सुकुमार बालक कंस के मल्लों का सामना कैसे करेंगे ? मातृ-हृदय का चित्रण सूरदास जी ने केवल यशोदा के द्वारा ही नहीं किया है, देवकी, रोहिणी और राधा-जननी के वात्सल्य के द्वारा भी पूरक रूप में उसे प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार वात्सल्य का बड़ा ही विस्तृत चित्रण कवि ने किया है और लगभग ७०० पदों की रचना सूरसागर में इस प्रसंग पर मिलती है। वत्सल स्थायी भाव तो सर्वत्र है ही, हर्ष, अभिलाषा, औत्सुक्य, गर्व, उत्साह, अमर्ष, क्षोभ, ग्लानि, शंका, चिन्ता, त्रास, विषाद, मति और दैन्य आदि संचारी भावों को भी प्रचुर स्थान प्राप्त है। कृष्ण और राधा के सौन्दर्य-वर्णन, उनकी चेष्टाओं, उमंग भरी निश्छल क्रीड़ाओं और बाल-सुलभ मनोदशाओं के सफल चित्रण में बाल-हृदय एवं मातृ-हृदय का जो विषद वर्णन सूरदास जी ने प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वात्सल्य के पश्चात् सूर की भावानुभूति के दर्शन शृंगार में होते हैं। सूर की कला-कृति का सबसे बड़ा भाग शृंगार रस के अन्तर्गत ही प्राप्त होता है। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अधिकांश प्रसंग शृंगार में ही अन्तर्भूत होते हैं। शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का सूरदास जी ने दिल खोलकर निरूपण किया है। श्रीकृष्ण-सौंदर्य-वर्णन, मुरली-स्तुति, श्री राधा-कृष्ण-मिलन, सुख-विलास, चीर-हरण, रास पंचाध्यायी, श्रीकृष्ण-विवाह, गोपी-गीत, रास, नृत्य, जल-क्रीड़ा, श्रीकृष्ण-ज्यौनार, गोपी-मुरली-प्रसंग, पनघट-लीला, दान-लीला, ग्रीष्म-लीला, यमुना-गमन, युगल-समागम, नैन और आँख समय के पद, मान-लीला, दम्पति-विहार, खंडिता प्रकरण, राधा-मान, सुखमा-वृन्दा-गृहगमन, झूलन, वसन्त-लीला वर्णन संयोग के अन्तर्गत और कृष्ण का मथुरा-गमन, गोपी-विरह-वर्णन तथा भ्रमरगीत वियोग के अन्तर्गत हैं।

---

१. जसुमति सुनि सुनि चकित भई।
मैं बरजति बन जात कन्हैया, काधौं करे दई॥
कहाँ कहाँ तें उबरयो मोहन, नैकु न तऊ डरात।
आपुन कहा तनक सौं, बन में, सुनों बहुत में घात।
मेरो कह्यो सुनौ जो स्रवननि, कहति जसोदा खीझत।
सूर-स्याम कह्यो बन नहिं जैहौं, यह कहि मन मन रीझत॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद ४३४

तात्पर्य यह कि सूर-सागर में प्रेम की विविधता के दर्शन होते हैं। उसमें पूर्व-राग, संयोग और वियोग तीनों ही बड़े विस्तार से मिलते हैं। पूर्वराग में राधा-कृष्ण मिलन, एक दूसरे के घर आना-जाना, गो-दोहन, गारुड़ी लीला और राधा-कृष्ण-प्रणय तथा सुख-विलास आते हैं। इस विस्तार में सूरदास जी अपना संयम छोड़ बैठते हैं। सात[1] वर्ष के राधा-कृष्ण का पूर्वानुराग परकीया-प्रणय में परिवर्तित दिखाई पड़ता है। राधा-कृष्ण का सुरति-विलास[2] तक वे निःसंकोच उपस्थित करते हैं। उनके लिए कृष्ण और राधा बालक-बालिका नहीं रह जाते। प्रतीत होता है कि कवि अपनी कल्पना में इतना आत्मविभोर हो गया कि राधा-कृष्ण का वय-क्रम सर्वथा भूल गया। प्रेम की उन सभी अवस्थाओं का वर्णन सूरसागर में प्राप्त होता है जिनको काव्य-शास्त्र में स्थान मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि सूर का शृंगार निरूपण रीतिकालीन कवियों के शृंगार निरूपण से भिन्न है। नायिका-भेद साहित्य-लहरी में है। सूरसागर में भी विविध प्रकार की नायिकाओं के दर्शन होते हैं। सूरसागर में सूरदास जी का उद्देश्य नायिका-भेद प्रस्तुत करना न था फिर भी उनका उद्देश्य प्रभु की लीला का वर्णन काव्य शास्त्रोक्त[3] रीति से उपस्थित करने का अवश्य था। उन्होंने प्रेम-लीला के वर्णन में लोक-वेद की कोई चिन्ता नहीं की। विस्तार के आधिक्य से उसमें बहुनायकत्व का समावेश भी हो गया है।

सूरसागर में वियोगात्मक अवसर उतने अधिक नहीं हैं जितने संयोगात्मक। संयोग लीलाओं की संख्या बहुत बड़ी है। विरह के तो दो ही अवसर मिलते हैं—एक अक्रूर के आने पर गोपियों की उद्विग्नता तथा कृष्ण के मथुरा-गमन पर परस्पर-विरह-व्यंजना और दूसरे उद्धव के आगमन पर भ्रमरगीत। इतने पर भी पद-संख्या विरह-

---

१. भई बरस सात की सुभ घरी जातकी, प्यारी दोउ भ्रात की बची भारी।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, ६६६

२. नवल गुपाल नवेली राधा नये प्रेम रस पागे।
अन्तर बन बिहार दोउ क्रीड़त आप आपु अनुरागे।।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद ६८६

तथा—
हरि हंसि भामिनी उर लाइ।
सुरति अन्त गोपाल रीझे जानि अति सुखदाय।
× × ×
देखि बाला अतिहि कोमल, मुख निरखि मुसकाइ।
सूर-प्रभु रति पति के नायक, राधिका समुहाइ।।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद ६६०

३. काव्य कथा अपि नीता। काव्योक्त प्रकारेणगीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रतिं कृतवान्। तत्र हेतु रसाश्रयाः इति। —महाप्रभु की सुबोधिनी टीका १०।३३।२६
(सूर निर्णय, पृष्ठ १४५ से उद्धृत)

प्रसंग में बहुत है। संयोग लीलाओं के पद सूरसागर में २,१०५ हैं और वियोग लीलाओं के १,११०।

शास्त्रीय दृष्टि से विरह की चार अवस्थाएँ होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणात्मक स्थिति। सूरसागर के पूर्वराग में विरह-व्यंजना कम है। उसमें संयोग-सुख ही अधिक है। दो-चार[1] पद ही विरह व्यंजना प्रस्तुत करते हैं। मान-प्रसंग में अवश्य ही मीठी कसक भरी वेदना प्रचुर मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। प्रवास अवस्था का विरह भ्रमरगीत में मिलता है। विरह की ग्यारह अवस्थाओं—अभिलाषा, चिन्ता, गुण-कथन, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण—तथा प्रवास-विरह की दस स्थितियों—असौष्ठव, मलिनता, सन्ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधृति, विवशता, तन्मयता और उन्माद—सभी के उदाहरण मिल जाते हैं। विरह में ऋतुएँ और वातावरण उद्दीपन के कार्य करते हैं। यद्यपि काव्यशास्त्रीय दृष्टि रखकर उन्होंने विरह का वर्णन नहीं किया था तथापि विरह-पदों के विस्तार में सभी अवस्थाओं का वर्णन स्वतः भर गया। करुणात्मक विरह दुखान्त काव्यों में ही मिला करता है। भारतीय काव्य-परम्परा में इसका वर्णन प्रायः नहीं मिलता पर सूर के काव्य में करुणात्मक विरह भी मिल जाता है क्योंकि गोपी-कृष्ण-वियोग तो चिर-वियोग ही सिद्ध हुआ। कृष्ण के द्वारका चले जाने पर गोपियों की रही-सही आशा भी जाती रही।[2]

कुरुक्षेत्र में कृष्ण का गोप-गोपियों से मिलना मौलिक प्रसंग है। सम्भवतः भक्ति-काव्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये ही सूरदास जी ने इस प्रसंग की अवतारणा की है और राधा-माधव की रहस्यात्मक अभिन्नता दिखाकर करुणात्मक विरह को आध्यात्मिक आनन्द में डुबाना चाहा है।[3] निस्सन्देह यह कल्पना सूर की प्रतिभा का अप्रतिम उदाहरण है। कवि ने पुष्टिमार्गीय शाश्वत वृन्दावन-विहार के तत्त्व-

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध पद ६७०, ६७१ और ७३६।

२. **अब निज नैन अनाथ भए।**
मधुवन ते माधव सखि सुनियत औरौ दूरि गए।
मथुरा बसत हुती जिय आसा, औ लगतो त्यौहार।
अब मन भयौ भीम के हाथी, सुनियत अगम अपार।
सिन्धु कूल इक नगर बसायौ, ताहि द्वारिका नाऊँ।
यह तन सौंपि सूर के प्रभु कों, और जनम धरि जाउँ॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४२५३

३. **राधा-माधव भेंट भई।**
राधा माधव माधव-राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
× × ×
सूरदास प्रभु राधा-माधव ब्रज बिहार नित नई नई॥
—सूरसागर (सभा), पद संख्या ४२९२

निर्देश द्वारा करुणात्मक विरह पर आध्यात्मिक आनन्द का परिच्छद डाल दिया है। इसके द्वारा न केवल राधा-कृष्ण-प्रणय-लीला की पुनीतता और महत्ता प्रकाशित होती है वरन् कला अपने गन्तव्य पर भी पहुँच जाती है, भागवत की भाँति अधूरी नहीं रह जाती।

तीव्रता—महाकवि की दृष्टि भावात्मक सत्ता के विस्तार में जितनी दूर जाती है उतनी ही भाव की गहराई में भी पैठती है। बिना गहराई तथा सूक्ष्मता के विस्तार नीरस हो जाता है और सहृदय को उससे तृप्ति नहीं मिलती। सूरदास जी के वात्सल्य, संयोग और वियोग के सभी पदों में भावों की तीव्रता अपने परमोत्कर्ष पर पहुँची हुई है। उसमें आनन्द की सिद्धावस्था का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। काव्य के मूल भाव प्रेम का ऐसा विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है कि पाठक का मन रस के सागर में निमग्न हो जाता है। उसमें दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की तीव्रतम स्थिति मिलती है। प्रेम के सुखात्मक और दुखात्मक, दोनों प्रकार के, भावों में प्रेमानन्द का अकूल सागर भावोर्मियों से विलोड़ित होता है। कवि ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही पक्षों का सूक्ष्मतम और गहनतम चित्रण प्रस्तुत किया है। बाह्य चित्रण में नयनाभिराम सौंदर्य, अनुकूल रम्य प्रकृति की पृष्ठभूमि, मोहिनी लीलाएँ, चमक-दमक, मुरली की तान, मनोहारिणी माखन-चोरी, दान, मान, रास आदि की लीलाएँ, संगीत, नृत्य, परिहास, इत्यादि तथा आभ्यन्तर चित्रण में प्रेमानुभूति की चरमावस्था, उल्लास, मादकता, औत्सुक्य, विरह-वेदना, हृदयपरवशता आदि के हृदयहारी वर्णन मिलते हैं।

कृष्ण की बाल-छवि, उनकी बाल-सुलभ-चेष्टाएँ, नटखटपन, प्रत्युत्पन्न मति, सहज-वाचालता आदि हृदय पर अधिकार करने वाली हैं। कृष्ण सौंदर्य को कवि केवल उपमा-उत्प्रेक्षा आदि के सहारे ही प्रस्तुत करके नहीं रह जाता वरन् उसका ऐसा विश्व-व्यापी प्रभाव दिखाता है कि उसमें प्रत्येक गोप-गोपी, सुर-नर-मुनि, पशु-पक्षी सभी आनन्द-नद में लहरते दृष्टिगोचर होते हैं। हर्ष नन्द और यशोदा के घर में ही नहीं है बल्कि जल, थल, आकाश सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी तथा सृष्टि का प्रत्येक अणु भावावेश और आनन्द में मग्न है—

आजु तो बधाइ बाजे मंदिर महर के,
फूले फिरें गोपी ग्वाल ठहर ठहर के।
फूले फिरें धेनु धाम, फूली गोपी अंग अंग,
फूलें फलें तरवर, आनन्द लहर के।
फूले बन्दीजन द्वारे, फूले फूले बन्द वारे,
फूले जहाँ जोइ सोइ, गोकुल सहर के।
फूले फिरें जादव कुल, आनंद समूल मूल,
अंकुरित पुण्य फूले, पाछिले पहर के।

उमंगें जमुन जल, प्रफुलित कुंज-पुंज,
गरजत कारे भारे, जूथ जलधर के।
नृत्यत मदन फूले, फूली रति अंग-अंग,
मन के मनोज फूले, हलधर वर के।
फूले द्विज सन्त वेद, मिटि गयो कंस खेद
गावत बधाइ सूर, भीतर बहर के।
फूली है जसोदा रानी, सुत जायो सारंग पानी,
भूपति उदार फूले, भाग फरे घर के ॥[१]

सारा वातावरण ही आवेशमय प्रतीत होता है, ब्रजवासियों का हृदय विलोड़ित है, आनन्द की लघुलहरियाँ वर्तुलाकार उद्वेलित हो रही हैं।

संयोग-प्रसंग में तो कवि की भावुकता सीमा का उल्लंघन कर जाती है। प्रथम दर्शन में ही प्रेमांकुर दोनों ओर लहलहा उठे। बिना किसी पूर्व सम्पर्क के ही प्रेमालाप आरम्भ हो गया। राधा पर कृष्ण का जादू चल गया। कृष्ण खेलते हुए उसकी ओर देखते गए, उसका तन-मन चुरा ले गये।[२] राधा उद्विग्न हो उठती है। वह कहती है अब तो मेरा जी रह नहीं सकता क्योंकि जहाँ देखती हूँ वहीं माधुरी मूर्ति दिखाई पड़ती है, स्मरण आते ही मदन की ज्वाला उठती है।[3] पीछे हम कह चुके हैं कि भावुकता की तीव्रता के कारण सूरदास जी को परिस्थितियों तथा राधा-कृष्ण के वय-क्रम आदि का कोई ज्ञान नहीं रह गया और शैशव में ही राधा और कृष्ण 'नवल गुपाल नवेली राधा' बन गये और 'प्रेम रस में पग गये', मदन की ज्वाला जलने लगी, अंगस्पर्श आदि की रस-राशि लुटाने और लूटने लगे।[४] हृदय से हृदय मिलाने के लिए कंठों के हार

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ३४।

२. मेरे हिय लागो मन मोहन, ले गये री चित चोरि।
जबहीं ईंहि मारग ह्वै निकसे, छवि निरखत तृन तोरि।
× × ×
ब्रज लरिकन संग खेलत डोलत हाथ लिए चक डोरि।
सूर स्याम चितवत गए मोतन तन मन लियो अंजोरि।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ६७०

३. तव तें मेरो ज्यों रहि न सकत।
जित देखौं तितही मृदु मूरति नैननि में नित लागि रहत।
× × ×
अब मैं कहा करौं री सजनी सुरति होति तब मदन दहत।
सूर स्याम मेरो मन हरि लियो, सकुच छाँड़ि मैं तोहि कहत।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६७१

४. नवल गुपाल नवेली राधा नये प्रेम रस पागे।
अन्तर वन विहार दोउ क्रीड़त आपु आपु अनुरागे॥

उतारने लगे, एक दूसरे की भुजाओं पर भुजाएँ रखने और आलिंगन, चुम्बन और अधर-पान में निरत होने लगे ।[1] सुख-विलास के प्रत्येक पद में भाव-तीव्रता चरम सीमा की है, शब्द-शब्द में सांकेतिक व्यंजना अतीव मधुर और गहरी है । रास, वृंदावन-विहार और जल-क्रीड़ा के समस्त पद भाव-प्रवणता के तीखेपन और मनोवैज्ञानिक-पर्यवेक्षण से ओत-प्रोत हैं ।

भ्रमरगीत में गोपी-विरह की भाव-प्रवणता का गम्भीरतम चित्रण है । बेचारी राधा विरह में विसूरती बैठी है, नींद भी नहीं आती कि स्वप्न में ही कृष्ण-दर्शन करे। किसी प्रकार पलक झँपी, स्वप्न में कृष्ण-दर्शन हुआ ही था कि भावावेश में वह चौंक पड़ी, तड़पकर रह गयी —

> **सुपनें हरि आए हौं किलकी**
> **नींद जु सौति भई रिपु हमकौं सहि न सकी रति तिलकी**
> **जो जागौं तौ कोऊ नाहीं, काके रहति न हिलकी ।**
> **तन फिरि, जरन भई नख-सिख तें दिया बाति जनु मिलकी ।[2]**

गोपियाँ कृष्ण के बिना व्याकुल हैं । उनकी समझ में नहीं आता कि कृष्ण ने उनसे मुख क्यों मोड़ा ? आवेश की अन्तिम परिणति आँसू है। आँसू सावन-भादों के मेह की भाँति बह निकलते हैं और निरन्तर बहते चले जाते हैं—

> **निस दिन बरसत नैन हमारे ।**
> **सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे ।**
> × × ×
> **आँसू सलिल सबै भइ काया पल न जात रिस टारे ।**
> **सूरदास प्रभु यहै परेखो गोकुल काहे बिसारे ।[3]**

उद्धव के आने पर कुछ आशा हुई । घर-घर में बधाइयाँ हुईं किन्तु हाल-चाल पूछते ही हृदय सशंकित हो उठा । सबका दिल धड़कने लगा। सब अकबकाए खड़े रहते हैं, उनकी दशा देखकर उद्धव भी स्तम्भित हो जाते हैं । उनसे भी कुछ बोला नहीं जाता—

> **कबहुँक बैठि अंस भुज धरि कै पीक कपोलनि पागे ।**
> **अतिरस रासि लुटावति लूटत लालचि लाल सभागे ।**

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६८६

१. **उतारत हैं कंठनि तें हार**
> **हरिहिय मिलन होत है अंतर यह मन कियो विचार ।।**
> **चुम्बत अंग परस्पर जनु जुग चंद करत हित चार।**
> **दसननि बसनि चांपि सु चतुर, अति करत रंग विस्तार ।।**

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६८७

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद संख्या ३२६१ ।

३. वही ३२३६ ।

ब्रज घर घर सब होत बधाइ ।
कंचन कलस दूध दधि रोचन लै वृन्दावन जाइ ।।
मिलि ब्रज नारि तिलक सिर कीनो, करि प्रदक्षिना तास ।
पूछत कुसल नारि नर हरसत, आये सब ब्रजवास ।।
सकसकात तन धकधकात उर, अकबकात सब ठाढ़े ।
सूर उपंग सुत बोलत नाहीं अति हिरदै ह्वै गाढ़े ।।[1]

उद्धव पत्री प्रस्तुत कर देते हैं । पत्री देखकर उनकी जो दयनीय दशा हुई उसका अत्यंत मर्मस्पर्शी चित्रण कवि ने किया है । कृष्ण के द्वारा लिखे हुए काले अक्षर देखकर वे अधीर हो उठीं । पढ़ना तो दूर आँसू से भीगी हुई सारी पत्री काली होकर कृष्ण-रंग हो गयी । गोपियाँ 'प्राणनाथ तुम कबहिं मिलोगे' कहकर चीख उठीं ।

निरखति अंक स्यामसुन्दर के बार बार लावति लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलकै ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती ।।

× × ×

प्राणनाथ तुम कबहिं मिलोगे सूरदास प्रभु बाल संघाती ।[2]

गोपियों की झुँझलाहट, उनकी कटूक्तियाँ, प्रलाप सभी हृदय-द्रावकता के स्वाभाविक रूप हैं । भ्रमरगीत की प्रत्येक पंक्ति इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि सूर के पदों में जितना ही विस्तार है उससे भी अधिक है उसमें अनुभूति की तीव्रता और सूक्ष्म ग्राहकता । भ्रमरगीत में राधा की चर्चा बहुत ही कम है । केवल दो-चार पदों में ही उनका उल्लेख मात्र है । फिर भी कवि ने कम से कम शब्दों में जैसा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है वैसा कदाचित् ही कहीं उपलब्ध हो सके—

"अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि-श्रम-जल भीज्यो उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी ।।
अधमुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी ।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी ।।
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक विरहिन दूजे अलि जारी ।
सूरदास कैसे करि जीवैं ब्रजबनिता बिन स्याम दुखारी ।"[3]

विरहिणी का शुद्ध, सरल तथा हृदय-द्रावक चित्र है । रीतिकालीन कवियों के ऊहात्मक वर्णन या तुलसी के मर्यादित और गम्भीर वर्णन इस पद की भाव-प्रवणता के सम्मुख फीके पड़ जाते हैं । राधा के चित्रण में कवि केवल शारीरिक कृषता और निर्बलता ही का उल्लेख करके नहीं रह जाता, वह तो उसके शुद्ध हृदय की परवशता, दैन्य, वेदना, रोषहीनता और आशा की टिमटिमाती किरण की व्यंजना से विरह को अत्यन्त ही पुनीत और मार्मिक बना देता है । उद्धव के द्वारा भी कृष्ण के समक्ष राधा के सम्बन्ध में सूर

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ३४७६ ।
२. वही ३४८७ ।
३. वही ४०७३ ।

ऐसा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करवाते हैं—

जब संदेसो कहन सुंदरि गवन मोतन कीन ।
छुटी छुद्रावलि चरन, अरुझी गिरी बलहीन ।।
कण्ठ वचन न बोलि आवे, हृदय परिहस भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन ।।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन ।
सूर हरि के परस कारन, रही आसा लीन ।।[1]

सूक्ष्मता—सूर होते हुए भी सूरदास जी के प्रज्ञा-चक्षु अन्तस्तल के गहनतम स्थल तक पहुँच जाते थे । उनकी सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति, बाल-वर्णन, संयोग-वर्णन और वियोग-वर्णन में अनुपम है । दो-एक उदाहरण ही हमें यहाँ प्रस्तुत करने हैं—

शैशवावस्था में कृष्ण पालने में सो रहे हैं । माँ सुलाने के लिए लोरी गा रही है—

मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै ।
तू काहै न बेगिहो आवै तोकौं कान्ह बुलावै ।।

इस समय बाल-सुलभ मनोदशा का मनोहारी चित्र सूरदास जी प्रस्तुत करते हैं । लोरी के स्वर से नींद की ओर उन्मुख शिशु कभी पलकें बन्द करता है और कभी अधर फड़काता है । माँ भुलावे में आती है और बालक को सोता जानकर मौन होती ही है कि कृष्ण अकुला उठते हैं और माँ का मधुर-गीत फिर चलने लगता है ।[2]

इसी प्रकार जब कृष्ण बड़े होकर ग्वाल-बालों के साथ खेलते हैं, तो प्राय: बालकों से झगड़ते हैं । सब बालक उन्हें खिझाते हैं, कहते हैं कि तू तो नन्द-यशोदा का जाया नहीं है, मोल लिया गया है क्योंकि वे दोनों गोरे हैं और तू काला है । इस पर तमतमाए हुए मुख से कृष्ण माँ के पास पहुँचते हैं और माँ के सम्मुख अक्षरश: बयान करते हैं । माँ उनकी इस रोष की मुद्रा पर विह्वल होती है और अपने गोधन की सौगंध खाकर कृष्ण को विश्वास दिलाती है कि मैं तेरी माँ हूँ और तू मेरा पुत्र है ।[3]

माखन-चोरी-प्रसङ्ग सूक्ष्म भावाभिव्यंजना का अनन्त कोष है । गोपियों की कृष्ण द्वारा माखन-चोरी की कामना, छिपकर सौन्दर्य-दर्शन, कृष्ण का अपनी परछाईं को माखन खिलाना, धर-पकड़ और कृष्ण का बातें बनाना सभी एक से एक बढ़कर हैं । कृष्ण मक्खन चुराते पकड़े गये, मुँह में मक्खन लगा है, पोंछने भी नहीं पाये । इतने में कह उठते हैं—

देखि तुही सीके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, मैं कैसे करि पायौ ।।[4]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ४१०७ ।
२. वही ४३ ।
३. वही २१५ ।
४. वही ३३४ ।

यह सुनते ही यशोदा का मुस्कराना स्वाभाविक है। सांटी फेंककर वह गले लगा लेती हैं। यशोदा और गोपियों की नोंक-झोंक में ऐसे एक से एक सुन्दर उदाहरण हैं।

बाल-लीला में सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति के कितने ही स्थल भरे पड़े हैं। आवेश और सूक्ष्मता की यह पराकाष्ठा एवं भावों की तीव्रता वात्सल्य-निरूपण में अन्यत्र कहीं किसी भी कवि में उपलब्ध नहीं हैं।

राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला में भी यही सूक्ष्मदर्शिता द्रष्टव्य है। प्रणय का आरम्भ ही है। राधा बिना कृष्ण के देखे रह नहीं सकतीं, क्षण भर भी उन्हें नहीं सुहाता, खान-पान भूल जाता है। अपने भाव व्यक्त नहीं कर सकतीं। गाय दुहाने का बहाना लेकर माँ से दोहनी माँगकर कृष्ण-मिलन को जाती हैं—

नागरि मन गई अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल, घर न नेकुं सुहाइ॥
स्याम सुन्दर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ।
चित चंचल कुँवरि राधा, खान पान भुलाइ॥
कबहुँ विहँसत, कबहुँ बिलपति, सकुच रहति लजाइ।
मातु पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ काइ॥
जननि सों दोहिनी माँगति, वेगि दे री माइ।
सूर प्रभु कों खरिक मिलिहौं गये मोहिं बुलाइ॥[1]

अक्रूर जब कृष्ण को मथुरा ले जाने को आते हैं तब ब्रज में बड़ी उद्विग्नता छा जाती है। अभी उन्हें कृष्ण के मथुरा-गमन की भनक ही मिली है पर सभी कातर हो उठे—

सब मुरझानी री चलिवे की सुनत भनक।
गोपी-ग्वाल नैन जल ढारत गोकुल ह्वै रहनो मूँद चनक।
वसन मलीन हीन देखियत तन एक रहति जो बनी बनक।[2]

उन्हें शंका होने लगी कि यदि श्याम चले गये तो क्या हमारे प्राण रह सकेंगे? श्याम ही ब्रजवासियों के सर्वस्व हैं। इनको प्रतिक्षण देखे बिना भला लोग कैसे जियेंगे? कृष्ण के चलने पर तो उनकी दशा बड़ी दयनीय हो गयी—

रही जहाँ सो तहाँ सब ठाढ़ी।
हरि के बदन देखियत ऐसी मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी॥
सूखे बदन स्रवति नैननि तें जलधारा उर बाढ़ी।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी॥[3]

कृष्ण-विरह का दुख तो है ही, उन्हें सबसे बड़ा कष्ट इस बात से हुआ कि कृष्ण बड़े कठोर हो गये, चलते हुए उन्होंने उनकी ओर देखा तक नहीं—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ६७२।
२. वही २९६२।
३. वही २९६४।

चलतहुँ फेरि न चितये लाल
नीकैं करि हरि मुख न विलोक्यौ, यहै रह्यौ उरसाल ॥[1]

कृष्ण के जाने पर सब खड़ी-खड़ी पछताती हैं, अपने को धिक्कारती है कि वज्र के समान उनकी कठोर छाती क्यों नहीं फटती, उनके प्राण क्यों नहीं निकलते ? रात में नींद नहीं पड़ती। सारा भवन भयानक लगता है। सारा ब्रज शोक-सागर में निमग्न है। कृष्ण-विरह में सम्पूर्ण ब्रज रोता हुआ दिखाई पड़ता है। गायें अत्यन्त दुबली हो गई हैं। वे आँखों से जल-समूह बरसाती हैं, नाम लेने पर हूकती हैं, दौड़ पड़ती हैं और पछाड़ खा-खाकर गिरती हैं। कुंजें ज्वाल की पुंजें हो गई हैं। घर-बाहर, बनस्थली, पशु-पक्षी, ऋतुएँ, चन्द्र-सूर्य तथा तारागण सभी विरह में जलते दृष्टिगोचर होते हैं। विरह-वर्णन में अतिशयता और कल्पना भी सत्य का ही आधार लेती है। कवि की पैनी दृष्टि विरहानुभूति के सामान्य से सामान्य और सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थल को भी पकड़ लेती है और उसके प्रकाशन में मर्मस्पर्शिता का संचार करती है।

तात्पर्य यह कि सूरदास जी भावुक हृदय थे। उनकी रसानुभूति का क्षेत्र विशाल था। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में न जाकर कुछ एक में ही रम जाना उनका स्वभाव था। किन्तु उनका भाव-क्षेत्र असीम था। इसीलिए सीमित क्षेत्र के भीतर ही उन्होंने विषय का अधिकाधिक विस्तार प्रस्तुत किया। भावों की तीव्रता में सूरदास जी बेजोड़ हैं। इसीलिए सूर के पदों में श्रोता पर प्रभाव डालने की शक्ति अद्वितीय है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा अभीष्ट महाकवि सूर के काव्य-शिल्प का विवेचन है, किन्तु सूर के काव्य-शिल्प में उनकी रसानुभूति ही सब कुछ है। रसानुभूति ही स्वतः ढलकर अभिव्यक्ति बन गई है। सूर की काव्य-प्रतिभा तो ईश्वर-प्रदत्त थी। फिर भी यदि महाप्रभु बल्लभाचार्य के प्रभाव से उनमें लीला-भाव के रसानन्द का आविर्भाव न हुआ होता तो उनका शिल्प-विधान ऐसा सरस, सुरुचिपूर्ण और कलात्मक न बन पाता। सूर का रसावेग और लीला का आह्लाद पक्ष ही स्वतः काव्योपयुक्त पदावली में प्रस्फुटित हुआ। उनकी मधुर, अलंकृत और अर्थ सौरस्यपूर्ण पदावली का कारण उनकी रसानुभूति की विह्वलता और रसावेग की अतिशयता है। जब वे अपने आराध्य के सौन्दर्य-सागर में डुबकियाँ लगाने जाते थे तो उनके सौन्दर्य में उन्हें सागर के सभी अंगों का दर्शन होने लगता था और वे एक अद्भुत सांगरूपक प्रस्तुत कर जाते थे। इसी प्रकार बाल और प्रणय-लीला का आनन्दातिरेक काव्य के शिल्प-विधान में रस-सिक्त पद-समूह अनायास ही भर देता था। **सूर की रसानुभूति प्रकाश-बिम्ब है तो कला उसकी रश्मियां। इसीलिए अपना मूल विषय न होते हुए भी हमने संक्षेप में सूर की सरस भाव-भूमि पर एक दृष्टि डाल ली है।**

चिन्ता-धारा—चिन्ता-धारा कवि की काव्य-धारा का मूल है धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताएँ अनुभूति में गहराई उत्पन्न करती हैं और उनके स्वरूप-निर्माण में महत्त्व-पूर्ण योग देती हैं, इसलिए संक्षेप में उनका संकेत भी आवश्यक है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या २६६५।

सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य की शरण में आने से पूर्व भी कवि थे और पद-रचना करते थे। उन्होंने तपश्चर्या[१] भी की थी। उनकी पद-रचना में भक्त का आत्म-निवेदन तो था पर सरसता और आनन्दातिरेक न था जो लीला-विषयक पदों में प्राप्त होता है। यही कारण है कि सूर के विनय-पदों में वे पद जो पहले के लिखे हुए थे उतने सरस और काव्योपयुक्त नहीं हैं जितने बाद के लीला-विषयक पद। सच तो यह है कि महाप्रभु के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास जी ने अपने को सर्वथा परिवर्तित कर लिया। उन्होंने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त और सेवा-पथ पर चलते हुए अपने शेष जीवन को पुष्टिमार्गी सिद्धान्तों का प्रयोगात्मक रूप ही बना डाला। सम्भवतः इसीलिए 'पुष्टिमार्ग के जहाज' नाम से वे प्रसिद्ध भी हुए।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर सूर का काव्य तथा उनका काव्य-शिल्प उनके पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का परिणाम ही प्रतीत होता है। पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त है शुद्धाद्वैत। बल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार परब्रह्म सच्चिदानन्द है, सदानन्द है और यह आनन्दस्वरूप ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं।[२] भगवान कृष्ण का पूर्ण पुरुषोत्तम रूप लोक-रक्षक भी है और लोकरंजक भी। संसार को आनन्द देने वाला नंदनंदन, रस-रूप है और धर्म की संस्थापना करने वाला असुरों का संहार करने वाला देवकीनन्दन वासुदेव, धर्म-रक्षक-रूप है। सूरदास जी ने सूरसागर में रसरूप कृष्ण की प्रधानता दिखायी है। प्रभु की बाल-लीला और प्रेम-लीला दोनों में ही रसरूप का प्राधान्य है। काव्य में रसावेग का आधिक्य है और इसी कारण शिल्प में पद-माधुर्य, अलंकरण और कान्ति के औज्ज्वल्य का प्राधान्य है। साथ ही स्थल-स्थल पर ईश्वरत्व का भी उद्घाटन है। बाल-कृष्ण के अँगूठा चूसने में प्रलय का चित्र उनकी कल्पना में आ जाता है।[3] शिशु-कृष्ण का सौंदर्य मात्र ही कवि का वर्ण्य-विषय नहीं है, कवि को उसमें अपना प्रभु भी दिखायी पड़ता है। सूर के एक ही पद में हम बल्लभ सम्प्रदाय वाले परब्रह्म के दोनों रूपों--रस-रूप-नन्द-नन्दन और असुरनिकन्दन देवकीनन्दन के रक्षक रूप—का दर्शन ले सकते हैं। सूर की उपमाएँ, उनकी शब्द-योजना और उनकी चित्रण-कला उनकी उक्त विचारधारा पर आधारित होने के कारण असाधारण हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

---

१. शिव विधान तप करचो बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन।

—सूर सारावली—छन्द संख्या १००२

करमयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो। —वही ११०२

२. परंब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानंदकं बृहत्।—सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ३

३. सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत बट बाढ़्यो सागर-जल झेलत।
बिड़रि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग-दंतीनि सकेलत।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ६३

हरि कर राजत माखन रोटी।
मनु वारिज ससि बैर जानि जिय, गह्यौ सुधा ससुधौटी ।।
मेली सजि मुख अंबुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु वराह भूधर-सह-पुहुमी, धरी दसन की कोटी ।।
नयन गात मुसुकात तात-ढिग, नृत्य करत गहि चोटी।
सूरज प्रभु की लहै जु जूठनि, लारनि ललित लपोटी ।।[1]

यहाँ हाथ की माखन रोटी में कमल और सुधा का भान तथा मुस्कराने और चोटी पकड़कर नृत्य करने में आनन्द की अतिशयता कृष्ण का रस-रूप लिये है, साथ ही दाँतों के बीच रोटी की उपमा वाराह भगवान के दाँतों के बीच रखी पृथ्वी से देना उनके असुरनिकन्दन भाव का द्योतक है। अन्त में लार से लपेटी रोटी के जूठन के लिये सूर का ललचना उनकी पुष्टिमार्गीय भक्ति के दृष्टिकोण का परिचायक है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रोटी और पृथ्वी में कोई सादृश्य न होने के कारण अलंकार-दोष है किन्तु चिन्ता-धारा को दृष्टि में रखते हुए इस सादृश्य-विधान में कोई अस्वाभाविकता नहीं प्रतीत होती।

शुद्धाद्वैत के मतानुसार श्रीकृष्ण ही सभी धर्मों के आश्रय रूप हैं। उनकी विशेषता यह भी है कि सभी विरोधी धर्म इनमें साथ ही साथ रहते हैं।[2] इसी विचार-धारा के कारण सूर के कृष्ण बालक होते हुए भी पूर्ण रसिक हैं। आठ और सात[3] वर्ष की अवस्था में ही नवल गुपाल और नवेली राधा यौवन-सुख-विलास में निरत हो सकते हैं।[4] कृष्ण आत्माराम भी हैं और रमणकर्त्ता भी; पूर्णकाम भी हैं और कामार्त्त भी। अच्युत होते हुए भी सभी प्रपंचों से घिरे हैं। परिणाम यह हुआ कि अपने भक्त हृदय की आत्मानुभूति प्रकट करते हुए भी सूर की पद-योजना में शृंगारिक प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। नायिका-भेद तथा रस और अलंकारों का प्रायः वही रूप सूर की कृति में प्राप्त होता है जो परवर्ती रीतिकालीन कवियों में दिखाई पड़ा। सारावली में तो सूरदास जी कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण ठीक शास्त्रीय रीति से करते हैं और उनकी वन्दना इस प्रकार करते हैं—

सोभा अमित अपार अखंडित आप आत्माराम।
पूरनब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।।[5]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या १६४।
२. विरुद्ध सर्व धर्माणामाश्रयो युक्त्यगोचरः। निबन्ध ।।
—सूर निर्णय, पृष्ठ १८५ से उद्धृत
३. आठ बरस के कुँवर कन्हैया इतनी बुद्धि कहाँ ते पायौ।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६६७
भई बरस सात की, सुभ घरी जात की, प्यारी दोउ भ्रात की बची भारी।
—सूरसागर, (सभा) दशम स्कन्ध, पद ६९९
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ६०४ से ६९१।
५. सूर सारावली, छन्द ९९२।

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप ।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप ।।[1]
सकल तत्त्व ब्रह्मांड देव मुनि माया सब विधि काल ।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल ।।[2]
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार ।
ओम्कार आदि वेद असुरहन निर्गुण सगुण अपार ।।[3]

सूरसागर में सूरदास जी ने अपने सिद्धान्त-पक्ष को प्रयत्नपूर्वक दूर रखने का प्रयास किया है फिर भी परब्रह्म का विरुद्ध धर्माश्रयत्व बाल-लीला के प्रसंगों में वे ध्वनित करते गये हैं। दावानल को पान करने वाले भगवान गरम दूध से डरते हैं, अघासुर को मारने वाले भगवान् अँधेरे घर में भय के मारे प्रवेश नहीं करते। उनका आदि, अन्त कोई नहीं जानता, वे ही जगत् के कर्ता और हर्ता हैं—

देखत पय पीवत बलराम ।
तातौ लगत डारि तुम दीन्हौं, दावानल अंचवत नहिं ताम ।।
कबहुँ रहत मौन धरि जल में, कबहूँ फिरत बँधावत दाम ।
कबहुँ अघासुर बदन समाने, कबहुँ अँध्यारे जात न धाम ।।
कबहुँ करत वसुधा सब त्रैपद, कबहुँ देहरी उलँघि न जाइ ।
षटदस सहस गोपिका विलसत, वृन्दावन रस रासि समाइ ।।

× × ×

आदि अन्त कोऊ नहिं जानत हरता करता सब संसार ।
सूरदास प्रभु बाल अवस्था, तरुन वृद्ध को करै निवार ।।[4]

तात्पर्य यह है कि सूरदास जी दार्शनिक विचारों की दृष्टि से अक्षरशः बल्लभाचार्य जी के शुद्धाद्वैत मत के अनुयायी थे और यत्र-तत्र ब्रह्म, जीव, माया और जगत के सम्बन्ध में ठीक वही विचार उन्होंने उपस्थित भी किये हैं। उनका जीवन-क्रम बल्लभ-प्रणीत सिद्धान्तों का क्रियात्मक रूप उपस्थित करने में लगा था। उनके पद उनकी विचार-धारा के सहज प्रकाशन रूप में निकले, अतः प्रत्येक पंक्ति में पुष्टमार्गीय विचार के अतिरिक्त और कुछ हो ही क्या सकता था ? उनके जीवन का एक-मात्र कार्य प्रभु-सेवा रहा है। वे तो अपने मन की वृत्तियों को प्रभु पर समर्पित करके सर्वथा निर्लिप्त थे—

नरदेही पाइ चित्त चरन कमल दीजै।
दीन वचन संतनि संग दरस परस कीजै ।।
लीला गुन अमृत रस स्रवननि पुट दीजै ।
सुन्दर मुख निरखि ध्यान नैन माँहि लीजै ।

---

१. सूर-सारावली, छन्द १०९९ ।
२. वही ११०१ ।
३. वही ९९३ ।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ४९७ ।

गद्गद् सुर पुलक रोम, अंग प्रेम भीजे।
सूरदास गिरिधर जस गाइ गाइ जीजै ॥[1]

क्रियात्मक सेवा का फल सर्वथा आत्मसमर्पण है। इस क्रिया की पूर्ति होते ही भावनात्मक सेवा की मानसी क्रिया स्वतः चल निकलती है। भक्त का मन प्रभु-सेवा से हटता ही नहीं—

अब तौ यहै बात मनमानी।
छांड़ौ नाहिं स्याम-स्यामा की वृन्दावन रजधानी।
भ्रम्यौ बहुत लघुधाम विलोकत छन भंगुर सुखदानी।
सर्वोपरि आनन्द अखंडित सूर-मरम-लपिटानी ॥[2]

पुष्टिमार्गीय सेवा-पद्धति में दो प्रकार की लीलाएँ हैं—नैत्यिक और वार्षिक। नित्य-सेवा-विधियाँ आठ हैं—मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या-आरती और शयन। वर्षोत्सव सेवा-विधि में संवत्सर, गनगौर, अक्षयतृतीया, रथयात्रा, पवित्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, दान, साँझी, नवरात्रि, रास, अन्नकूट, गोपाष्टमी के व्रतचर्या-पर्व, वसन्त-डौल, ग्रीष्म-फूल मंडली, वर्षा हिंडोल, शरद-रास, हेमन्त-देव प्रबोधिनी जागरण, शिशिर-होली के ऋतु-उत्सव, रक्षाबन्धन, दशहरा, दीवाली और होली के त्योहार, मकरसंक्रान्ति, ज्येष्ठाभिषेक के वैदिक पर्व और रामजयन्ती, नृसिंह जयन्ती तथा वामन जयन्ती मनाये जाते हैं। सूरदास जी ने आरम्भ में इन्हीं सब के लिए पदों की रचना की थी। इस सेवा-विधि के अनुसरण में पद-रचना किये जाने के कारण सूरसागर की श्रीकृष्ण-लीलाओं का विस्तार उसके मूल भागवत की लीलाओं से भी अधिक हो गया। उसमें अनेक मौलिक रसमय प्रसंगों की अवतारणा हो गयी तथा शैली में भी नवीनता आ गयी।

सूर की भक्ति-पद्धति और उसका उनके शिल्प-विधान पर प्रभाव

भारत में भक्ति-परम्परा प्राचीन है। ज्ञान और योग-मार्ग के साथ ही भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा स्वतन्त्र रूप में हो चुकी थी। महाभारत, भागवत, नारद-भक्ति-सूत्र, शाण्डिल्य सूत्र आदि में भक्ति की व्याख्या प्राप्त है। भक्त के लक्षण प्रायः सर्वत्र समान हैं। महाप्रभु बल्लभाचार्य के तत्त्व-दीप निबन्ध में भक्ति की व्याख्या मिलती है। उनके मतानुसार भगवान में माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है।[3] भक्ति की व्यापक प्रतिष्ठा होते हुए भी काव्यशास्त्र में भक्ति को स्वतन्त्र भाव मानकर उन्हें रसों में परिगणित नहीं किया गया। आचार्य भरत-मुनि ने भक्ति को

---

१. सूरसागर (सभा), विनय पद ७२।
२. सूरसागर (सभा), विनय पद ८७।
३. **माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोऽधिकः**
स्नेहो भक्तिरित प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा।
—तत्वदीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण, ज्ञानसागर बम्बई, श्लोक ४६, पृष्ठ १२७

नवरसों में स्थान नहीं दिया। परवर्ती श्रेष्ठ आचार्यों ने भरत द्वारा निर्धारित मर्यादा को तोड़ने का साहस न किया किन्तु ईश्वर-विषयक-रति को श्रृंगार-रति में अन्तर्भूत करने में अनौचित्य का अनुभव अवश्य किया। भक्ति को शान्त रस के अन्तर्गत तो रखा ही नहीं जा सकता क्योंकि शान्त का स्थायी भाव निर्वेद भक्ति के स्थायी भाव अनुराग का विरोधी भाव है। मम्मट ने इस समस्या का समाधान उपस्थित करने के लिये भक्ति को एक भाव मात्र ही कहकर सन्तोष कर लिया।[1] मम्मट के उक्त समाधान से समस्या का हल नहीं हुआ। पंडितराज जगन्नाथ ने भी शंका उठाई कि जब भगवद्भक्ति रस के सभी अवयवों से युक्त होती है—उसमें रस स्वरूप भगवान स्वयं आलम्बन हैं, भागवत-श्रवणादि उद्दीपन, स्तंभ, कम्प, रोमांच आदि अनुभाव, स्मृति, आवेग, हर्ष, उन्माद आदि संचारी भाव हैं— तो भक्ति रस को स्वतन्त्र रस क्यों न माना जाय। इतने पर भी जगन्नाथ जैसे महापंडित ने भी इसे स्वतन्त्र रस की संज्ञा न दी। भक्ति के प्रचार युग में अवश्य ही इस समस्या पर पुनर्विचार हुआ। श्रीरूप-गोस्वामी जी ने अपने भक्ति-रसामृत सिंधु और उज्ज्वल-नील मणि ग्रंथों में भक्ति की विशद व्याख्या की और उसे स्वतन्त्र रस स्वीकार किया। भक्ति-रस की निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा कि रस-सामग्री की परिपुष्टि से भक्ति परम-रस-रूपा होती है; विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के श्रवणादि से भक्तों के हृदय में स्वाद्यत्व प्राप्त होता है और कृष्ण-रति-रूप स्थायी भाव भक्ति-रस में परिणत होता है।[2] इस प्रकार इस काल में एक ओर चैतन्य, रामानन्द और बल्लभाचार्य के प्रचार से भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ—विभिन्न सम्प्रदाय के भक्त-कवियों ने भक्ति-रस से पूर्ण रचनायें प्रस्तुत कीं—और दूसरी ओर उसे शास्त्रीय मान्यता भी प्राप्त हुई।

भक्ति के नव प्रकार होने के कारण उसका नाम ही नवधा-भक्ति पड़ा। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नवधा-भक्ति के भेद हैं। वास्तव में नवधा-भक्ति भगवत्-प्रेम-प्राप्ति का साधन-मात्र है। भाव तो इसमें केवल दास्य और सख्य हैं, शेष सभी तो क्रियाएँ हैं। महाप्रभु बल्लभ की प्रेरणा से कृष्ण के बालरूप की भी उपासना आरम्भ हुई और उनके अनुयायियों में वात्सल्य-भाव की सेवा-प्रतिष्ठित हो उठी। कृष्ण-भक्ति-शाखा के गौड़ीय, हरिदासी तथा राधाबल्लभीय सम्प्रदायों में मधुर भाव से कृष्ण-सेवा की पद्धति चल निकली। इस प्रकार भक्ति के चार प्रमुख भाव हुए—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

---

१. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽर्जितः भावप्रोक्त।

—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृष्ठ १२६

२. सामग्री परिपोषेण परमा रस रूपता।
विभावैरनुभावैश्च सात्विकै व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः
एषा कृष्ण रतिः स्थायीभावो भक्ति रसोभवेत्

—भक्ति रसामृत-सिंधु, दक्षिण विभाग १ लहरी अच्युत ग्रन्थमाला, काशी, ६।१२०

१. दास्य-भक्ति में अनन्य-भाव होता है। भक्त की दृष्टि में प्रभु ही माता-पिता-स्वामी सब कुछ होता है। संसार के सभी नाते वह प्रभु के नाते ही मानता है।[1] दैन्य, असीम श्रद्धा और दास्य-भाव इसके लक्षण हैं।

२. सख्य भक्ति में प्रेम-भाव होता है। भक्त की दृष्टि में प्रभु उसके आमोद-प्रमोद, सुख-दुख का साथी है। वही उसका परम मित्र है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका बन्धु नहीं है।[2] साग्रह-सखा-भाव और आत्मीयता उसके लक्षण हैं।

३. वात्सल्य-भक्ति में वात्सल्य-भाव होता है। परमेश्वर भक्त का बालक है। उसे ईश्वरत्व रुचिकर नहीं है। वह तो अपने को पिता-माता या धाय मानता है और प्रभु को शिशु रूप में देखता है और देखना चाहता है।[3] जन्य-जनक भाव ही इसका मुख्य लक्षण है।

४. मधुरा-भक्ति में प्रणय-भाव होता है। परमेश्वर भक्त का प्रियतम है। पत्नी, प्रेमिका या प्रेमी-रूप में वह उसके अलौकिक प्रणय में रति-लाभ करता है। ईश्वर के आलम्बनत्व में शृंगार-रति भावना इस भक्ति का प्रमुख लक्षण है।

रूपगोस्वामी ने उक्त चार भावों के अतिरिक्त शान्ता-भक्ति भी स्वीकार किया है। तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद के कारण मन संसार से सर्वथा परित्यक्त होकर ईश्वर में रत हो जाता है। इस भक्ति में निर्वेद की प्रधानता होती है।

सूर की सख्य भक्ति—सूर की भक्ति में उक्त पाँचों प्रकार के भावों का समावेश प्राप्त होता है, इसीलिए अनेक विद्वानों ने सूरदास जी में पाँचों प्रकार की भक्ति की स्थिति मानी है। उनके विनय पदों में दास्य और शान्ताभक्ति, बाल-वर्णन में वात्सल्य और संयोग तथा वियोग-वर्णन में मधुर-भाव स्पष्ट है किन्तु मेरे विचार से सखा-भाव ही सर्वत्र प्रधान है। जो पद बल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पूर्व लिखे गये थे उनमें अवश्य ही दास्य एव शान्ताभक्ति मिलती है किन्तु जो विनय या लीला के पद उनकी विचारधारा के परिवर्तित होने पर लिखे गये हैं उनमें सख्य-भक्ति ही प्रधान है। सख्य-भक्ति में और भावों की अपेक्षा रसावेग का अवसर अधिक है। भक्त कृष्ण

---

१. मोरे सबइ एक तुम स्वामी। कृपासिन्धु उर अन्तरजामी॥
मातु पिता नहिं जानउँ काऊ। कहउँ स्वभाव नाथ पतियाहूँ॥
—रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड।

नाते सबै राम से मनियत सहित सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटे, बहुतक कहा कहाँ लौं।
—विनयपत्रिका, पद संख्या १७४।

२. हरि बिन मीत नहिं कोऊ तेरे।
सुनि मन कहौं पुकारि तोसों हौं, भजि गोपालहिं मेरे॥
—सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद ८५।

३. माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा।
—रामचरितमानस, बालकांड १९२

का सखा है अतः दास, प्रिया, वत्सला या विरागी की अपेक्षा अधिक निर्बन्ध और मुखर है। वैसे सखा-भाव में अन्य भावों की अपेक्षा विनय, श्रद्धा, प्रणय या लोकासक्ति का अभाव कम हो ऐसी बात नहीं है। मात्रा में वह सर्वत्र समान ही है—भेद केवल प्रकार का है। अन्तरतम में असीम श्रद्धा और दासानुदास की विनीतता रखकर भी अभिधा से भक्त प्रभु के समक्ष साग्रह स्वाधिकारों की चर्चा करता है[1] और अवसर पाकर खोटी-खरी सुनाने से भी नहीं चूकता।[2] विनय के अनेक पदों में सख्य-भाव की व्यंजना मिल जाती है। सख्य-भाव के आविर्भाव से विनय में साहस का समावेश हो गया है। अपनी दीन-हीनता और प्रभु की भक्तवत्सलता के साथ ही साथ कवि अपने अधिकारों की चर्चा करने लग जाता है—

प्रभु हौं बड़ी बेर को ठाढ़ौ।
और पतित तुम जैसे तारे तिनही में लिखि काढ़ौ।
× × ×
कै प्रभु हमरि मान कै बैठो, कै करौ विरद सही।
सूर पतित जौ झूठ कहत है, देखौ खोलि बही॥[3]

सूरदास जी प्रभु के पतित-पावन-विरद का आश्रय लेते थे और अपने को पतित-शिरोमणि मानकर अपने उद्धार की अपेक्षा रखते थे। सख्य-भाव विकसित होने पर उनके पदों में प्रायः उन्हीं भक्तों के उदाहरण मिलते हैं जिनमें सखा-भाव की भक्ति थी जैसे—द्रौपदी, सुदामा, विदुर, भीष्म और विभीषण। द्रौपदी-सहाय, भीष्म-प्रतिज्ञा और विदुर-गृह-गमन सम्बन्धी प्रसंगों का विनय और भागवत-प्रसंग में सम्मिश्रण केवल सख्य-भक्ति के प्रकाशन के हेतु ही हुआ है, अन्यथा ये प्रसंग प्रयोजनहीन हैं। इन भक्तों में भी सूरदास अपनी समता में यदि किसी को समझते थे तो वे सुदामा और

---

१. पतित पावन हरि विरद तुम्हारौ कौने नाम धरो।
हौं तो दीन दुखित अति दुरबल, द्वारे रटत पर्‍यो॥
चारि पदारथ दिये सुदामहिं, तंदुल भेंट कर्‍यौ।
द्रुपद सुता की तुम पति राखी, अम्बर दान कर्‍यौ।
बेर सूर की निठुर भये प्रभु, मेरो कछु न सर्‍यौ॥
—सूरसागर (सभा), प्रथम स्कन्ध, पद १३३

२. दयानिधि तेरी गति लखि न परे।
धर्म-अधर्म, अधर्म-धर्म करि अकरन करन करै।
जय अरु विजय कर्म कह कीन्हौं ब्रह्म सराप दिखायो।
असुर जन्म ता ऊपर दीन्हौं धर्म उछेद करायो।
× × ×
पतिव्रता जालंधर जुवती सो पतिव्रत सों टारी।
दुष्ट पुरवली अधम सो गणिका सुवा पढ़ावत तारी॥
—सूरसागर (सभा), विनय पद १०४

३. सूरसागर (सभा), विनय पद १३७।

विदुर थे। विभीषण को वे केवल जान-पहिचान वाला मानते थे। उन्होंने भीष्म और द्रौपदी की समता अपने से नहीं की है क्योंकि इनकी और उन लोगों की परिस्थिति में कोई साम्य नहीं है। सुदामा और विदुर की समता में अपने प्रति कृष्ण के व्यवहार को देखते हुए, वे मुँह भी फुला लेते हैं—

लंका दई विभीषण कौं पूरबली पहिचानि
विप्र सुदामा कियो अजाची प्रीति पुरातन जानि।
सूरदास सौं कहा निहोरो, नैनन हू की हानि॥[1]

तथा—

हम तैं विदुर कहा है नीको ?
जाकैं रुचि सौं भोजन कीन्हौ, कहियत सुत दासी कौ।[2]

सूरदास जी में सख्य-भाव का आविर्भाव महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के प्रभाव से ही हुआ। इससे पहले उनमें भी अन्य सन्तों की भाँति दास्य-भाव की ही भक्ति थी। इसीलिए सूर के विनयपदों में कुछ पद तो दास्य-भक्ति के हैं और कुछ सख्य-भक्ति के। दास्य-भाव के भक्त में वह स्पष्टवादिता नहीं आ सकती जो सख्य-भाव के भक्त में होती है। दास्य-भाव की स्थिति में भक्त भगवान् की परिस्थितियों, सुविधाओं और मर्यादाओं का ध्यान रखता है, उसका अपना स्वार्थ पीछे हो जाता है। रामावतार दास्य-भक्ति का आलम्बन है, राम के समक्ष सूर भी दास्य-भक्ति लेकर उपस्थित हैं। प्रातः होने से पूर्व ही वे द्वार पर पहुँच जाते हैं, सारे दिन खड़े अवसर की प्रतीक्षा करते हैं किन्तु दर्शन का अवसर नसीब नहीं होता अन्त में रुक्का भेजकर चले जाते हैं।[3] इसके ठीक विपरीत सख्य-भक्ति में भक्त अपना स्वार्थ आगे रखता है, अपने प्रभु से स्पष्ट कहता है कि या तो मेरा कार्य कीजिए नहीं तो साफ जवाब दीजिए। सूरदास जी ठीक इसी प्रकार कृष्ण से कहते हैं—

मो सौं बात सकुच तजि कहिए।
कत ब्रीड़त कौउ और बतावौ, ताही के ह्वै रहिए॥
× × ×
तीन्यौपन में और निबाहे इहै स्वांग कौ काछै।
सूरदास कौ यहै बड़ौ दुख, परत सबनि के पाछै॥[4]

---

१. सूरसागर (सभा), विनय पद १३५।
२. वही २४३।
३. **विनती किहि विधि प्रभुहिं सुनाऊँ।**
महाराज रघुवीर धीर कौ समय न कबहूँ पाऊँ॥
× × ×
पतित उधारन नाम सूर प्रभु यह रुक्का पहुँचाऊँ।
—सूरसागर (सभा), नवम स्कन्ध, पद १७२
४. सूरसागर (सभा), विनय पद १३६।

बाल-वर्णन में वात्सल्य-भाव की भक्ति में भी सख्य-भाव को ही प्रधानता मिलती है। वात्सल्य-रस-प्रधान पदों में सूर की अभिव्यक्ति वात्सल्य-भाव से युक्त अधिक नहीं है। प्रायः वे अपने प्रभु की लीला पर बलिहारी जाते हैं, अथवा आनन्दातिरेक से फूले नहीं समाते। उनमें वत्सल-भाव के स्थान पर सख्य-भाव दिखाई पड़ता है क्योंकि उन्हें तो सदा अपना ठाकुर ही दिखाई पड़ता है।[1] सखा सूर अपने प्रभु को खाते हुए देखकर अपना भाग जूठन लेने के लिए और सभी भक्तों के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं।[2] प्रायः वात्सल्य-रस वाले पदों में सूरदास जी अपना भाव प्रच्छन्न रखते हैं किन्तु कहीं-कहीं बरबस उनका भाव प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद द्रष्टव्य है—

मैया मैं तौ चन्द खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अब हीं, तेरी गोद न ऐहौं।

× × ×

हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं, मेरी सुनि मैया, अबहीं वियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं॥[3]

कृष्ण जब ब्याह करने जायेंगे तो उनके सूर उनके बराती बनेंगे, कृष्ण के सखा जो ठहरे।

तात्पर्य यह कि वात्सल्य-रस चित्रण में भी सूरदास जी की भक्ति वात्सल्य-भाव की नहीं है, उनका सख्य-भाव वहाँ भी विद्यमान है। सूर अपना तादात्म्य नंद और यशोदा से नहीं कर सकते। वे तो तटस्थ भाव से अपने प्रभु की बाल-लीला का रसास्वादन मात्र करते हैं।

सख्य-भाव की प्रधानता के कारण क्रीड़न-प्रसंग का वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक हुआ है। दास्य-भक्ति के कारण गोस्वामी तुलसीदास बालक राम की क्रीड़ाओं में आदर्श और मर्यादा का भाव प्रस्तुत करते हैं पर सूर शुद्ध सख्य-भाव में निमग्न है। जहाँ तुलसी के राम अपने साथियों से कभी झगड़ते नहीं, जीतकर भी औरों को जिता देते हैं, वहाँ सूर के कृष्ण बलराम के साथ भी खाने और खेलने में झगड़ते हैं—

कनक कटोरा प्रात ही दधि घृत सुमिठाई।
खेलत खात गिरावहीं, झगरत दोउ भाई॥
अरस परस चुटिया गहैं, बरजत है माई।
महा ढीठ मानैं नहीं, कछु लहुर बड़ाई॥[4]

---

१. **सूरदास को ठाकुर ठाढ़ौ हाथ लकुटिया छोटी।**
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६७

२. **छवि सूरदास बलिहारी। माँगत कछु जूठन थारी।**
हरि तनक तनक कछु खायौ। जूठनि सब भक्तन पायौ।—वही, पद १८३

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १९३।

४. सूरसागर (सभा,) दशम स्कन्ध, पद १९२।

श्रीदामा के साथ तो कृष्ण प्रायः ही झगड़ा करते थे। श्रीदामा कभी भी कृष्ण का किसी प्रकार का संकोच नहीं मानता था। अन्य ग्वालबाल भी श्रीदामा की ओर हो कर कृष्ण को खिझाते थे। उनके श्याम रंग पर कूट करते थे, गोचारण में गैयाँ घिरवाते थे। ये सब सूर की सख्य-भक्ति के प्रमाण हैं। सख्य-भाव ही सूर को प्रेरित करता था कि वे अपने आराध्य के शैशव को सामान्य स्तर पर ले आवें और ग्वाल-बालों के माध्यम से क्रीड़ा-कौतुक का रसास्वादन करें।

लीला पुरुषोत्तम नटनागर कृष्ण की सरस लीलाएँ सूर की सख्य-भक्ति के सर्वश्रेष्ठ आधार हैं। राधा-कृष्ण और प्रेमोन्मादिनी गोपियाँ ही इस लीला के आलम्बन हैं। माखन-चोरी से लेकर चीर-हरण, ब्रज-विहार, रास-लीला, दान-लीला, मान-लीला, हिंडोल, वसन्त-लीला और भ्रमरगीत आदि में रति-भाव का ही विस्तृत क्षेत्र है। मधुवन, यमुना, वृन्दावन, शरद-यामिनी, वर्षा, शरद, वसन्त ऋतुएँ, कोकिल और पपीहा के कूजन तथा बाँसुरी की तान आदि उद्दीपन हैं, गोपियों के हाव-भाव और अनुभावादि का प्रकाशन कवि का प्रतिपाद्य है। भक्ति-भाव में मर्यादा-भाव भी अनिवार्य रूप से स्थित होता है। भक्त अपने आराध्य के ऐश्वर्य और अलौकिकत्व को क्षण भर के लिए भी भुला नहीं सकता। ऐसी स्थिति में प्रणय की रसानुभूति का प्रकाशन कैसे सम्भव है? सूरदास जी के सामने से भी उनके आराध्य भगवान् कृष्ण का अलौकिकत्व और ईश्वरत्व क्षण भर के लिए भी नहीं हटता। इतने पर भी वे प्रणय-लीला का वर्णन लौकिक रीति से सविस्तार उपस्थित कर सके हैं। इसका रहस्य केवल यह है कि उनकी भक्ति सखा-भाव की थी। सखा के समक्ष दुराव-छिपाव का कोई प्रश्न ही नहीं होता। वह अपने सखा की प्रणय-लीला का पूर्ण रसास्वादन करता है और अधिकाधिक विस्तार से उसका चित्रण करके सबको आनन्द-विभोर करता है। सखा-भाव के कारण उसके मन पर किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, साथ ही मर्यादा-भाव के स्पर्श तक न होने से लीला का पूर्ण चित्रण भी हो पाता है।

सख्य-भक्ति में न तो मर्यादा का ऐसा बन्धन है कि लीला की रसात्मकता का पूर्ण आस्वादन न हो सके और न मधुरा-भक्ति की वह उद्दामता है जिसमें भक्ति का स्वरूप विशृंखल हो जाता है। सख्य-भक्ति में भक्त एक ओर प्रभु की शक्ति, शील और सौंदर्य विभूतियों का अनिर्वचनीय ऐश्वर्य प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर लीला के लौकिक धरातल पर उतरकर उसमें रस सृष्टि करता है। सूरसागर की प्रत्येक लीला में कृष्ण का अलौकिक ब्रह्मरूप भी गाया गया है और लीला-रूप भी। पहले सूरदास जी ईश्वरत्व का उद्‌घाटन करते हैं। जैसे पनघट लीला में—

हरि त्रिलोकपति पूरनकामी। घट घट व्यापक अन्तरयामी ।।
ब्रज जुवतिन को हेत विचारयो। यमुना के तट खेल प्रसारयो ।।[२]

---

१. खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, २४५

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३९९।

दान-लीला के आरम्भ में—

भक्तनि के सुखदायक स्याम। नारी पुरुष नहीं कछु काम ॥

× × ×

चितवै भजै कौनहू भाउ। ताकौं तैसो त्रिभुवन राउ ॥
कामातुर गोपी हरि ध्यायौ। मन वच क्रम हरि सों चित लायौ ॥
षट ऋतु तप कीन्ही तनुगारी। होंहि हमारे पति गिरधारी ॥
अन्तरजामी जानी सबकी। प्रीति पुरातन मानी सबकी ॥[1]

मुरली की धुनि सुनकर नारद का ध्यान हट जाता है, शेष का आसन चल जाता है और नारायण लक्ष्मी से कहते हैं—

रास विलास करत नंदनंदन, सो हमतैं अति दूरि।
धनि घनश्याम, धन्य ब्रज धरनी, उड़ि लागै जो धूरि।
यह सुख तिहूँ भुवन मैं नाहीं, जो हरि संग पल एक।
सूर निरखि नारायन इक टक, भूले नैन निमेष ॥[2]

रास-लीला के आरम्भ में आध्यात्मिक संकेत इस प्रकार है—

रास रस रीति नहिं वरनि आवै

× × ×

यहै निज मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है, दरस-दंपति भजन सार गाऊँ।
यहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के, नैन दोउ रहैं, देह नर पाऊँ ॥[3]

तात्पर्य यह कि प्रत्येक लीला में सूर का उदात्त भक्तिभाव विद्यमान है। उसमें आराध्य के प्रति वैसा ही पुनीत और आध्यात्मिक भाव है जैसा कि दास्य-भक्ति में प्राप्त होता है। भेद केवल इतना है कि मर्यादावादी भक्त शृङ्गार-रस-लीला का वर्णन करते हुए सकुचा जाता है। अनन्य-भाव वाला भक्त गुरु-पितु-मातु के शृङ्गार का वर्णन करे तो कैसे ? गोस्वामी तुलसीदास के समक्ष यही समस्या थी। इसीलिए रूप-वर्णन में वे संकेत-मात्र ही कर सके हैं। कवितावली जैसे मुक्तक पदों वाले ग्रंथ में भी मर्यादा-बंधन उन्हें नहीं छोड़ता। वे राम, सीता और लक्ष्मण के लिए कामदेव, रति और वसन्त की उपमा प्रस्तुत करते हैं।[4] काम और रति की उपमा शृङ्गारिक भावना की द्योतक है,

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४६० ।
२. वही १०६४ ।
३. वही १००६ ।
४. बलकल वसन धनुबान पानि तून कटि,
रूप के निधान घन दामिनी वरन हैं।
तुलसी सुतीय संग सहज सुहाये अंग
नवल कमल हू ते कोमल चरन हैं।
औरे से वसन्त, और रति, औरे रतिपति,
मूरति विलोक तन मन वे हरन हैं।
—तुलसी कवितावली, अयोध्याकांड, पद १७

किन्तु दास्य भक्ति के कारण इससे आगे बढ़ने का साहस वे नहीं कर सकते। इसके विपरीत सख्य-भक्ति का अवलम्बन लेने वाले सूर को किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। वे अपने सखा श्यामसुन्दर के समक्ष प्रेयसी श्री राधा जी का नख-शिख स्वेच्छापूर्वक निवेदन करते हैं—

बरनौं श्री वृषभानु कुमारि।
चित दै सुनहु स्याम सुंदर, छवि रति नाहीं अनुहारि॥[1]

स्पष्ट है जब सूर अपने सखा कृष्ण के समक्ष उन्हीं की प्रेयसी का रूप वर्णन कर रहे हैं तो छिपाव-दुराव का क्या अवसर? इसी प्रकार जब वे राधा के समक्ष कृष्ण का रूप वर्णन करते हैं तब भी उन्हें कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसीलिए जब वे राधा-कृष्ण की रति-क्रीड़ा का वर्णन करते हैं तो रसानन्द में आत्मविभोर हो जाते हैं और हर्षोद्रेक से विह्वल होकर कह उठते हैं—

आजु बन राजत जुगल किसोर।[2]
देखौ माई राधा क्रीरत।[3]
देखे चारि कमल इक साथ।[4]

प्रणय-लीला के वर्णन से सूरदास के हृदय-पटल पर किसी प्रकार का लौकिक भाव उत्पन्न नहीं होता। प्रभु के विषय में उनकी श्रद्धा ज्यों-की-त्यों रहती है, 'माहात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह' विद्यमान रहता है। इसकी अभिव्यक्ति वे इस प्रकार करते हैं—

श्री गोपाल लाल उर लाई बलि बलि सूर मिथुन कृत भारी।[5]
सेवत सूरदास सारंग कौ, सारंग ऊपरि बलि बलि जात।[6]
सूरदास बलि-बलि या छवि की, अलकनि की झकझोर।[7]
वृन्दावन में विहरत दोऊ मम प्रभु स्यामा स्याम।
सूरदास उर बसहु निरन्तर मनमोहन अभिराम॥[8]

प्रकट है सूर की सख्य-भक्ति शृङ्गार के बाह्यांग का निरूपण करते हुए भक्ति की पूत-भावना से सर्वथा अनुप्राणित रहती है।

भावों का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब अभिव्यक्ति पर पड़ता है। जिस प्रकार के भाव से कवि रसमग्न होता है स्वभावतया तदनुकूल वाणी उसका शब्द-विधान करती है। सखा-

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११४।
२. वही, ११९९।
३. वही, १२००।
४. वही, ११९५।
५. वही, ११९४।
६. वही, ११९५।
७. वही, १२०३।
८. वही, १०२४।

भाव के कारण सूर जिस प्रकार रसावेग से विह्वल होते थे उसी प्रकार उनके पदों में रसाभिव्यक्ति की मात्रा दृष्टिगोचर होती थी। क्रीड़ा-विलास और आनन्द का आविर्भाव सख्य-भक्ति के कारण न केवल उनकी मनोवृत्ति में हुआ वरन् उनके पदों की पंक्तियों, शब्दों और वर्णों में भी ध्वनित होने लगा।[1] चित्रण-कला, स्वर-लहरी, अलंकार-विधान तथा उक्ति-वैचित्र्य सभी में सूर की सख्य-भक्ति ने अपनी रंगत दिखाई। सच तो यह है कि सूर का सम्पूर्ण शिल्प-विधान जो उसके मौलिक पदों में सन्निहित है, उनकी सख्य-भक्ति का ही शब्दीकरण है।

---

१. यहई मन आनन्द अवधि सब।
निरखि सरूप विवेक नयन भरि या सुख तें नहिं और कछू अब।
× × ×
सत्य सील सम्पन्न सुमूरति सुर नर मुनि भक्तनि भावै।
अंग अंग प्रति छवि तरंग गति, सूरदास क्यों कहि आवै॥
—सूरसागर (सभा), विनय पद, ६९

प्रकरण १

सूर का गीति-काव्य

गीति-काव्य का स्वरूप

गेयत्व—शब्द और अर्थ की साधना कविता है, पर जहाँ शब्द और अर्थ स्वतः हारकर मूक हो जाते हैं वहाँ उनका दूसरा रूप आरम्भ होने लगता है जिसे हम गान कहते हैं। गान में शब्द और अर्थ तरल हो जाते हैं तथा स्वर, ताल और लय के सहारे एक भावात्मक वातावरण उत्पन्न करते हैं। गान का संस्कृत रूप संगीत (Music) है। संगीत में शब्दों की अनिवार्य अपेक्षा नहीं होती, केवल स्वर-साधना, जिसमें आ आ आ त न न जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता है, पूर्ण भावाभिव्यक्ति में समर्थ हो जाती है। संगीत का विशिष्ट रूप गीत (Lyric) है। इसमें कविता की शब्दार्थ-साधना और संगीत की स्वर-साधना दोनों का योग होता है। गीत में स्वर-संगीत न होकर शब्द-संगीत होता है। इसमें संगीत के शास्त्रीय विधान द्वारा अलंकृत नाद-विधान नहीं होता, प्रमुखता भावों की होती है। गीत का शब्द-संगीत बिना किसी शास्त्रीय उपादान के भावों का सहज और रागात्मक उन्मेष करता है। उसकी चोट सीधे हृदय पर लगती है। संगीत स्वर, बोल, मूर्छना, अलाप और तान आदि बाह्य प्रसाधनों से अधिक संस्कृत हो जाने के कारण अपनी सहज-भावुकता को खो बैठता है। गीत का शब्द-संगीत शास्त्रीय संगीत के जटिल बन्धनों से मुक्त है। उसका गेयत्व स्वरों के कलात्मक तोड़-मोड़ में न होकर शब्दों के संगीतात्मक निबन्धन में है। गीत में शब्द, जो स्वर और लय उत्पन्न करते हैं उनमें उनके अर्थों का सुन्दर सामंजस्य होता है। इसलिए गीत में मानवीय हर्ष-उल्लास अथवा रुदन-विषाद की सहज अभिव्यक्ति होती है। संगीत में स्वर शब्दार्थ को सर्वथा आच्छादित कर लेता है, अपने बाह्य-प्रसाधनों से ही प्रतिपाद्य को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, पर गीत में अर्थ आच्छन्न नहीं होता। यहाँ पर संगीत बाह्य न होकर आन्तरिक होता है अर्थात् स्वर और लय ऊपर से आरोपित नहीं होते, शब्दों में ही स्वाभाविक रीति से अन्तर्निहित रहते हैं। गीत से संगीत उसी प्रकार संपृक्त होता है जैसे शब्द से अर्थ।

गीत और छन्द—कविता के छन्द में भी संगीतात्मकता होती है पर छन्दों का संगीत भी गीत के संगीत से भिन्न है। छन्दों की संगीतात्मकता में एक बन्धन होता है। यति, गति, मात्रा और गणों का विचार अपने ढंग का होता है। पद की भाव-धारा से उसका सहज सम्बन्ध नहीं होता। कुछ छन्दों की यह विशेषता अवश्य है कि उनकी लय भावों के अनुरूप होती है। प्राचीन पटु कवि भाव-धारा के अनुरूप छन्दों में पद्य-रचना

करने का प्रयत्न करते थे। एक तो पद्य-रचना में यह नियम अनिवार्य नहीं, अधिकांश कविगण किसी भी छन्द को किसी भी भाव के लिए प्रयुक्त करते हैं, दूसरे छन्दों की संगीतमयता मात्रा और गणों की आश्रिता है। शास्त्रीय संगीत में तो किसी अंश तक गायक को इतनी स्वच्छन्दता प्राप्त है कि वह राग की सीमा में रहकर पद-विषयक भाव की रागात्मकता स्वरों में भरले किन्तु छन्दों में कवि या गायक पद का भाव विशेष ध्वनित कर सकने में असमर्थ हो जाता है। इस प्रकार छन्द संगीतमय तो है पर संगीतात्मक नहीं। छन्दों में न तो संगीत की भाँति लय और स्वरों के लिए विस्तृत क्षेत्र है और न उसमें गीतों का आन्तरिक संगीत ही है। छन्दों के स्वरों और गीत के स्वरों में वही अन्तर है जो सरोवर तथा सरिता की लहरों में होता है। लहरें सरोवर भी लेता है किन्तु अपने चारों तटों की सीमाओं के भीतर-ही-भीतर। सरिता की उन लहरों से उसका क्या साम्य जो लहराते-लहराते सागर की लहरों से मिलकर अनन्त हो जाती हैं ?

इस प्रकार गीत का प्रमुख लक्षण उसका गेयत्व है जो कि भावों का स्वाभाविक तरल रूप है। उसमें संगीत बाह्य और कृत्रिम न होकर आन्तरिक और सहज होता है। उसमें काव्य और संगीत का सहज, अभिन्न और आत्मिक सम्बन्ध होता है। गीत के शब्दों और स्वरों में ऐसा तालैक्य (Harmony) होता है कि एक दूसरे की मात्रा का अनुमान लगाना दुष्कर है।

आत्माभिव्यक्ति—वैयक्तिक स्थिति में मनुष्य सुख या दुख की अनुभूति से द्रवीभूत होता है। उसका आत्म-भाव ही गीत के रूप में तरल हो जाता है। जिस प्रकार ग्रीष्म-आतप से तप्त होकर सागर का जल वाष्प बनकर आकाश में संकलित होता और अनुकूल वातावरण तथा पवन को पाकर स्वतः जल-बूँदों में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार हृदय पर समय-समय की लगी हुई चोटें अवचेतन के शून्य में संगृहीत होती रहती हैं और अनुकूल अवसर पाकर वेदना-गीतों में बरस पड़ती हैं। आत्मानुभूति काव्य के समस्त प्रकारों का मूल है। नाटक हो या प्रबन्ध-काव्य, उपन्यास हो या निबन्ध, सर्वत्र ही कलाकार का आत्मभाव कला का स्वरूप धारण करता है। भेद केवल इतना है कि नाटक, प्रबन्ध-काव्य या कथा-साहित्य में लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष नहीं होता। किसी पात्र के माध्यम से ही कलाकार अपना व्यक्तीकरण करता है। प्रसाद के नाटकों में प्रसाद की आत्मा बोलती है, तुलसी के मानस में भरत और हनुमान के पीछे तुलसीदास की आत्मा बोलती प्रतीत होती है तथा प्रेमचन्द के उपन्यासों में पात्रों द्वारा उनकी विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। गीतों में गीतकार किसी अन्य का सहारा नहीं लेता, अपना दुख-दर्द, हर्षोल्लास, ग्लानि-क्षोभ, पश्चात्ताप-उपालम्भ स्वयं ही प्रस्तुत करता है। उसका अन्तर्जगत गीतों के शीशे में स्पष्ट झलकता रहता है। भावावेश की अवस्था में कुछ स्वर अनायास फूट उठते हैं। ये स्वर सर्वथा व्यक्तिगत होते हुए भी इतने व्यापक होते हैं कि विभिन्न श्रोता अपनी-अपनी भावानुभूति के अनुरूप गीत की विविध प्रकार की ध्वनि ग्रहण करते हैं। इस प्रकार गीत का भाव, जो कि गीतकार की ऐकान्तिक और सर्वथा

व्यक्तिगत सम्पत्ति है, सार्वभौम भावात्मकता से प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मानुभूति गीत का प्राण है और गीत वह काव्य-रूप है जिसमें यह आत्मानुभूति संगीतमय शब्द-विधान में मुखर हो उठती है।

अन्विति—गीत में निहित भावानुभूति प्रायः कवि की अल्पकालीन अनुभूति होती है। फलतः वह एक ही मूलभाव से अनुप्राणित होती है। गीत में भावों की विविधता का अवसर कम होता है। गीत के केन्द्र में उसका मूल भाव होता है, उसका शेष कलेवर केन्द्र का रागात्मक विश्लेषण मात्र होता है। गीत की प्रथम पंक्ति में ही इस केन्द्र की स्थिति होती है। संगीत में इस पंक्ति को टेक कहा जाता है। स्वर, ताल और राग-विस्तार की विविधता को दर्शाते हुए गायक घूम-फिर कर इसी पंक्ति का बार-बार सहारा लेता है। सम्भवतः इसी कारण इसको टेक कहा गया है। संगीत में प्रारम्भिक स्वरालाप के द्वारा अनुकूल पृष्ठभूमि प्रस्तुत हो जाने के उपरान्त ही टेक के रूप में गीत का मूल भाव रख दिया जाता है, फिर शनैः शनैः राग के विस्तार तथा स्वर-तान और अलाप प्रसाधनों से पद की भावना पूर्णोत्कर्ष पर पहुँचायी जाती है। गीत में भी टेक का भाव पद के विभिन्न चरणों में विकास पाकर पूर्ण रागात्मक स्वरूप प्राप्त करता है। इस प्रकार गीत में भी टेक ही सम्पूर्ण गीत की आत्मा है। सारे गीत का सारभूत भाव इसी पंक्ति में संगृहीत होता है। इसीलिए गीत की शेष पंक्तियों में विशिष्ट पद-योजना, ध्वनि, अलंकार और कल्पना के द्वारा टेक का उसी प्रकार विकास प्रस्तुत होता है जैसे कि गायन में गायक स्वर-योजना के माध्यम से अनेक प्रकार के बोल बनाता हुआ टेक के भाव को भिन्न-भिन्न भाव-भंगियों से परिवर्द्धित करता है। यही कारण है कि गीत की प्रथम पंक्ति बड़ी ही भाव-पूर्ण, अर्थ सौरस्य-युत और उत्सुकता को जाग्रत करने वाली होती है। टेक पर टिके रहने से भावों में विश्रृंखलता नहीं आती तथा आद्यन्त एक अन्विति (Unity) बनी रहती है। इस अन्विति के कारण गीत सर्वथा स्वतन्त्र, अपने में पूर्ण और भाव-सापेक्ष्य होता है। यह वस्तु-परक न होकर भाव-परक तथा अनुभूतियों का परिष्कृत एवं रागात्मक उद्‌गार बन जाता है। इसमें भाव-प्रवणता की प्रधानता होती है। आवेग की दीप्ति उसे समुज्ज्वल बनाती है। संक्षेप में एक मूल भाव से अनुप्राणित भाव की अनिवार्य रागात्मक अन्विति ही गीत की आत्मा है।

सहज अन्तःप्रेरणा—गीत कवि की अन्तःप्रेरणा का सहज समुच्छ्वसित रूप है। यह वह ब्रह्मद्रव है जो अपनी द्रवणशीलता में विश्व का क्रन्दन आत्मसात कर लेता है। गीत का मूल भाव प्रेम है। प्रेम में मिठास और पीड़ा समवेत है। संयोग के आह्लाद में कसक और दंश की सिहरन विद्यमान रहती है और वियोग की पीड़ा और वेदना में आवेग, उत्फुल्लता और आशा का हर्षोत्साह बना रहता है। गान और रुदन तत्त्वतः एक हैं। द्रवणशीलता दोनों का अनिवार्य लक्षण है। गान की उत्पत्ति ही वेदना की आह से मानी जाती है,[1] और वे ही गान मधुरतम माने जाते हैं जो गम्भीरतम पीड़ा का

---

१. **"आह से निकला होगा गान···"** —पन्त

अंकन करते हैं ।[1] वेदना के अन्तर्गत जो करुणा का तत्त्व निहित है वही उसे इतना तरल करता है और श्रोता में संवेदना की अनुभूति उत्पन्न करता है । इस प्रक्रिया में कृत्रिमता या किसी और बाह्य प्रसाधन को अवकाश नहीं मिलता । विचारण और चिन्तन यहाँ स्थान नहीं पाते । कथात्मकता, तथ्य-निरूपण, चरित्रांकन आदि को यहाँ अवसर नहीं है । गीत तो आवेशमय चित्तवृत्ति का व्यक्तीकरण है । कवि के हृदय की अन्तर्ज्वाला किसी बाह्य प्रेरणा का स्पर्श पाकर साकार हो जाती है और उत्पीड़ित या उच्छ्वसित मानस स्वतः गीत के रूप में प्रकट हो जाता है ।

शैली—गीत हृदय की सुख-दुःखात्मक कहानी का रागात्मक शब्द-रूप है । उसमें स्वतः निसृत नैसर्गिक भाव एक प्रवाह में बहता है । इस प्रकार गीत की भाषा का प्रधान लक्षण उसका प्रवाह है । भाषा की क्लिष्टता गीत के सहज प्रवाह में गतिरोध उत्पन्न करती और उसे बोझिल बनाती है । शब्दों की जटिलता के कारण गायक स्वर-विपर्यय का विस्तार नहीं कर पाता और श्रोता शब्द-जाल में उलझकर पद में अन्तर्हित रस के सहज आस्वादन से वंचित रह जाता है। तुलसी की विनय-पत्रिका की भाषा क्लिष्ट-समास-पद्धति के कारण गीत की स्वाभाविकता की रक्षा नहीं कर पाती जबकि मीरा की सरल और अकृत्रिम पदावली गीत की स्वर-साधना और ध्वन्यात्मकता के लिए अतीव अनुकूल सिद्ध होती है । गीत की भाषा में वस्तु का संकेत सीधे शब्दों में होता है, उसमें दुराव-छिपाव या सांकेतिकता का अवकाश कम होता है । कम शब्दों से हृदय को सीधे पकड़ लेना गीत की भाषा का प्रधान गुण है । उसमें अर्थ-चमत्कार और भाव-गाम्भीर्य का अवसर उतना नहीं है जितना सादगी, नाद-सौन्दर्य, भावप्रवणता और प्रवाह का।

तारल्य गीत-रचना का स्वाभाविक गुण है। लयात्मक अनुभूति स्वभावतः संगीत की अजस्र धारा में प्रवाहित होती है । जैसा कि लिखा जा चुका है गीत की अनुभूति अल्पकालीन होती है । यह अनुभूति तरल होकर भावना में परिवर्तित हो जाती है । उसमें विचारों का ठोस और स्थिर रूप नहीं होता । गीत की कल्पना, शब्दों का नाद-सौन्दर्य और भावुकता उसमें द्रवणशीलता उत्पन्न करती हैं । गीत की कोमल-कान्त-पदावली उसके तारल्य का ही परिणाम है। इसी के फलस्वरूप गीत में मर्मस्पर्शिता अधिक होती है । गीत में वस्तुगत आधार कम होता है । उसमें द्रवीभूत हृदय ही दृष्टिगत होता है । गीत में दो-चार शब्द ऐसा रेखा-चित्र खींचते हैं कि श्रोता की सुप्त वासनाओं के तार झनझना उठते हैं । कवि अपने तरल-मनोभावों का सहज प्रवाह प्रस्तुत कर श्रोता की कल्पना के समक्ष ऐसा चित्र सुलभ कर देता है कि वह आत्म-विभोर हो जाता है ।

सारांश यह कि गीत की आत्मा कवि की व्यक्तिगत रागात्मक सहजानुभूति है जो कि तरल होकर स्वतः प्रवाहित होती है; उसका शरीर संगीत में ढली हुई शब्दावली तथा प्रयोजन आनन्दोद्रेक है ।

---

1. 'Our sweetest songs are those that tell of Saddest thought. —P. B. Shelley : To a Sky Lark.

लोक-गीत—गीत का शुद्ध, सहज और मौलिक रूप लोक-गीतों में सुरक्षित है। मौखिक परम्परा के गुरुतम उत्तराधिकार के बल पर ही लोक-गीत आज तक अपने सहज समुच्छ्वसित रूप को अक्षुण्ण रख सके हैं। मनोभावाभिव्यंजक शब्दावली ही भाषा की प्राचीनतम सम्पत्ति है। यह भी गेय-रूप में ही उद्भासित हुई थी। सृष्टि के विकास के साथ-साथ जैसे-जैसे मानव ने अपने जीवन-क्रम का विकास किया वैसे-वैसे उसके हृदयोद्‌गार गेय-रूप में प्रकट होते गये। शारीरिक श्रम की स्थिति में स्वाभाविक श्वास-वृद्धि के साथ ही स्वरारोहावरोह भी होता रहा और लकड़ी काटने, बोझा ढोने, हल जोतने, नाव खेने, धान कूटने, चक्की चलाने और चर्खा कातने के साथ ही उसके अन्त-स्तल के भाव गीतों में बहने लगे। इसी प्रकार जन्म, मुडन, यज्ञोपवीत, विवाह तथा पर्व और त्यौहारों के अवसर पर उसके हृदय का उल्लास गीतों में प्रकट होता रहा है। जीवन के नग्न सत्य पर उसकी दारुण भीषणता तथा नीरसता पर ग्राम-गीत एक मोहक, सरस और चरम शान्तिमय आवरण डालते रहे हैं। प्रसव-वेदना जैसी पीड़ा, माता-पिता-भ्राता-भगिनी के स्नेह से वंचित होने के दुख तथा पति-प्रवासजनित आत्म-क्लेश आदि के लिए ग्राम-गीत ही एकमात्र संजीवनी बने रहे हैं। यही कारण है कि वैज्ञानिक युग की चकाचौंध में भी ग्राम-गीतों का स्थान कोई काव्य-रूप नहीं ले सका और वे अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखते चले जा रहे हैं। ग्राम-गीतों में हृदय की वाणी नितान्त स्वाभाविक रूप में स्फुरित होती है। उसका सौन्दर्य कृत्रिम प्रसाधनों से सर्वथा दूर होता है। उसमें यद्यपि व्यक्तिगत उच्छ्वास और वेदना को लेकर रचना होती है तथापि उसका समाहार समाज की समूहगत भावनाओं में हो जाता है।

कला-गीत—जिस प्रकार लोक-भाषा विकसित और परिमार्जित होकर साहित्यिक भाषा बन गयी उसी प्रकार लोक-गीत सभ्य जीवन के वातावरण में परिवर्द्धित होकर कला-गीत बन गये। कला-गीतों में लोक-गीतों का संस्कार तो दृढ़ रूप से वर्तमान रहा किन्तु उनके बाह्य स्वरूप में कलात्मक-प्रसाधनों का समावेश हो जाने से उनमें वह मार्मिकता न रह सकी जो ग्राम-गीतों में होती है। लोक-गीत का प्रधान गुण उनकी सहजता है। उसमें हृदयोद्‌गार स्वाभाविक होते हैं तथा भाषा में किसी प्रकार का बनाव-शृंगार न होकर प्रकृत रूप होता है। कला-गीतों में उद्‌गार तो सहज होते हैं पर उनका व्यक्तीकरण वाग्वैदग्ध्य से परिवेष्टित होता है। गीतकार शब्द-संगीत, अर्थ-गौरव और शब्द-शक्ति के द्वारा लोक-गीत की अनगढ़ अभिव्यंजना का परिष्कार कर उसमें संगीत और साहित्य के शास्त्रीय तत्त्वों का निक्षेप करता है तथा उसे कला-गीत बना डालता है। परिणाम यह होता है कि इस प्रकार के बने कला-गीतों में गरिमा और महत्ता का समावेश तो हो जाता है किन्तु इस परिवर्द्धन और परिमार्जन की क्रिया में उनकी नैसर्गिक मिठास और मर्मस्पर्शिता अंशतः जाती रहती है। लोक-गीतों का क्षेत्र प्रायः ग्राम या अर्द्धसभ्य समाज है। उनकी पृष्ठभूमि ग्रामीण है। कला-गीतों में इसके स्थान पर नागरिक वातावरण होता है और अभिरुचि, विचार तथा शैली सभी में नागर-भाव की सत्ता प्राप्त होती है। कला-गीत में अभिव्यक्ति का स्थान प्रमुख हो जाता है। लोक-गीत में अनुभूति-तत्त्व की प्रमुखता होती है, अभिव्यक्ति

उसी का अनगढ़ तरलीकृत रूप है। कला-गीत में अभिव्यक्ति अनुभूति के समानान्तर हो जाती है। अभिव्यक्ति की प्रधानता से उसमें व्यक्ति-तत्त्व उभर आता है। लोक-गीत व्यक्तिगत उद्गार न होकर सामाजिक उद्गार हैं। उनमें व्यक्ति के मन पर समूहगत भावना का आरोप होता है। ग्राम-गीत की नारी अपने समाज-भर की नारियों का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष अपने वर्ग के सामूहिक उत्साह का प्रकाशन करता है। कला-गीत में गीतकार के व्यक्तित्व का प्रतिफलन अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। यही कारण है कि उसमें व्यक्ति-तत्त्व की प्रधानता होती है तथा अपनी ही मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशीलता रहती है। कला-गीतों में कवि अपने कवि-कर्म के सम्बन्ध में सचेष्ट और जागरूक रहता है, इसलिए उस पर भावुकता का वह उन्माद नहीं होता जो ग्राम-गीतों में परिलक्षित होता है। कला-गीतों में बुद्धिवादिता का समुचित समावेश भी हो जाता है। लोक-गीतों के मूल में करुण-भाव की अवस्थिति मिलती है क्योंकि लोक-गीत प्रधानतया विवश और असहाय नारी-जीवन के भावोद्गार हैं। कला-गीतों की रचना कवियों (अधिकांश पुरुषों) ने की। उनकी अनुभूति में नारी-जीवन की विवशता न थी। फलतः उनके गीतों में पौरुष, हर्ष, उल्लास, तथ्य-कथन, सिद्धान्त तथा मत-मतान्तरों आदि को स्थान मिल गया। सारांश यह कि कला-गीत लोक-गीतों के विकसित रूप हैं, इनमें लोक-गीतों का संस्कार वर्तमान है किन्तु परिष्कार और परिमार्जन में लोक-गीतों की सहज भावुकता घिस गयी है तथा बुद्धिवाद, व्यक्ति तत्त्व, कला और अभिव्यक्ति के समावेश हो गये हैं।

मुक्तक और गीतिकाव्य—मुक्तक,काव्य की उस विधा का नाम है जिसमें तारतम्य का बन्धन नहीं होता, प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और पूर्वापर सम्बन्ध से स्वतन्त्र होता है। पूर्व प्रसंग से निरक्षेप होने पर भी जिसके द्वारा रस की चर्वणा हो वही मुक्तक है। इसमें स्वतन्त्र होकर भी पद अपना चमत्कार व्यक्त करने में समर्थ होता है। यद्यपि प्रबन्ध की रस-धारा का सुयोग मुक्तक को नहीं प्राप्त होता तथापि उसमें रस के छींटे उत्पन्न करने की ऐसी अपूर्व शक्ति होती है कि हृदय-कलिका सहसा प्रफुल्ल हो उठती है। मुक्तक में मनोहारी खंड-दृश्य होता है, पूर्ण-दृश्य नहीं। मुक्तक मनोरम वस्तु व्यापारों का चुना हुआ ऐसा पुष्पस्तवक है जिसमें एक रेशा भी अग्राह्य और अरुचिकर नहीं होता।

गीत में भी उक्त गुण प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि अनेक विद्वान मुक्तक और गीत को एक ही वर्ग में रखते हैं और पाठ्य-मुक्तक तथा गेय-मुक्तक के नाम से मुक्तकों के दो विभाजन प्रस्तुत करते है।[1] किन्तु यह विभाजन जो वस्तुतः केवल बाह्य आकार को दृष्टि में रखकर किया गया है उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि दोहा, सोरठा, कुंडलिया, सवैया, कवित्त आदि पाठ्य-मुक्तकों में भी गेय-सामग्री विद्यमान है। ये सभी छन्द गेय हैं। सूरसागर में दोहा, सार आदि अनेक छन्द गीत

---

१. श्री गुलाबराय—काव्य के रूप; पृष्ठ १२०।

रूप में प्रयुक्त हुए हैं। सच तो यह है कि मुक्तकों और गीतों में मौलिक अन्तर है। दोनों को एक ही वर्ग में रखना समीचीन नहीं है।

मुक्तक वस्तु-परक होते हैं और गीत भाव-परक। एक विषय-प्रधान है तो दूसरा विषयी-प्रधान। मुक्तक में विषय प्रधान होता है और कवि का स्वपक्ष परोक्ष में रहता है। गीत में ठीक इसके विपरीत व्यक्ति की प्रधानता रहती है, कवि प्रत्यक्ष प्रस्तुत होकर आत्म-निवेदन करना चाहता है और विषय को आत्म-प्रकाश का उपादान मात्र बनाता है। फलतः मुक्तक किसी दृश्य-विशेष या परिस्थिति का चित्रांकन करता है जबकि गीत मानव-हृदय में अन्तर्हित किसी भाव—सुख या दुःख—को व्यक्त करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मुक्तक में हृदयानुभूति या मनोदशा का चित्रण नहीं होता, होता अवश्य है, किन्तु यह एक वर्णन है जिसका कवि तटस्थ रूप से अपनी लेखनी द्वारा अंकन करता है। गीत में मनोदशा का वर्णन नहीं होता बल्कि हृदय ही द्रवीभूत होकर बह निकलता है। मुक्तक की अभिव्यक्ति, गीत की भाँति प्रत्यक्ष नहीं है, वह तो वस्तु-व्यापार के माध्यम से ध्वनित की जाती है। उसका रूप स्थिर है जबकि गीत का स्वरूप तरल है। मुक्तक प्रधानतया बाह्य जीवन की अनुभूतियों को चित्रित करता है और गीत अपने अन्तस्तल में दबे हुए रागों का उद्घाटन करता है। मुक्तक का क्षेत्र व्यापक है। वह शृंगार, वीर, वीभत्स और शान्त आदि सभी रसों के चित्रण के लिए उपयुक्त है पर गीत का क्षेत्र हृदय की कोमल मनोवृत्तियों रति और शोक तक में ही सीमित है। इसीलिए गीतों में विचार कम किन्तु मुक्तकों में अधिक होते हैं। गीतों में भावों की रसात्मकता अधिक अपेक्षित है तो मुक्तकों में अर्थ-गाम्भीर्य। मुक्तक यदि उपवन की पुष्प राजी का चुना हुआ स्तवक है तो गीत उसका द्रवीभूत मकरन्द।

सूर का गीतिकाव्य

वर्गीकरण—सूरदास जी के समस्त गीतों की गणना कला-गीतों में की जाती है। इसका कारण यह है कि इनमें भाव, भाषा, अलंकरण तथा संगीतात्मकता की दृष्टि से कलात्मक परिमार्जन प्राप्त होता है। निस्सन्देह सूरदास जी ने ब्रज में प्रचलित लोक-गीतों का कलात्मक रूप प्रस्तुत किया है और इस प्रक्रिया में उन्होंने लोक-गीतों के अस्तित्व की रक्षा भी की है। ब्रज के प्रमुख लोक-गीतों—रसिया, होली, सोहिलो, मल्हार आदि—को सूरदास जी ने अपने गीतों में केवल स्थान ही नहीं दिया वरन् उनका स्वरूप भी ठीक वही रखा है जो लोक-गीतों में प्रचलित है तथा रहा होगा। काफी, सारंग आदि शास्त्रीय रागों में भी उन्होंने लोक-गीतों की प्रकृति की रक्षा की है। लोक-गीतों की भावुकता, इतिवृत्तात्मकता, समूहगत सामाजिक चेतना को भी सूर ने जन्म-बधाई के सोहिलों, लम्बे वर्णनों और होली जैसे उत्सव-गीतों में ज्यों का त्यों रखा है। इस प्रकार सूर के गीत कला-गीत भी हैं और लोक-गीत भी। लोक-गीतों की समस्त विशेषताएँ सूर के गीतों में प्राप्त होती हैं, अन्तर केवल इतना है कि सूर के गीत लोक-गीतों के अनगढ़ रूप से मुक्त हैं। उनका रूप परिष्कृत है। सूर की भाषा की समृद्धि, कल्पना

के सौन्दर्य और शास्त्रीय संगीत के योग से लोक-गीत ही कला-गीत का रूप धारण कर अधिक आकर्षक और प्रभावशाली हो गये हैं।

यद्यपि सूर के गीतों की आत्मा और बाह्य स्वरूप कला-गीतों के अनुरूप हैं तथापि उनमें एकान्त-व्यक्तिगत रागात्मकता, जो कला-गीतों का प्राण है, सर्वत्र नहीं है। सम्पूर्ण सूर-साहित्य मीरा-पदावली की भाँति व्यक्तिगत भावावेश का प्रकाशन-मात्र नहीं है। आत्माभिव्यक्ति की एक ही किरण अधिकांश पदों की अन्तिम पंक्ति में ध्वनित होती है। जैसे—

(राग नायकी)

जसुदा नार न छेदन देहौं।
मनिमय जटित हार ग्रीवा के वहै आजु हौं लेहौं।
औरन के हैं गोप खरिक बहु, मोंहि गृह एक तुम्हारौ।
मिटि जु गयो संताप जनम को, देख्यौ नन्द दुलारौ।
बहुत दिनन की आसा लागी, झगरिन झगरौ कीनौ।
मन में विहँसि तबै नन्दरानी, हार हिये कौ दीनौ।
जाकें नारदादि ब्रह्मादिक, सकल विश्व आधार।
सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेटन कौ भू भार।[1]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पद की प्रथम छ: पंक्तियों में झगरिन के नार काटने और उपहार के लिए झगड़ा करने का वर्णन मात्र है किन्तु अन्तिम दो पंक्तियों में कवि की आत्माभिव्यक्ति—कि प्रभु भू भार उतारने को अवतरित हुए हैं—का आभास मिलता है।

अधिकांश ग्रन्थ में आत्म-निवेदन न होकर भगवान कृष्ण की लीलाओं का ही गान है। सूरसागर की कथात्मकता उसकी गीतात्मकता का निरोध करती है। पद स्वतन्त्र और अपने में पूर्ण होते हुए भी कथा की शृंखला में बँधे हैं। भागवत के अनुसार सम्पादन करने के कारण स्फुट गीत भी एक प्रबन्ध के क्रम में बँधे हैं।

सूरसागर, सारावली और साहित्य-लहरी में पदों की गणना यद्यपि गीतों में ही की जाती है तथापि सभी पद गीत नहीं माने जा सकते क्योंकि उनमें आत्माभिव्यक्ति तथा गेयत्व आदि गीत के मूल तत्त्व प्राप्त नहीं होते और केवल कथा-प्रसंग या शुष्क वर्णन ही मिलता है। ऐसी दशा में रचना-शैली की दृष्टि से सूर के पदों को हम निम्न-वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. कला-गीत
२. शुद्ध गीत
३. परिष्कृत लोक-गीत
४. छन्दात्मक पद
५. दृष्टकूट पद

१. कला-गीत—सूरदास जी के कला-गीत उन्हीं प्रसंगों में मिलते हैं जो कवि

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या १५।

की अपनी नितान्त मौलिक कृतियाँ हैं। श्रीमद्भागवत के आधार वाले कथा-प्रसंग का इन गीतों में स्पर्श भी नहीं है। श्रीकृष्ण की बाल-छवि-वर्णन के अनेक पद कथा-क्रम से सर्वथा मुक्त हैं। इसमें सूर का निजी व्यक्तित्व झलक रहा है। इसी प्रकार बाल-क्रीड़ा, माखन-चोरी, नाग-लीला के स्फुट पद, दावानल-पान-लीला, मुरली सम्बन्धी पद, श्री राधाकृष्ण-मिलाप, सुख-विलास, गो-दोहन, गारुड़ी लीला, चीरहरण लीला के स्फुट पद, गोवर्धन-लीला के स्फुट पद, रास-लीला, राधा-कृष्ण-विवाह, शरद-लीला, राधा-कृष्ण-विहार, जल-क्रीड़ा, मुरली के प्रति गोपियों की उक्तियाँ, पनघट-लीला, दान-लीला, मान-लीला, नैन समय और आँख समय के पद, झूलन, वसन्त-लीला और भ्रमर-गीत ही वे प्रसंग हैं जिनमें सूर के गीति-काव्य की कला निहित है। इन प्रसंगों में कृष्ण की लीला केवल उपादान मात्र है—लीला का वर्णन कवि को अभिप्रेत नहीं है—कवि की पुष्टिमार्गीय तरल अभिव्यक्ति स्वतः गीताकार हो गयी है। पदों का शब्द-संगीत मनोभावों का साँचा बना हुआ है। शास्त्रीय राग के स्वर-ताल अपनी पूर्णता से अनायास ही कवि के भावोद्गारों की संगति करते प्रतीत होते हैं। भावानुभूति जितनी तीव्र है, शब्द-विधान उतना ही रसात्मक है। शास्त्रीय स्वर-ताल भावोर्मियों को प्रसारित करने के लिए विद्युत्-शक्ति का कार्य करते हैं। इन गीतों में वस्तु की अपेक्षा कल्पना अधिक है इसीलिए अभिव्यक्ति पूर्ण कलात्मक है। उदाहरण के लिए बाल-लीला का एक अति प्रसिद्ध पद है जिसे ओंकारनाथ ठाकुर जैसे महासंगीतज्ञ बड़े कलात्मक ढंग से गाया करते हैं—

(राग रामकली)

मैया ! मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लिपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, मैं कैसें करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि, इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायौ।
डारि सांटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कण्ठ लगायौ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायो।
सूरदास जसुमति को यह सुख, सिव विरंच नहिं पायौ॥[1]

पद का संदर्भ सर्वथा मौलिक है। कवि की कल्पना ने बालक की प्रत्युत्पन्न बुद्धि का चमत्कार दिखाया है। माखन-चोरी का आधार-मात्र ही कवि ने लिया है। माखन-चोरी, पकड़ा जाना और माँ-बेटे की वार्ता उपादान-मात्र है। पद की प्रथम छः पंक्तियाँ साधन हैं, जिनका साध्य अन्तिम दो पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। कवि कहता है कि "बाल-विनोद-मोद मन मोह्यो भक्ति प्रताप दिखायो"। सूरदास जी कृष्ण के बाल-विनोद पर निछावर हैं। उनका लक्ष्य तो इसी बाल-विनोद से प्राप्त निजी मोद को अभिव्यक्त करना था। उनका भक्त-हृदय प्रभु की लीला के प्रति इतना अनुगृहीत

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३३४।

है कि उन्हें भक्ति-प्रताप ही इस आत्मानन्द के पीछे दिखाई पड़ता है। उनकी कल्पना रसावेग से इतनी सिक्त है कि वे यशोदा के सुख से ईर्ष्या किये बिना नहीं रह सकते। उन्हें प्रतीत होता है कि शिव और विरंच को भी यह सुख सुलभ नहीं। शब्दावली कितनी सरल और सरस है फिर भी ध्वनि में अपूर्व मधुरता है। काव्य-कल्पना का इससे बढ़कर उदाहरण कौन होगा? घटना चित्रवत् प्रत्यक्ष हो जाती है और श्रोता या पाठक अनायास ही रसानन्द में मग्न हो जाता है। अभिव्यक्ति सरलतम होते हुए भी उक्ति-वैचित्र्य की दृष्टि से अनुपम है। संगीतात्मकता के पुट का इससे बड़ा क्या प्रमाण होगा कि साधारण से साधारण जन से लेकर सहगल और ओंकारनाथ ठाकुर तक इस पद में अपनी-अपनी संगीत-कला का चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। एक दूसरा उदाहरण शकटासुर-वध का है।

(राग विलावल)

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढे पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रंग खेलत॥
सिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ्यौ सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि के, दिगपति दिगदंतीन सकेलत॥
मुनि मन भीत भए, भुव कम्पित सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रजवासिनि बात न जानी, समझे सूर सकट पग ठेलत॥[1]

कृष्ण जी ने पालने में खेलते खेलते शकटासुर का निपात कर दिया। कवि का प्रतिपाद्य शकटासुर-वध था किन्तु इसे पद की केवल अन्तिम पंक्ति में एक ही शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है। शेष समस्त पद में तो कवि प्रभु के बाल-क्रीड़न तथा उसके अलौकिक प्रभाव में मग्न है। कवि की वृत्ति प्रभु के असुर-निकन्दन-रूप की ओर उतनी नहीं है जितनी उनके मन-रंजन बाल-रूप पर है, इसीलिए वह कथा-कथन की ओर से सर्वथा मुख मोड़कर भक्त-हृदय की भावानुभूति की अभिव्यक्ति में तल्लीन है। कल्पना की कमनीयता, आनुप्रासिक शब्द-सौन्दर्य तथा राग के नाद-सौन्दर्य से समन्वित होकर यह पद कला-गीत का सुन्दर नमूना सिद्ध होता है।

लीला-विषयक अन्य पदों में भी कवि की यही मनोवृत्ति है। कवि का उद्देश्य कहीं भी लीला का विषय-प्रधान दृष्टिकोण नहीं है। भागवतकार की भाँति सूर कृष्ण-लीला का वर्णन नहीं करते। वे तो कृष्ण-लीला में सम्मिलित होकर पुष्टिमार्गीय आनन्द-लाभ की शुद्ध और मनोरम अभिव्यक्ति करते हैं। प्रत्येक पद में प्रधानता व्यक्ति-तत्त्व की है। इस वृत्ति के सर्वश्रेष्ठ पद शृंगारिक प्रसगों—रूप-वर्णन, रास, विहार मुरली, दान-लीला, मान-लीला, नैन समय तथा भ्रमर-गीत—में प्राप्त होते हैं। क्योंकि सूर की सख्य-भक्ति के अनुरूप जितने सरस प्रसंग ये हैं उतने वात्सल्य के नहीं। सरस प्रसंगों में विषय-प्रधान अंश, कवि ने छन्दात्मक पदों में गा दिया है किन्तु निजी आत्मा-भिव्यक्ति के लिए उसने कला-गीतों को अपनाया है।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६३।

२—**शुद्ध गीत**—शुद्ध गीतों से हमारा तात्पर्य उन गीतों से है जो भारत में आदि-काल से प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन के रूप में प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। सीधे-सादे शब्दों में हार्दिक भावों की कुशल अभिव्यंजना ही इन गीतों का अभिप्रेत होता है। गेयत्व उनका सहज गुण है, संगीत की कलात्मकता से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रार्थना या विनय के ऐसे पद सन्त-परम्परा में चलते चले आ रहे थे। कालान्तर में सन्तों की इस सहज गायकी पर संगीत-कलाविदों का भी प्रभाव पड़ा फिर भी सन्त-जन राग-रागनियों के शास्त्रीय बन्धनों से अलग ही अपने पद अपनी स्वनिर्मित लय में गाया करते थे। इनके गीतों के विषय प्रायः प्रभु की भक्तवत्सलता, ऐश्वर्य, पतित-पावनता तथा आत्म-निन्दा एवं आत्म-निवेदन होते थे। आत्म-निवेदन के साथ ही संसार की माया–कंचन और कामिनी–का भी विस्तृत विवेचन होता था। उपदेशात्मक पद भी सन्तों में प्रचलित थे। इन शुद्ध गीतों का साहित्यिक रूप तो स्तोत्र-साहित्य के रूप में प्राप्त होता है। पुष्पदन्त, वाणभट्ट, शंकराचार्य, पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वान साहित्यकारों ने संस्कृत वृत्तों में काव्य-गुणों से सुसज्जित स्तोत्रों की रचना की, किन्तु भजनानन्दी साधु जन अपने हृदय के उद्गार पदों में प्रस्तुत करते और बिना किसी साज के गाया करते थे। राग-रागनियों का प्रचार हो चुका था, किन्तु इन सन्तों को शास्त्रीय रागों का ज्ञान न था। वे स्वतः अपने रागों का मनमाना नाम-करण भी कर लेते थे। उदाहरण के लिए सरहपा आठवीं सदी[1] का भिक्षु (सिद्ध) था। उसने अपने गीत की रचना गुंजरी[2] राग में की थी। गुंजरी कोई शास्त्रीय राग नहीं है, सम्भवतः गुंजार को दृष्टि में रखकर सरहपा ने इसका नाम गुंजरी रखा था। **चौरासी सिद्धों की यह परम्परा गोरखनाथ तक पहुँची। गोरख-बानी में गेयत्व सिद्धों**

---

१. हिन्दी काव्य-धारा (रा० सांकृत्यायन); पृष्ठ २।

२. गीत (राग गुंजरी)

अपणे रचि रचि भव निव्वाणा, मिच्छें लोभ बँधावइ अपणा।
अक्खेण आणहु अचिन्त जोई, जाम-मरण भव कइसन होई॥
जइसो जाम मरण वी तइसो, जीवते मइले णाहि विशेशो।
जा एघु जामा मरणे विशंका, सो करउ रस-रसाने रे कंखा॥
जो सचराचर तिअस भमन्ति, छे मजराजर किम्प न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम, सरह भणइ अचिन्त सो धाम॥

भावार्थ—संसार का निर्माण स्वतः हुआ है, लोग व्यर्थ ही संसार से बँधते हैं। मैं चिन्ता-हीन योगी नहीं जानता कि जन्म और मरण किस प्रकार होता है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जैसे जन्म है वैसे ही मरण है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जिसमें जन्म और मरण की शंका दूर हो जाती है वही आनन्द प्राप्त करता है और अजर-अमर होकर चराचर में भ्रमण करता है, जन्म से ही कर्म और कर्म से ही जन्म होता है। सरह इस प्रकार अचित योगी का धर्म कहता है।

—हिन्दी काव्य-धारा; पृष्ठ १७

के गीतों से अधिक मिलता है। गोरख के पदों में प्रायः दो पंक्तियों की टेक मिलती है।[1]—कबीर-दादू आदि सन्तों के गीतों में उक्त प्रवृत्ति का विकास मिलता है। गेयत्व भी क्रमशः बढ़ता गया है। यद्यपि कबीर के काल में शास्त्रीय-संगीत की पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी तथापि कबीर के पदों में शास्त्रीय राग-रागिनी का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इतना अवश्य है कि कबीर के अनेक पदों को निपुण गायक शुद्ध स्वरों में बाँध लेता है। व्रज के भक्त-साहित्यकारों और वाग्येयकारों[2] के सम्पर्क में आने से पूर्व सूर भी सन्तों की भाँति ही पदों को गाया करते थे। जैसा कि पीछे लिखा जा चुका है, विनय में संकलित अधिकांश पद महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में जाने से पूर्व की रचनाएँ हैं। इन पदों में भक्त का आत्म-निवेदन तथा प्रभु की भक्तवत्सलता के उदाहरण हैं, भाषा सीधी-सादी और गेयत्व साधारण है।[3] सूर-सागर के माया, अविद्या-तृष्णा, नाम-महिमा और विनती के पद सन्तों के गीतों से मिल जाते हैं। कबीर आदि सन्तों की भाँति सूर ने भी माया नटिनी के नाम का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे—माया अत्यन्त प्रबल है, सुर-नर-मुनि सभी उसके वश में हैं, ब्रह्मा, शंकर तथा अन्य देवता भी इसके द्वारा ठगे गये हैं। इस प्रकार की शब्दावली सूर के कतिपय पदों में प्राप्त होती है। कुछ उदाहरण देना समीचीन होगा—

विनती सुनौ दीन की चित दै, कैसे तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटि कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै ।।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै ।
तुम सौं कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै ।।[4]

---

१. **अवधू जाप जपौं जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई ।**
अगम जाप जपीला गोरख, चीन्हत बिरला कोई ।।टेक।।
कवल वदन काया करि कंचन, चेतनि करौं जपमाली ।
अनेक जन्मनां पातिग छूटै, जपंत गोरख चवाली ।।
—गोरखबानी (डा० पी० डी० बड़थ्वाल) द्वितीय संस्करण; पृष्ठ १०१

२. **वाग्येयकार**—वे कलाकार वाग्येयकार कहे जाते हैं जिनमें वाक् (वाणी) और गेयत्व दोनों ही का समन्वय होता है।

३. **हरि हौं महा अधम संसारी,**
आन समुझ में बरिया व्याही, आसा कुमति कुनारी ।।
धर्म-सत्त मेरे पितु-माता, ते दोउ दिये बिडारी ।
ज्ञान विवेक विरोधे दोऊ, हते बन्धु हितकारी ।
बाँध्यो बैर दया भगिनी सों, भागि दुरी सुविचारी ।।
·······इत्यादि ।
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद १७३

४. सूरसागर विनय, पद ४२।

(गोपाल) तुम्हारी माया महाप्रबल जिहिं सब जग बस कीन्हें (हो)
नैकुचितै, मुसक्याइ कै सबकौ मन हर लीन्हे (हो)
× × ×
चोली चतुरानन ठग्यौ, अमर उपरना राते (हो) ।
अँतरौटा अवलोकि कै, असुर महामदमाते (हो) ।
नेकु दृष्टि जहँ परि गई, सिव सिर टोना लागे (हो) ।[१]

तृष्णा-वर्णन में भी उसी प्रकार कनक-कामिनी का माया रूप कहा जाना, सतगुरु, नाम-रतन-धन-संचय, बन्दर बनकर नाचना और संसार के प्रति वैराग्य की भावना सन्तों जैसी ही मिलती है—

रे मन छाँडि विषय को रँचिबौ ।
कत तू सुवा होत सेमर कौ अंतर कपट न बँचिबौ ।
अन्तर गहत कनक-कामिनि कौं हाथ रहैगौ पचिबौ ।
तजि अभिमान राम कहि बौरे नतरुक ज्वाला तचिबौ ।
सतगुरु कह्यौ कहौं तो सों हौं, राम रतन धन संचिबौ ।
सूरदास प्रभु हरि सुमिरन बिनु, जोगी कपि ज्यौं नचिबौ ॥[२]

तथा

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं ।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं ।[३] क्रमशः······

कहीं-कहीं तो कबीर आदि की शब्दावली—शब्द, सतगुरु, भ्रम, गूँगे का गुड़—आदि भी ज्यों-का-त्यों मिलती है जैसे—

अपुनपौ आपुन ही में पायौ ।
सब्दहिं सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ।
ज्यौं कुरंग नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपने ही तन छायौ ।
× × ×
सपने माहिं नारि कौं भ्रम भयौ, बालक कहूँ हिरायौ ।
जागि लख्यौ, ज्यौं को त्यों ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ ।
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायौ ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगे गुर खायौ ॥[४]

---

१. सूरसागर-विनय, पद ४४ ।
२. वही, ५९ ।
३. वही, ८६ ।
४. सूरसागर, चतुर्थ स्कन्ध, पद १३ ।

विनय के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों[1] में भी विनती, नाम-महिमा, आत्मज्ञान, उपदेश आदि प्रसंगों में सूर ने इसी प्रकार के शुद्ध गीत लिखे हैं। लीला के प्रसंग में भी भगवान के अलौकिक कार्यों के पश्चात् जो स्तुतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं उन सब में शुद्ध गीतों का ही शिल्प-विधान प्राप्त होता है। अनेक गीत तो शुद्ध स्तोत्र-पद्धति के हैं। पदों के ऊपर रागों का नाम अवश्य है किन्तु पद दण्डकों में रचे गये हैं।[2]

इस प्रकार सूर के गीतों में ऐसे गीतों की प्रचुर मात्रा है जिनमें सूरदास जी ने लीला का वस्तुगत आधार ग्रहण नहीं किया है, स्वान्तःसुखाय अपने प्रभु के समक्ष निर्व्याज रूप से आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया है, लीला के स्थान में ईश्वरत्व, लोक-रक्षत्व, भक्तवत्सलता, महात्म्य तथा निजी दैन्य प्रस्तुत किया है। शिल्प-विधान में ये पद साधारण हैं। संगीतात्मकता, कौशल, काव्य-कृतित्व और मर्मस्पर्शिता अल्प है।

३. परिष्कृत लोक-गीत—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है लोक-गीत गीतों के शुद्ध, सहज और मूलरूप हैं। उनमें ग्रामीण जन-जीवन का अकृत्रिम रूप दिखाई पड़ता है। ग्राम्य-मनोरंजन के विविध रूप, जनसाधारण के उमंग-उल्लास, श्रम या वेदना से मुक्ति पाने के लिए विरमाने की मनोवृत्ति तथा सामूहिक ग्राम-चेतना को लेकर अटपटी भाषा में लोक-गीतों की रचना होती है। सूरदास जी के कीर्तन में सम्मिलित होने वाले भजनानन्दियों में लोक-गीत-गायक और प्रेमीजन बहु-

---

१. प्रथम स्कन्ध—मन प्रबोध पद संख्या ३०६ से ३४०।
द्वितीय स्कन्ध—नाम महिमा पद संख्या ५ से ८।
अनन्य भक्ति की महिमा ६ से १२।
हरि-विमुख की निन्दा १३ से १७।
भक्ति-साधन १८ से २१।
वैराग्य-वर्णन २२ से २४।
आत्मज्ञान-आरती-नृपविचार २५ से ३२।
तृतीय स्कन्ध—उद्धव-पश्चात्ताप २ से ३।
चतुर्थ स्कन्ध—अपुनपौ आपुनही पायौ १३।
षष्ठ स्कन्ध—गुरु बिन ऐसी कौन करै।
सप्तम स्कन्ध—नृसिंह अवतार ३ से ६।
अष्टम स्कन्ध—गज-मोचन ३ से ६।

२. राग श्री

जयति नंदलाल, जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल, आनंदकारी।
कृष्ण कमनीय, मुख कमल राजित सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि, बन बिहारी॥
स्यामघन दिव्यतन, पीत पट दामिनी, इन्द्र धनु मोर कौ, मुकुट सोहै।
सुभग उर माल मनि, कण्ठ चंदन अंग, हास्य ईषद जु त्रैलौक्य मोहै॥

—सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ६८०।

संख्या में थे। कृष्ण-लीलाएँ भी लोक-गीतों के ही सर्वथा अनुकूल थीं, अतएव सूरदास जी ने भी लोक-गीतों की रचना की। अन्तर केवल इतना रहा कि सूर के कृतित्त्व को पाकर लोक-गीत परिष्कृत हो उठे। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में ऐसे गीतों की बहुत बड़ी संख्या है जिनमें लोक-गीतों की उमंग प्रत्यक्ष है। सूरदास जी ने भक्ति-भावना-विह्वल ब्रजवासियों की चित्तवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल ही अनेक पदों की रचना की है। भाषा का साहित्यिक रूप उसमें गरिमा भर देता है अन्यथा उनमें ग्राम गीतों की सहजता, ग्रामीण पृष्ठभूमि, समूहगत भाव और अनगढ़ व्यक्तित्त्व स्पष्ट है। पदों के ऊपर राग का उल्लेख होते हुए भी उनमें शास्त्रीय विधि-विधान अत्यल्प है। हृदय के सच्चे स्वरूप की अभिव्यक्ति स्पष्ट है। भाषा में साहित्यिक अलंकरण कम, सहज अनगढ़ रूप अधिक है। भाव अनूठे, सहज और अकृत्रिम हैं। विचार कम हैं, लम्बे वर्णन हैं जिनमें पुनरुक्तियों की भरमार है। प्रायः अनुभूतियों के वानक कथोपकथन, उपालम्भ या इति-वृत्तात्मक दृष्टान्त मिलते जाते हैं। पदों की शब्दावली, लय और आकार ग्राम-गीतों के ही हैं। ग्राम-गीतों के शब्दों में न तो परिमार्जन है और न श्रुति मधुरत्व। सामूहिक गान ही लोक-गीतों में गाये जाते हैं। अतः उनकी लय लम्बी होती है। ग्राम-गीतों की धुन शास्त्रीय राग से भिन्न होती है। अवसर और विषय के अनुरूप ही लोक-गीतों की धुन होती है। सोहर, सावन, होली, विरहा, जतैली (जात के गीत), कजली, रसिया, सब की अपनी-अपनी धुन होती है। सूर ने अपने लोक-गीतों को भी शास्त्रीय रागों का झीना आवरण दिया अवश्य है किन्तु उनकी सहज धुन भी स्पष्ट झलकती रहती है। जन्म-बधाई, सोहिलों, बाल-छवि-वर्णन, गोचारण, ज्योनार, राध-कृष्ण-विवाह, दानलीला, होली, वसन्त और विरह के प्रसंगों में सूर के परिष्कृत लोक-गीत बहुसंख्या में मिलते हैं। कुछ उदाहरण देना आवश्यक है।

बधाई राग आसावरी

ब्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल नगकु गुनी।
अति पूरन पूरे पुन्य, रोपी सुथिर धुनी।
ग्रह-लगन-नषत पल सोधि, कीन्ही वेद धुनी।

× × ×

इक वदन उघारि निहारि, देहि असीस खरी।
चिरजीवौ जसुदानंद, पूरन काम करी।
धनि दिन है, धनि यह राति, धनि धनि पहर घरी।
धनि-धन्य महरि की कोख, भाग सुहाग भरी।

× × ×

ता दिन तें वे ब्रज लोग, सुख संपति न तजे।
सुनि सबकी गति यह सूर, जे हरि-चरन भजे।[1]

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २४।

यह पद ६० पंक्तियों का है, विचार और भाषा की दृष्टि से अति साधारण है, शब्दों की जोड़-गाँठ अधिक है। पद सामूहिक गान के लिए अधिक उपयुक्त है। द्रुतलय आनन्द राग की द्योतक है और सहगान के सर्वथा अनुरूप है। इसमें कृष्ण-जन्म का एक लम्बा वर्णन है जिसमें सामूहिक उमंग और उल्लास प्रतिध्वनित है। भाषा में साहित्यिक पुट या अलंकरण नहीं हैं पुनरुक्ति द्वितीय पंक्ति में ही है—'जब यह बात सुनी' के पश्चात् 'सुनि आनंदे सब लोग' में 'सुनि' की पुनरुक्ति है। नगक, गुनी, धुनी, छुही, सुही, 'पूरन-काम-करी' आदि में साहित्यिक परिष्कार नहीं है। इसमें भाषा का अनगढ़ रूप ही है।

ग्राम-गीतों में निरक्षर भट्टाचार्यों का आशुकवित्व होता है। प्रायः तुकबन्दी करते हुए वे पंक्तियाँ जोड़ते जाते हैं। चौपालों, मेलों या और सामाजिक उत्सवों पर दो पक्ष के आशुकवियों की प्रतियोगिताएँ भी हो जाती हैं और एक-दूसरे के उत्तर तुकबन्दियां और गीतों में प्रस्तुत किये जाते हैं। दल का नेता पद गाता और उसके पीछे उसके अनुगामी स्वर में स्वर मिलाते और टेक गाते जाते हैं। तुकबन्दी के ऐसे नमूने भी सूर के गीतों में मिलते हैं। जैसे—

राग गौरी

धनि धनि नंद जसोमति, धनि जग पावन रे।
धनि हरि लियो अवतार, सुधनि दिन आवन रे।
दसएं मास भयौ पूत पुनीत सुहावन रे।
संख-चक्र-गदा-पद्म, चतुरभुज भावन रे।
बनि ब्रज सुन्दरि चलीं, सु गाइ बधावन रे।
कनक थार-रोचन दधि, तिलक बनावन रे।
पाइन परि सब बधू, महरि बैठावन रे।
जसुमति धनि यह कोख जहाँ रहे बावन रे।

× × ×

तीनि भुवन आनन्द, कंस डरपावन रे।
सूरदास प्रभु जनमे, भक्त हुलसावन रे।[1]

स्पष्ट है कि यद्यपि उक्त पद में राग गौरी का उल्लेख है तथापि इसमें सामूहिक ग्रामीण ध्वनि ही अधिक लक्षित होती है। पंक्तियों के तुक साहित्यिक नहीं हैं, ग्रामीणों की जोड़-गाँठ मात्र है। ग्रामीण जन इस प्रकार के तुकों में विशेष प्रकार का आनन्द पाते और सामूहिक स्वरों को द्रुतलय में गाते भी जाते हैं। साहित्य एवं संगीत में इस प्रकार के तुक निरर्थक और नीरस समझे जाते हैं।

सोहर या सोहिलो ग्राम-गीतों का प्रमुख गीत है। जन्म, जनेऊ और विवाह के समय स्त्रियाँ उमंग और उल्लास-युक्त सोहर गाया करती हैं। यह भी एक सहगान है जिसमें चाहे जितनी स्त्रियाँ गा सकती हैं। इसकी लय विलम्बित होती है, समान स्वर

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, २८।

चलता जाता है। अन्त या चरणार्द्ध में 'हो' की ध्वनि गान में हर्ष और उल्लास का पुट देती है। प्राय: सोहर लम्बे होते हैं, जिसमें प्रसूतिका के मन-बहलाव के लिए पुत्रोत्सव के आनन्द का वर्णन होता है। बच्चे का सौंदर्य-वर्णन, प्रसूतिका की रामकहानी तथा उपहासात्मक व्यंग्य भी उसमें होते हैं। सूरदास का एक सोहर द्रष्टव्य है—

राग सारंग

गौरि गनेस्वर बीनऊं (हो) देवी सारद तोहि।
गावों हरि को सोहिलो (हो) मन आखर दे मोहि।
हरषि बधावा मन भयो (हो) रानी जायौ पूत।
घर-बाहर माँगे सबै (हो) ठाढ़े मागध सूत।

× × ×

बाजन बाजें गह गहे (हो) बाजै मंदिर मोरि।
मालिनि बाँधे तोरना (रे) आँगन रोपै केरि।

× × ×

धनि सो दिन, धनि सो घरी (हो) धनि धनि जोतिष जाग।
धन्य धन्य मथुरा पुरी (हो) धन्य महर को भाग।

× × ×

क्रीट मुकुट सोभा बनी (सुभ) अंग बनी बनमाल।
सूरदास गोकुल-प्रकट (भए) मोहन मदन गोपाल।[1]

प्रस्तुत पद में सोहर का प्रतिनिधि (Typical) रूप मिलता है। घरों में गाए जाने वाले सोहर की ध्वनि में यह शुद्ध रूप में गाया जा सकता है। चरणार्द्ध में 'हो' या 'रे' की सोहर की मुहर भी इसमें सुलभ है। भाषा-शैली और शब्दावली शुद्ध ग्रामीण है। रीति के अनुसार गौरि-गनेश की विनती से आरम्भ होकर पुत्र-जन्म की कहानी पद में गायी गई है। उत्सव का हर्ष-बधावा, आमोद-प्रमोद और जच्चा तथा बच्चे के सौंदर्य का वर्णन ही पद में है। ३० पंक्तियों का लम्बा पद सोहर की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कवि ने साहित्यिकता को सर्वथा दूर रखा है। ग्रामीण नारियों की भावानुभूति सुस्पष्ट है।

पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीत का सुन्दर रूप गोचारण प्रसंग में मिलता है। ग्वाले गीत गाते और साथ ही नृत्य करते हैं। चित्त की उमंग उनकी विशेषता है। मस्त हो होकर कान में उँगली डालकर चरण के बीच तथा अंत में बड़ा लम्बा सुर वे भरते हैं। तुक इन्हें भी अतीव प्रिय है। तुक में तुक मिलाते और उससे सुर मिलाते हुए गाना और नाचना उनका मूल मन्त्र होता है। गीत और नृत्य को लम्बा करने के लिए वे भी कृष्ण-लीला की किसी कथा को अपने पद का आधार बनाते हैं। एक पद में एक पूरी कथा होती है। सूरदास जी ने गोचारण में अनेक ग्राम-गीत लिखे हैं, जिन्हें लोक-गीत की धुन में ग्रामीण जन गा लेते हैं। प्राय: पद राग सारंग, राग केदारौ, राग कान्हरौ,

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ४०।

बिलावल, गौरी, रामकली और राग नट में हैं। रागों की रूप-रेखा देने के लिए कवि ने एक छोटी टेक लगा दी है। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें राग की लघु टेक भी नहीं है। जैसे—

राग बिलावल

आजु चरावन गाइ चलो जू, कान्ह कुमुद बन जैये।
सीतल कुंज कदम की छहियाँ, छाक छहूँ रस खैये।
अपनी अपनी गाइ ग्वाल सब, जानि करौ इक ठौरी।
धौरी, धूमरि राती, रौंछी, बोलि बुलाइ चिन्हौरी।
पियरी, मौरी, गोरी, गैनी, खैरी कजरी जेती।
दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी, हाँकि ठिकाई तेती।
बाबा नंद बुरौ मानेंगे, और जसोदा मैया।
सूरदास जनाइ दियौ है, यह कहिके बल भैया।[1]

ओज ग्वालों के गीतों का प्रधान गुण है। उनके नृत्य की ताल भी ओजपूर्ण होती है। वे नृत्य के साथ गीत भी गाते हैं। ये गीत नृत्य के आधार होते हैं, अतएव गीत के प्रत्येक शब्द, उनकी ध्वनि और उनके तुक नृत्य के अभिनय को अवसर देते हैं। पद-गत अर्थ, शब्दों की गूँज और नृत्य के हस्तक-भेद नगाड़े के स्वर से मिलकर प्रसंग-विशेष को मूर्तिमान कर देते हैं। सूरदास के कुछ गीतों में ग्वाल-गीतों के उपर्युक्त लक्षण परिमार्जित रूप में दृष्टिगत होते हैं। जैसे—

भहरात भहरात दवा (नल) आयौ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर, वन धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लटलटकि, द्रुमद्रुम नवायौ।
अति अगिनि झार, भंभार धुंधारकारी, उचटि अंगार झंकार छायौ।
बरत बन पात, भहरात, झहरात, तरात, तरु महा धरनी गिरायौ।
भए बेहाल, सब ग्वाल, ब्रजबाल, तब सरन गोपाल कहि के पुकार्‌यौ।
तृना, केसी, सकट, बकी, बक अघासुर वामकर राखि ज्यौं गिरि उबार्‌यौ।
नैंकु धीरज करौ, जियहिं कोउ जिनि डरौ, कहा ईहिं सरौ लोचन मुँदाये।
मूठि भरि लियौ, सब नाइ मुखही दियौ, सूर प्रभु पियौ ब्रज-जन बचाए।[2]

पद ओजपूर्ण गीत का सर्वोत्तम नमूना है। उसका प्रत्येक शब्द नृत्य की ताल दे रहा है। शब्दों में साहित्यिकता या कल्पना का पुट न होकर शुद्ध ग्रामीणता है। शब्दों का अन्त्यानुप्रास जैसे—बाँस, काँस, भांस, झार, भंभार, धुंधार, अंगार, झंकार आदि अनुप्रास अलंकार के उतने द्योतक नहीं जितने ग्वालों की तुकप्रियता के। अर्थ या शाब्दिक सौंदर्य पर कवि का ध्यान नहीं है। ये शब्द तो उन ग्राम-गीतों के प्रतिनिधि शब्द हैं जो किसी ग्राम-गीतकार की वाणी में भाव-मग्न होने पर स्वरों के साथ

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध ४४५।
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध ५९६।

अनायास निकल पड़ते हैं। अन्य ओजस्वी प्रसंगों में भी इसी प्रकार के पद मिलते हैं। जैसे गोवर्धन लीला में—

सुनि मेघवर्त सजि सैन आये
बलवर्त, वारिवर्त, पौनवर्त, वज्र, अग्निवर्तक, जलद संग ल्याए।
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात झहरात माथ नाए ॥[1]

ब्रज में पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीतों में रसिया बड़ा प्रसिद्ध गीत है। रसिया के नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें संयोग शृंगार के सरस गीत होंगे। ब्रज में प्राय: शृंगारिक रसिया गाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न धुनों में लोक-गीत गायक झूम-झूम कर रसिया गाया करते हैं। इसमें प्राय: नख-सिख-वर्णन तथा राधा-कृष्ण की सुख-विलास की लीलाएँ होती हैं। सूरदास जी ने सुख-विलास, जल-क्रीड़ा, पनघट-लीला और दान-लीला के क्रम में जिन पदों की रचना की है उनमें रसिया की प्रवृत्ति का आभास निश्चित रूप से मिलता है। इनमें कोई सन्देह नहीं कि ये प्रसंग कवि की मौलिक प्रतिभा के अनूठे स्थल हैं, अतएव इसमें भाव सम्बन्धी रसात्मकता के साथ ही अभिव्यक्ति में कलात्मकता की दीप्ति भी आ गई है, फिर भी इनमें रसिया की प्रवृत्ति सर्वत्र है। गीत काफी, सारंग, केदारो, कान्हरो आदि रागों में बँधे हैं किन्तु रसिया की धुन में भी उसका ढलान सरलता से हो सकता है। उदाहरण के लिये पद है—

राग काफी

(कान्हा) **ऐसौ दान माँगिये नहिं जो, हम पै दियौ न जाइ।**
बन में पाइ अकेली जुवतिनि, मारग रोकत धाइ ॥
घाट-घाट औघट जमुना तट, बातें कहत बनाइ।
कोऊ ऐसो दान लेत है, कौने पठई सिखाइ ॥
हम जानति तुम यों नहिं रैहौ, रहिहौ गारी खाइ।
जौ रस चाहौ सो रस नाहीं, गौरस पियौ अघाइ ॥
औरन से लै लीजै मोहन, तब हम देहिं बुलाइ।
सूर स्याम कत करत अचगरी, हम सौं कुँवरि कन्हाइ ॥[2]

यह पद रसिया की धुन में भी गाया जा सकता है। साथ ही पद की भाषा लोक-गीत के सर्वथा अनुरूप है। 'घाट, बाट, औघट, जमुना तट', 'हम जानति तुम यों नहिं रैहौ, रहिहौ गारी खाइ', 'जो रस चाहौ सो रस नाहीं', 'सूर स्याम कत करत अचगरी', आदि रसिया की भाषा और भाव के सर्वथा अनुरूप हैं।

श्री कृष्ण-विवाह-प्रसंग में भी कुछ शुद्ध लोक-गीत मिलते हैं। ग्राम-गीतों में एक अति प्रचलित गीत वधू द्वारा वर देखने के प्रसंग में गाया जाता है। इस प्रसंग का एक गीत इस प्रकार है—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ८५३।
२. सूरसागर, दशम स्कन्ध, १४६२।

राग सारंग

(दूलह देखौंगी जाइ) उतरे संकेत बटहि किहिं मिस लखि पाउँ।
फूल गूँथ माला ले, मालिनि ह्वै जाउँ।
नंद-नंदन प्यारे कौ, बीरा करि लेउँ।
चौलिनि ह्वै जाउँ निरखि, नैनन सुख देउँ।
वृन्दावन चन्द को मैं भूषण गढ़ि लेउँ।
ह्वै सुनारि जाउँ निरखि, नैननि सुख देउँ।
अपने गोपाल के मैं, बागे रचि लेउं।
दरजिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ।
चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेउँ।
गंधिनि ह्वै जाउँ निरखि नैननि सुख देउँ ॥[1]

इस गीत में वधू छिपकर वर देखने के लिए मालिन, चोलिनि (पान बनाने वाली) सुनारिन, दरजिन और गंधिन बनकर जाने की योजना बनाती है। शब्दावली की पुनरुक्ति प्रत्येक चरण में है। पीछे लिखा जा चुका है कि ग्राम-गीतों में विचार अधिक नहीं होते। प्रायः एक ही बात अनेक बार दुहराई जाती है। अन्तर केवल यह होता है कि प्रत्येक चरण में नये नाम भर दिये जाते हैं। इस पद में भी मालिनि, चौलिनि आदि को जोड़ "नैननि सुख देउँ" के साथ बार-बार की गई है।

कथा-प्रसंग की दृष्टि से तो यह और भी निरर्थक है। 'वधू राधा' 'वर कृष्ण' को इस प्रकार छिपकर देखने जाय इसकी कोई आवश्यकता न थी क्योंकि राधा तो कृष्ण को नित्य ही देखती थी। फिर भी इस प्रकार का गीत ग्रामों में प्रचलित लोक-प्रियता के कारण सूर द्वारा भी ग्रहण किया गया। पद में लोक-गीतों की शुद्ध भावुकता का उच्छलन मिलता है। अन्य बोलियों में भी इस भाव के लोक-गीत मिलते हैं।[2]

ज्योनार हिन्दी-प्रदेश की नारियों का अति प्रसिद्ध लोक-गीत है। ज्योनार में प्रायः भोजन के विविध प्रकारों की विस्तृत सूची होती है। स्वसुराल की ज्योनार में गाली नामक गीत भी जुड़ जाता है। सूरदास जी ने नारी-ज्योनार के ही सुरों में एक

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १०७५।

२. माई दुलहा देखन हम जाब रे।
दुलहा तो उतरा बाग में बेटी कौने ओढर तुम जाउगी ?
हाथ में लै लेवै माउरी, माई मालिन बन कर जाउँगी। माई दुलहा···
दुलहा तो उतरा द्वार पर, बेटी कौने ओढर तुम जाउगी ?
हाथ में लै लेवै सूरमा, मनिहारिन बनकर जाउँगी ॥ माई दुलहा···
दुलहा तो उतरा मंडवे बेटी कौने ओढर तुम जाउगी ?
हाथ में लै लेवै बीरवा, माई बरइन बन कर जाउँगी ॥ माई दुलहा···
(अवधी लोक-गीत)

सुन्दर और बड़ा अच्छा गीत लिखा है—

राग बिलावल

भोजन भयो भावनो मोहन। तातोइ जेइं जाहु गोदोहन।
खीर, खांड, खीचरी सँवारी। मधुर महेरी गोपनि प्यारी॥
× × ×
साग चना मरसा चौराई। सोवा अरु सरसों सरसाई।
× × ×
बरी बरिल अरु बरा बहुत विधि। खारे खट्टे मीठे हैं विधि।
रोटी रुचिर कनक बेसन करि। अजवाइन सेंधो मिलाइ करि।
× × ×
लुचुई ललित लापसी सोहै। स्वाद सुवास सहज मन मोहै।
गोझा गूंधे गाल मसूरी। मेवा मिले कपूरनि पूरी॥
× × ×
पीरे पान पुराने बीरा। खात भई दुति दाँतन हीरा।
× × ×
सूरदास देख्यौ गिरधारी। बोलि दई हंसि जूठन थारी।
यह ज्यौनार सुनै जो गावै। सो निज भक्ति अभै पद पावै।[1]

झूले के गीत और होली ब्रज के सबसे अधिक प्रसिद्ध लोक-गीत हैं। सूरदास ने भी इनकी रचना सबसे अधिक की है। हिंडोले के अधिकांश पद साहित्यिक छटा से युक्त हैं। हिंडोले पर बैठे हुए राधा-कृष्ण को देखकर सूर की कवि-कल्पना मुखरित हो उठी है। यही कारण है कि हिंडोल-गीतों में से अनेक गीत लोक-गीतों की सीमा पार करके कला गीतों के क्षेत्र में जा पहुँचे हैं। फिर भी अधिकांश गीत परिष्कृत लोक-गीतों की गणना में अवश्य गिने जायेंगे। जैसे—

हिंडोर हरि संग झूलिये (हो) अरु पिय कौं देहि झुलाइ।
गई बीति ग्रीषम गरद-हित ऋतु, सरस बरखा आइ॥
अब यह साध पुरावहू हौ, सुनहु त्रिभुवन राइ।
गोपांगना गोपाल जू सौं, कहति गहि गहि पाइ॥
अब गढनहार हिंडोरना कौं, ताहि लेहु बुलाइ।
हम रमकि हिंडौरें चढैं, अरु तुमहिं देहु झुलाइ॥
× × ×
सब पहिरि चुनि चुनि चीर चुहि चुहि चूनरि बहुरंग।
कटि नील लहँगा, लाल चोली, उबटि केसर अंग।
झूलत झुलावत कंठ लावत बढी आनंद बेलि।
झकझोरि झमकति डरति प्यारी पिया अंकन मेलि।
× × ×

1. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १२१३।

मोहे सुगन गंधर्व किन्नर रहे लोक बिसारि ।
सुनि सूर स्याम सुजान सुन्दर, सबनि के हितकारि ॥[1]

होली के गीत तो सूरसागर में बहुत अधिक हैं। ब्रज की होली इन्हीं गीतों के ही कारण प्रसिद्ध है। सूरदास जी ने होली और बसन्त के विविध प्रकार लिखे हैं। यद्यपि पदों को उन्होंने शास्त्रीय रागों—जैसे बसन्त, गौरी, श्रीमलार, सारंग, टोड़ी, कल्यान, जैजैवन्ती, बिलावल और काफी आदि—में बाँधा है तथापि उनमें शास्त्रीय स्वर-ताल का आग्रह उतना नहीं है जितना लोक-होरी का। होली में चरम सीमा का उल्लास दृष्टिगोचर होता है। होली गाने वाले ऊँचे-से-ऊँचे स्वर में गाते हैं और 'हो हो हो' 'होरी' 'होरी है' आदि स्वर साथ में करते जाते हैं। होली ग्रामीणों (गँवारों) का गीत माना जाता है, अतः न तो उसमें सुसभ्य भाषा होती है और न सुसंस्कृत नाद होता है। सूरदास जी काव्य-कला-निपुण एवं श्रेष्ठ संगीतज्ञ होते हुए भी होली के सहज नाद की अवहेलना नहीं करना चाहते थे। उनके सभी गीतों में लोक-होली की उमंग, शब्दावली और नाद-उल्लास मिलता है। एक उदाहरण द्वारा उसका लोक-गीतत्त्व स्पष्ट कर देना समीचीन होगा—

हो हो हो हो हो हो होरी
खेलत अति सुख प्रीति प्रकट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी ।
बाजत ताल मृदंग झाँझ डफ, बीच बीच बाँसुरि धुनि थोरी ॥ हो···
गावत दै दै गारि परस्परि उत हरि, इत वृषभानु-किसोरी ।
मृगमद साख जवादि कुमकुमा, केसरि मिलै मिलै मधि घोरी ॥ हो···
उन पटपीत किये रंगराते, इन कंचुकी पीत रंग बोरी ।
रही न मन मरजाद अधिक रुचि सहचरि सकति गाँठ गहि जोरी ॥ हो···
बरनि न जाइ वचन-रचना रचि, वह छवि झकझोरा झकझोरी ।
सूरदास सारदा सरल-मति, सो अवलोकि भूल भई भोरी ॥ हो···[2]

लगभग ७५ पद होली के हैं। इनमें अधिकांश पद लम्बे हैं। फूल-डोल, मनोरा झूमक, फाग, रंग-होरी आदि के लिये पद हैं जिनमें प्रत्येक चरण में रेखांकित शब्द हैं। जैसे—

गोकुल सकल गुवालिनि, घर घर खेलत फाग, <u>मनौरा झूमक हो</u> ।[3]
खेलत हैं अति रसन से <u>रंग भीने हो</u> ।[4]
मानों ब्रज तें करिनि चलि <u>मदमाती हो</u> ॥[5]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २८३० ।
२. वही २८६८ ।
३. वही २८६४ ।
४. वही २८६३ ।
५. वही २८६२ ।

निकसि कुँवर खेलन चले, रंग होरी ।।[१]
या गोकुल के चौहटें रंगभीनी ग्वालिनि ।।[२]
हरि संग खेलें फाग, नैन सलोने री रंगरांची ग्वालिनि ।।[२]
ऋतु बसन्त के आगमहिं ऋतु झूमक हो ।।[३]
कछु दिन ब्रज में औरौ रहौ, हरि होरी है ।।[४]
माई फूलें फूले फूलत, श्री राधा कृष्ण हें झूलत, सरस रसहिं फूलडोल ।।[५]

शास्त्रीय गीतों या कला-गीतों में इन प्रकार की पुनरुक्तियाँ नहीं होतीं। इन गीतों में कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें एक पक्ष तथा एक मास की होली के प्रति दिन का वर्णन है तात्पर्य यह कि सूरदास जी सिद्ध कवीश्वर होते हुए भी लोक-भावना से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने लोक-गीतों की रचना की। उनकी भाषा निश्चय ही कुछ साहित्यिक हो गयी है। उन्होंने लोक-गीतों को शास्त्रीय रागों का हल्का आवरण भी दिया। इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने इन गीतों के द्वारा अनेक परिष्कृत लोक-गीतों का निर्माण किया है।

सूर-सारावली की भी गणना हम परिष्कृत लोक-गीतों में ही कर सकते हैं क्योंकि यह शुद्ध होली के स्वरों में बंधी है। इसकी प्रथम पंक्ति लोक-होरी की टेक है। उसमें होरी के स्वरों का सम्यक् सन्निवेश है। आगे दो-दो पंक्तियों के छन्द जुड़ते गये हैं। होरी गाने वाला टेक की धुन मिलाता हुआ इन छन्दों को लोक-होरी के स्वरों में गा सकता है—

खेलत यहि विधि होरी हो, होरी हो, वेद विदित यह बात। टेक।
अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी ।।
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी ।।[६]

सम्पूर्ण ग्रंथ एक ही पद में निबन्धित है। होली-गान के सिलसिले में एक ही बैठक में इतने बड़े पद का गाना असम्भव नहीं है। कवि ने दार्शनिक होली के रूप में ही सारावली की रचना की है। उसकी भाषा निश्चय ही सूर के लोक-गीतों से कहीं अधिक परिमार्जित और संस्कृत गर्भित है। इसका कारण यह है कि उसमें सैद्धान्तिक सार की प्रधानता है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से सारावली लोक-गीतों के अनुरूप नहीं है किन्तु शिल्प-विधान में लोक-गीतों के समीप होने के कारण इसी वर्ग में ही इसे रखना उचित होगा।

१. वही २८६६।
२. वही २८६७।
३. वही २९०३।
४. वही २९१४।
५. वही २९१७।
६. सूर सारावली छन्द १ (वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित सूरसागर पृष्ठ १)।

भ्रमर-गीत तथा अन्य विरह-गीत भाव की दृष्टि से लोक-गीत—विरहा—से अधिक दूर नहीं। उपालम्भ, कथोपकथन, पशु-पक्षियों और प्रकृति के माध्यम से विरह निवेदन लोक-गीतों में प्राप्त होते हैं किन्तु सूर के विरह-गीत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनमें कवि-कल्पना और काव्य-शिल्प का इतना श्रेष्ठ रूप प्राप्त होता है कि उन्हें लोक-गीतों की सीमा में कदापि नहीं बाँधा जा सकता। कला-गीत भी तो लोक-गीतों के ही परिमार्जित और सुसंस्कृत रूप हैं अतएव सूर के विरह-गीतों को लोक-गीत न कह कर कला-गीत कहना अधिक समीचीन है और इस प्रबन्ध में इनकी गणना कला-गीतों में ही की गई है।

४. **छन्दात्मक पद**—सूरसागर का वह अंश जिसमें कोरी कथा है, गीतों में न होकर प्रायः छन्द-बद्ध है। इस अंश की रचना सूरदास जी ने अपने ग्रंथ को केवल भागवत के क्रम में प्रस्तुत करने के निमित्त की है और अनेक कथाओं और प्रसंगों पर उन्होंने चौपाई, चौपई, रोला, सार, हरिगीतिका, चौबोला और दोहा आदि छन्द लिखे हैं। इन छन्दों की रूप-रचना छन्दशास्त्र के नियमों पर है किन्तु पद के ऊपर किसी राग-विशेष का उल्लेख फिर भी है क्योंकि 'गायक सूरदास' के लिए यह स्वाभाविक था कि गाये जाने वाले समय के रागों के स्वरों में वे छन्दों को ढाल लें और उन्हीं स्वरों के अनुसार पदों का नामकरण रागों में कर दें। जिन विषयों का सम्बन्ध उनकी निजी आत्माभिव्यक्ति से न था और जो भागवत के कोरे भावानुवाद मात्र थे उनकी रचना छन्दों में करना उन्होंने अधिक सरल और उपयुक्त समझा किन्तु भजनानन्दी रसिक-समाज के समक्ष इन पदों के प्रस्तुत करने का ढंग सूर के पास गान ही था। इसीलिए इन छन्दों को भी भिन्न-भिन्न रागों का स्वरूप उन्होंने दे दिया। गान की बाह्य रूपरेखा के कारण अनेक पंक्तियों में छन्दशास्त्र के नियमों की अवहेलना भी हो गयी है। संगीत के स्वरों की मात्राओं और छन्दशास्त्र की मात्राओं में अन्तर होता है। छन्द-शास्त्र में लघु और गुरु की एक और दो मात्राएँ ही होती हैं किन्तु संगीत-नाद में एक वर्ण में चार और छः मात्राएँ भी होती हैं और कई वर्णों को मिलाकर भी एक मात्रा में ही बाँधा जा सकता है। यही कारण है कि सूरसागर के पदों में पंक्तियाँ छन्द की दृष्टि से सदोष होते हुए भी संगीत की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष हैं। एक ही पद में कुछ पंक्तियाँ चौपई (१५ मात्रा का छन्द) की मिलती हैं और कुछ चौपाई की। जैसे—

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो। हरि चरनारविन्द उर धरो॥
हरि की कथा होइ जब जहाँ। गंगा हू चलि आवै तहाँ॥
जमुना सिंधु सरस्वती आवै। गोदावरी विलम्ब न लावै॥
सर्व तीर्थ को बासा तहाँ। सूर हरि कथा होवै जहाँ॥[1]

उपर्युक्त पद की तृतीय पंक्ति अर्थात् 'जमुना सिन्धु सरस्वति आवै' में चौपाई (१६ मात्रा) है शेष पंक्तियों में चौपई (१५ मात्रा) हैं। भागवत प्रसंग का यह प्रथम

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद २२४।

पद सुमिरन का पद है। प्रातःकालीन कथा का आरम्भिक पद होने के कारण ही उसे सूरदास जी ने राग बिलावल में बाँधा है क्योंकि बिलावल प्रातःकाल में गाया जाता है।[1] सूरसागर के विवरणात्मक लम्बे पद अधिकतर इसी प्रकार के हैं। अनेक पदों[2] में तो "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो" पद की टेक के रूप में गृहीत है।

सूरसागर में विनय पदों के पश्चात् भागवत प्रसंग आरम्भ होता है। यहाँ से लेकर नवम स्कन्ध तक प्रायः छन्दात्मक पद ही मिलते हैं। केवल रामचरित के पद शुद्ध गीतों में हैं। दशम स्कन्ध के भी अनेक कथात्मक प्रसंग जैसे श्रीधर अंग-भंग, जमलार्जुन-उद्धार, अघासुर-वध, बाल-वत्स हरण लीला, कालीदमन, चीरहरण और गोवर्धन धारण की दूसरी लीलाएँ, दूसरी गुरु मान-लीला अक्रूर ब्रज-आगमन, भ्रमर गीत-संक्षेप आदि कथा-भाग छोटे या बड़े पदों में वर्णित है। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, एकादश स्कन्ध और द्वादश स्कन्ध में अधिकांश छन्दात्मक पद ही हैं।

इन समस्त छन्दात्मक पदों में गीति-काव्यत्व नहीं है। टेक भी कम पदों में है। कोरी कथा का विवरण ही उनमें मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कीर्तन करते समय प्रसंग के अनुसार संगीत के स्वरों में बँधकर कोरे विवरण भी रस-धारा बहाने की क्षमता रखते हैं। आज तक कीर्तनियों और भजनानन्दी साधुओं में यत्र-तत्र इस परम्परा का निर्वाह मिलता है। गायक किसी गीत में दोहे, चौपाई, सोरठा और हरिगीतिका आदि छन्दों को जोड़ता जाता है और गीत के स्वरों में मेल मिलाता जाता है। ठुमरी में लोग दोहों को मिलाकर गा लिया करते हैं। सारांश यह कि सूरसागर में प्राप्त छन्दात्मक पद प्रायः भागवत के अनुसरण पर लिखे गये हैं और भरती के से छन्द लगते हैं। इनमें सूर की काव्य-कला नहीं है।

---

१. **राग बिलावल सुद्ध सुरन को, सप्त सुरन सम्पूरन जाति को।**
गा संवादी धैवत वादी, गावत नित उठ प्रथम पहर को॥
लक्षण गीत राग बिलावल।

२. प्रथम स्कन्ध—व्यास अवतार (१२९), पांडव राज्याभिषेक (२६०), भीष्मोपदेश (२६१), हरि-वियोग (२८५), गर्भ में परीक्षित की रक्षा (२८९)।
द्वितीय और तृतीय स्कन्ध—प्रथम पद, कपिलदेव अवतार (३९४)।
चतुर्थ स्कन्ध—पद १, ३, ५, ९, १२।
पंचम स्कन्ध—पद १, ३, ४।
षष्ठ स्कन्ध—पद १, ४, ५।
सप्तम स्कन्ध—पद १, २, ७, ८।
अष्टम स्कन्ध—पद १।
नवम स्कन्ध—पद १, ५।
दशम स्कन्ध—पद २, ४३०९।
एकादश स्कन्ध—३, ४।
द्वादश स्कन्ध—१, २, ३, ४, ५।

५. **दृष्टकूट पद**—सूर की काव्य-कला का एक नमूना दृष्टकूट-पद-रचना भी है। जहाँ उन्होंने कला-गीतों में गीति-काव्य सम्बन्धी प्रतिभा का प्रकाशन किया है वहाँ उन्होंने दृष्टकूटों में शब्द-क्रीड़ा का चमत्कार प्रस्तुत किया है। पद-रचना का अभ्यास हो जाने के कारण उन्होंने शब्दों की जोड़-गाँठ को भी स्वरों में बाँध रखा है। न तो इनमें लोक-गीतों की सहज पद रचना है और न कला-गीतों का आंतरिक संगीत। फिर भी दृष्टकूट-पद-रचना हिन्दी में सूरदास जी की एक अपनी विशेषता है। सूरसागर में कुछ दृष्टकूट पद मिलते हैं। सूर सारावली में भी मानलीला और राधाकृष्ण-विहार में दृष्टकूट पद मिलते हैं। साहित्य-लहरी तो समूचा ग्रंथ ही दृष्टकूट पदों में रचा गया है। इन सबको एक वर्ग—दृष्टकूट वर्ग—में रखना उपयुक्त है।

सारांश यह कि स्थूल दृष्टि से देखने पर तो समस्त सूर साहित्य गीतों में लिखा मिलता है किन्तु सभी गीतों में सूर की काव्य-कला नहीं है। छन्दात्मक पद तो सूर-सागर को भागवतानुसार सम्पादित करने के लिए भागवत के भावानुवाद रूप में लिखे गये थे। उनका सूर की काव्य-कला से विशेष सम्बन्ध नहीं है। सन्त-प्रणाली के शुद्ध गीत जो सूरसागर में प्राप्त होते हैं, उनमें अधिकांश सूर की अपरिपक्वावस्था की रचनाएँ हैं। इनमें भी सूर की मार्मिक अभिव्यक्ति नहीं है। लोक-गीतों की रचना उन्होंने पुष्टिमार्गीय सेवा के नैत्यिक और ऋतु सम्बन्धी लीलाओं के क्रम में विशेष अवसरों के निमित्त ही की थी। इनमें लोक-उमंग की इतनी प्रधानता है कि कलात्मक अभिव्यक्ति को अवसर नहीं मिल सका है। दृष्टकूट पद्धति का अवलम्बन भी शब्द-क्रीड़ा को लेकर किया गया है। उसमें चमत्कार प्रमुख है, अतः सूर की सरस वाणी की सहज कलात्मकता यहाँ भी नहीं मिलती। **इस प्रकार सूर की काव्य-कला का वास्तविक क्षेत्र उनके मौलिक प्रसंगों के कला-गीतों में सीमित है। इन्हीं में उनका सम्पूर्ण कृतित्व देखने को मिलता है और उन्हीं का विस्तृत विवेचन आगे के प्रकरणों में किया जायगा।**

वस्तुगत आधार—प्रज्ञाचक्षु महात्मा सूरदास जी प्रकृत्या गायक थे। गीत उनके जीवन-क्रम, स्वभाव और ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा के अनुरूप थे। किन्तु महाप्रभु बल्लभाचार्य के पथ-प्रदर्शन के कारण उनकी रचना का उद्देश्य भगवत लीला का वर्णन हो गया। महाप्रभु की प्रेरणा से उन्होंने आत्म-निवेदन के रूप में रचे हुए विनय के पदों की रचना को छोड़कर सगुण लीला-पदों का गान आरम्भ किया। श्रीमद्भागवत जैसे कथा-बहुल ग्रंथ को उन्होंने अपने काव्य का मूल आधार बनाया। पुष्टिमार्गी सूर के आराध्य कृष्ण थे। उन्हीं की लीलाओं का गान उनका प्रतिपाद्य था किन्तु श्रीमद्भागवत में भगवान के चौबीसों अवतारों की लीलाओं का विस्तृत वर्णन है, इसलिए सूरदास जी को भी भागवत के अनुसरण में अन्य अवतारों की कथा कहनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि उनका गीति-काव्य शुद्ध भावपरक न रह सका, उसमें कथात्मक वस्तु आधार-भूत-सामग्री के रूप में सम्मिलित हो गयी। उन्होंने कृष्णावतार की लीलाओं का गान तो स्वेच्छापूर्वक अधिकाधिक विस्तार से गाया परन्तु इन अवतारों की लीलाओं का उल्लेख मात्र छन्दात्मक पदों में कर दिया। श्रीमद्भागवत की कई अध्यायों की कथाएँ एक-एक पद में सार रूप में दे दी गयीं। सूरदास जी ने सूरसागर को भागवत का भावा-

नुवाद बनाना न चाहा। उन्होंने केवल धार्मिक प्रसंगों को लेकर उससे गृहीत उपदेशों को भक्तों के लिए प्रस्तुत कर दिया। जैसे अजामिल की कथा के उपरान्त उन्होंने नाम-महिमा इस प्रकार गायी है—

अन्त काल जो नाम उचारै। सो सब अपने पापनि जारै॥
ज्ञान बिराग तुरत तिहिं होई। सूर विष्णु पद पावै सोई॥[1]

नहुष-कथा के अन्त में सदाचार की शिक्षा है—

नृप ऐसी है पर तिय प्यार। मूरख करे सो बिना विचार॥[2]

नृसिंह अवतार की कथा का उपदेश है—

जो यह लीला सुनै सुनावै। सूरदास हरिभक्ति सो पावै॥[3]

रामावतार अन्य अवतारों की अपेक्षा कथा की दृष्टि से विस्तृत है इसीलिए सूरदास जी ने एक ही लम्बे पद में रामावतार की कहानी नहीं कही है। राम-चरित के भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर उन्होंने छोटे-छोटे स्फुट पद लिखे हैं। प्रायः एक-एक प्रसंग पर एक-एक पद मिलता जाता है। रामावतार में लीला के दृष्टिकोण के लिए पर्याप्त अवसर था फिर भी सूरदास जी कृष्णावतार की भाँति रामावतार में अपने को अधिक न रमा सके। उसमें वात्सल्य-निरूपण भी, जो सूरदास जी की निजी प्रतिभा का अनुपम स्थल है, अति संक्षिप्त है। कुल ५ पद—३ पद बधाई के और २ पद शर-क्रीड़ा के—में ही बाल-वर्णन समाप्त हो जाता है। नवम स्कन्ध में प्रवृत्ति कथा को द्रुत गति से आगे बढ़ाने की ओर है। अयोध्याकांड के प्रथम पद में ही राम-राज्याभिषेक, कैकेयी-दशरथ-संवाद आदि हो जाता है—

महाराज दशरथ मन धारी।
अवधपुरी को राज राम दै लीजै वृत बनचारी।
यह सुनि बोली नारि कैकेयी, अपनौ बचन सँभारौ।
चौदह वर्ष रहें वन राघव, छत्र भरत सिर धारौ॥
यह सुनि नृपति भयौ अति व्याकुल, कहत कछू नहिं आई।
सूर रहे समुझाइ बहुत पै, कैकइ-हठ नहिं जाई॥[4]

इतना अवश्य है कि रामावतार के पदों में सरसता अधिक है। उनमें छन्दात्मक नीरस पदों के स्थान पर सरस गीत हैं। पदों के अन्त में कृष्णावतार के पदों की भाँति प्रायः कवि की आत्माभिव्यक्ति का संकेत प्राप्त हो जाता है। जैसे—

यह सुख तीन लोक मैं नाहीं, जो पाये प्रभु पहियाँ।
सूरदास हरि बोलि भक्त कौं, निरबाहत गहि बहियाँ॥[5]

१. सूरसागर, षष्ठ स्कन्ध, पद ४।
२. वही, पद ७।
३. वही, सप्तम स्कन्ध, पद २।
४. वही, नवम स्कन्ध, पद ३०।
५. वही, पद १९।

गीतिकाव्यत्व और आत्माभिव्यक्ति के निक्षेप की दृष्टि से रामावतार का अन्तिम पद सर्वश्रेष्ठ है। पद में राजा राम की मर्यादित दिनचर्या और ऐश्वर्य का सुन्दर चित्र है। उसी के पीछे सूर का हृदयग्राही आत्म-निवेदन है। बेचारे सूरदास बहुत प्रातःकाल ही दर्शन की लालसा और विनती के निमित्त द्वार पर पहुँच जाते हैं। भगवान को निद्रित देखकर मारे सकुच के उनके समीप नहीं जाते कि प्रभु को असुविधा होगी। उनके जगने के पूर्व ही ब्रह्मादिक सुर-मुनियों की भीड़ जा घेरती है। दिन चढ़ते ही सेनापति, मन्त्री आदि राज-कार्य लेकर आ जाते हैं। इसके पश्चात् स्नान, भोजन और शयन के समय भला सूर कैसे जायं। दिन व्यतीत हो जाता है। साँयकाल नारदादि प्रभु का गुण गाते हुए जा विराजते हैं। भक्तप्रवर सूरदास को प्रवेश का अवसर न मिल पाया, तब वे अपने निवेदन के रूप में एक पत्री भेजकर ही सन्तोष करते हैं।[1] इस पद में व्यंजना से सूरदास जी ने मर्यादा-प्रधान राम-भक्ति के दास्य-भाव की कठिनाई बतायी है। दास्य-भक्ति में यह सुविधा नहीं है जो सख्य-भक्ति में। सखा रूप से भक्त पर कोई बन्धन नहीं होता। अपने स्वतः निःसृत भाव के प्रकाशन के लिए उसे क्षेत्र सदैव प्रस्तुत मिलता है।

दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध, जिसमें कृष्ण-लीला है, उतना वस्तुपरक नहीं है जितने अन्य स्कन्ध हैं। कवि ने प्रयत्नपूर्वक कथा के दृष्टिकोण को दूर रखना चाहा है। स्कन्ध का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। दो वर्णनात्मक पदों में भगवान कृष्ण के प्रकट होने की सभी कथा संक्षेप में कह दी गयी है। अन्य पदों में विवरण के स्थान पर भावपूर्ण सरस वर्णन-विकास पाता जाता है। कृष्ण के गोकुल पहुँचते ही कवि की गीत-रचना-शैली में महान् परिवर्तन परिलक्षित होता है। पदों का वस्तुगत आधार तरल होकर सूक्ष्म बन जाता है। अब कवि कथा नहीं कहता बल्कि कृष्णावतार से उद्भूत उल्लास की अभिव्यक्ति करता है। इसीलिए इस स्कन्ध में लीला के प्रसंग कम हैं।

---

१. विनती किहि विधि प्रभुहि सुनाऊँ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहूँ पाऊँ॥
जाम रहत जामिनि के बीतें, तिहिं अवसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद में, कैसे प्रभुहि जगाऊँ॥
दिनकर किरनि उदित ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर मुनि जन की, तिहिं तें ठौन न पाऊँ॥
उठत सभा दिनमधि सेनापति, भीर देखि फिरि आऊँ।
न्हात खात सुख करत साहिबी, कैसें करि अन खाऊँ।
रजनी मुख आवत गुनगावत, नारद तुंबर नाऊँ।
तुमही कहौ कृपानिधि रघुपति, किहि गिनती में आऊँ॥
एक उपाय करौ कमलापति, कहौ तो कहि समझाऊँ।
पतित उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥
——सूरसागर, नवम स्कन्ध, पद १७२.

एक ही प्रसंग पर पदों की बहुत बड़ी संख्या है। कवि का उद्देश्य अन्य अवतारों के वर्णन की भाँति यहाँ कथाएँ गिनना नहीं है। **अब तो प्रसंग एक निमित्त मात्र ही बनकर रह जाता है। उसका आधार पाकर कवि के भक्त-हृदय के अनेकानेक भाव उद्बुद्ध हो उठते हैं। कवि उल्लसित होकर अपनी भावनापूर्ण अभिव्यक्ति में जुट जाता है। प्रसंग एक उद्दीपक मात्र रह जाता है—भावना की अभिव्यक्ति ही प्रमुख हो जाती है।** कृष्ण-जन्म कृष्णावतार का एक प्रसंग है। रामावतार में भी यही प्रसंग था। किन्तु वहाँ पर तो कवि जन्म की चर्चा करके आगे बढ़ा। यहाँ वह ऐसा नहीं करता। जन्म के उपरान्त आनन्द का जो सागर उसके मानस पर लहराया उसी का प्रकाशन करने लगा—

द्वारैं भीर गोप गोपनि की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनन्द होत गोकुल में, रतन भूमि सब छाई।
नाचत वृद्ध, तरुन अरु बालक, गोरस कीच मचाई।
सूरदास स्वामी सुख-सागर, सुन्दर स्याम कन्हाई॥[१]

अपने आराध्य के जन्म पर सूर को प्रतीत होता है कि समस्त जल-थल और नभ-मंडल में आनन्द छाया हुआ है—

अमर विमान चढ़ें सुर देखत, जै धुनि सब्द सुनाई।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-हित, दुष्टनि के दुखदाई॥[२]

जन्म-बधाई के गीत होने लगे, बाजे बजने लगे, नृत्य-दधिकांदो आदि होने लगे। यह समस्त शोभा देखकर सूरदास जी निछावर होने लगे—

ऐसी सोभा देख कैं, सूरदास बलि जाइ।[3]

जन्म-बधाई तो बहाना मात्र है। पद पर पद लिखते जाते हैं और अपने भाव प्रकट करते जाते हैं। किसी में कहते हैं—

दीजै सूरदास दरस भक्तन बुलाइ कैं।[४]

तो किसी में कहते हैं—

घर के ठाकुर कैं सुत जायौ। सूरदास तब सब सुख पायौ॥[५]

ब्रजवासियों का आनन्द वर्णन करते-करते कवि अपनी बात भी कह जाता है कि—

गावत बधाइ सूर भीतर बहर के।[६]

डाढी (भाट) के अवसर पर तो लक्षणा और व्यंजना का भी आश्रय छोड़कर अभिधा से ही अपने भाव स्पष्ट करते हैं—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद २१।
२. वही २२।
३. वही २७।
४. वही ३१।
५. वही ३२।
६. वही ३४।

(नंदजू) मेरे मन आनन्द भयौ, मैं गोवर्धन तें आयौ।
तुम्हरे पुत्र भयौ, हौं सुनि कै, अति आतुर उठि धायौ।
× × ×
तुम तौ परम उदार नंद जू, जो माँग्यौ सो दीन्हौं।
ऐसौ और कौन त्रिभुवन में, तुम सरि साकौ कीन्हौं।
कोटि देहु तौ रुचि नहिं मानौं, बिनु देखे नहिं जैहौं।
नन्दराइ सुनि विनती मेरी, तबहिं विदा भल ह्वैहौं।
दीजै मोहि कृपा करि सोई, जो हौं आयौ माँगन।
जसुमति सुत अपने पाइन चलि, खेलत आवै आँगन।
जब हँसि के मोहन कछु बोले, तिहि सुनि के घर जाऊँ।
हौं तौ तेरे घर की ढाढ़ी, सूरदास मोहि नाऊँ॥[1]

तात्पर्य यह है कि सूरदास का उद्देश्य भागवत की कथा कहना नहीं रह जाता, स्वानुभूतिजन्य उल्लास का प्रकटीकरण हो जाता है। फिर भी श्रीकृष्ण-लीला-गान ही उनका विषय था अतएव भागवत में आये हुए प्रसंगों का सर्वथा परित्याग तो वे कर ही नहीं सकते थे। इसीलिए श्रीकृष्ण-लीला के भागवतीय अंश, जिसमें पूतना, बकासुर, अघासुर और कंस आदि का निपात था या जमलार्जुन उद्धार, ब्रह्मा बालक-वत्स हरण, गोवर्धन-लीला, काली-दमन, चीरहरण-लीला या रास पंचाध्यायी आदि थे, वर्णनात्मक पदों में रचकर उन्होंने भागवतीय रूपरेखा पूरी कर दी और प्रत्येक प्रसंग का स्वेच्छानुसार भावात्मक विस्तार कर दिया। सच तो यह है कि सूरदास जी ने जिन प्रसंगों पर अपने सहज उद्गार प्रकट किये हैं वे भागवत के प्रसंग नहीं हैं। प्रभु की जो लीलाएँ उनके भक्त-हृदय को सहज उल्लास देती थीं उनको उन्होंने सर्वथा मौलिक रूप में अथवा एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। ये प्रसंग हैं—बाल-छवि-वर्णन, कलेवा, क्रीड़न, माखन-चोरी, गौ-दोहन, काली-दमन में कंस का कमल-पुष्प मँगाना, गेंद खेलना, मुरली-प्रसंग, राधा-कृष्ण मिलाप, साहचर्य-प्रेम का क्रमिक विकास, रास-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, जल-क्रीड़ा, वृन्दावन-विहार, पनघट-लीला, दान-लीला, मान-लीला, वसन्त-लीला और भ्रमरगीत। इन प्रसंगों में वस्तुगत आधार केवल नाम मात्र को रह गया है। यहाँ कलात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता का ही प्रभाव कवि ने लिया है। किन्तु वर्णनात्मकता तो वस्तुगत आधार से शून्य नहीं होती। इसलिए यद्यपि दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में वस्तु का आधार अपेक्षाकृत कम है तथापि आत्माभिव्यंजन परोक्ष रीति से ही किया जा सका है। दशम स्कन्ध उत्तरार्द्ध, एकादश और द्वादश स्कन्धों में पुनः कवि कथात्मकता पर उतर आता है। सारावली और साहित्य-लहरी में भी कृष्ण-लीला ही काव्य का आधार है। सारावली में तो सम्पूर्ण लीला का सार रूप निबन्धित किया गया है। सा० लहरी के पद स्फुट होते हुए भी राधा-कृष्ण की नायिका-भेदोक्त-लीला का निरूपण दृष्टिकूटों में प्रस्तुत करते हैं।

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद ३५।

संक्षेप में समस्त सूर-साहित्य गीतों में होते हुए भी गीत का वह स्वरूप नहीं है जिसमें कथात्मकता या वर्णनात्मकता को अवसर नहीं मिलता। सूरदास जी ने तो कृष्ण-लीला गान के लिए ही गीतों की रचना की थी अतः उनको वे वस्तुतत्व से मुक्त नहीं कर सकते थे।

प्रबन्धात्मक गीतात्मकता

सूर-काव्य के वस्तुगत आधार को दृष्टिगत करने पर प्रश्न यह उठता है कि सूरसागर गीति-काव्य है या प्रबन्ध-काव्य ? क्या हम इसे तुलसी गीतावली की भाँति गीतों में रचा हुआ प्रबन्ध-काव्य कह सकते हैं ?

प्रबन्ध-काव्य में कथा का तारतम्य आदि से अन्त तक क्रमानुसार चलता है। एक पद दूसरे से इस प्रकार शृंखलाबद्ध होता है कि बीच में से कोई पद निकाला नहीं जा सकता और न उसका क्रम ही परिवर्तित किया जा सकता है। पूर्ववर्ती पद के ज्ञान के बिना परवर्ती पद का आशय भी स्पष्ट नहीं हो सकता। सूरसागर में कथा का क्रम प्रबन्ध-काव्य के समान अवश्य है। कथावस्तु का द्वादशस्कन्धात्मक विभाजन प्रबन्धात्मक है। श्रीमद्भागवत की रचना प्रबन्धात्मक है। सूरसागर की रचना भागवत के ही क्रम के अनुसार है। राम और कृष्ण की कथाएँ लम्बी हैं। अन्य अवतारों का वर्णन सूक्ष्म है पर उनमें प्रबन्धात्मकता पूर्णरूपेण है क्योंकि उनमें चौपई या ~~चौपाई या~~ छन्दों में सिलसिलेवार कथा गायी गयी है। राम और कृष्ण-लीला में स्वतन्त्र पदों की रचना हुई है फिर भी वर्णन वय-क्रम के अनुसार ही है। राम-कथा में रामायण की भाँति ही बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किन्धाकांड, सुन्दरकांड, लंकाकांड और उत्तरकांड हैं और इनमें राम-जन्म, शर-क्रीड़ा, विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुष-भंग, विवाह, दशरथ-विदा, परशुराम-मिलाप, अवधपुरी-प्रवेश, दथरथ-कैकेयी-संवाद, दशरथ-विलाप, राम-वन गमन, केवट-प्रसंग, पुर-वधू प्रश्न, दशरथ-तनु-त्याग, कौशल्या-विलाप, भरत-आगमन, महाराज दशरथ-अन्त्येष्टि, भरत-चित्रकूट-गमन, राम-भरत-संवाद, भरत-विदा, शूर्पनखा-नासिकोच्छेदन, खर-दूषण-वध, सीताहरण, राम-विलाप, गृद्ध-उद्धरण, शबरी-उद्धार, सुग्रीव-मिलन, बालि-वध, सीता-शोध, निशिचरी-रावण-संवाद, हनुमानकृत सीता-समाधान, सीता-सन्देश, सीता-परितोष, अशोक वन-भंग, हनुमान-रावण-संवाद, लंका-दहन, सीता का चूड़ामणि-प्रदान, सिन्धु-तट-वास, विभीषण-रावण-संवाद, राम-प्रतिज्ञा, रावण-मन्दोदरि-संवाद, सेतु-बन्धन, अंगद-दूतत्व, लक्ष्मण-युद्ध-गमन, कुम्भकरण-रावण-संवाद, लक्ष्मण-मूर्छा, राम-रावण-युद्ध, सीता-अग्नि-परीक्षा, राम-प्रत्यागमन और राम-दर्शन प्रसंग क्रम से हैं।[१] कृष्ण चरित में यद्यपि एक-एक प्रसंग पर इतने अधिक पद हैं कि कथा-क्रम का प्रायः पता नहीं चलता तथापि सारी कृष्ण लीला क्रमानुसार ही है। श्रीकृष्ण-जन्म, वसुदेव द्वारा गोकुल पहुँचाना, जन्म-बधाई, पूतना-वध, श्रीधर अंग-भंग, कागासुर-वध, शकटासुर वध, तृणावर्त वध, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्ष-गाँठ, कनछेदन, क्रीड़न, माखनचोरी, ऊखल-बन्धन, यमलार्जुन-उद्धार, गौ-दोहन, गोचरण, वकासुर-वध, अघासुर-वध, ब्रह्मा-

१. सूरसागर, नवम स्कन्ध, पद संख्या १६ से १७२ तक।

वत्स-हरण-लीला, धेनुक-वध, काली-दमन-लीला, दावानल-पान-लीला, प्रलंब-वध, राधा-प्रेम-प्रसंग, चीरहरण-लीला, यज्ञपत्नी लीला, गोवर्धन लीला, रासपंचाध्यायी, विद्याधर-शाप-मोचन, वृन्दावन-विहार, वृषभासुर–केशी–व्योमासुर-वध, पनघट-लीला, दान-लीला, मान-लीला, वसन्त-लीला, अक्रूर-आगमन, कृष्ण-मथुरा-गमन, रजक-वध, धनुर्भंग, कुवलया-मल्ल और कंस-वध, वसुदेव-दर्शन, यज्ञोपवीत, नन्दबिदाई, ब्रजदशा, गोपिका-विरह, उद्धव-ब्रजागमन, भ्रमरगीत, उद्धव-प्रत्यागमन, जरासंध पराजय, कालय-वन-दहन, द्वारिका-प्रवेश, रुक्मिणी-विवाह, जाम्वन्ती, सत्यभामा और पंच पटरानी विवाह, प्रद्युम्न-विवाह, जरासंघ-वध, शिशुपाल-वध, शल्य-दन्तवक्र-वध, सुदामाचरित, कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण-यशोमति-गोपी-मिलन, यदुवंश-विनाश और कृष्ण-वदरीवन गमन के क्रम में सम्पूर्ण कृष्ण चरित गीतों में क्रमानुसार[1] ही गाया गया है।

इस प्रकार सूरसागर में कृष्ण-चरित्र आदि से अन्त तक जीवन-क्रम के अनुसार है केवल महाभारत युद्ध का अंश उसमें नहीं है। इतना अवश्य है कि कुछ स्फुट प्रसंग जैसे--भीष्म-प्रतिज्ञा, द्रोपदी-सहाय, पांडव-राज्याभिषेक, भीष्मोपदेश, कुन्ती-विनय आदि—विनय के पदों में प्राप्त हो जाते हैं। महाभारत की कथा भागवत में भी नहीं है। सच तो यह है कि महाभारत एक प्रबन्ध है और उसकी कथा श्रीमद्भागवत जैसे भावात्मक ग्रंथ के अनुरूप नहीं है। श्री मद्भागवत यद्यपि कथात्मक है तथापि उसमें गीतात्मक अभिव्यंजना का क्षेत्र सुलभ है। सूरसागर तो सर्वथा गीतात्मक है। सूर ने भागवत की विवरणात्मकता का भी यथासंभव संकोच किया है। अस्तु महा-भारत की कथा को सूरसागर में स्थान न मिल सका।

तात्पर्य यह कि सूरसागर में स्थूल रूप से सम्पूर्ण कृष्ण-चरित प्राप्त हो जाता है। अन्य अवतारों की कथाएँ तो प्रबन्धात्मक हैं ही। इस प्रकार विषय-वस्तु और कथा-क्रम के विचार से सूरसागर भी गीतों के कलेवर में प्रबन्ध प्रतीत होता है। किन्तु कथा-क्रम मात्र से ही कोई काव्य प्रबन्ध-काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्रबन्ध-रचना में एक पद का दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध परमावश्यक है। सूरसागर के वर्णनात्मक पदों में एक दूसरे से कोई लगाव नहीं है। सूत-शौनक या शुक-परीक्षित संवाद के रूप में कहा हुआ भागवतीय वृत्त सूरसागर में उपलब्ध नहीं होता। किसी एक पद के भीतर पंक्तियों में तारतम्य चाहे मिल जाय किन्तु एक पद का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक पद सर्वथा स्वतन्त्र और अपने में पूर्ण है। चाहे पद दस पंक्तियों का हो या सौ पंक्तियों का, उसमें एक पूरी लीला का गान मिलता है। उदाहरण के लिए गोवर्धन-लीला एक पद में इस प्रकार है—

राखि लियौ ब्रज नंद किसोर।
आयौ इंद्र गर्व करिकै चढ़ि सात दिवस बरसत भयौ भोर।
वाम भुजा गोवर्धन धार्यौ, अति कोमल नख ही की कोर।
गोपी ग्वाल गाइ ब्रज राखे, नेकु न आई बूँद झकोर।

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद संख्या ६२२ से एकादशस्कन्ध पद संख्या २ तक।

अमरापति तब चरन परयौ लै जब बीते जुग गुन के जोर ।
सूर स्याम करुना करि ताकौं, पठै दिये घर मानि निहोर ।।'

इस छोटे से पद में सम्पूर्ण गोवर्धन-लीला की कथा गा दी गयी है । यही कथा गोवर्धन की दूसरी लीला के नाम से बहुत बड़े छन्दात्मक पद में है जो लगभग २०० पंक्तियों में समाप्त हुआ है (पद सं० ९५१)। इसी प्रकार काली-दमन, दावानल, रास लीला और भ्रमरगीत आदि सभी लीलाओं में पूरी-पूरी कथा अनेक छोटे-बड़े पदों में बार-बार मिलती है । प्रबन्ध-काव्य में प्रसंगों की पुनरुक्ति नहीं होती, वहाँ तो कथा आगे बढ़ती जाती है । सूरसागर में घटनाओं और प्रसंगों की अत्यधिक पुनरुक्ति है । पिछले पद में सम्पूर्ण लीला-वर्णन समाप्त हो जाता है किन्तु अगले पद में कथा इति से अथ पर आ जाती है । इसमें सन्देह नहीं कि उक्ति-वैचित्र्य, शैली और भाव-निरूपण की दृष्टि से सूर का प्रत्येक पद नवीन और मौलिक है किन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से उसमें गतिशीलता नहीं है । प्रबन्ध-काव्य के क्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता किन्तु सूरसागर के किसी कथानक के अन्तर्गत प्राप्त पदों में कैसा भी उलट-फेर कर दिया जाय, कुछ भी अन्तर न पड़ेगा । कारण यह है कि सूरसागर का प्रत्येक पद स्वाधीन है उसे परवर्ती या पूर्ववर्ती पद की कोई अपेक्षा नहीं ।

प्रबन्ध-काव्य में भी नीरस गतिशीलता को सरसता प्रदान करने के लिए मर्म-स्पर्शी प्रसंगों की सृष्टि करके अल्पकालिक विराम उपस्थित किया जाता है। उदाहरण के लिए रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने वर्षा और शरद के वर्णन या राम-वन-गमन के बीच ग्राम-वधूटियों के प्रश्न आदि प्रसंगों द्वारा कथा की गति को विरमाया है किन्तु इस विषय में कहीं भी कथा विशृंखल नहीं होती । वर्णनों के अत्यधिक होने पर ही कथा-प्रवाह रुकता है । केशवदास जी की रामचन्द्रिका में यद्यपि कथा-शृंखला निर्बाध चलती गयी है तथापि वर्णनाधिक्य के कारण प्रबन्धात्मकता शिथिल हो गयी है । सूर-सागर में तो कथा को अग्रसर करने का प्रयत्न ही नहीं है, भिन्न-भिन्न लीलाओं का विविध वर्णन ही कवि का लक्ष्य है । प्रस्तुत रसमय प्रसंग, दृश्य या भाव को ही अधि-काधिक विस्तार के साथ उपस्थित करना सूर का अभिप्रेत प्रतीत होता है । परिणाम यह हुआ कि कृष्ण की लीलाओं सम्बन्धी सहस्रों पदों की रचना के उपरान्त भी कथा आगे न बढ़ सकी और भागवतानुसार कृष्ण-चरित प्रस्तुत करने के निमित्त उन्हें विवश होकर भरती के कथात्मक पद देने पड़े हैं । इतना ही नहीं चीर-हरण, गोवर्धन, काली-दमन और भ्रमरगीत जैसी प्रमुख लीलाओं में बहुसंख्यक गीतों के उपलब्ध होते हुए भी भागवत की कथा पूरी नहीं हुई है और सूरदास जी को प्रत्येक लीला में दुबारा कथात्मक पद लिखने पड़े हैं । सूरसागर में उक्त प्रसंगों पर दो-दो लीलाएँ मिलती हैं । इनमें लीलाएँ दो प्रकार की न होकर एक ही हैं—भेद केवल यह है कि एक में स्वतन्त्र गीत हैं और दूसरी में छन्दात्मक लम्बे पद हैं जिनमें कथा का दृष्टिकोण प्रधान है । सूरसागर में इस प्रकार के प्रसंग निम्नलिखित हैं—

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, संख्या ९६३ ।

१. **ऊखल-बन्धन या यमलार्जुन उद्धार-लीला**—५० पदों (३४१ से ३९०) में है किन्तु इतने स्वतन्त्र पदों में भी पूरी कथा नहीं है। इसीलिए एक लम्बे छन्दात्मक पद (चौपाई छन्द संख्या ३९१) में दूसरी लीला के नाम से पूरी कथा है।

२. **अघासुर वध**—वर्णनात्मक पद संख्या ४३१ में पूरी कथा है किन्तु पद-संख्या ४३२ से ४३५ में छोटे-छोटे पदों में भी वही कथा है।

३. **ब्रह्मा-बालक-वत्स-हरण-लीला**—पद संख्या ४३६ से ४९१ के सुन्दर छोटे-छोटे पदों में वत्स-हरण सम्बन्धी पद हैं किन्तु कथात्मक दृष्टिकोण न होने से भागवतानुसार दृष्टि रखने के लिए ही दूसरी लीला के नाम से एक लम्बा छन्दात्मक पद सं० ४९२ लिखा गया है।

४. **काली-दमन-लीला**—पद संख्या ५०० से लेकर ५८८ तक छोटे-छोटे पद हैं किन्तु अन्त में एक बड़ा पद ५८९ है।

५. **चीर-हरण-लीला**—पद संख्या ७६५ से ७९८ तक स्फुट पद हैं और पद ७९९ वर्णनात्मक है।

६. **यज्ञपत्नी लीला**—पद संख्या ८०० वर्णनात्मक है, पद संख्या ८०१ से ८०८ तक स्फुट पद हैं।

७. **गोवर्धन-धारण-लीला**—पद संख्या ८११ से ८८३ स्फुट पद हैं। दूसरी लीला बहुत लम्बे छन्दात्मक पद में है जिसकी पदसंख्या ८८४ से ९५१ तक चौपाई छंद में है।

८. **मान-लीला**—लगभग १०० स्फुट पदों की मान-लीला के उपरांत दूसरी लीला एक वर्णनात्मक पद २८२८ में है।

९. **भ्रमरगीत**—इसमें ७५० पद हैं। केवल दो पदों को छोड़कर सभी पद स्फुट हैं जिनमें कथा का दृष्टिकोण ही नहीं है। शेष दो पदों में से एक में भ्रमरगीत संक्षेप है। इसमें उद्धव-गोपी विवाद-मात्र है (४०९४) दूसरे पद में सम्पूर्ण भ्रमरगीत की कथा है—"ऊधौ को उपदेस सुनौ किन कान दै" (४०९५)।

प्रबन्ध-काव्य में प्रधानतया जीवन का बाह्य रूप चित्रित किया जाता है। उसमें कवि आलोच्य के जीवन का समग्र या विविध रूप प्रस्तुत करता है और उसके माध्यम से जन-जीवन की झाँकी दिखाता है। प्रबन्ध में लोकरंजन का तत्त्व कम किन्तु आदर्श, लोक-हित और मर्यादा के तत्त्व अधिक होते हैं। व्यक्तिगत भाव की अपेक्षा जातीय-भाव वहाँ प्रधान होता है। विषय के विस्तार के साथ-साथ कवि को अवसर मिलता है कि वह कथा के माध्यम से अपने जातीय भावों का प्रतिफलन कर सकें। प्रबन्ध-काव्य का रचयिता गीतिकार की भाँति अपने भीतर उतना नहीं देखता जितना कि वह अपने से बाहर जगत पर दृष्टि लगाए रहता है। इसीलिए प्रबन्ध में आत्मप्रकाशन प्रायः नहीं के बराबर होता है। उसमें तो समाज और जगत का चित्रण ही प्रमुख होता है। सूर-साहित्य में कृष्ण-चरित का विविध रूप नहीं मिलता। सूरदास के कृष्ण न तो भागवत के भू-भार-उतारन और असुर-निकन्दन हैं, न गीता के योगिराज और न महाभारत के राजनीति-विशारद। वे तो नंदनन्दन, ब्रज-जन-रंजन, मनमोहन, माखनचोर, मुरली-

मनोहर, नटवर, राधावल्लभ, गोपीबल्लभ और रसिक शिरोमणि हैं। लोकादर्श, मर्यादा और लोक-हित के स्थान पर रसावतार कृष्ण की रस-लीला का अनिर्वचनीय आत्मानंद ही कवि का साध्य है। कृष्ण के व्यापक जीवन में से कवि ने उनके भावात्मक व्यक्तित्व पर तो बहुत अधिक बल दिया है परन्तु व्यक्तित्व के उस स्वरूप पर ध्यान ही नहीं दिया है जो प्रबन्ध के अनुरूप होता है। कृष्ण-चरित को सम्मुख रखते हुए भी कवि बहिर्द्रष्टा न होकर अंतर्द्रष्टा है। विषय-प्रधान-काव्य की रचना करते हुए भी वह विषयी-प्रधान है। तात्पर्य यह कि यद्यपि सूर साहित्य का बाह्याकार प्रबन्धात्मकता से बहुत भिन्न नहीं है तथापि उसकी आत्मा प्रबन्ध के अनुरूप न होकर गीत के अनुरूप ही है। अतः सूर-साहित्य को प्रबन्ध काव्य न मानकर प्रबन्धात्मक गीति-काव्य ही मानना तर्कसंगत है।

सूर के गीति-काव्य का स्वरूप विश्लेषण

सूर का गीति-काव्य न तो गीत (Lyric) है, न मुक्तक और न प्रबन्ध, इसमें तीनों के संतुलित सामंजस्य से एक चिर-नवीन काव्य-रूप का निर्माण हुआ है। यद्यपि सूरदास जी ने अपना समस्त काव्य गीतों में प्रस्तुत किया है तथापि उनके कुछ ही पद ऐसे हैं जिनकी गणना शुद्ध गीतों में की जा सकती है। अब तक गीतों के जितने प्रकार बताये गये है, उनके अंतर्गत सूर के गीत पूर्णतया नहीं आते। सूर के सभी ग्रंथों में पद सर्वथा स्वतन्त्र हैं फिर भी उनके भीतर कथा की एक अदृश्य शृंखला विद्यमान है। स्वतन्त्र पद-रचना में उनका दृष्टिकोण शुद्ध आत्मपरक है किंतु समस्त ग्रंथ में आत्मानुभव के स्थान पर भगवत लीला का वर्णन प्रमुख है। एक ओर गेय पद-रचना के भीतर छन्द-विधान भी मिलता है, दूसरी ओर संगीत की स्वर-योजना के बाह्याकार के आवरण में काव्य की शब्दार्थ-साधना का वैभव भी सजाया गया है। सारांश यह कि सूर की गीत-पद्धति अनेक तात्विक विरोधों का सहज समन्वय है।

वर्णनात्मक गीति-काव्य या प्रगीत वर्णन—सूरदास जी के गीतों की प्रमुख पहिचान है उनकी वर्णनात्मकता। प्रत्येक ग्रंथ में आदि से अन्त तक किसी-न-किसी प्रकार का वर्णन अवश्य प्राप्त होता है। सूरसागर में भागवत की समस्त लीलाओं का वर्णन है। उनके पदों में लम्बी कथाएँ और लम्बे वर्णन हैं। छोटे पदों में भी किसी एक स्थिति, चित्र या भाव का मनोरम लघु वर्णन अवश्य प्राप्त होता है। सूरदास जी को सूरसागर में प्रभु की लीलाओं का वर्णन ही अभीष्ट था, कहानी कहना नहीं। इसीलिए कथात्मकता या प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से देखने पर ग्रंथ सदोष प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम उनके पदों को भिन्न-भिन्न लीलाओं, मनोदशाओं और स्वरूपों के वर्णन की दृष्टि से देखें तो उनके समस्त छोटे-बड़े पद अपने-अपने स्थल पर उत्कृष्ट दिखाई पड़ते हैं। सूर-सारावली में भी कवि अपनी वर्णन की प्रवृत्ति को रोक नहीं सका है। भागवत की कथा की सूची देते हुए भी संक्षेप में वह वर्णन देता गया है और कवि जब मौलिक अंश—अर्थात् वृन्दावन रास-लीला—में प्रवेश करता है तब तो विस्तार से रसात्मक वर्णन में जुट जाता है। साहित्य-लहरी के पदों में भी कवि दृष्टकूट पद्धति में राधा-कृष्ण

की संयोग-लीला, नखशिख, अभिसार, मिलन तथा मान आदि का वर्णन ही प्रस्तुत करता है।

तात्पर्य यह कि सूर का समस्त काव्य वर्णन है और यह वर्णन राग-रागिनियों से समन्वित गीतों में उपस्थित किया गया है। इसलिए सूर के गीतिकाव्य को वर्णनात्मक गीति-काव्य या प्रगीत वर्णन की संज्ञा दी जा सकती है।

काव्य-शास्त्रीय-विश्लेषण

गेयत्व—सूर के पदों का गेयत्व अपूर्व है। शास्त्रीय राग-रागिनियों के ठीक स्वर-ताल उसमें प्राप्त हैं। प्रत्येक पद के ऊपर पद-स्थित राग या रागिनी का नाम उल्लिखित है। शास्त्रीय संगीतज्ञ उन्हीं स्वरों में सफलतापूर्वक गाता और सूर के शास्त्रीय-संगीत-ज्ञान की मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है। सूर-सागर में इतने अधिक राग हैं कि उन्हें देखकर समस्त जीवन संगीत-साधना में अर्पित कर देने वाले आज के संगीतज्ञों को भी दाँत तले उँगली दबानी पड़ती है। तात्पर्य यह कि सूर के गीतों में शास्त्रीय स्वर-लय का पूर्ण विधान है फिर भी सूर के गीत शास्त्रीय संगीत मात्र नहीं हैं। उनमें स्वर-लय और नाद का चमत्कार प्रमुख नहीं है, प्रधानता है शब्द-संगीत की। सूर के पदों में कवित्व संगीत का दास नहीं है, संगीत कवित्व का सहायक बनकर आया है। सूरदास के पदों में संगीत पद की भावुकता को अभिवृद्ध करने, सरसता का संचार करने और अनुकूल भावभूमि का निर्माण करने मात्र का कार्य करता है। संगीत शब्द-सौंदर्य या अर्थ-सौरस्य में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं करता। वह तो शब्दों की रमणीयता, ध्वन्यात्मकता और स्वर-लहरी से अर्थ में सौष्ठव और कल्पना में कमनीयता भरता है। यही कारण है कि एक ओर सूर के पदों में संगीत रचना के तत्त्व मिलते हैं तो दूसरी ओर उनमें काव्यात्मक वर्ण-योजना, अलंकार-विधान, लक्षणा-व्यंजना के चमत्कार और रसावयवों की अनिवार्य योजना प्राप्त होती है। पदगत शब्द-संगीत अनुभूति की सूक्ष्मता को मूर्तिमान कर देता है। संगीत-तत्त्व की रक्षा के लिए सूरदास जी प्रसाद-गुण-प्रधान शब्दावली को अधिक ग्रहण करते हैं, किन्तु जब संस्कृत-गर्भित शब्दावली का ग्रहण करते हैं तो उन पर स्वरों के अनुरूप ऐसी रंगत लाते हैं कि वह भी नाद सौंदर्य के अनुरूप हो जाती है। जैसे—

सोभित कर नवनीत लिए
घुटुरुन चलत रेनु-तन-मंडित मुख दधि लेप किए ॥[1]

इसमें संस्कृत-गर्भित शब्दावली का बाहुल्य है। किन्तु 'शोभित' को 'सोभित', 'रेणु' को 'रेनु' बनाकर उसमें ब्रज भाषा का मार्दव भर दिया गया है। साथ ही दन्त्य वर्णों की बहुलता और सानुनासिक ध्वनि के संयोग से उसका गेयत्व सघन कर दिया गया है।

कभी-कभी कवि सूरदास, गायक सूरदास की अपेक्षा आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। उनकी प्रवृत्ति अलंकार-विधान, उक्ति वैचित्र्य अथवा शब्द-क्रीड़ा में रम जाती

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६६।

है। पद में भावुकता और रसात्मकता की मात्रा कम हो जाती है और पंक्तियाँ शब्द-चमत्कार और अर्थ के जटिल भार से दबी दिखाई पड़ती हैं। सूरसागर के बाल-छवि, नख-शिख, मुरली-प्रसंग के अनेक पदों तथा दृष्टकूट पदों और समस्त साहित्य-लहरी में यह प्रवृति प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था में पद की संगीतात्मकता में व्याघात उत्पन्न होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है किन्तु गायन-कला के सिद्ध सूरदास जी की वाणी शब्दार्थ-साधना में निरत होते हुए भी संगीत का तिरस्कार नहीं करती है। अपने अभ्यास के बल पर वे अनायास ही स्वर-ताल और लय का शुद्ध निर्वाह साहित्य-लहरी के दृष्टकूटों में भी करते जाते हैं। गायक या श्रोता पद का भाव भले ही न समझ सके किन्तु स्वर-लहरियाँ तथा उनकी बंधान प्रतिपाद्य को आभासित करने में नहीं चूकतीं। सूरदास जी के वर्णनात्मक लम्बे पदों की वस्तु गीत के अनुरूप नहीं है। उसमें छन्दों का बंधन भी है। फिर भी गेयत्व की दृष्टि से वे भी पीछे नहीं हैं। प्रायः उनकी टेक ऐसी है जो उनमें संगीतात्मकता का पुट भर देती है। यदि केवल गेयत्व की दृष्टि से उन पर विचार किया जाय तो इन्हें भी गीत कहने में किसी को आपत्ति न होगी। सारावली में एक ही लम्बा पद है, किन्तु वह संगीत और लोक-गीत ऐसे साँचे में ढला है कि उसके छन्द अंतरा के रूप में टेक से बँधकर 'काफी' राग के मनोरम स्वरों का निर्वाह करते हैं और ब्रज-होली-लोक-गीत का सुन्दर उदाहरण भी बन जाते हैं।

आत्माभिव्यंजन — कृष्ण-लीला की प्रधानता होते हुए भी सूर-साहित्य में कवि की प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति मिलती है। सूरदास जी की प्रकृति आत्म-निवेदन की ओर अधिक उन्मुख थी। उनका समस्त जीवन अपने आराध्य के सम्मुख अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, उत्साह और क्षोभ आदि के नम्र-निवेदन में व्यतीत हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क में जाने से पूर्व वे सन्त-परम्परा के स्वरचित गीत गाया करते थे। पुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पश्चात् उन्हें श्रीनाथ जी के सम्मुख कीर्तन करने और आत्मनिवेदन के रूप में पद गाने का जीवन-कार्य मिला। इससे उनके जीवन-क्रम में किंचित् मोड़ मात्र ही हो सका। अब भी उन्हें पहले जैसा ही आत्म-निवेदन और आत्मानुभूति का प्रकाशन करना था। भेद केवल इतना हुआ कि अब इन्हें कृष्ण-लीला का साहाय्य उपलब्ध हो गया। सन्तों जैसा जो तपस्यामय[1] जीवन इन्होंने व्यतीत किया था, उससे उनके सहज स्निग्ध हृदय को शान्ति न मिली थी। अवचेतन में स्थित सरस-वृत्ति कृष्ण-लीला की अनुकूल भाव-भूमि पाकर तीव्र धारा में उमड़ पड़ी। "रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु"[2] उनका मन निरालम्ब था। कृष्ण की सरस लीलाओं का आश्रय पाकर उनकी समस्त अवरुद्ध मनोवृत्तियाँ 'कृष्णार्पणमस्तु' बोलकर शत-शत धाराओं में प्रवाहित हो उठीं। गोप, गोपांगना और ब्रजांगना के माध्यम से सूरदास जी अपने ही हृदयोद्गारों का व्यक्तीकरण करने लगे। उनकी दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भक्ति कृष्ण की विविध लीलाओं में साकार हो उठी। विनय, बधाई, क्रीड़ा,

---

१. **शिव विधान तप करेउँ बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।**—सारावली १००२
२. सूरसागर (सभा), प्रथम स्कन्ध, विनय पद २।

रसकेलि और विरह के पदों में उनका उल्लसित हृदय झलक उठा। नन्द, यशोदा, गोप ब्रजांगना और डाढ़ी आदि के द्वारा वे कृष्ण की बाल-छवि निरखकर निहाल हुए। उन्होंने जी भरकर बधाई गाई, फिर वे ग्वाल-बाल बनकर कृष्ण की बाल-क्रीड़ा में सम्मिलित हुए। खूब खीझे और खिझाया, माखन-चोरी में सहयोग किया, दान-लीला में कृष्ण के सैनिक बने, गोपी और गोपांगना बनकर स्वकीया और परकीया-प्रेम का परमानन्द लूटा, सुखमा, ललिता और चन्द्रावली की ओट में राधा-कृष्ण की रस-लीला का पूर्ण रूप से आस्वादन किया और भ्रमरगीत में अपनी विरह-कातर रसानुभूति को उपालम्भ के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार सूर-सागर के वस्तुगत आधार में भी कवि की व्यक्तिगत अनुभूति के लिए सम्यक् क्षेत्र प्राप्त है। रस-स्निग्ध सरस वृत्तियों के प्रकाशन के लिए बन्धन-विहीन वृन्दावन की रंगस्थली अनायास ही सुलभ थी। रसस्वरूप लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण की अद्भुत लीलाओं का आधार था ही अतः लीला-वर्णन में अप्रत्यक्ष रूप से और पदान्त की भनिता में प्रत्यक्ष रूप से सूरदास जी ने अपनी आत्मानुभूति व्यक्त की। साहित्य-लहरी में काव्य-चिन्तन और सारावली में निजी दार्शनिक तथ्य लेकर उन्होंने अपनी साहित्यिक सुरुचि और आध्यात्मिक जिज्ञासा को तृप्त किया।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सूर के गीति-काव्य में वस्तुगत आधार और वर्णन का आधिक्य है तथापि उसके अन्तर्गत व्यक्तिगत अनुभूति-चित्रण के लिए विस्तृत क्षेत्र सुलभ है। वस्तुपरक होते हुए भी उसके भावपरक होने में विशेष बाधा नहीं पड़ी है। कोरे वर्णनात्मक पदों में यह प्रवृत्ति अवश्य नहीं मिलती किन्तु उस अंश की गणना तो सूर के गीति-काव्य में करना ही समीचीन नहीं है।

भावप्रवणता—रागात्मक अन्विति गीति-काव्य की धुरी है। पद में एक ही भाव आदि से लेकर अन्त तक विद्यमान रहता है। इसी अन्विति (Unity) के कारण गीत अपने में सर्वथा पूर्ण होता है। उसे पूर्वापर सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती। गीत की अन्विति तभी श्रेष्ठ होती है जब उसमें विचारों की बौद्धिकता और इतिवृत्तात्मकता का अभाव हो। सूरदास जी के गीतों में भाव और स्वरों की संगति (Coherance) प्रायः प्राप्त होती है। विनय-पदों तथा कला-गीतों में एक ही मूल-भाव आदि से अन्त तक मिलता है। लीला सम्बन्धी पदों में वस्तुगत आधार ब्याज मात्र होता है, उद्देश्य कवि के व्यक्तिगत भाव की अभिव्यक्ति होती है। लीला के उन पदों में जिनमें वर्णन की प्रधानता है, टेक अन्विति की द्योतक है। अधिकांश लम्बे पदों में पद के बीच-बीच में टेक की अर्धाली संगति उपस्थित करती जाती है। पद की दो-दो पंक्तियाँ तुकान्त युक्त छन्दों में होती हैं और टेक सब के साथ लगकर भिन्न तुक वाले चरणों में भी संगति उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए एक लम्बा पद देखिए—

तो पर वारी हौं नंदलाल। टेक
सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन विविध रंग जँह तँह कूजत कोकिल पुंज॥

जमुना पुलिन स्याम घन सुंदर, अद्भुत रास उपायौ।
सप्त सुरन बंधान सहित हरि, मुरली टेर सुनायौ ॥[1]

इसी प्रकार दो-दो पंक्तियों के तुकान्त चरण चलते जाते हैं। प्रत्येक तुक भिन्न है किन्तु गायक प्रत्येक तुक के बाद टेक लगाता हुआ गाता जाता है। इस प्रकार समस्त वर्णन में 'तो पर वारी हौं' के मूल-भाव की छाप लगती जाती है। इस प्रकार अन्विति की रक्षा हो जाती है। तुक अन्विति और संगति के साधन बनते जाते हैं। सूर के पदों की अन्तिम पंक्ति समस्त पद का सार प्रस्तुत करके पद को पूर्णता पर पहुँचा देती है। जैसे—

'सूरदास प्रभु भक्त वछलता प्रगट करी गिरधारी।[2]

सारांश यह कि टेक से जिस मूल भाव का परिचय मिलता है और संगति बीच-बीच में टेक की आवृत्ति द्वारा होती रहती है, उसकी पूर्णता भनिता की अन्तिम पंक्ति में हो जाती है। चाहे पद कितना ही बड़ा या छोटा हो, सूरदास जी एक ही मुख्य विचार उसमें रखते हैं। विचार-विस्तार के रूप में उसका कलेवर कुछ भी हो जाय, मूल भाव एक ही रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक पद भाव और विचार दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र और सर्वथा पूर्ण होता है। सूर के अन्विति का मूल उसमें स्थित एक रागात्मकता है। प्रत्येक पद में रसात्मक आवेग प्रवाहित होता रहता है। इसी रसधारा में मग्न पाठक या श्रोता पद की इतिवृत्तात्मकता को भूल जाता है। सूर की निजी भावानुभूति ही उसके अन्तस्तल पर संचरण करने लगती है। इस प्रकार सूर के कला-गीतों में गीतिकाव्यानुरूप भाव-प्रवणता प्राप्त होती है जिसमें एक रागात्मक अन्विति अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है।

सहज अंतःप्रेरणा—सूरदास जी का समस्त साहित्य उनकी सहज अंतःप्रेरणा का ही परिणाम है। आरम्भ से ही उनके जीवन का क्रम प्रभु-सेवा में लग्न था। जब वे श्रीनाथ जी के प्रमुख कीर्तनकार नियुक्त हुए तब उनकी भक्ति का स्वरूप परिवर्तित हो गया—दास्य के स्थान पर सख्य का आविर्भाव हुआ। अभी तक वे व्यापक अखिलेश्वर के गुणों का गान करते थे, पर अब प्रभु की भी एक निश्चित रूप-रेखा लीला पुरुषोत्तम रसावतार कृष्णचन्द्र और उनकी वृन्दावन की रस-लीलाएँ—उन्हें प्राप्त हो गई। इनके बाहर और कहीं आने का विचार उन्होंने छोड़ दिया।[3] प्रतिदिन लीला के माध्यम से आत्म-निवेदन करना अब उनके जीवन का एकमात्र कार्य और व्यसन रह

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११८१।

२. वही ११८१।

३. **अब तो यहै बात मन मानी।**
छाँड़ों नाहि स्यामस्यामा की वृन्दावन रजधानी।
भ्रम्यौ बहुत लघु धाम विलोकत छनभंगुर दुखदानी।
सर्वोपरि आनन्द अखंडित, सूर-मरम लपिटानी ॥
—सूरसागर (सभा), विनय पद ८७।

गया। अपनी सहज अंतःप्रेरणा की उमंग में पद-रचना करके वे प्रभु के सम्मुख कीर्तन किया करते थे। यही कारण है कि इनके मौलिक गीतों में भागवतीय कथा का अभाव है और रस तथा आवेग की मात्रा अधिक है। बाल-लीला, माखन-चोरी, प्रेम-लीला, रास-लीला और भ्रमरगीत आदि प्रसंगों में कथा नहीं है। प्रत्येक पद प्रसंग का सहारा लेकर रस-सृष्टि करता दिखाई पड़ता है। जैसे—

राग मलार

बदरिया बधन विरहिनी आई।
मारू रौर ररत चातक पिक चढ़ि नग टेर सुनाई॥
दामिनि कर करवाल गहै, अरु सायक बूँद बनाई।
मनमथ फौज जोरि चहुँ दिसि तें, ब्रज सम्मुख ह्वै धाई॥
नदी सुभर संदेस क्यों पठऊँ बाट त्रिनन हूँ छाई।
इक हम दीन हुति कान्हर बिनु, औ हनि गरज सुनाई॥
सूनौ घोष बैर तकि हमसौं, इन्द्र निसान बजाई।
सूरदास प्रभु मिलहु कृपा करि, होति हमारी घाई॥[1]

उपर्युक्त पद में न तो कोई कथा है और न वर्षा का वर्णन ही है। इसमें तो विरह की तीव्रानुभूति ही प्रत्यक्ष की गयी है। प्रतीत होता है भयंकरता चारों ओर से घिरी है। विरहिणी आतंकित है, कहीं उसे रक्षा का स्थान नहीं दीख पड़ता। उसकी आर्त्त-पुकार प्रत्येक पंक्ति से निकल रही है।

हम पीछे लिख चुके हैं कि सूरसागर का आदि रूप द्वादश स्कन्धात्मक न होकर स्फुट लीला-पदों का एक संग्रहात्मक रूप था। सूरसागर का वह अंश जो छन्दात्मक-वर्णनात्मक पदों में भागवत की कथा उपस्थित करता है कवि की सहज अन्तःप्रेरणा से युक्त नहीं है और इसीलिए वह अंश गीति-काव्य के अनुरूप नही है। 'सारावली' और 'साहित्य-लहरी' भी उनकी निजी अन्तःप्रेरणा के परिणाम हैं। इन ग्रंथों की वस्तु गीति-काव्य का विषय नहीं है—'सारावली' में श्रीमद्भागवत का सार तथा सिद्धान्त, समुच्चय तथा 'साहित्य-लहरी' में शब्द-क्रीड़ा युत अलंकार, नायिका-भेद और रस-निरूपण है—फिर भी कवि की अन्तःप्रेरणा के भिन्न-भिन्न पहलू इन पुस्तकों में देखने को मिलते हैं।

शैली—सूर की भाषा-शैली गीति-काव्य के अनुरूप है। उसमें अनुपम प्रवाह है। साहित्य-लहरी तथा सूरसागर के दृष्टकूट पदों को छोड़कर सर्वत्र ही पदावली प्रसाद गुण-पूर्ण है। शब्दों का लालित्य, उनकी कोमल कान्तता और सहज मार्दव गीत की भाव-धारा से मिल जाते हैं। संस्कृत शब्दों का प्रयोग संगीत की ध्वनि उत्पन्न करने में सहायक होता है। क्लिष्ट सामासिक पदावली के दर्शन सूर के पदों में प्रायः नहीं होते। यद्यपि सूर ने ब्रज की लोक-भाषा का साहित्यिक संस्कार किया तथापि ब्रज की लोक-भाषा की स्वाभाविकता नष्ट होने नहीं पायी है। शब्दों की अनुप्रासिकता, तुक

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३०६।

और कंठ-ध्वनि प्रवाह को द्विगुण करते हैं। कवि को सादृश्यमूलक अलंकार बड़े प्रिय थे। प्रायः प्रत्येक चरण में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि के द्वारा पद की कमनीयता और भाव की मूर्तिमत्ता के दर्शन होते हैं। उदाहरण—

ललन हौं या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागों इन नैननि, रोग-बलाइ तुम्हारी॥
लट-लटकनि मोहन मसि बिंदुका, तिलक भाल सुखकारी।
मनौ कमल दल सावक पेखत, उड़त मधुप छवि-भारी॥
लोचन ललित, कपोलनि काजर, छवि उपजति अधिकारी।
सुख में सुख और रुचि बाढ़ति, हँसत देत किलकारी॥
अलपदसन कलबल करि बोलनि, बुधि नहिं परत विचारी।
विकसति ज्योति अधर पै मानौ, विधु में बिज्जु उज्यारी॥[1]

उपर्युक्त पद में दन्त्य वर्णों, अनुनासिक ध्वनियों और लकार के बाहुल्य से संगीतात्मकता की वृद्धि हुई है। अनुप्रासिकता शब्द संगीत के लालित्य को बढ़ाती है। चरणान्त में दो गुरु का तुक प्रत्येक पंक्ति में है। यह गीत में स्वर भरने का सुअवसर प्रदान करता है। समस्त पद में मुख-छवि का वर्णन है जो प्रसाद गुण पूर्ण है। उत्प्रेक्षाएँ इतनी साधारण और सुपरिचित हैं कि विचारों का बोझ मस्तिष्क पर नहीं पड़ता और अनायास ही तन्मयता छा जाती है। भाव का तारल्य तो है ही भाषा में भी सहज प्रवाह युक्त तरलता दिखाई पड़ती है। शब्द-संगीत अर्थ का द्योतक है। 'लट-लटकनि' में उलझन, 'मसि बिंदुका' में बिन्दी, 'उड़त' में भौंरे की उड़ान, 'लोचन-ललित' में कमनीयता, 'कपोलनि' में स्निग्धता और कपोलों का गोल आकार, 'किलकारी' में किलक, 'अलप दसन कलबल करि बोलनि' में बच्चे की तोतली बानी और 'बिज्जु उज्यारी' में एक दमक की ध्वनि स्वतः आती है। संगीतज्ञ तो इन ध्वनियों से लाभ उठाकर उसमें अपनी सधी हुई स्वर-लहरी के संयोग से उक्त भावों को मूर्तिमान कर देगा और श्रोता उसे सुनकर आत्म-विभोर हो जायगा। बीच-बीच में ग्राम-गीतों की भावुकता की भी स्थिति सूरदास जी ने रखी है। टेक 'ललन हौं या छवि ऊपर वारी' तो शुद्ध ग्राम-गीतत्त्व का उदाहरण है। 'रोग-बलाइ तुम्हारी', 'छवि उपजति अधिकारी', 'सुख में सुख औरे रुचि बाढ़ति' और 'बुधि नहिं परत विचारी' में ग्राम-गीतों का चिर-परिचित स्वर सुनाई पड़ता है। इस प्रकार इस पद में वही मातृभाव व्यक्त है जो सामान्य लोरियों में प्राप्त होता है।

वस्तुतत्त्व और भावतत्त्व का अनुपात—गीत-काव्य में भाव-तत्त्व की मात्रा अधिक और वस्तु-तत्त्व की कम होती है। वस्तु-तत्त्व का आधिक्य मुक्तक या प्रबन्ध-काव्य में होता है। सूरदास जी के गीति-काव्य में वस्तु-तत्त्व का निश्चय ही प्राचुर्य है। कारण यह है कि समस्त काव्य कृष्ण की लीलाओं के वर्णन रूप में हैं। किन्तु फिर भी इस वस्तु-तत्त्व के मूल में भाव-तत्त्व सर्वत्र विद्यमान है। सूर-काव्य में वस्तु-तत्त्व अस्थि-पंजर

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६१।

है तो भाव-तत्त्व उसका प्राण है । प्रत्येक पद में प्रवहमान भाव-धारा वर्णन पर छा जाती है और पाठक या श्रोता उसी में मग्न होता है । वर्णन-वैचित्र्य का प्रभाव उस पर प्रायः न के बराबर पड़ता है । इस प्रकार सूर के गीति-काव्य में परिमाण में तो वस्तु-तत्त्व भाव-तत्त्व से कई गुना दिखाई पड़ता है किन्तु उसके भीतर भाव-तत्त्व की जो तीव्रता और प्रबलता है उसके कारण भाव-तत्त्व मात्रा में कम होते हुए भी अधिक प्रभावशाली हो जाता है । सारांश यह कि सूर के प्रगीत वर्णन में वस्तु-तत्त्व और भाव-तत्त्व का अनुपात दो और तीन का ही माना जा सकता है और इसी कारण वह गीति-काव्य के अनुकूल भी पड़ जाता है ।

स्वान्तःसुख और भावना का उन्नयन

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से सूर के गीति-काव्य का जो विवेचन ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसकी पुष्टि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी की जा सकती है । सूरदास जी का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने में ही केन्द्रित था । आत्म-केन्द्रित होने के कारण लोकादर्श, समाज रुचि और नीति आदि पर दृष्टि न रखकर उन्होंने अपने काव्य का आधार स्वान्तःसुख ही माना है । अपने अनुराग-विराग की सभी वृत्तियाँ उन्होंने कृष्ण पर ही अर्पित कर दी हैं । कृष्ण ही उनकी सद्वृत्तियों के आधार हैं और कृष्ण ही उनकी असद्वृत्तियों के आलम्बन हैं । जहाँ उन्होंने कृष्ण के ईश्वरत्व का उद्घाटन किया है वहाँ उन्होंने अपनी सहज मनोवृत्तियों की तुष्टि में कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं की भी पूर्ण अभिव्यक्ति की है । अनुराग और विराग दोनों का ही सम्यक् निरूपण सूरसागर में उपलब्ध है । बल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व विरागी होकर साधना और तपस्या आदि उन्होंने की थी[1] किन्तु मन की रागात्मक सहजवृत्तियाँ विनष्ट न हुई थीं, अवचेतन में स्थित थीं । वे कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का आलम्बन पाकर अभिव्यक्त हो गयीं । इस प्रकार उनकी सहज मनोवृत्तियों का तरल रूप कृष्ण-लीला-वर्णन के रूप में गीतों में बह निकला । परिणाम यह हुआ कि उनके काव्य में वर्णनात्मकता तो आई पर आत्मपरक होने के कारण उसका व्यक्तीकरण गीतों में हुआ; काव्य में आध्यात्मिकता की स्थिति होते हुए भी नीति, लोकादर्श आदि का समावेश नहीं किया गया है । एक उदाहरण आवश्यक है—

रीझे परसपर वर-नारि ।
कंठ भुज-भुज धरे दोऊ सकत नहीं निवारि ।

---

१. **शिव विधान तप करयौ बहुत विधि तऊ पार नहिं लीन ।**
—सारावली, छन्द १००८

करमभोग पुनि ज्ञान उपासन सबही विधि भरमायौ ।
—सारावली, छन्द ११०२

भ्रम्यौ बहुत लघु धाम विलोकत, छन भंगुर दुख दानी ।
—सूरसागर, विनय पद ८७

गौर-स्याम कपोल सुललित, अधर अमृत-सार।
परस्पर दोउ पीय प्यारी, रीझि लेत उगार।
प्रान इक द्वै देह कीन्हें, भक्ति-प्रीति-प्रकास।
सूर-स्वामी स्वामिनी मिलि करत रंग-विलास ॥[1]

पद में सूरदास जी की अपने प्रभु सम्बन्धी अलौकिकता की धारणा स्पष्ट है। वे स्वामी और स्वामिनी के कथन द्वारा अपनी श्रद्धा का प्रकाश करते जाते हैं तथा शृंगारिक विलास-वर्णन के अन्तर्गत भक्ति की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख करते जाते हैं। फिर भी रंग-विलास के वर्णन में उन्हें किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं है। वे संयोग-सुख का निस्संकोच वर्णन करते हैं। अपना मत भी उन्होंने एक स्थल पर प्रकट किया है—

चित चुभि रही मदन मोहन की चितवनि मृदु मुसकानि।
जुर्‍यो सनेह नंद नंदन सौं तजि परिमिति कुलकानि।
छूटत नहीं सहज सूरज प्रभु, दुख-सुख लाभ कि हानि ॥[2]

सहज गुण—सूरदास जी सहज गायक थे। अपनी अनुभूतियों और भक्त-हृदय की मनोदशाओं को बिना किसी बनाव-सँवार के गाकर उपस्थित करना ही उनका कार्य था। अन्धे होने के कारण उन्हें अपनी रचनाओं को माँजने, सुधारने और चमकाने का अवसर कम था। नंददास जी की भाँति सूर को ललित शब्दों और पदों का चयन, उनका परिष्करण और कान्ति-निक्षेपण का सुयोग न था। वे काव्य में जड़िया की नक्काशी, खराद और दीप्ति न भर सकते थे, अपने अनूठे, अलोने-सलोने भावों की अकृत्रिम अभिव्यंजना करना जानते थे। यही कारण है कि इतने बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ, पंडित और उच्च कोटि के गायक होते हुए भी उनकी वाणी सरल और स्वाभाविक शिल्प-विधान की ही मुखापेक्षी रही है। गंभीर से गंभीर विचार भी अतिसरल ब्रज-बोली में व्यक्त होते हैं। जैसे—

द्वै में एकौ तौ न भई।
ना हरि भज्यौ न गृह सुख पायौ वृथा विहाइ गई।
ठानी हुती और कछु मन में, औरै आनि ठई।
अविगत-गति कछु समुझि परत नहिं, जो कछु करत दई।
× × ×
होत कहा अब के पछिताये, बहुत बेर बिलई।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकल मई ॥[3]

उक्त पद के रेखांकित शब्द और पद की शैली द्रष्टव्य है। 'एकौ तौ', 'विहाइ', 'ठानी हुती' 'करत दई', 'बेर बिलई' जैसे शब्द सरल ब्रज-बोली के हैं पर पद में विराग और आध्यात्मिकता के ऊँचे विचारों का निरूपण है।

सूरदास जी को अपना विचार कीर्तन के माध्यम से प्रस्तुत करना होता था,

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०८२।
२. वही ३८०६।
३. वही २९९।

इसलिए वे अवसर विशेष के लिए विशिष्ट पद की रचना कर लेते थे, जिसमें सहज गुण तो होता था किन्तु कलात्मक शृंगार प्रायः कम होता था। उदाहरण के लिए नृसिंह जयन्ती[1] और वामन जयन्ती[2] के पद दृष्टव्य हैं। इनमें अवसरानुकूल कथा तो है किन्तु कवि का कृतित्त्व नहीं है। इसी प्रकार शरद-पूर्णिमा की रात्रि के कीर्तन के लिए शरद-वर्णन सम्बन्धी लम्बे पद[3] रचे गये हैं जिनमें सहज गुण तो है पर कलात्मकता का अभाव है। उदाहरण—

सरद सुहाई आई रात। दहुं दिसि फूलि रही वन-जाति।
देखि स्याम मन सुख भयौ।
ससि गो मंडित जमुना-कूल। वरषत विटप सदा फलफूल।
विविध पवन दुख दवन है।
राधा रवन बजायौ बेनु। सुनि धुनि गोपिनि उपज्यौ मैनु।
जहाँ तहाँ ते उठि चलीं—

इत्यादि[4]

कीर्तन के क्रम के कारण सूरदास जी का सम्पर्क न केवल पंडित-मंडली से था वरन् साधारण जन-समुदाय से भी था, जो कीर्तन में रुचि रखते थे। उस काल के अच्छे गायक एवं शास्त्रीय संगीत के कलाविद भी सूरदास के कीर्तन में सम्मिलित होते थे। जैसा समुदाय होता था उसी के अनुरूप सूरदास जी भजन गाते थे। परिणाम यह हुआ कि उनके कुछ गीत तो शुद्ध लोक-गीत के रंग में रंगे हैं और कुछ शास्त्रीय रागों के शिल्प-विधान से भूषित हैं। कुछ पद साहित्यिक छटा और शब्द-क्रीड़ा (दृष्टकूट) से भी अलंकृत हैं। सूरदास जी साधारण जन-समुदाय और विशेषज्ञों—दोनों की रुचियों को सन्तोष देने के अभिप्राय से साहित्यिक शब्द-विधान से युक्त ऐसे गीतों की रचना करते थे जो शास्त्रीय रागों में भी गाये जा सकते थे और लोक-गीतों में भी। सूरदास जी की काव्य-कल्पना जब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती थी तब भी उसमें सहजता विद्यमान रहती थी। उनकी भाषा का सहज गुण उनकी कल्पना की कमनीयता में सोने में सुगंध का काम करती थी। उदाहरण के लिए पद है—

(हौं तो मोहन के) विरह जरी रे तू कत जारत।
रे पापी तू पंखि पपीहा पिय-पिय करि अधराति पुकारत।
करी न कछु करतूति सुभट की झूठि मृतक अवलनि सर मारत।
रे सठ तू जु सतावत औरनि जानत नहिं अपने जिय आरत।
सब जग सुखी दुखी तू जल बिन, तऊ न उर की विथा बिचारत।
सूर स्याम बिनु ब्रज पर बोलत, काहै अगिलौ जनम बिगारत।।[5]

---

१. सूरसागर (सभा), सप्तम स्कन्ध, पद २।
२. वही, अष्टम स्कन्ध, १२ से १४।
३. वही, दशम स्कन्ध, ११८० से ११८२।
४. वही, दशम स्कन्ध, ११८०।
५. वही, ३३३८।

यहाँ पद-गत भाषा की स्वाभाविकता, अकृत्रिम भाव-योजना और सहज भावानुभूति के स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं। कल्पना की कमनीयता केवल भाव-विषयक है, संगीत की कला उसके सहज स्वरों में है किन्तु अभिव्यक्ति में सूर ने ग्राम-बधूटी की सहजता की अनिवार्यता रखी है। प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक शब्द और स्वराघात में ग्राम-कंठ मुखरित हो रहा है।

तात्पर्य यह कि सूर के गीति-शिल्प में काव्य-शास्त्र और संगीतशास्त्र का जितना योगदान है उससे भी अधिक स्वाभाविकता और सहज गुण का अनिवार्य पुट है।[1] सूर ने अपनी ज्ञान-राशि के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध अवश्य किया किन्तु उनका भावुक हृदय लोक-संस्कृति, लोक-रुचि और सहज मार्दव को किसी भी मूल्य पर त्याग न सका। सच तो यह है कि सहज गुण की रक्षा के लिए यदि उन्हें अपने पांडित्य, काव्य-सौष्ठव और संगीत-कला को कहीं निछावर करना पड़ा तो भी वे ऐसा करने में हिचकिचाए नहीं।

१. देखिए परिशिष्ट में गीति-काव्य की परम्परा का अनुसन्धान।

प्रकरण २

अभिव्यंजना-कौशल

वर्ण-योजना

काव्य के मूल आधार शब्द और अर्थ हैं। इनमें ध्वनि, रस, अलंकार और गुण आदि से समन्वित एक शक्ति विशेष होती है जो कर्णेन्द्रिय द्वारा सहृदय के अन्तराल में प्रवेश कर उसे काव्यानन्द की प्रतीति कराती है। शब्दों की रचना वर्णों से होती है। प्रत्येक वर्ण में उसकी अपनी ध्वनि होती है। समुचित वर्णों के प्रयोग से शब्दों का सौंदर्य निखरता है अन्यथा कविता नीरस हो जाती है। कवि जो भाव अपने शब्दों से प्रस्तुत करता है उसके माध्यम सुन्दर वर्ण ही होते हैं। इसीलिए कुशल कवि शब्द-योजना में वर्ण-योजना पर विशेष दृष्टि रखता है। वर्ण-योजना अपने वर्ण-संगीत से भावानुरूप वातावरण संयोजित करती है, फलतः इसके पूर्व कि सहृदय काव्यार्थ का रसानन्द प्राप्त करे, उसके मन को रसानुकूल पृष्ठभूमि मिल जाती है। अनुप्रास आदि इसीलिए सभी श्रेष्ठ कवियों को प्रिय हुए। सूरदास जी ने अनुप्रास को अलंकार के रूप में ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि ब्रजभाषा के परवर्ती कवियों की भाँति अनुप्रासिक छटा उनके पदों में नहीं मिलती। सूरसागर में एक पंक्ति भी ऐसी नहीं मिलती जिसमें अनुप्रास का निर्वाह आदि से अन्त तक हुआ हो फिर भी वर्ण-संगीत का अतुल वैभव उनके पदों में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रक्रिया में इतनी सहजता और अकृत्रिमता मिलती है जैसे सारी योजना अनायास हुई है। यथा—

ब्रज वनिता वर वारि वृन्द में श्री ब्रजराज विराज्यो।[1]

नृत्यत स्याम नाना रंग
मुकुट लटकनि, भृकुटि मटकनि धरै नटवर अंग।[2]

मनमोहिनी तोतरी बोलनि मुनि-मन हरनि सुहँसि मुसकनियाँ।
बाल सुभाव विलोल विलोचन चोरति चितहिं चारु चितवनियाँ।[3]

वर्ण-योजना में अर्थ-सौरस्य—सूर के पदों की वर्ण-ध्वनि केवल आकर्षण ही नहीं उत्पन्न करती, अर्थ में रस भी भरती है। वर्ण-मैत्री श्रवणेन्द्रिय को सुख देने के पश्चात् पद में निहित अर्थ को मूर्तिमान करने में योग देती है। जैसे—

अंचल चंचल स्याम गह्यो।[4]

इसमें 'अंचल' और 'चंचल' का अनुप्रास श्रवणों को सुखकर है, साथ ही इसकी ध्वनि लहराते हुए पट का साक्षात् चित्र भी प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४९।
२. वही १०५६
३. वही १०६।
४. वही १०३८।

मोहन मोहिनी रस भरे।
भौंह मोरनि नैन फेरनि, तहाँ तें नहिं टरे।
× × ×
दरकि कंचुकि तरकि माला, रही धरनी जाइ।
सूर प्रभु करी निरखि करुना, तुरत लई उचाइ।[१]

यहाँ 'भौंह मोरनि नैन फेरनि' का अनुप्रास भ्रू-संचालन और नयन-चापल्य की क्रिया का चित्र देता है। 'मोरनि' और 'फेरनि' माधुर्य और अर्थ की दृष्टि से अनूठे हैं। कवि ने अनुप्रास के लोभ में पड़कर 'फेरनि' के स्थल पर 'तोरनि' या इसी प्रकार का और कोई शब्द नहीं रखा। सच बात भी यही है कि भौंहें मुड़ती हैं और नैन फिरते हैं। 'दरकि कंचुकि' में द्ररकि शब्द की ध्वनि कपड़े के फटने और 'तरकि' शब्द की आवाज माला के नीचे खिसकने का चित्र उपस्थित करती है। 'दरकि और तरकि' का अनुप्रास नृत्य की पद-गति से भी मेल मिलाता है।

वर्ण-संगीत—सूरदासजी वर्ण-संगीत के मर्मज्ञ थे। उनके वर्ण-संगीत का कलात्मक रूप रासलीला के उन पदों में देखने को मिलता है जहाँ उन्होंने हस्तक् भेदों और पद-गति की संगति वर्णों से कराई है—

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकुट-लटकनि, भृकुटि-मटकनि, नारि मन सुख-देत।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुण्डल गंड-मंडल, चपल नैननि सैन।
स्याम की छवि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्ही, प्रेम-गुन कर पोहि॥[२]

'क' और 'ट' तथा 'ड' और 'ल' वर्णों की संयुक्त ध्वनियाँ नृत्य का ताल देती हैं। पद की प्रथम और तृतीय पंक्तियों की वर्ण-ध्वनि कोमल तथा द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियों की वर्ण-ध्वनि तीव्र है। ऐसा लगता है मानों वर्ण ही घुँघरू बनकर कोमल और तीव्र स्वर उत्पन्न कर रहे हैं। 'कबहुँ चलत सुधंग गति' का वर्ण-संगीत ऋजु है और सरल पद-गति का द्योतक है किंतु 'लोल कुण्डल गंड-मंडल' आदि तीव्र पद-गति और घुँघरुओं के उच्च स्वरों के बोधक हैं। इस प्रकार कवि जिस नृत्य का वर्णन पद में कर रहा है उसी का प्रत्यक्ष रूप उसके वर्ण भी उपस्थित कर रहे हैं। काव्य के अलंकारों के बिना ही वर्णों के सुन्दर चयन से पदावली अलंकृत है। शृंगार-रस के अन्तर्गत परुष वर्णों में श्रुति-कटुत्व दोष माना जाता है किंतु यहाँ पर टवर्ग पंक्तियों के सौंदर्य को और अधिक बढ़ा रहा है।

मात्राओं के सम्यक्-विधान से भी वर्णों के सौंदर्य में विलक्षणता आती है। जिस प्रकार कवि ने वर्णों का चयन विषयानुरूप करके उसमें भाव-सौरस्य का वर्धन किया

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११४५।
२. वही ११४८।

है उसी प्रकार स्वरों के द्वारा भी वर्णों में एक अभूतपूर्व छटा उत्पन्न कर दी है और उसके द्वारा वर्ण्य-विषय को अधिक मनोरम और मूर्तिमान बना दिया है। शिशु कृष्ण का वर्णन एक स्थल पर सूरदास जी ने अमात्रिक तथा लघुमात्रा वाले वर्णों से किया है। अलंकारवादी कवि अमात्रिक[1] पद लिखकर मात्राहीन वर्णों से वर्ण-कौतुक उत्पन्न करते थे। सूर के वर्ण न केवल वर्ण-संगीत का माधुर्य कानों में भरते हैं वरन् वे अपनी स्वर-लहरी और संगीतात्मकता से कृष्ण की सुलभ क्रीड़ाओं को प्रत्यक्ष कराते हैं—

तनक चरन, अरु तनक-तनक भुज, तनक बदन बोलै, तनक सों बोल।
तनक कपोल, तनक सी दतियाँ, तनक हँसनि पर लेत हैं मोल॥
तनक करनि पर, तनक माखन लिए, देखत तनक जाकै सकल भुवन।
तनक सुनैं सुजस, पावन परम गति, तनक कहत तासों नंद के सुवन॥
तनक रीझि पै देत सकल तन, तनक चितैं चित नित कै हरन।
तनकहिं तनक तनक करि आवैं सूर, तनक कृपा कै दीजै तनक सरन॥[2]

पद में अमात्रिक वर्णों का बाहुल्य है। जो वर्ण मात्रा वाले हैं वे भी उच्चारण में अमात्रिक से ही प्रतीत होते हैं। 'तनक' की पुनरुक्ति शिशु-चापल्य और थिरकन का चित्र देने में समर्थ होती है। 'तनक' शब्द के वर्ण जैसे मधुर हैं पद के अन्य सभी वर्ण भी वैसे ही मधुर हैं। वर्णों की समवेत ध्वनि एक संगीत-रचना प्रस्तुत करती है।

सूर का एक दूसरा पद भी इन्हीं गुणों से युक्त है किन्तु उसमें अमात्रिक वर्णों की छटा नहीं है। उसमें मात्राएँ ह्रस्व भी हैं और दीर्घ भी किन्तु उच्चारण में ह्रस्व मात्राओं का प्रभाव इतना अधिक है कि दीर्घ मात्राएँ भी ह्रस्व-सी उच्चरित होती हैं—

छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अँगुरियाँ छबीली छोटी
नख-ज्योती मोती मानों कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलें ठुमुकि-ठुमुकि डोलै,
झुनुकि-झुनुकि बोलै पैंजनी मृदु मुखर।
किंकिनी कलित कटि, हाटक रतन जटि,
मृदु कर-कमलनि पहुँची रुचिर बर॥

× × ×

किलकि-किलकि हँसैं, द्वै-द्वै दंतियाँ लसैं
सूरदास मन बसैं तोतरे बचन बर॥[3]

पद में अनुप्रास और वीप्सा अलंकार अनायास ही आ-आकर कर्ण-सुखद स्वर उत्पन्न करते हैं। साथ ही स्वर-लहरी शिशु के नन्हें गात और उसकी चंचलता का चित्र उपस्थित करती है। "ठुमुकि-ठुमुकि" में बच्चे के उछलने, "झुनुकि-झुनुकि" में पैंजनी की झनकार तथा "किंकिनी कलित कटि" में किंकिणी की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है।

---

१. अलंकार पीयूष, भाग १ (डा० रसाल); पृष्ठ १७३।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५२।
३. वही, १५१।

संयोग शृंगार के वर्णन में सूर की वाणी रसावेग से सिक्त हो जाने के कारण अधिक सरस वर्ण-योजना करती है। प्रतीत होता है कि कवि ने एक-एक वर्ण को बड़े मनोयोग से एकत्रित किया है और एक कुशल जड़िया की भाँति उन्हें रचकर उन पर एक-रूपता की कान्ति चढ़ाई है। उदाहरण—

मानो माई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनि-दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि।
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि।
सुन्दर ससि गुन-रूप राग-निधि, अंग-अंग अभिरामिनि।
रूप-निधान स्याम सुन्दर घन, आनंद मन विश्रामिनि।
खंजन-मीन-मयूर-हंस पिक, भाइ-भेद गज-गामिनि।
को गति गनै सूर मोहन संग, काम विमोह्यो कामिनि॥[1]

पद में एक भी परुष वर्ण नहीं है। वर्ण-वर्ण से मधुर रस टपकता प्रतीत होता है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार राग में जो स्वर सबसे अधिक प्रयुक्त होते हैं उन्हें वादी जो वादी स्वरों से मिलते-जुलते और उनका अनुसरण करते हैं उन्हें संवादी, तथा जो विविधता उत्पन्न करने के लिये बीच-बीच में आते हैं उन्हें व्यभिचारी स्वर कहते हैं। इस पद की वर्ण-योजना में सूरदास जी ने मधुरतम वर्ण—"म" और "न"—को वादी स्वरों की भाँति सबसे अधिक प्रयोग किया है। दन्त्य वर्ण—त, द, स, ल—संवादी स्वरों के रूप में "ग" और "न" की मधुर ध्वनि से मिलते-जुलते उनका अनुसरण कर रहे हैं। पद में शेष कंठ्य-वर्ण—अ, घ, ह, क, ग, ख हैं। कंठ्य-ध्वनि विविधता भी उत्पन्न कर रही है और अपनी ठनक से मकार, नकार और दन्त्य-ध्वनि में किंचित् उत्कर्ष ला देती है। भावानुरूप वर्ण-योजना की यह कलात्मता कदाचित् ही किसी कवि की रचना में उपलब्ध हो।

वर्ण-मैत्री—शब्द-रचना में समान कोटि के वर्णों को रखने से पदावली में जो समता आती है उसे वर्ण-मैत्री कहते हैं। वर्ण-मैत्री के लिए यह आवश्यक नहीं है कि एक ही वर्ण की आवृत्ति शब्दों में हो। वर्ण-मैत्री में वर्णो की योजना समान होनी चाहिए। उनकी मात्राएँ, उनकी गठन और उनकी स्वरूप-रचना मिलती-जुलती होनी चाहिए। शब्दों में समान संख्या के वर्ण और उन वर्णों की रूप-रचना भी समान होनी चाहिए। सूरदास जी के पदों में अनुप्रास का निर्वाह उतना नहीं है जितना वर्ण-मैत्री का। इसीलिए उनकी पंक्तियाँ बिना अनुप्रास के भी सानुप्रासिक प्रतीत होती हैं। उदाहरण—

वरनों बाल-वेष मुरारि।
थकित जित-तित, अमर मुनि-गन, नंदलाल निहारि।
केस सिर बिन वपन के चहुँ दिसा छिटके झारि।[2]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४८।

२. वही १६६।

वर्णावृत्ति, सवर्गीय वर्णध्वनि या मात्राओं का साम्य पंक्ति में है। इसीलिए वर्णों में एक सन्तुलन है जो एक वर्ण-संगीत की सृष्टि करता है। एक और उदाहरण—

अब कैं राखि लेहु गोपाल
दसहुँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी है इहि काल।
पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उघटत अति अंगार, फुटत फर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि बाढ़ी धर अंबर, चमकत बिच-बिच ज्वाल।
हरिन वराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।
जनि जिय डरहु, नैन मूँदहु सब, हँसि बोले नंदलाल।
सूर अगिनि सब वदन समानी, अभय किये ब्रज-बाल।[1]

इस पद में वर्ण-मैत्री और भी अधिक है। 'दसहुँ दिसा दुसह दावागिनि' में अनुप्रास है। 'उपजी' 'इहि', 'बाँस-काँस', 'चटकत-लटकत', 'ताल-तमाल', 'अति-अंगार', 'फुटत-फर', 'झपटत-लपट', 'धूम-धूँधि', 'चमकत बिच-बिच', 'हरिन-वराह', 'चातक-पिक', 'जरत-जीव', 'जनि-जिय' तथा 'डरहु-मूँदहु' आदि में वर्ण-मैत्री की शोभा है। इस प्रकार की वर्ण-मैत्री प्रायः सूर के सभी कला-गीतों में मिलती है। लम्बे वर्णनात्मक गीतों में भी सूर ने वर्ण-मैत्री का निर्वाह किया है। जैसे—

अँगुरिन मुंदरी पहुँची पानि। कछि कटि कछनी किंकिनि-बानि।
उर नितंब वेनी रुरै।
नारा वंदन सूथन जंघन। पाइनि नूपुर बाजत संघन।
नखनि महावर खुलि रह्यो।
पग पटकत लटकत लट बाहु। मटकत भौंहनि हस्त उछाह।
अंचल चंचल झूमका।
दुरि-दुरि देखत नैननि सैन। मुख की हँसी कहत मृदु बैन।
मंडित गंड प्रस्वेद कन।[2]

सूर की वर्ण-मैत्री का चमत्कार ओज-प्रधान वर्णनों में भी देखने को मिलता है। जैसे—

सुनि मेघवर्त सजि सैन आए
बलवर्त, वारिवर्त, पौनवर्त, वज्र, अग्नि वर्तक, जलद संग ल्याए।
घहरात, गररात, दररात, हररात, तररात, झहरात माथ नाए।[3]

इसी प्रकार बाल-छवि वर्णन सम्बन्धी पदों में भी वर्ण-मैत्री का स्वरूप मिलता है। जैसे—

हरि जू की बाल-छवि कहौं वरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज-सोभा-हरनि।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६१५।
२. वही ११८०।
३. वही ८५३।

भुज-भुजंग, सरोज नैननि, वदन-बिधु जित लरनि।
रहे विवरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि।
मंजु मेचक मृदुल तनु, अनुहरत भूषन भरनि।
मनहु सुभग सिंगार, सिसु-तरु-बर्यो अद्भुत फरनि।
चलत पद-प्रतिबिम्ब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज-संपुट सुभग-छवि भरि लेति उर जनु धरनि।
सूर प्रभु की उर बसी किलकनि ललित लरखरनि॥[1]

शब्दों में वर्ण-मैत्री का रूप दृष्टव्य है। निकटवर्ती शब्दों का आकार समान है और वर्णों की मात्राएँ मिलती हैं जैसे—'हरि, 'छवि, 'और 'वरनि'। पद के तुक, आदि से अन्त तक मिलते हुए पद की स्वर-सम्पत्ति बढ़ा रहे हैं। **'सकल-सुख की सींव', 'कोटि-मनोज-सोभा'**, 'भुज-भुजंग', 'वदन-विधु', 'जित-लरनि', विवरनि-सलिल', 'उपमा अपर', 'दुरि-दुरनि', 'मंजु-मेचक', 'मृदुल-तनु अनुहरत', 'भूषन-भरनि', 'पद-प्रतिबिम्ब, 'मनि आँगनि-घुटुरवनि', 'जलज-संपुट-सुभग' और 'किलकनि, ललित-लरखरनि' में वर्ण-मैत्री के रूप मिलते हैं। सम्पूर्ण पद में सारे वर्ण मधुर हैं केवल तीन शब्द—कोटि, घुटुरुवनि और संपुट में परुष वर्ण 'ट' आ गया है, किन्तु मधुर वर्णों के बीच इनके आ जाने से एक हल्का चटपटापन आ गया है। ये वर्ण रंग में पुट का काम कर रहे हैं। इस प्रकार की वर्ण-योजना वर्ण्य-वस्तु के अनुरूप है। अन्तिम शब्द-युग्म-'ललित-लरखरनि' की ध्वनि लड़खड़ाते हुए शिशु को प्रत्यक्ष कर देती है। पद अलंकार-विधान से उतना अलंकृत नहीं हो सका है जितना वर्ण-मैत्री से।

वर्णों की संगति—वर्ण-मैत्री का प्रसार वर्ण-संगति में होता है। वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति में भेद यह है कि वर्ण-मैत्री का सम्बन्ध केवल निकटस्थ शब्दों के वर्णों से होता है। पर वर्ण-संगति का सम्बन्ध पूरी पंक्ति या पद के वर्णों से होता है। वर्ण-संगति में विचारणीय बात यह होती है कि पंक्ति विशेष अथवा पद विशेष में किस प्रकार के वर्णों का प्रयोग है। कला पर विशेष दृष्टि रखने वाले कवि सम्पूर्ण पंक्ति में एक ही प्रकार के वर्णों का प्रयोग करते हैं। ऐसी अवस्था में वर्ण-योजना काव्य का प्रमुख अंग बन जाती है। इस वर्ण-व्यापार से पद-रचना भले ही विशेष अलंकृत हो जाय किन्तु अर्थ-सौरस्य जाता रहता है। सूरदास जी ने अलंकरण के लिए कलात्मक वर्ण-योजना नहीं की। उनका मुख्य उद्देश्य भाव-वैभव समृद्ध करना रहा है। सूरदास जी की कविता में सहजगुण की प्रधानता थी। सम्भवतः सूर होने के कारण उन्होंने अपनी पद-रचना में अधिक संशोधन और परिमार्जन नहीं किया। यही कारण है कि उनकी पद-रचना में वर्ण-योजना भावानुरूप तो है किन्तु वर्णों की संगति में वर्णों का निर्वाह नहीं है। कुछ पंक्तियाँ तो अवश्य ऐसी मिलती हैं जिनमें वर्णो की संगति एक प्रकार के वर्णों की है पर अधिकांश में मधुर वर्णों के साथ परुष और परुष वर्णों के साथ मधुर वर्ण भी मिलते गये हैं। परवर्ती रीतिकालीन कवियों—देव, बिहारी,

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०६।

मतिराम, पद्माकर और घनानंद आदि की वर्ण-योजना की कलात्मकता सूर में नहीं मिलती। इतना अवश्य है कि जिस कलात्मक वर्ण-योजना का आरम्भ सूर ने अपने पदों में अपने सहज-गुण के कारण किया था उसे ही रीतिकालीन कवियों ने विकसित किया और विशेष रूप से अलंकृत किया। फिर भी सूरसागर में अनेक उदाहरण वर्ण-संगति के मिल जाते हैं। जैसे—

नवल निकुंज नवल नवला मिलि, नवल निकेतन रुचिर बनाए।
बिलसत विपिन विलास विविध वर, वारिज वदन विकल सचुपाए।
लागत चन्द्र मयूख सुतिय तनु, लता भवनि रंध्रनि मन आए।
मनहुँ मदन वल्ली पर हिमकर, सींचत सुधा धार सत भाए।
सुनि-सुनि सुचित स्रवन जिय सुन्दरि, मौन किये मोदति मन लाए।
सूर सखी राधा-माधव मिलि, क्रीड़त रति-रतिपतिहिं लजाए।[1]

किन्तु ऐसे पद संख्या में बहुत अधिक नहीं हैं। अधिकांश पदों में मधुर और पुरुष वर्णों की झिलमिल मिलती जाती है। इतना अवश्य है कि सरस प्रसंगों में परुष वर्ण और ओज-प्रधान प्रसंगों में मधुर वर्ण अधिक नहीं है और पद की समवेत ध्वनि में इन वर्णों के कारण विशेष व्याघात नहीं उत्पन्न होता। जैसे—

दूध-दन्त दुति कहि न जात कछु अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हँसति दुरति प्रगटति मनु, घन में विज्जु छटाई।
खंडित वचन देत पूरन सुख, अलप-अलप जलपाई।
घुटुरनि चलत रेनु-तन-मंडित, सूरदास बलि जाई॥[2]

पद में मधुर वर्णों का ही बाहुल्य है किन्तु 'विज्जु', 'खंडित', 'घुटरुनि', 'मंडित' जैसे शब्द भी हैं जिनके बीच-बीच में परुष वर्ण भी गुथे हैं।

इसी प्रकार—

मेरे माई स्याम मनोहर जीवन।
निरखि नैन भूले जु वदन-छवि, मधुर हँसनि पय-पीवन।
कुन्तल कुटिल, मकर कुंडल, भ्रुव नैन-विलोकनि बंक।
सुधा-सिंधु तें निकसि नयौ ससि, राजतमनु मृग-अंक।
सोभित सुमन मयूर-चन्द्रिका, नील नलिन तनु स्याम।
मनहुँ नछत्र-समेत इन्द्र-धनु सुभग मेघ अभिराम।
परम कुसल कोविद लीला नट, मुसकनि मन हरि लेत।
कृपा-कटाच्छ कमल-कर फेरत, सूर जननि सुख देत॥[3]

पद में मधुर वर्णों का सुन्दर चयन है तथापि कवि ने 'कुटिल', 'कुंडल', 'भुव', 'नट', 'कटाच्छ' जैसे परुष वर्ण युक्त शब्दों से बचने का भी कोई प्रयास नहीं किया है। प्रायः प्रत्येक स्थल पर मधुर वर्णों के बीच दो-एक परुष वर्ण मिल ही जाते हैं। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६८७।
२. वही १०८।
३. वही १५४।

देखि री नवल नन्द-किसोर।
लकुट सौं लपटाइ ठाढ़े, जुवति-जन-मन चोर।
चारु लोचन, हँसि विलोकनि, देखि कै चित-मोर।
मोहिनी-मोहन लगावत, लटकि मुकुट-झकोर।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि परुष वर्ण पद-गत माधुर्य को खंडित किये बिना नहीं रहते। कहीं-कहीं एक वर्ण ही बड़ा कर्ण-कटु लगता है जैसे—

उपमा एक अनूपम राजति, कुंचित अलक मनोहर भारे।
बिडरत विझुकि जानि रथ तें मृग, जनु ससंकि ससि लंगर डारे।[2]

में 'ड' और 'झु' वर्ण बड़े अप्रिय हैं किन्तु सूरदास जी स्थल विशेष पर उनके अर्थ-विशेष के कारण इन्हें छोड़ नहीं सके हैं।

जिस प्रकार सरस प्रसंगों में परुष वर्ण मिल जाते हैं उसी प्रकार ओज-प्रधान प्रसंगों में मधुर वर्णों का प्रयोग भी सूरदास जी ने किया है। जैसे—

(गगन) मेघ घहरात थहरात गाता
चपला चमचमाति, चमकि नभ भहरात, राखिलै क्यों न ब्रज नन्द-ताता।
सुनत करुना बैन, उठे हरि पल ऐन, नैन की सैन गिरि-तन निहार्यौ।
सबनि धीरज दियौ, उचकि मन्दर लियौ, कह्यौ गिरिराज तुमको उबार्यौ।[3]

यद्यपि प्रसंग भयानक-रस का है तथापि वर्ण-योजना में परुष वर्ण-योजना न होकर मधुर वर्णों का बाहुल्य है।

माधुर्य, प्रसाद और ओज गुणों का घनिष्ट सम्बन्ध वर्ण-योजना से है। सूर-सागर के कला-गीतों में तीनों प्रकार के प्रसंग तथा उनमें वर्ण-योजना का वैभव देखने को मिलता है। संक्षेप में इन पर दृष्टि डालना समीचीन होगा।

माधुर्य गुण—सूर ने कृष्ण के रस-रूप को ही अधिक अपने सम्मुख रखा है। इसलिए उनके अधिकांश प्रसंग सरस हैं। इन सभी में उनकी मधुर वर्ण-योजना ही मिलती है। कृष्ण-बाल-छवि वर्णन, रास-लीला, जल-विहार, सुख-विलास, मान-लीला, मुरली-लीला, नैन समय तथा आँख समय के पदों और भ्रमरगीत में मधुर वर्ण-योजना का सौंदर्य विशेष दिखाई पड़ता है। प्रतीत होता है सरस-प्रसंगों में कवि की कल्पना सहसमुखी होकर कला की निकाई में रत हो जाती है। जिस प्रकार कवि नई-नई कल्पनाएँ और उपमाएँ जुटाता है उसी प्रकार अपने शब्द-चित्रों को मधुर वर्णों की चाशनी में रसमय भी करता है। जैसे—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई ?
खेलत कुँवर कनक-आँगन में, नैन निरखि छवि पाई।
कुलही लसति स्याम सुन्दर कौं, बहु विधि सुरंग बनाई।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७९९।
२. वही १७९७।
३. वही ८७०।

मानौ नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ।
अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई ।
मानो प्रकट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई ।।[1]

अनुनासिक ध्वनियों की प्रधानता प्रसाद गुण उत्पन्न कर रही है । माधुर्य के लिए ही कवि ने 'वरणों' को 'वरनौं' और 'श्याम' को 'स्याम' किया है । 'कनक-आँगन' का अर्थगत सौंदर्य जो है वह तो है ही वर्ण-ध्वनि भी कम सरस नहीं है। इसी प्रकार 'कुलही' के तीनों वर्ण 'लसित' के साथ अनुपम मार्दव उत्पन्न करते हैं। इस पद भर में केवल एक ही वर्ण 'ढ़' परुष है और वही इन मधुर वर्णों के स्निग्ध-चावल में कंकड़ी की भाँति स्वाद किरकिरा करने वाला है। पद के अन्य सभी वर्ण माधुर्य से युक्त हैं। संयोग शृंगार के पद भी इसी प्रकार प्रसाद गुण-युक्त वर्ण-योजना के नमूने हैं। जैसे—

देखि री हरि के चंचल नैन ।
खंजन, मीन, मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन ।
राजिवदल, इंदीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसित, ये विकसित दिनराति ।
अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति, कौ बरनै उपमाइ ।
मनु सुरसति गंगा जमुना मिलि, आस्रम कीन्हौ आइ ।
अवलोकनि जलधार तेज अति, तहाँ न मन ठहराइ ।
सूर स्याम लोचन अपार छवि, उपमा सुनि सरसाइ ।।[2]

इस पद में 'पटतर' के 'ट' को छोड़कर शेष सभी वर्ण मधुर हैं। वर्ण-मैत्री और अनुप्रास आदि से भी सजकर वर्णों की कान्ति चतुर्गुण हो गयी है। पद सूर के कला-गीत का उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ हम इसमें केवल वर्ण-माधुर्य देख रहे हैं और उस दृष्टि से भी पद उत्तम है ।

वियोग-शृंगार के पदो में भी इसी प्रकार के मधुर वर्णों की अवली मिलती है। गोपियों के अन्तरतम में विरह-चिनगी जल रही है, उससे उनका हृदय करुण-क्रन्दन करता है। उनकी शब्दावली में परुषता नहीं है। हृदय का क्षोभ भी वे व्यंग से प्रस्तुत करती हैं। उसमें भी तीखापन ऊपर से नहीं होता। इससे एक तो उनकी उक्तियाँ अधिक मार्मिक बनती हैं दूसरे ललित वर्णों की मिठास में मिलन की ललक और विरह की कसक झलकती दिखाई पड़ती है—

नहीं हम निरगुन सौं पहिचानि ।
मन-मनसा रस रूप सिन्धु में, रहीं अपनपौ सानि ।
जदपि आनि उपदेसत ऊधौ, पूरन ज्ञान बखानि ।
चित चुभि रही मदनमोहन की, चितवनि मृदु मुसकानि ।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०८ ।
२. वही १८१३ ।

जुरयौ सनेह नंदनंदन सौं, तजि परिमित कुलकानि ।
छूटत नहीं सहज सूरज प्रभु, दुख-सुख लाभ कि हानि ।।[1]

पद में सभी मधुर वर्ण ही हैं, केवल एक 'ट' 'छूटत' में जाता है जो कि अपनी परुषता को खोये हुए-सा है। कवि ने 'निर्गुण' और 'पूर्ण' जैसे शब्दों को 'निरगुन' और 'पूरन' बनाकर उसकी मिठास को बढ़ाया है। इस मिठास के कारण पद का अर्थ-सौरस्य बहुत बढ़ गया है। 'मन-मनसा रस रूप सिन्धु में, रहीं अपनपौ सानि' में मधुर ध्वनि गोपियों के प्रेमानन्द से साम्य उत्पन्न करती है। 'चित-चुभि रही' में मधुर वर्ण-मैत्री चुभने की क्रिया को संवेदनात्मक अनुभूति देती है। 'चितवनि मृदु मुसुकानि' की अपनी मिठास अतीत की मधुर स्मृति को जगाती प्रतीत होती है। भ्रमरगीत के अधिकांश पदों में माधुर्य गुण-सम्पन्न वर्ण-योजना मिलती है। यही कारण है कि भ्रमरगीत के पद सबसे अधिक मार्मिक है।

प्रसाद-गुण—जिस प्रकार माधुर्य गुण-प्रधान वर्ण सूर के शृङ्गार रस में सरसता की अभिवृद्धि करते हैं उसी प्रकार वात्सल्य रस-प्रधान कला गीतों में प्रसाद गुण-प्रधान वर्ण-योजना भावानुरूपता लाती है। श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति करानेवाले सरल और सुबोध शब्द प्रसाद गुण के अन्तर्गत माने जाते हैं। वर्ण-योजना की दृष्टि से सरल, समास-रहित, ऋजु वर्णमाला प्रसादत्व को देनेवाली होती है। प्रसाद गुण-युक्त पदावली के वर्णों में न तो माधुर्य गुण की चिकनाहट होती है और न परुष-वर्णों का खुरदरापन। उसमें तत्सम की अपेक्षा तद्भव की ओर झुकाव अधिक होता है। परिणाम यह होता है कि वर्ण अधिक स्वाभाविक होते हैं। वात्सल्य रस में शिशु तथा मातृ-हृदय का अकृत्रिम रूप प्रस्तुत करना होता है, इसीलिए प्रसाद-गुण पूर्ण वर्ण-योजना उसके लिए अधिक अनुकूल पड़ती है। सूरदास जी ने सर्वत्र भावानुरूप शब्दावली के निर्माण पर दृष्टि रखी है। वात्सल्य-रस वाले पदों में वर्णों में सहजता का आविर्भाव करने के लिए उन्होंने प्रसाद-गुण वाले वर्णों के चयन का ही ध्यान रखा है। बाल-वर्णन में इसीलिए बोली के शब्द अधिक हैं। भाषा में संस्कार और परिमार्जन रखने का ध्येय रखते हुए भी उन्होंने शब्दों के सरल और स्वाभाविक रूपों को अधिक महत्त्व दिया है। जैसे—

कन्हैया हालरु रे ।
गढि गुढि ल्यायौ बाढई धरनी पर डोलाइ बलि हालरु रे ।
इक लख माँगे बाढई दुइ लख नंद जु देहिं बलि हालरु रे ।
रतन जटित वर पालनौं रेसम लागी डोर, बलि हालरु रे ।
कबहुँक झूलै पालना, कबहुँ नंद की गोद, बलि हालरु रे ।
झूलैं, सखी झुलावहिं, सूरदास बलि जाइ, बलि हालरु रे ।[2]

वर्णों में संयुक्ताक्षर या समास का सर्वथा अभाव है। प्रत्येक शब्द में ऐसे वर्ण गुथे हैं

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८०६ ।
२. वही, ४७ ।

जो बोली के सहज रूप के अधिक निकट हैं। 'हालरु रे' का प्रत्येक वर्ण बोलचाल की भाषा की झलक रखता है। 'गढि गुढि', 'बाढई', 'डोलाइ', 'धरनी', 'इक', 'लख', 'दुइ', 'रतन', 'रेसम' शब्दों के वर्णों में सहजता भरी गई है। सूरदास जी ने शृङ्गार-वर्णन में तो वर्णों का संस्कार किया है किंतु बाल-वर्णन में उन्होंने जान-बूझकर 'बढई' से 'बाढई' और 'रत्न' से 'रतन' लिखा है। 'श' से 'स' 'ए' से 'इ' और 'त्न' से 'तन' करने से स्वाभाविकता आई है। कृष्ण की बाल-छवि वर्णन करने में—जैसा कि पीछे लिखा गया है—उन्होंने माधुर्य गुण का समावेश किया है, उसमें तत्सम शब्दावली का प्रयोग अधिक है किंतु बाल-क्रीड़ा वर्णन में वे प्रसाद-गुण पर आ गये हैं। उन्होंने प्रयत्न किया है कि जहाँ तक सम्भव हो वर्ण तत्समता को छोड़कर तद्भवता का पल्ला पकड़े। जैसे—

किलकत कान्ह घुटुरवनि आवत।
मनिमय-कनक नंद कैं आँगन, बिब पकरिबे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौ, करसौं पकरन धावत।
किलकि हँसत राजत द्वै दंतियाँ, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत।
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि वसुधा, कमल बैठकी साजति।
बाल-दसा सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अंचरा तर लै ढाँकि सूर के, प्रभु कों दूध पियावति।।[1]

पद में 'किलकति', 'कान्ह', 'घुटुरवनि', 'मनि', 'आँगन', 'पकरिबे', 'धावत', 'छाँह' 'पकरन', 'इक', अंचरा' आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि कवि ने जान-बूझकर शब्दों की तत्समता हटाकर बोल-चाल के सरल प्रयोगों से प्रसाद-गुण का आविर्भाव किया है। ऐसा करने से एक तो पद का माधुर्य बढ़ा है क्योंकि जो मिठास 'मनि', 'पकरन' या 'पकरिबे' में है वह इनके तत्सम रूप में नहीं मिल सकती। दूसरे इन शब्दों से बाल-सुलभ-चेष्टाओं का वर्णन अधिक सजीव हो उठा है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने प्रभु के सौंदर्य-रस में मग्न सूर उपमाएँ प्रस्तुत किये बिना नहीं रह सकते थे, फिर भी शब्दावली ऋजु है। वैसे साधारणतया जब भी सूर अप्रस्तुत योजना में प्रवृत्त होते हैं तो उनकी वाणी तत्समता की ओर झुकी होती है। बाल-वर्णन में सभी पद प्रसाद-गुण पूर्ण हैं। एक और उदाहरण है—

हरि अपने आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत।
बाँह उठाइ काजरी-धौरी, गैयनि टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर में आवत।
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में, लौनी लिए खवावत।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११०।

दुरि देखत जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत ।
सूर स्याम के बाल-चरित, नित नितही देखत भावत ।[1]

शब्दार्थ की जो सरलता है उसके सम्बन्ध में कहने की कोई आवश्यकता नहीं, वर्णों का चयन कितना स्वाभाविक है । किसी प्रकार के अलंकरण, वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगीत आदि की ओर कवि की दृष्टि नहीं है । यही प्रधान अन्तर सूर की माधुर्य और प्रसाद-गुण-युक्त वर्ण-योजना में हैं । माधुर्य में अलंकरण अधिक हैं, वर्ण-संगीत और कमनीयता के लिए शब्द-चयन में विशेष प्रयास दिखाई पड़ता है किन्तु प्रसाद-गुण में अलंकरण से बचकर सहज और ऋजु वर्ण-योजना में कवि का मन रमा है । बाल-कृष्ण की अन्य लीलाओं—क्रीड़ा, गोचारण आदि में प्रसाद-गुण का ही प्रयोग कवि ने किया है । एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा—

आँगन में हरि सोइ गये री ।
दोउ जननी मिलि कै हरुएँ करि, सेज सहित तब भवन लए री ।
नैकु नहीं घर में बैठत हैं, खेलहिं के अब रंग रए री ।
इहि विधि स्याम कबहुँ नहिं सोए बहुत नींद के बसहिं भए री ।
कहति रोहिनी सोवन देहु न, खेलत दौरत हारि गये री ।
सूरदास प्रभु को मुख निरखत, हरखत जिय नित नेह नए री ।[2]

बाल-लीला के बीच में ही कवि ने पूतना, कागासुर, तृणावर्त, बकासुर, अघासुर और काली-दमन आदि की कथाएँ प्रस्तुत की हैं । यद्यपि इन प्रसंगों में वातावरण भयानक और ओज-प्रधान हो सकता था तथापि सूरदास जी ने इन समस्त असुरों का निपात राह चलते ही कराया है । ये सब भी कृष्ण की बाल-क्रीड़ा के ही प्रकार बन कर आये हैं । असुर-निपात की सूचना मात्र ही सूरदास जी अन्य बाल-सखाओं या यशोदा आदि को तब देते हैं जब असुरों का नाश हो चुकता है और इसके पूर्व कि ब्रजवासी कृष्ण के इन अलौकिक कृत्यों पर विस्मित हों, कृष्ण अपनी बाल-लीला की प्रेम-ठगोरी उन पर आरोपित कर देते हैं और वातावरण पूर्ववत हो जाता है, बाल-लीला में व्याघात नहीं उत्पन्न हो पाता । इसीलिए भावानुरूप वर्ण-योजना के सिद्ध कवि सूरदास जी ने इन समस्त प्रसंगों में प्रसाद-गुण युक्त पदावली का ही प्रयोग किया है । उदाहरण के लिए बकासुर-वध का पद है—

वन वन फिरत चारत धेनु ।
स्याम हलधर संग-संग बहु, गोप-बालक-सेनु ।।

× × ×

बकासुर रचि रूप माया, रह्यौ छल करि आइ ।
चौंच इक पुहुमी लगाई, इक अकास समाइ ।।

× × ×

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७७ ।
२. वही २४७ ।

निदरि चले गोपाल आये, बकासुर के पास।
सखा सब मिलि कहन लागे, तुम न जिय की आस।
× × ×
सखा सब हरि टेरि लीन्हें, सबै आवहु धाय।
चोंच फारि बका संहारौं, तुमहु करहु सहाय।
निकट आये गोप बालक, देख हरि सुख पाये।
सूर प्रभु के चरित अगनित, नेति निगमन गाये।।[1]

स्पष्ट है पद का प्रत्येक वर्ण सरल और सुबोध है। असुर-निपात भी एक खेल ही था, बकासुर का भयंकर स्वरूप क्षण भर के लिये ही विस्मय की भावना ग्वाल-बालों में डाल पाता है। कृष्ण अपनी प्रेम-ठगोरी से ग्वाल-बालों को इस अलौकिक खेल के भी खिलाड़ी बना लेते हैं। इस प्रकार के खेल के प्रसंग में सूर ने ओज गुण-युक्त पदावली की आवश्यकता न समझी और प्रसाद गुण-युक्त ऋजु पदावली का ही प्रयोग किया।

तृष्णावर्त-वध तो वात्सल्य-रस-स्निग्ध अतीव सरस पदों के भीतर ही हो गया है। स्वाभाविक है कि उस पद की वर्ण-योजना मधुर एवं प्रसाद गुण-पूर्ण हो। पद है—

जसुमति मन अभिलाख करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै।
× × ×
इहि अंतर अंधवाइ उठ्यो इक, गरजत गगन सहित घहरै।
सूरदास ब्रज लोग सुनत धुनि, जो जहँ तहँ सब अतिहि डरै।।[2]

काली-दमन भयानक प्रसंग न बनकर सूर-सागर में कृष्ण-नृत्य का एक अनुपम स्थल बन गया है। नृत्य जैसे सरस प्रसंग में सूर की मनोवृत्ति सरस और मधुर वर्ण-योजना में ही निरत हो जाती है। जैसी कि रास-लीला प्रसंग में कवि ने कलात्मक वर्ण-योजना की है वैसी ही वर्ण-योजना इस प्रसंग के नृत्य में भी देखने को मिलती है—

फन-फन-प्रति निरतत नंद नंदन।
जल भीतर जुग जाम रहे कहुँ मिट्यो नहीं तन चंदन।
उहै काछनी कटि पीताम्बर, सीस मुकुट अति सोहत।
मानों गिरि पर मोर अनंदित, देखत ब्रज-जन मोहत।
अंबर थके, अमर ललना संग, जै-जै धुनि तिहुँ लोक।
सूर स्याम काली पर निरतत, आवत हैं ब्रज ओक।[3]

काली-नाग के फणों पर कृष्ण का नृत्य सूर के लिए आनन्द-नृत्य ही है, इसीलिए प्रथम पंक्ति में ही ता-थे-ई, ता-थे-ई की ध्वनि विराजमान है। पद का प्रत्येक वर्ण

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४१७।
२. वही ७६।
३. वही ५६५।

मधुर है, पद में प्रसाद गुण आद्योपान्त है। इस नृत्य को देखकर समस्त ब्रजवासी और देवतागण आनन्द लाभ करते हैं।

काली-दमन प्रसंग में केवल एक स्थल पर ओज प्राप्त होता है। जब कृष्ण काली के पास पहुँचते हैं और काली नाग की पत्नियाँ इनके सौंदर्य पर रीझती हैं और काली के जगने से पूर्व ही भाग जाने का अनुरोध करती हैं, तब कृष्ण में अमर्ष का आविर्भाव होता है। अमर्ष के चित्रण में सूर की वाणी ओज के रंग में ऊर्जस्वित हो जाती है—

झिरकि कै नारि, दै गारि गिरधारि तब, पूँछ पर लात दै अहि जगायौ।
उठ्यौ अकुलाइ, डर पाइ, खग-राइकौ, देखि बालक गरब अति बढ़ायौ।
पूँछ लीन्ही झटकि, धरनि सौं गहि पटकि, फुंकर्यौ लटकि करि क्रोध फूले।
पूँछ राखी चाँपि, रिसिनि काली काँपि, देखि सब साँपि अवसान भूले।
करत फन-घात, विष जात उतरात अति, नीर जरिजात, नहिं गात परसे।
सूर के स्याम, प्रभु, लोक-अभिराम, बिन जान अहिराज बिष ज्वाल बरसे।[1]

वर्ण-योजना नाग-लीला के अन्य पदों की अपेक्षा अधिक ऊर्जस्वित है। प्रत्येक चरण के पूर्वार्द्ध में अंत्यानुप्रास द्वारा पद-गत अमर्ष और क्रोध को उत्कर्ष प्रदान किया गया है। कवि ने पद में मारू राग, झूलना छन्द और ओज गुण-प्रधान शब्दावली तथा अमर्ष और क्रोध-भावों की सुन्दर संगति मिलाई है। फिर भी काली-दमन-लीला भी सूर की प्रज्ञा-चक्षुओं के समक्ष उनके लीलाधाम के क्रीड़ा-कौतुक-क्रम में ही हुई है, इसी लिए इस पद में आद्योपान्त ओज-गुण-युक्त वर्ण-योजना का वह परम्परागत रूप नहीं प्राप्त होता जो दावानल-पान या गोवर्धन धारण प्रसंगों में मिलता है।

ओज-गुण—दावानल और प्रलय-कालीन वृष्टि जो गोवर्धन-पूजा के पश्चात् ब्रज पर हुई, भयानक रस के उपयुक्त स्थल हैं। दोनों में ही सूर की वर्ण-योजना द्रष्टव्य है। इनके देखने से पता लगता है कि सूर की वीणा जितनी ही मधुर स्वरों की झंकार उत्पन्न कर सकती थी उतनी ही वह अवसर प्राप्त होने पर शिव-ताण्डव का स्वर भी प्रस्तुत करने में समर्थ थी और सूरदास जी ने जहाँ वात्सल्य और शृंगार रसों के चित्रण में अपनी अद्वितीयता दिखाई है वहाँ वे भयानक और वीर जैसे रसों को भी वैसी ही कुशलता के साथ प्रस्तुत कर सकते थे। दावानल प्रसंग का प्रसिद्ध पद है।

भहरात झहरात दवा (नल) आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर बन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस, जरि उड़त हैं भांस, अति प्रबल धायो।
झपटि झपटत-लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि द्रुम द्रुम नवायौ।
अति अगिन झार, भंभार, धुंधार, करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत वन पात, भहरात, झहरात, अररात, तरु महा धरनी गिरायौ।[2]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५५२।
२. वही ५६६।

पद में बाहुल्य है झ, ह, र, भ (दग्धाक्षरों) और ट वर्णों का। प्रत्येक शब्द में कर्कशता की प्रधानता है। कोमल ध्वनियाँ भी कर्कश हो उठी हैं–"चहुँ ओर, करि सोर अंदोर वन" में कोई परुष वर्ण नहीं है तथापि इनकी ध्वनि भी प्रलयकालीन आँधी की भयानक ध्वनि के सदृश कठोर है। अनुस्वार का प्रयोग मधुर स्वरों में होता है किन्तु सूर ने परुष वर्णों के योग से अनुस्वार को भी परुषता की वृद्धि के लिए उपयोग किया है—"भंभार, धुंधार, अंगार, झंझार" के अनुस्वार ताण्डवानुरूप स्वर उत्पन्न कर रहे हैं। इसी प्रकार 'ल, त' और 'प' जैसे कोमल वर्ण 'झ, फ, और ट' की ऐसी लपेट में रखे गये हैं कि अपने स्वर के ठीक विपरीत कर्कशता की वृद्धि में चमत्कार दिखा रहे हैं। 'म' और 'न' जैसे मधुर वर्ण संयुक्त 'र' के कारण "द्रुम-द्रुम नवायो" में ओज को उत्कर्ष देने वाले बने हुए हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सूर की यह चमत्कारिक वर्ण-योजना अनुप्रास आदि के कर्ण-सुख के प्रयोजन से नहीं है वह तो पद-विषयक भाव को मूर्तिमान करने में समर्थ है। एक-एक वर्ण, उसका तुक और स्वर, दावानल के स्वरूप, उसकी गति, उसकी आवाज और क्रिया को चित्रवत् प्रस्तुत कर रहे हैं। "भहरात, झहरात" में वृक्षों के एकाएक गिरने और विध्वंस करती हुई प्रचंड अग्नि की झरझराहट सुनाई पड़ती है। "चहुँ ओर सोर" और "अंदोर" में शोर-गुल की भय मिश्रित "हो···" ध्वनि प्रतीत होती है। "वरत" और "थरहरत" में ऊपर की ओर लपलपाती ज्वाला, "झपटि झपटत झपटि" में लपटों की पटापट, "फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि" में आग लगने पर बेल, नारियल जैसे फलों का फूटना, बाँस आदि की चटाचट, "झार, भंभार, धुंधार और झंझार" में अग्नि की धुंधकार स्पष्ट ध्वनित हैं। "भहरात, झहरात और अररात" में बड़े-बड़े पेड़ों के गिरने की आवाज आती है। इस प्रकार सूर की वर्ण-योजना भूषण आदि कवियों की अलंकृत शब्दावली मात्र का काम नहीं करती है; उसमें अर्थ-ध्वनन के विशेष गुण के कारण वर्ण्य-वस्तु के संश्लिष्ट चित्रांकन का गुण विद्यमान है।

गोवर्धन-लीला में सूर के ओज-प्रधान वर्ण-योजना का चमत्कारिक रूप अधिक कलात्मक है। जल-वृष्टि का साक्षात् चित्र कवि ने अपनी वर्ण-योजना के वैलक्षण्य से प्रस्तुत किया है—

बरसत मेघवर्त धरनी पर
मूसलधार सलिल बरसत हैं, बूँद न आवत भू पर ॥
चपला चमकि-चमकि चकचौंधति करति शब्द आघात ।
अन्धाधुन्ध पवन वर्तक घन, करत फिरत उत्पात ॥[1]

"चपला चमकि-चमकि चकचौंधति" में बिजली के बार-बार चमकने और चकाचौंध उत्पन्न करने का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। "आघात" की आवाज बिजली की चमक के बाद ही बादल के गंभीर गर्जन में मिल जाती है। "अन्धाधुन्ध पवनवर्तक" और "करत फिरत उत्पात" में आँधी और तूफान के अंधड़ और तूफान के भाव प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८७७।

अन्य पदों में भी प्रचंड आंधी का इन्हीं शब्दों में वर्णन है—

> अंधाधुंध अंबर तें गिरि पर परत वज्र के तीर।
> चमकि-चमकि चपला चकचौंधति स्याम कहत मन धीर ॥[1]

तथा—

> (गगन) मेघ घहरात घहरात गाता।
> चपला चमचमाति चमकि नभ भहरात-राखि लें क्यों न ब्रज-नंद-ताता।[2]
> धार अखंडित बरसत झर झर। कहत मेघ धोवहु ब्रज गिरिवर ॥
> सलिल प्रलय कौं टूटत तर-तर। बाजत सबद नीर कौ घर-घर ॥
> वै जानत जलजात है दर-दर। बरषत कहत गयौ गिरि कौजर ॥
> सूरदास प्रभु कान्ह गर्व हर। बीचहिं जरत जात जल अंबर ॥[3]

सारांश यह कि सूर के काव्य-शिल्प के आधार शब्द और अर्थ मात्र नहीं थे। सूक्ष्म भावों को स्थूल रूप देने के लिए उनकी कल्पना संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करती थी। चित्रण में सशक्त अर्थ भरे शब्द ही अपनी करामात नहीं दिखाते वरन् जिन वर्णों के योग से सूरदास जी शब्दों की रचना करते थे वे स्वयं कवि के हृदयस्थित चित्र को अपनी ध्वनि मात्र से ही साकार कर देने की क्षमता रखते थे। सूरदास जी काव्यशास्त्रीय परम्परागत वर्ण-विधान के वैलक्षण्य से भी पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने शास्त्रीय परम्परा से भी लाभ उठाया है किन्तु शास्त्रीय विधि-विधान की परिधि के भीतर ही रहना सूर की प्रकृति के विरुद्ध था। इसीलिए उन्होंने यत्र-तत्र अपने स्वातन्त्र्य का भी प्रयोग किया है। इतना अवश्य है कि उनकी स्वच्छन्दता, भाव-धारा की हानि नहीं करती, वह तो उसमें सौंदर्य की वृद्धि ही करती है—मधुर वर्णों के साथ "टकार" का योग उन्होंने किया है किन्तु जैसा पीछे स्पष्ट किया गया है यह मिश्रण पद-गत भाव के सौंदर्य और माधुर्य को द्विगुण ही करता है। यही कारण है कि सूर की वर्ण-योजना जितनी ही कलात्मक और चमत्कारिक है, उतनी भावानुरूप है।

शब्द-शक्ति—शब्द की शक्ति उसका अर्थ है। अर्थ प्रत्येक शब्द में अनिवार्य रूप से होता है किन्तु कथन की शैली के प्रभाव से शब्द में निहित अर्थ तीन प्रकार का हो जाता है। जब सहज रूप में बिना किसी घुमाव-फिराव या बढ़ाव के प्रसिद्ध अर्थ उपस्थित होता है तब वाच्यार्थ होता है और शक्ति अभिधा मानी जाती है; जब थोड़े मोड़-तोड़ से कोई विशेष अर्थ, चित्र या अलंकृत रूप प्रस्तुत होता है तो लक्ष्यार्थ होता है, शक्ति लक्षणा मानी जाती है और जब बात को घुमा-फिराकर वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न कोई विशिष्ट अर्थ प्रस्तुत होता है तो व्यंग्यार्थ होता है और शक्ति व्यंजना मानी जाती है। कवि-कर्म में तीनों शक्तियों का अपना-अपना महत्त्व है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८७४।
२. वही ८७०।
३. वही ९३९।

अभिधा साधारणतया चमत्कारवादियों को प्रिय नहीं होती। उसमें वक्रता का अवकाश नहीं होता, उसकी पहुँच सीधी होती है, बुद्धि-वैभव का सहारा लिये बिना ही वह सीधे हृदय तक पहुँच जाती है। लक्षणा और व्यंजना की भाँति बुद्धि का माध्यम उसे वांछनीय नहीं है। अभिधा का यह ऋजु मार्ग चित्त को प्रभावित करने का अनूठा ढंग है। भावों की सीधी अभिव्यक्ति इसमें होती है और यह रसवाद के अधिक निकट जा पहुँचता है। हृदय के मर्म को स्पर्श करने की शक्ति इसमें अनुपम होती है। बिना किसी अलंकरण और अतिशयता के इस प्रकार का स्वाभाविक वर्णन सहृदय का मन-रंजन बिना किसी प्रयास के करने लगता है। इसमें स्वभावोक्ति का चमत्कार होता है। सूर जैसा रसवादी कवि इसीलिए अभिधा को भी अपनी कला का प्रसाधन बनाता है। लक्षणा में कल्पना का साहाय्य अधिक होता है। कवि अपने शब्दों में न केवल उसका प्रसिद्धार्थ देता है वरन् वह किसी क्रिया, चित्र या भाव का विम्बग्रहण उसी में करा देना चाहता है। कवि-कर्म इस प्रकार के शब्द-प्रयोगों की विलक्षणता में देखने को मिलता है। यह वैलक्षण्य न केवल कला का चमत्कार उत्पन्न करता है वरन् सहृदय के मनोवेगों को जागरित करने में तीव्रता लाता है। इसीलिये सूर के शब्दों में लक्षणा-शक्ति का भी वैभव मिलता है। व्यंजना का मूल अर्थगत वक्रता है। कुंतक जैसे आचार्यों ने तो वक्रता के बिना काव्य ही नहीं माना था। सूर वक्रता के प्रभाव को समझते थे, इसीलिए उन्होंने सरस प्रसंगों में तो वक्रोक्ति को अपनी कला का माध्यम बनाया ही, इसके अतिरिक्त वक्रता की सीमा को और आगे बढ़ा करके दृष्टकूटों तक ले गये। अब हम तीनों शक्तियों का सूक्ष्म दिग्दर्शन सूर के पदों में कराएँगे।

अभिधा-शक्ति—सूरदास जी ने सूरसागर के लीला-वर्णनों और सारावली में प्रायः अभिधा-शक्ति का ही उपयोग किया है। सारावली में भागवत का सार तथा सिद्धान्त-निरूपण सूरदास जी का लक्ष्य था, अतएव उसमें उन्होंने अभिधा द्वारा ही तथ्य-कथन प्रस्तुत किया है। सूरसागर में अधिकांश लीला-वर्णन हैं, लीलाओं के बीच-बीच में कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं से काव्योपयुक्त सुन्दर कल्पनाएँ कर डाली हैं—जैसे मुरली-प्रसंग—जिसमें गोपियों और मुरली के बीच का बड़ा मनोरंजक संवाद है, अथवा भ्रमरगीत-प्रसंग आदि। इन सरस प्रसंगों में कवि ने लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से विशेष काम लिया है। साधारण वर्णनों में अभिधा ही प्रयुक्त है। इस प्रकार अभिधा-शक्ति का ही सर्वाधिक प्रयोग सूर-काव्य में मिलता है। अभिधा-शक्ति काव्य में चमत्कार का सृजन नहीं करती, इसीलिए वैचित्र्य में आस्था रखने वाले कवि इसमें रुचि नहीं रखते। किन्तु जैसा पीछे लिखा जा चुका है अभिधा स्वभावोक्ति का आश्रय लेती है और स्वभावोक्ति रसोद्रेक का सरलतम साधन है, इसीलिए रसवादी सूर ने अधिकांश स्थलों पर अभिधा का ही प्रयोग किया।

अभिधात्मक वर्णन नीरस भी हो जाते हैं और सरस भी। जब कवि कोरा विवरण देता है, कथा कहता जाता है तो उसमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नहीं होती किन्तु जब वह कथा का विवरण न देकर सीधे शब्दों से मर्मस्थल को स्पर्श कर देता है तो सुप्त भाव सहसा जाग्रत हो जाते हैं। सूर ने वर्णनात्मक पदों में अभिधा

का वर्णनात्मक रूप भी प्रस्तुत किया है और मर्मस्पर्शी रूप भी। बारहों स्कन्धों में जो छन्दात्मक पद मिलते हैं उनमें प्रथम रूप है। कवि लीलाओं की कथा गाता चला जाता है। जैसे—

व्यास कह्यौ जो सुक सों गाइ। कहौं सो संत सुनौ चित लाइ॥
व्यास पुत्र हित बहु तप कियौ। तब नारायन यह वर दियौ॥
ह्वै है पुत्र भक्त अति ज्ञानी। जाकी जग में चले कहानी॥
यह वर दै हरि कियौ उपाइ। नारद मुनि संसय उपजाइ॥[१]

अथवा लम्बे वर्णनों का सीधा वर्णन जैसे—

भोजन भयौ भावते मोहन। तातौइ जेंइ जाहु गो-दोहन॥
खीर-खांड खीचरी सँवारी। मधुर महेरी गोपनि प्यारी॥
राइभोग लियौ भात पसाई। मूँग ढरहरी हींग लगाई॥
सद माखन तुलसी दै तायौ। फिरत सुबास कचौरा नायौ॥
पापर बरी अचार परम सुचि। अदरख अरु निबुअनि ह्वै है रुचि॥[२]

अभिधा का रसात्मक रूप लीला के सरस वर्णनों में प्राप्त होता है। सीधे शब्दों में प्रस्तुत किया हुआ वर्णन सजीव हो उठता है, सहज ही द्रवीभूत भाव रसोर्मियों में प्रवाहित दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए कृष्ण-जन्म के उपरान्त का आनन्द-वर्णन है—

आनंदित ग्वाल बाल, करत विनोद ख्याल, भुज भरि-भरि धरि अंकम महर के।
आनन्द मगन धेनु, स्रवें थनु पय-फेनु, उमग्यौ जमुन-जल उछलि लहर के।
अंकुरित तरु-पात, उकठि रहे जे गात, वनवेली प्रफुलित कलिनि कहर के।
आनंदित विप्र, सूत मागध, जाचक गन, उमंगि असीस देत सब हित हरि के।[3]

ब्रज के समग्र वातावरण में कृष्ण-जन्म के उपरान्त जो सुख-सागर उमड़ा उसका प्रत्यक्ष चित्र कवि अभिधा द्वारा ही प्रस्तुत करता है। सूरदास जी सहृदय की आनन्दात्मक अभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं—

आज गृह नंद महर के बधाइ
प्रात समय मोहन मुख निरखत कोटि चन्द-छवि पाइ।
मिलि ब्रज नागरि मंगल गावति नंद भवन में आइ।
देति असीस जियौ जसुदा-सुत कोटिन बरस कन्हाइ।
अति आनंद बढ्यौ गोकुल में उपमा कही न जाइ।
सूरदास धनि नंद की घरनी देखत नैन सिराइ।[४]

बाल-छवि-वर्णन में अवश्य ही सूरदास जी अप्रस्तुत योजना में लग्न होने के

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २२६।
२. वही, १२१३।
३. वही, ३०।
४. वही, ३३।

कारण अभिधा से परे हो जाते हैं अन्यथा क्रीड़न, गोचारण आदि सभी बाल-लीलाओं में कवि ने जो वर्णन प्रस्तुत किये हैं उनमें अभिधा का प्रयोग अधिक है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इन वर्णनों में लक्षणा या व्यंजना का अभाव है, जो रसवत्ता इन बाल-वर्णनों में मिलती है उसका रहस्य उनकी परोक्ष ध्वनि ही है। इतना अवश्य है कि कवि ने इन वर्णनों में अधिक बल शब्द की अभिधा-शक्ति पर दिया है।

माखन-चोरी-प्रसंग में भी अभिधा के द्वारा ही वर्णन किये गये हैं। कृष्ण का ईश्वरत्व भी कवि सीधे शब्दों में ही प्रकट करता है। माखन-चोरी के प्रथम पद में ही लीला का रहस्य खोल दिया गया कि गोपियों की अभिलाषा थी कि कृष्ण उनके घर माखन चोरी करें और वे उसका सुख लूटें। अन्तर्यामी प्रभु ने इसे जान लिया और वैसा ही किया। प्रसंग इस प्रकार है कि कृष्ण अपनी माता यशोदा से कह रहे थे कि उन्हें मेवा पकवान नहीं रुचता, उन्हें माखन चाहिए। एक ब्रज-युवती इस बात पर अभिलाषा[1] करने लगी कि क्या कभी कृष्ण मेरे घर माखन चोरी करेंगे और मैं छिपकर देखूंगी। अन्तर्यामी हरि ने इसे जान लिया और उसके घर चोरी करके उसे कृतार्थ किया।[2] स्पष्ट शब्दों में प्रभु की माखन-चोरी का मर्म सूर इस प्रकार देते हैं—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रजखोरी।
मन में यहै विचार करत हरि ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन सबकैं माखन खाउँ।
बाल-रूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज-लोग ॥[3]

---

१. मैया री मोहि माखन भावै।
जो मेवा पकवान कहति तू मोहि नहीं रुचि आवै।
ब्रज जुवती इक पाछें ठाढ़ी, सुनत स्याम की बात।
मन-मन कहति कबहुँ अपनैं घर देखौं माखन खात।
बैठे जाइ मथनिया के ढिंग मैं तब रहौं छपानी।
सूरदास प्रभु अन्तरजामी, ग्वालिन मन की जानी ॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६४

२. गये श्याम तिहिं ग्वालिनि के घर।
देख्यौ द्वार नहीं कोऊ, इत उत चितै चले तब भीतर।
हरिआवत गोपी जब जान्यौ आपुन रही छपाई।
सूने सदन मथनिया के ढिंग बैठि रहे अरगाइ।
माखन भरी कमोरी देखत लै-लै लागे खान ॥
× × ×
सूरदास प्रभु निरखि ग्वालि-मुख तब भजि चले मुरारि ॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६५

३. सूरगसार (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६८।

जमलार्जुन-उद्धार में भी सूरदास जी कोई रहस्य छिपा नहीं रखते पहले ही उसका तथ्य बता देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुन के तन।
अबही आजु इन्हें उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन।
इनही के हित भुजा बँधाई, अब विलम्ब नहिं ल्याऊँ।
परस करौ तन, तरहिं गिराऊँ, मुनिवर साप मिटाऊँ।
ये सुकुमार बहुत दुख पायौ, सुत कुबेर के तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन यह बन्धन निरवारौं।[1]

बकासुर, अघासुर आदि के वध, काली-नाग-लीला, गोवर्धन-लीला, दावानल-पान-लीला आदि सभी हरि-लीला के वर्णन सरल और सीधे शब्दों में हैं। यद्यपि अनेक विद्वान श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं को प्रतीक रूप में मानते हैं तथापि अवतारवाद में आस्था रखने वाले सूर-द्वारा वर्णित लीलाओं के रहस्यात्मक रूप की कल्पना आवश्यक नहीं है। जहाँ-जहाँ सूर ने प्रभु का ईश्वरत्व दिखाना चाहा अभिधा से ही कह दिया है। जैसे—दावानल पान के उपरान्त सूर कहते हैं—

जाकें सदा सहाइ कन्हाई। ताहि कहौं काकौ डर भाई॥
बन घर जहाँ तहाँ संग डोलैं। खेलत खात सबनि सौं बोलैं॥
जाकौ ध्यान न पावैं जोगी। सो ब्रज में माखन कौ भोगी॥
जाकी माया त्रिभुवन छावै। सो जसुमति के प्रेम बँधावै॥
मुनिजन जाकौं ध्यान न पावैं। ब्रज जन लै-लै नाम बुलावैं॥
सूर ताहि सुर अम्बर देखैं। जीवन जन्म सुफल करि लेखैं॥[2]

प्रभु की अलौकिक और विस्मयकारी लीलाओं का तथ्य-निरूपण सीधे शब्दों में करने के साथ ही कृष्ण की ब्रज-लीला को स्वाभाविक बनाने के लिए विस्मय की अवस्था को भी अधिक देर तक वे टिकने नहीं देते। ऐसा करने के लिए भी सूर ने न तो वचन-वक्रता का आश्रय लिया है और न रूपकत्व या प्रतीक योजना का। उन्होंने तो स्वभावोक्ति से ही कृष्ण की प्रेम-ठगोरी ब्रजवासियों की चेतना पर डलवा दी। जैसे—

चकित देखि यह कहैं नर-नारी।
धरनि अकास बराबरि ज्वाला, झपटति लपट करारी।
नहिं बरण्यौ, नहिं छिरक्यौ काहू, कहँ धौं गई बिलाइ।
अति आघात करति बन भीतर, कैसें गई बुझाइ।
तृन की आगि बरत ही बुझि गई हँसि-हँसि कहत गुपाल।
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह, ऐसे प्रभु के ख्याल॥[3]

स्पष्ट है कि क्षण मात्र के आँख मूँदने में ही दावाग्नि को बुझी देखकर गोप आश्चर्य

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८२।
२. वही, ५९६।
३. वही, ५९८।

में पड़ गये किन्तु उनके इस महान् आश्चर्य को दूर करवाने के लिए कवि कृष्ण के द्वारा अतीव सीधी-सी बात करवाता है कि तृण की आग थी, जलते ही स्वतः बुझ गई। इस स्वभावोक्ति में सभी प्रकार की वक्रोक्तियों और अतिशयोक्तियों से अधिक सौंदर्य है। इस कथन से न केवल ब्रज-गोपों में आनन्दानुभूति हुई होगी वरन् सहृदय भी इस वाक्य को सुनकर रस-मग्न हो जाता है।

कृष्ण की प्रेम-लीलाओं—चीरहरण-लीला, रास-लीला, दान-लीला, मान-लीला, वृन्दावन-विहार आदि में आध्यात्म पक्ष देखा गया है। किन्तु सूर ने इन लीलाओं में भी रहस्य का कोई अवकाश नहीं छोड़ा है। सच तो यह है कि अपनी भक्ति की तन्मयता में मग्न होकर उन्होंने उसमें अभिधा का प्रसार इतना अधिक कर दिया कि उनका वर्णन मर्यादा का अतिक्रमण करके अश्लीलता को स्पर्श करने लगा है। चीर-हरण लीला में पहले वे गोपियों के भाव को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

अति तप करति गोप कुमारि।
कृष्न पति हम तुरत पावैं, काम-आतुर नारि।
नैन मूँदति दरस-कारन स्रवन सब्द विचारि।
भुजा जोरति अंक भरि हरि ध्यान उर अंकवारि।
सरद-ग्रीषम डरति नाहीं, करति तप तनु गारि।
सूर-प्रभु सर्वज्ञ स्वामी, देखि रीझै भारि॥[1]

इसके पश्चात् वे भगवान कृष्ण का इस सम्बन्ध में विचार देते हैं कि—

कैसे हूँ मोंहि भजै कोऊ, मोंहि बिरद की लाज।
धन्य ब्रत इन कियौ पूरन, सीत तपति निवारि।
काम-आतुर भजीं मोकौं, नवतरुनि ब्रज-नारि॥
कृपानाथ कृपाल भए तब, जाति जन की पीर।
सूर-प्रभु अनुमान कीन्हौं, हरौं इनके चीर॥[2]

कृष्ण ने चीर-हरण किया, गोपियों के 'लाज-ओट' को दूर किया। भक्ति-भाव-आपूरित सूर अभिधा द्वारा ही सम्पूर्ण वर्णन करते हैं, कहीं भी संकेत या अलंकरण आदि से सन्तोष नहीं करते।

रास-लीला चीर-हरण-लीला का परिणाम है क्योंकि चीर-हरण के उपरान्त ही भगवान ने गोपियों को वचन दिया था कि रास-लीला में तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करूँगा।[3] इसीलिए रास-लीला में भी सूर ने अभिधा से ही इस तथ्य का कथन किया—

साध नहीं जुवतिन मन राखी।
मन वांछित सबहिनि फल पायौ, वेद उपनिषद साखी॥

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७८१।

२. वही, ७८३।

३. **सरद-रास तुम आस पुराऊँ। अंकम भरि सबकौं उर लाऊँ॥**
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७९७।

भुज भरि मिले कठिन कुच चांपे, अधर सुधारस चाखी ।
हाव-भाव-नैननि-सैननि दै, बचन-रचन मुख भाषी ।।[1]

सुख विलास, यमुना-जल-विहार, युगल-समागम, खंडिता-प्रकरण तथा राधा की तीन मान-लीलाओं में सूर ने संयोग श्रृंगार के वर्णन अभिधा से किये हैं। सुरति और विपरीत रति के भी वर्णन स्पष्ट हैं, कहीं भी गोपन की प्रवृत्ति नहीं है।

तात्पर्य यह कि सूर ने लीला-वर्णन में अधिकांश स्थलों पर अभिधा-शक्ति को ही माध्यम बनाया है। उसी के द्वारा वे सीधे व्यंग्य तक पहुँच जाते हैं। सूर के उन वर्णनों में यों तो शास्त्र की दृष्टि से कोई भी सरस वर्णन व्यंजना के प्रभाव से रहित नहीं हो सकता, फिर भी इन वर्णनों में रस का मूल आधार वाच्यार्थ का सौंदर्य ही है—न वह लक्ष्यार्थ का आश्रित है और न उसमें व्यंजना का चमत्कारपूर्ण प्रयोग ही मिलता है। इतने पर भी उनकी काव्य-कला के सौदर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है। सच तो यह है कि अभिधा के कारण ही सूर के वर्णनों में रसात्मकता अधिक आ सकी है। सूर का वात्सल्य-निरूपण हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है, कारण यही है कि उसमें मनोहारी स्वभावोक्तियाँ हैं जिनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। संयोग-श्रृंगार को भी सूर ने लक्षणा या व्यंजना के द्वारा संकेतात्मक न बनाकर स्पष्ट ही रखा है। इसीलिए लोक-गीतों की भाँति उनमें भी रसात्मकता का असीम प्रसार है। सूरदास जी कृष्ण-लीला का मर्म भी अभिधा से ही यथास्थान उपस्थित करते गये हैं जिससे संयोग श्रृंगार की अतिरंजना में भक्ति-भाव की पवित्रता वर्तमान रहती है। सारांश यह कि शब्दार्थ की अभिधा शक्ति जो प्राय: काव्य में विशेष स्थान नहीं पाती सूर के हाथों में पड़कर उनकी कला का प्रमुख अंग बन गयी है।

लक्षणा-शक्ति—कवि-कर्म में प्रवृत्त होते ही प्रत्येक कवि ऐसे शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है जो प्रमाता के चित्त में वर्ण्य-विषय का बिम्ब जगा सकें। ऐसा करने के लिए उसे शब्द की लक्षणा-शक्ति का उपयोग करना पड़ता है। लक्षणा-शक्ति अदृश्य वस्तु को गोचर कर देती है। अर्थ शब्द का साधारण और अनिवार्य धर्म है किन्तु भिन्न-भिन्न शब्द अपने साथ एक संस्कार रखते हैं इसीलिए वाच्यार्थ से दूर होकर भी शब्द विशिष्ट लक्ष्यार्थ प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। सूरदास जी की कल्पना-शक्ति प्रखर थी, उन्होंने ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो वर्ण्य को मूर्त्त करने में बड़े सहायक होते हैं। सूर की लक्षणा के क्षेत्र हैं उनके द्वारा प्रयुक्त क्रिया-पद, विशेष्य और विशेषण। इन्हीं का संक्षिप्त दिग्दर्शन किया जाता है—

क्रिया-शब्द—सर्वप्रथम उनका 'प्रगटे' शब्द द्रष्टव्य है जिसका प्रयोग उन्होंने कई स्थलों पर कृष्ण-जन्म के सम्बन्ध में किया है। कृष्ण के लिए जन्मना, पैदा होना, अवतार लेना आदि न लिखकर 'प्रगटे' का प्रयोग ईश्वरीय शक्ति के व्यक्त होने का चित्र प्रस्तुत करता है इसीलिए सूर ने बार-बार[2] इसी शब्द का प्रयोग किया है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११७२।

२. **गोकुल प्रगट भए हरि आइ**।—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३।

दूसरा क्रिया शब्द है 'फूली'—

सुत मुख देखि जसोदा फूली—

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८२

फूलना पुष्प का धर्म है, फूल खिलने का जो चित्र होता है वह यशोदा की प्रसन्नता से संलग्न होकर भाव को प्रत्यक्ष कर देता है।

ऐसे लक्ष्यार्थ समन्वित सांग चित्र प्रस्तुत करने वाले क्रिया-पद सूरसागर में भरे हैं। उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

विराजति—**स्याम कर मुरली अधिक विराजति।**—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६४५

अँचवति—**अँचवति अधर-सुधा बस कीन्हें।**—पद, ६५४

रुलति—**बेनी पीठि रुलति झकझोरी।**—पद, ६७२

अरुझाई—**कहत सखा हरि सुनत नहीं सो।**

प्यारी सौं चित रहै अरुझाई।—पद, ७१७

बरसत—**बिनहिं ऋतु बरसत निसिवासर,**

सदा मलिन दोउ तारे।—पद, ३२३४

निसिदिन बरसत नैन हमारे।—पद, ३२३६

नाध्यौ है—**नैननि नाध्यौ है झर।**—पद, ३२३८

तरसति—**हरि दरसन को तरसति अँखियाँ,**

झाँकति, झखति—**झाँकति, झखति झरोखा बैठी,**

कर मीड़ति ज्यों मखियाँ।—पद, ३२४०

बींधे दाधे—**हरि मुख एक रंग संग बींधे, दाधे फेरि जरे।**—पद, ३२४४

तपत—**अनुदिन नैन तपत दरसन कौं हरद समान देखियत गात।**—पद, ३२५१

सुलगावत—**फूंकि फूँकि हियरो सुलगावत, उठि न यहां ते जात।**—पद, ३५४५

विशेषण—लक्षणा-शक्ति के अन्य आधार विशेषण शब्द हैं। विशेषणों का प्रयोग किसी अभिप्राय को विशेष प्रकार से प्रकट करने के लिए किया जाता है। कवि विशेषणों से वर्ण्य का विस्तार करता है, इसलिए अपने मनश्चित्रों को लाक्षणिक विशेषणों में प्रस्तुत करता है। प्रायः संकेत या लक्षणा का आश्रय कवि को तभी लेना पड़ता है जब किसी बाह्य प्रतिबन्धों से वह स्पष्ट कथन नहीं कर पाता किन्तु सूर जैसे बन्धन-विहीन निर्द्वन्द्व कवि के समक्ष कोई प्रतिबन्ध न था। अतएव उनके अधिकांश विशेषण वर्ण्य का विस्तार स्पष्ट शब्दों में ही करते हैं। अर्थ-विस्तार के लिए उनका प्रमुख साधन उपमानों की योजना है। उनकी कला का क्षेत्र विश्लेषण है सांकेतिक निर्देश नहीं। उदाहरण के लिए जब उन्हें कृष्ण के शरीर का सौंदर्य देना है तो वे तन का विशेषण देते हैं—'नील-जलद, अभिराम-स्याम' तथा चरणों के लिए—'बंधुक सुमन अरुन-पद-पंकज' इनमें लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं है।[1] सौंदर्य वर्णन में विशेषणों की सुन्दर

१. **नील जलद अभिराम स्याम तन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए।**
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध पद, ७२२

लड़ी सजानी उनकी सुरुचि के अनुरूप थी, किन्तु इन विशेषणों में गूढ़ संकेत न होकर वर्ण्य को स्पष्ट करने वाले तथा उसके चित्र प्रस्तुत करने वाले शब्द ही मिलते हैं। जैसे—

लाल हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि-मन विहँसनि, भृकुटी विकट, ललित नैननि पर।
दमकति दूध-दंतुलिया विहँसत, मनु सीपज घर कियौ वारिज पर।
लघु-लघु लट सिर घूंघरवारी, लटकन लटकि रह्यौ माथैं पर।
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचति हौं जिय पर।
नव-तन-चन्द्र-रेख-मधि राजत, सुरगुरु सुक्र उदोत परस्पर।
लोचन लोल कपोल ललित अति, नासा को मुकता रदछद पर।
सूर कहा न्यौछावर करियै अपने लाल ललित लरखर पर॥[1]

पद में विशेषणों की अवली है। प्रत्येक अंग विशेषणों के साथ है—

विशेषण	**विशेष्य**
कुटिल	अलक
मोहनि-मन	विहँसनि
विकट	भृकुटी
ललित	नैन
लघु-लघु घूंघरवारी	लट
लोल	लोचन
ललित	कपोल
ललित	लरखर

प्रत्येक विशेषण शब्द विशेष्य के स्वरूप का विस्तार कर रहा है। कुटिल की रूढि लक्षणा उसके सहज टेढ़ेपन को व्यक्त करती है। भृकुटियों को कवि विकट कहता है। भृकुटियाँ भी टेढ़ी हैं किंतु उनकी सुन्दरता उनके कटाव में है। इस प्रकार विकट शब्द प्रयोजनवती लक्षणा से युक्त होने के कारण स्वरूप का बोध कराता है। कृष्ण की मुसुकानि मन को मोह लेती है। शिशु कृष्ण की छोटी-छोटी लटों का पूर्ण चित्र घूंघर-वारी की रूढि लक्षणा के अन्तर्गत प्राप्त है। कपोल और लरखर दोनों के लिये ललित विशेषण अपर्याप्त हैं, फिर भी वर्ण-मैत्री के मोह ने एक ही शब्द का प्रयोग करवाया है। वास्तव में इन विशेषण शब्दों में कोई गूढ़ संकेत न होकर केवल रूप-सादृश्य है।

सूर के कुछ विशेषण सौंदर्य के प्रभाव को बढ़ाने के लिए लाक्षणिक हैं। जैसे आँगन का विशेषण उन्होंने प्रायः कनक या मणिमय लिखा है।[2] आँगन सोने का या मणियों का बना नहीं था किन्तु कनक और मणि की दीप्ति मानस के चित्र-फलक

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६३।

२. **मनिमय कनक नंद के आँगन बिंब पकरिबे धावत।**
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११०।

बनने वाले चित्र में विशेष प्रकार की शोभा ला देती है।

भ्रमरगीत के विशेषण लक्ष्यार्थ से विशेष समन्वित हैं। उद्धव पर व्यंग करने के लिए तथा अपनी दशा का चित्रण करने के लिए गोपियों के द्वारा साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग कराया गया है। जैसे आँखों के लिए—भूखी, प्यासी और उदासी विशेषण हैं।[1] भूखा, प्यासा या उदास होना आँखों का काम नहीं है किन्तु उसके द्वारा उनकी चाह और वेदना का प्रत्यक्षीकरण सरलता से हो जाता है। कुब्जा के प्रति गोपियों की जो कटूक्तियाँ निकली हैं उनमें लाक्षणिक विशेषण अनेक हैं। जैसे——

कुब्जा स्याम सुहागिनि कीन्ही। रूप अपार जात नहिं चीन्ही॥
आप भए पति वह अरधंगी। गोपिन नाउँ धरचो नवरंगी॥
वै बहु-रवन नगर की सोऊ। तैसोई संग बन्यो अब दोऊ॥[2]

सुहागिनि का रूढि लक्ष्यार्थ पति के साथ सुख भोगने वाली विवाहिता पत्नी है, कुब्जा विवाहिता पत्नी न थी, किन्तु कृष्ण के साथ सुख भोगने वाली थी। गोपियों ने इस शब्द के द्वारा अपने अन्तस्तल के ईर्ष्याभाव को व्यक्त किया है। इसी प्रकार 'रूप अपार' में उसकी कुरूपता, अरधंगी में उनके कुबड़ेपन के लक्ष्यार्थ हैं। 'बहु-रवन' शब्द में व्यभिचारी और जार, तथा 'नगर की' शब्द में वेश्या का अर्थ है।

'जोग' शब्द हठयोग के अर्थ में ही सारे उद्धव-गोपी-संवाद में प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के संसर्ग से जुवती, अबला, अहीरी आदि शब्द अभिधेय न होकर लाक्षणिक हैं—

मधुकर जुवती जोग जानै।—(सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५५

× × ×

हम अहीरि अबला शठ मधुकर धरि जानहिं कहि कौन। ——वही, ३६६०

जुवती से तात्पर्य कामांगना से है। अहीरि से उनका मन्तव्य सरल और भोली[3] से है, इसी प्रकार अबला का लक्ष्यार्थ योग-साधना के लिए सर्वथा असमर्थ है। स्याम रंग पर जो अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं सब में प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षणा द्वारा कृष्ण की करतूतों की ओर संकेत है। जैसे—

मधुकर देखि स्याम तन तेरौ।
या मुख की सुनि मीठी बातें डरपत है मन मेरो॥[4]

विशेष्य—विशेष्य शब्दों में लक्षणा का उतना अधिक अवसर नहीं मिलता फिर भी सूर के कुछ विशेष्य भी साभिप्राय हैं। माखन-चोरी प्रसंग में गोपिका के लिए 'ग्वारि', 'ग्वालि' या 'ग्वालिनी' शब्दों का प्रयोग मिलता है। अन्य प्रसंगों में 'ब्रज-वनिता', 'ब्रज-

---

१. **अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।**——सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५५७
अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहति कमल नैन को निसदिन रहत उदासी। ——वही, ३५८८
२. वही, ३१४४।
३. **ऊधौ हम अजान अति भोरी।**——वही, ३५५३
४. वही, ३७५७।

नारि' या 'व्रज जुवती' शब्द मिलते हैं। विशेषणों के संसर्ग से विशेष्यों का भी अभिप्राय लक्षित होता है। 'ग्वारि' और 'ग्वालिनी' में सूर का जो अभिप्राय है वह इस शब्द के विशेषणों से जाना जा सकता है। इसके विशेषण हैं 'गरबीली', 'हठीली', 'रंगीली', 'छबीली'[१], 'ढीठ', 'जोवन-प्रमत सुन्दरी'[२], 'निलज' या 'बेसरम'[३]। अन्य सरस प्रसंग जैसे चीर-हरन-लीला, रास-लीला, जल-विहार, पनघट-लीला आदि में 'ब्रज-नारि' या 'ब्रज-युवती' शब्दों का उपयोग कवि ने कामांगना अर्थ में किया है। ब्रज-नारी या ब्रज-किशोरी का स्पष्टीकरण एक पद में विशेषणों की माला से इस प्रकार हुआ है—

मध्य ब्रज-नागरी, रूप रस-आगरी, घोष-उज्जागरी स्याम-प्यारी।
वदन दुति इंदुरी, दसन छवि कुंदरी, काम तनु दुंदरी करन हारी।
अंग-अंग सुभग अन्त, चलति गजराज गति, कृष्ण सौं एक मति जमुन जाहीं।
× × ×
सूर प्रभु सुनि सबन, तहाँ कीन्हों गवन, तरुनि मन-रवन सब ब्रज-किसोरी।[४]

नागरी शब्द भी शृंगारिक प्रसंगों में ही प्रयुक्त है और इसका प्रयोग भी अपने लक्ष्यार्थ रति-कला-निपुणा के अर्थ में हुआ है। जैसे—

चतुर वर नागरी बुद्धि ठानी।[५]
सूरदास राधिका नागरी नागर के रंगराँची।[६]
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ नागर नवल किसोरी।[७]

लाक्षणिक विशेष्य-पदों के लक्ष्यार्थ का संकेत पद में ही मिल जाता है जैसे—

आयौ घोष बड़ो व्यौपारी
× × ×
फाटक दै कै हाटक माँगत भोरौ निपट सुधारी।
धुर ही ते खोटो खायो है लिये फिरत सिर भारी।।[८]

---

१. दधि लै मथत ग्वालि गरबीली।
भरी गुमान बिलोवति ठाढ़ी अपने रंग रंगीली।
छवि की उपमा कहि न परति है, या छवि की जु छबीली।
× × ×
सूरदास प्रभु माखन माँगत, नाहिं न देत हठीली।
—सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, २९९

२. तू कहाँ ढीठ जोवन-प्रमत सुन्दरी, फिरति इठलाति गोपाल आगे।—वही, ३०७

३. बाँह पकरि तू ल्याई काको अति बेसरम गँवारि।
सूर स्याम मेरे आगे खेलत जोवन मद मतवारि। वही, ३१४

४. वही, १७५१।

५. वही, १९५१।

६. वही, १९६८।

७. वही, ३५५३।

८. वही, ३९६५।

यहाँ व्यौपारी का लक्ष्यार्थ ठग और छली है, इसी का संकेत नीचे की पंक्तियों में है।

कुछ विशेष्य शब्द लाक्षणिक होने के कारण उक्ति को बड़ा तीव्र करते हैं जैसे—

रस की बात मधुप नीरस सुनु, रसिक होइ सो जाने।[1]

मधुप का अर्थ मधु पीने वाला—कृष्ण का प्रेम रस पीने वाला—है। इस प्रकार 'नीरस' विशेषण के विरोधाभास से उद्धव पर दोहरी चोट की गयी है।

उद्धव के लिए प्रयुक्त 'मधुकर', 'छपदपसु', 'मधुप', 'पांडे' आदि शब्द लाक्षणिक हैं। भ्रमर-गीत सूर के शब्द-चातुर्य का अक्षय भंडार है। प्रत्येक पद के शब्द अपने-अपने स्थल पर विशिष्ट अर्थों के वैभव से गरिमावान हैं। इस लक्षणा और व्यंजना की क्रीड़ा-स्थली में खोज और संचयन की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि ये तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

व्यंजना—शब्दों में व्यंजना-शक्ति का प्रयोग कवि ने वहाँ किया है जहाँ वह रसावेग से आत्मविभोर हो गया है। लीला के निरूपण या वर्णन में तो प्रायः अभिधा से ही काम लिया गया है पर वस्तु-वर्णन के साथ ही जहाँ कवि स्वानुभूति के व्यक्तीकरण में प्रवृत्त होता है वहाँ वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से काम नहीं चलता और कवि को व्यंजना का साहाय्य लेना पड़ता है। बाल-लीला के प्रायः प्रत्येक पद में इस प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं जिनमें कवि ने व्यंजना से निजी आत्माभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

लीला-क्रम में व्यंजना का सुन्दर उपयोग माखन-चोरी प्रसंग में गोपियों के उपालम्भ में किया गया है। वाच्यार्थ की दृष्टि से गोपियाँ कृष्ण की निन्दा करती हैं और यशोदा को उलाहना देती हैं किन्तु व्यंग्यार्थ उनके हृदय की प्रेमासक्ति को व्यक्त कर देता है। जैसे—

तेरैं लाल मेरौ माखन खायौ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनौ, ढूँढ़ि ढँडोरि आप ही आयौ।

× × ×

खोलि किवारि पैठि मंदिर में दूध-दही सब सखनि खवायौ।
ऊखल चढ़ि सींके को लीन्हौ, अनभावत भुँई में ढरकायौ।
दिन प्रति हानि होत गौरस की, यह ढोटा कौनें ढंग लायौ।
सूर स्याम कौं हटकि न राखै तैं हो पूत अनौखो जायो।[2]

इस पद में प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त शब्द "लाल" और अंतिम पंक्ति में प्रयुक्त शब्द "अनौखो" दृष्टव्य है। दोनों ही शब्द उलाहना देने वाली गोपी के हृदय का स्नेह स्पष्ट करते हैं। सम्पूर्ण पद में प्रकट किया हुआ बनावटी रोष "अनौखो" की भावभंगी में विलीन हो जाता है और सहज-स्नेह बरबस प्रकट हो उठता है।

बाल-क्रीड़ा के बीच ही राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में पुनः व्यंजना परिलक्षित होती है—

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९६०।
२. वही, ३३१।

नागरि मन गई अरुझाइ
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेक सुहाइ।
× × ×
कबहूँ विहँसति कबहुँ विलपति सकुचि रहति लजाइ।
मातु-पितु को त्रास मानति, मन बिना भइ बाइ।
जननि सौं दोहनी माँगति बेगि दे री माइ।
सूर प्रभु कौं खरिक मिलिहौं, गये मोहिं बुलाइ।[1]

दोहनी लेकर खरिक जाने के पीछे राधा-प्रणय की व्यंजना स्पष्ट है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रणय-लीला व्यंजना पर आधारित है। उदाहरण के लिए सुख-विलास की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं--

गए वन ओर, नवल नन्द किसोर, नवल राधा, नए कुंज भारी।
अंग पुलकित भए, मदन तिन तन जए, सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी।[2]
गुन सागर अरु रस-सागर मिलि, मानत सुख व्यौपार।
सूर स्याम स्यामा नव रस रमि रीझे नन्दकुमार॥[3]

'वन ओर' में अभिसार की ध्वनि, 'नवल नन्द किसोर, नवल-राधा' में राधा-कृष्ण के मद भरे यौवन का संकेत, 'नये कुंज' में अनुकूल रति-स्थल का भान, 'अंग पुलकित भये' में कामोन्मत्तता का परिलक्षण, 'गुन-सागर' में कृष्ण की काम-कला-निपुणता का भाव, 'रस-सागर' में राधा के परमानन्द रूप की असीमता का निदर्शन तथा 'नव रस रमि' में रत्यानन्द की तल्लीनता व्यंजित है। इस प्रकार सूर ने अपने प्रतिपाद्य विषय--राधा-कृष्ण की सुरति-वर्णन--को व्यंजना के द्वारा प्रस्तुत कर दिया है।

युगल-समागम में भी व्यंजना को अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रसंग में एक पद इस प्रकार है—

यह बल केतिक जादोराइ।
तुम जु तमकि के मों अबला सौं, चले बाँह छुटकाइ।
कहियत हौं अति चतुर सकल अंग आवत बहुत उपाइ।
तौ जानौं जौ अब एकौ छिन सकौ हृदय तें जाइ॥[4]

यहाँ अबला शब्द में सबलता की व्यंजना है 'अति चतुर सकल अंग' में कृष्ण के चातुर्य की अस्वीकृति है। अन्तिम पंक्ति 'तौ जानौ जौ अब एकौ छिन सकौ हृदय तें जाइ' में राधा के प्रेम की अभिव्यंजना है।[5]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६७८।
२. वही, ६८४।
३. वही, ६८७।
४. वही, १९३३।
५. प्रतीत होता है कि किंवदन्ती वाला दोहा—
कर छटकाये जात हो निबल जान कै मोहिं।
हिरदय ते जब जाउगे, मर्द बखानौं तोहि।
तथा उस कथा (सूर का कुए में गिरना, कृष्ण का निकालना और फिर हाथ छुड़ाकर भाग जाना) का मूल उपर्युक्त पद है।

युगल-समागम में संयोग-लीला प्रायः अभिधा से ही गायी गयी है किन्तु जहाँ राधा के मनोभावों का चित्रण कवि करता है, उसे व्यंजना का सहारा लेना पड़ता है। राधा, कृष्ण को आलिंगन-पाश में जकड़कर अधर-रस-पान करना चाहती है और उसे व्यंजना के द्वारा व्यक्त करती है—

चोरी को फल तुमहिं दिखाऊँ।
कंचन खंभ डोर कंचन कौ, देखौ तुमहिं बँधाऊँ।
खंडौं एक अंग कछु तुम्हरौ, चोरी नाउँ मिटाऊँ॥[1]

यहाँ 'कंचन-खंभ' और 'कंचन की डोरी' से अभिप्राय राधा के उरोजों और बाहुओं से है। 'खंडों एक अंग' में अधर-दंशन की व्यंजना है।

संयोग-वर्णन के अन्तर्गत मुरली सम्बन्धी अनेक पदों तथा नैन समय और आँख समय के पदों में व्यंजना-शक्ति का अतुल वैभव देखने को मिलता है। मुरली के सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ तथा युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं उनके द्वारा गोपी-हृदय की प्रणय-कातरता की मार्मिक अनुभूति ध्वनित होती है। मुरली को कृष्ण के अधरामृत का पान करते हुए देखकर गोपियाँ कह उठती हैं—

अधर मधु कत मूई हम राखि
संचित किए रहीं श्रद्धा सों सकीं न सकुचन चाखि।
× × ×
सोइ अब अमृत पिवति है मुरली सबहिन के सिर नाखि॥[2]

'अधर मधु' और 'कतमूई' शब्द अभिधा से बहुत दूर जा पहुँचे हैं। इन शब्दों में गोपियों की अधर-रस की प्राप्ति के लिए उत्कट अभिलाषा की व्यंजना है। जिस अधर-रस का आस्वादन गोपियों ने नहीं किया उसके प्रति उनमें इतनी ममता है कि अधरों पर मुरली को देख सकना ही उनके लिये असह्य है।

मुरली के प्रति गोपियों का ईर्ष्या-भाव वास्तव में व्यंजना का वैभव ही है।

मुरली के बस स्याम भए री।
अधरनि तें नहिं करत निनारी, वाकें रंग रए री।
रहत सदा तन-सुधि बिसराए, कहा करन धौ चाहति।
देखी, सुनी न भई आजु लौं बाँस बसुरिया दाहति।
स्यामहि निदरि, निदरि हमहू कौं अबही तें यह रूप।
सुनहु सूर हरि कौ मुँह पाएँ बोलति वचन अनूप॥[3]

'मुरली के बस स्याम' का अभिधा-दृष्टि से कुछ अर्थ नहीं निकलता। इसमें गोपियों के प्रेम के एकाधिकार की ध्वनि ही मिलती है। गोपियों के वश में होते हुए वे मुरली-वादन में मग्न हों, यह उन्हें सह्य नहीं। इसी भाव की व्यंजना 'अधरनि से

---

१. सूरसागर (सभा) दशम स्कंध पद १६३७
२. वही १२२३
३. वही १२३१।

नहिं करति निनारी' की पंक्ति करती है। 'वाकें' शब्द ईर्षा की कटुता और मुरली के प्रति तुच्छ भावना का द्योतक है। 'रहत सदा सुधि तन बिसराए' में कृष्ण अपने को भूले हुए हैं, जितने कष्ट उन्हें हो रहे हैं उन सब को वे सह रहे हैं। 'कहा करन धौं चाहति' में तो अनागत कितनी ही आशंकाओं की व्यंजना मिलती है। 'बाँस-बसुरिया' में बाँस से तात्पर्य एक निकृष्ट वस्तु से और 'बंसुरिया' से बंशी जैसी साधारण वस्तु के तुच्छातितुच्छ रूप से है। 'अबहीं' शब्द वर्तमान का द्योतक है किन्तु इसमें अनुमानातीत भविष्य का बोध हो रहा है जिसके भीतर मुरली अपरिमित विपत्तियाँ गोपियों पर ला उपस्थित करेगी। 'हरि को मुँह पाएँ' में मुरली के प्रति गोपियों की डाह वाली भावना व्यंजित है और 'बोलति वचन अनूप' में मुरली की मिठास में कठोरतम वाणी की अभिव्यंजना है।

मुरली को गोपियाँ सौत[1] मानने लग जाती हैं। वे समझती हैं कि वह कृष्ण में निठुरता[2] उत्पन्न करती है। उसके वचनों में टोना[3] है। गोपियाँ मुरली पर दृष्टि डालते-डालते उसके कुल पर भी दृष्टि डालने लगती हैं। उसके पिता जलधर हैं और माता धरती है। उनकी रीति भी निराली है। जलधर सारी पृथ्वी को जलमय करता है किन्तु अपने चाहने वाले चातक की एक बूंद की चाह भी पूरी नहीं करता। पृथ्वी सब को जन्म देकर भी कुमारी रही है। ऐसे माता-पिता की कन्या मुरली कितनी गुणवती होगी?[4]

उपर्युक्त सभी उक्तियाँ व्यंजना के उदाहरण हैं। 'सौत' सपत्नी का पर्याय नहीं है। यह शब्द तो रत्यानन्द में विघ्नकारी, कष्टदायक तथा निरन्तर शूलने वाले भावों का द्योतक है। मुरली के पिता जलधर में निष्ठुरता की व्यंजना का समावेश है। सपत्नी भाव से देखने के कारण मुरली में जिस चरित्र-हीनता को देखना गोपियों के लिये स्वाभाविक है उसी की व्यंजना के हेतु उन्होंने मुरली की माँ पृथ्वी में वैसा ही गुण देखा है।

मुरली सम्बन्धी पदों की भाँति ही नैन सम्बन्धी पद भी व्यंजना-प्रयोग के

---

१. **मुरली हम कहँ सौत भई।**—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १२४०

२. **तुम तें निठुर भए वह बोलत, तिनतें मन उचटावति है।** वही, १२३९

३. **मुरली वचन कहति जनु टोना।** वही, १२४१।

४. **सुनहु सखी याके कुल धर्म।**

तैसोइ पिता, मातु तैसी अब देखौ याकं कर्म।
वे बरषत धरनी सम्पूरन सर सरिता अवगाह।
चातक सदा निरास रहत है, एक बूंद की चाह।
धरनी जनम देति सबही कौ, आपुन सदा कुमारी।
उपजत फिरि ताही में बिनसत, छोह न कहु महतारी।
ता कुल में यह कन्या उपजी याके गुननि सुनाऊँ।
सूर सुनत सुख होइ तुम्हारें, मैं कहि कै सुख पाऊँ।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १२५

सुन्दर नमूने हैं। गोपियों की परवशता के मूल कारण नैन हैं। अपने स्वार्थ के कारण ये कृष्ण-रूप के प्यासे नैन लोक-लाज, कुल-मर्यादा आदि का लंघन करके उनमें जा रमे।[1] अनेक प्रयत्न करने पर भी वापस नहीं आते। बड़े ही ढीठ हैं।[2] कहना नहीं मानते, रोकते-रोकते उठ भागते हैं।[3] ये श्याम के गुलाम बन बैठे।[4] श्याम-रंग में रंग गये, धोने पर भी रंग नहीं छूटता।[5] ये तो लोभ से भरे हैं, प्रतिक्षण कृष्ण के संग-संग रहते हैं, अपना ही पेट रात-दिन भरते हैं और किसी को लेने-देने नहीं देते।[6] इस प्रकार की सैकड़ों उक्तियाँ सूरदास जी देते जाते हैं। लगभग तीन सौ पद नैन सम्बन्धी हैं। सब में मार्मिकता कूट-कूट कर भरी है। जितना ही गोपियाँ झुँझलाती हैं, नैनों को कोसती हैं, अपना दुख प्रकट करती हैं, उतना ही उनके हृदय-स्थित प्रणय की सघनता, अनन्यता, रसमग्नता और उन्मत्तता प्रकट होती है। प्रत्येक पद गोपियों के असीम आनन्द की अनुभूति व्यक्त करने में समर्थ है।

विरह-निरूपण में तो व्यंजना का प्रयोग और भी अधिक सूर ने किया है। भ्रमरगीत की उद्भावना ही व्यंजना की करामात है। संयोग में जिन नेत्रों ने गोपियों को परवश कर रखा था वियोग में वे ही विशेष रूप से दुखी हैं—

हरि दरसन कौं तरसति अँखियाँ।
झाँकति झखति झरोखा बैठी कर मीड़ति ज्यों मखियाँ।
बिछुरीं वदन-सुधानिधि-रस तें, लगत नहीं पल पंखियाँ।
इकटक चितवति उड़ि न सकति जनु, थकित भई लखि सखियाँ॥[1]

---

१. **नैना हरि अंग-रूप लुब्धे री माई।**
लोक-लाज कुल की मरजादा बिसराई॥
× × ×
कोऊ स्रम कोटि करै तहाँ फिरि न आवै।
तनु की गति पंगु किये सोचति ब्रजनारी।
तैसे ये मिले आइ सूरज प्रभु ढारी॥—वही, २२३७

२. **ढीठ भये ये डोलत हैं।** —वही, २२५४

३. **नैना कह्यौ न मानैं मेरौ।** —वही, २२५४
मों बरजत बरजत उठि धाए, बहुरि कियौ नहिं फेरो।
—वही, २२४५

४. **नैना भए बजाइ गुलाम।**—वही, २२३६

५. **स्याम रंग रंगीले नैन।**
धोएँ छुटत नहीं यह कैसेहुँ, मिले पघिलि ह्वै मैन।—वही, २२५१

६. **ऐसे अपस्वारथी ये नैन।**
अपनोइ पेट भरत हैं निसिदिन और न लैन न दैन।
—वही, २२६७

७. वही, ३२४०।

आँखें हठ करती हैं, कौए को उड़ा-उड़ाकर बाँहें थक गई[1]। उन नारियों के भाग्य को सराहती हैं जो स्वप्न में प्रियतम का दर्शन पाती हैं। जगते-जगते रात्रि व्यतीत कर देती हैं, सूर्य के उदय पर चकवी और अलि को अपने-अपने प्रियतम से मिलते देखती हैं किन्तु उन्हें तो दिन और रात समान ही रहते हैं।[2] रात नागिन के सदृश लगती है, जब चाँदनी देखती हैं तो समझती हैं कि वह डसने के बाद उलटी हो गई है।[3]

पावस-प्रसंग पूर्णतया व्यंजनात्मक है। वर्षा-वर्णन कवि ने ऋतु-वर्णन के निमित्त नहीं किया है, उद्दीपन के रूप में उसका ग्रहण हुआ है, अतएव प्रत्येक पंक्ति व्यंजना-युक्त है। जैसे—

ये दिन रूसिबे के नाहीं।
कारी घटा पौन झकझोरै, लता तरुन लपटाहीं।
दादुर मोर चकोर मधुप पिक, बोलत अमृत बानी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन बैरिनि ऋतु नियरानी।।[4]

'कारी घटा' और 'पौन' में कामोद्दीपन की ध्वनि है और वृक्षों के साथ लता के लपटने में संयोग का चित्रण है। इसी प्रकार वर्षाकाल के दादुर, मोर, चकोर, मधुप और पिक आदि की बोलियाँ कामोद्दीपक हैं। इसीलिए वर्षाऋतु के लिए 'बैरिनि' शब्द प्रयुक्त किया है। वर्षा के आ जाने पर तो ऋतु भयंकर रूप से उनके समक्ष आती है। आततायी आक्रमणकारी की दारुण सेना की भाँति उन्हें पावस-दल दिखाई पड़ता है—

वृज पर सजि पावस दल आयौ
धुरवा धुंध उठी दसहूँ दिसि, गरज निसान बजायौ।
× × ×

---

१. **अँखियाँ करत हैं अति आरि।**
सुन्दर स्याम पाहुने कै मिस मिलि न जाहु दिन चारि।
बाँह थकी वायसहिं उड़ावत, कब देखौं उनहारि।
× × ×
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सकै न पंख पसारि।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२४३

२. **हमकौं जागत रैन विहानी।**
× × ×
उदित सूर चकई मिलाप निसि अलि जु मिलें अरविन्दहिं।
सूर हमें दिन राति दुसह दुख, कहा कहैं गोविन्दहिं।।
—वही, ३२७१

३. **पिय बिनु नागिनि कारी रात।**
जो कहु जामिनि उवत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२७२

४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२९८।

हम अबला जानिऐ तुमहिं बल, कहौ कौन विधि कीजै ।
सूर स्याम अबकैं इहि अवसर, आनि राखि ब्रज लीजै ।।[१]

पावस को देखकर विरहिणी की विरह-वेदना दारुण हो जाती है । वर्षा का आतंककारी रूप उनके लिये असह्य होता है । वर्षा का सैन्य-रूपक व्यंजना से युक्त है । एक बार कृष्ण ने गोपियों की रक्षा प्रलय-पयोद से की थी इसीलिये गोपियाँ रक्षा के लिए 'गोहारि' कर रही हैं—

गरजत गगन गयंद गुंजरत, दल दादुर दलकार ।
सूर स्याम अपने या ब्रज को लागत क्यों न गुहार ।।[२]

मोर, चातक, पिक आदि पक्षी विरह-व्यथा के प्रस्तुत करने के हेतु लिये गये है । वेदना का स्पष्ट रूप खिंच जाता है जब गोपी कहती है कि—

हमारे माई मोरवा बैर परे ।
घन गरजत बरज्यौ नहिं मानत, त्यौं त्यौं रटत खरे ।
करि करि प्रकट पंख हरि इनके, लै लै सीस धरे ।
याही तें न बदत बिरहिन कौं, हमसों रहत अरे ।
सूरदास परदेस बसे हरि, ये बन तें न टरे ।।[3]

गोपियों के हृदय की अदृश्य ज्वाला मोर के प्रति कही हुई उक्ति से दृश्य हो जाती है ।

चातक के प्रति तो गोपियों की उक्तियाँ मीठी और कटु दोनों ही हैं । कारण यह है कि उसकी पुकार में 'पी-पी' का शब्द है । 'पी पी' की रट में जब वे अपना स्वरूप देखती हैं तब उन्हें सहानुभूति होती है । वे कहती है—

चातक न होइ कोउ बिरहिनि नारि ।
अजहुँ पिय पिय रजनि सुरति करि, झूठैं ही मुख माँगत वारि ।
अति कृस गात देखि सखि याको, अह निसि बानी रहत पुकारि ।।[४]

किन्तु जो पपीहा साधर्म्य के कारण प्रिय लगता है वही दूसरे क्षण उनके रोष का भाजन बनता है । उसकी 'पी पी' की पुकार उन्हें जलाती है । गोपियों के कथन में कितनी व्यथा है जब वे उसे अगले जन्म में दुखी रहने का शाप देती हैं—

सब जग सुखी दुखी तू जल बिन, तऊ न उर की व्यथा विचारत ।
सूरस्याम बिनु ब्रज पर बोलत, काहे अगिलौ जनम बिगारत ।[५]

पपीहे की सहज रट तीर की भाँति गोपियों को बेंध रही है । उनके मर्मस्थल का व्रण इन पंक्तियों के द्वारा अनावृत दिखाई पड़ने लगता है ।

१. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद ३३०४ ।
२. वही, ३३०५ ।
३. वही, ३३२९ ।
४. वही, ३३३५ ।
५. वही, ३३३८ ।

चन्द्र के प्रति कही हुई उक्तियाँ भी इसी प्रकार व्यंजना के उदाहरण हैं। कामोद्दीपक होने के कारण चन्द्र विरहिणियों को दुखप्रद होता है—

कोऊ माई बरजै री या चंदहिं।
अति ही क्रोध करत है हम पर कुमुदिनि कुल आनंदहिं।

× × ×

निंदति सैल उदधि पन्नग कों श्रीपति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी कौ, राहु केतु किन जोरहिं॥[1]

वे चाहती हैं कि चन्द्रमा उन्हें दिखाई ही न दे। चन्द्रमा के मूल कारण समुद्र मंथन को कोसती हैं और जरा नामक राक्षसी की स्तुति करती हैं कि वह राहु और केतु को जोड़ दे ताकि उनकी शक्ति बढ़ जाय और वे चन्द्र को निगल जायँ। इन सबके पीछे गोपियों की विरह-वेदना व्यंजित है।

कुब्जा के प्रति कहे हुए अनेक पदों में व्यंजना का मनोहारी स्वरूप मिलता है। कुब्जा पटरानी बनी है। यह जानकर उनमें जो रोष उत्पन्न हुआ उसे वे बड़ी चतुराई से प्रकट करती हैं—

कहियौ ठकुराइति हम जानी।
अब दिन चारि चलहु गोकुल में, सेवहु आइ बहुरि रजधानी॥
हमकों हौंस बहुत देखन की, संग लिए कुबजा पटरानी।
पहुनाई ब्रज कौ दधि माखन, बड़ौ पलँग अरु तातो पानी॥

× × ×

सूर नंद जू के पालागौं, देखहु आइ राधिका स्यानी॥[2]

ठकुराइति शब्द कृष्ण की निरंकुशता और अभिमान पर संकेत करता है। कृष्ण अब ग्वाल-बाल नहीं रहे, ठाकुर (राजा) बने हैं, राजधानी में पटरानी के साथ विहार करते हैं। गोपियाँ भी तो देखें कि नई पटरानी के संग वे कैसे शोभित होते हैं। आने पर वे अपने दधि और माखन से स्वागत करेंगी क्योंकि इसके सिवा और उनके पास है ही क्या? बड़ा पलँग भी देंगी जिससे दोनों कृष्ण और कुब्जा सुख से सो सकें। अन्त में वे इस बात का भी संकेत करती हैं कि अब राधा भी बड़ी हो चुकी है। उसका निखरा हुआ यौवन भी देख लेना कि तुम्हारी पटरानी इसके समक्ष कैसी जँचती है। इस प्रकार 'पहुनाई, बड़ी पलँग, और स्यानी' शब्द व्यंजना से युक्त हैं।

कृष्ण ने गोपियों को वंचित किया इसका जो क्षोभ उन्हें है उसकी व्यंजना कुब्जा की प्रशंसा के द्वारा करती हैं। कुब्जा ने कृष्ण को अपने वश में करके उन्हें ठग लिया। इस प्रकार मानों नारि जाति के प्रति किये हुए दुर्व्यवहार का सुन्दर बदला उसने ले लिया—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३५९।
२. वही, ३६३७।

बरु उन कुविजा भलौ कियौ ।
सुनि सुनि समाचार ये मधुकर अधिक जुड़ात हियौ ।।
जिनके तन मन प्रान रूप गुन हरचौ सु फिरि न दियौ ।
तिन अपनो मन हरत न जान्यौ हँसि हँसि लोग जियौ ।।
सूर तनक चंदन चढ़ाइ उर श्रीपति बस जु कियौ ।
और सकल नागरि नारिन कौं दासी दाउँ लियौ ।।[1]

सच तो यह है कि गोपियों के हृदय में कुब्जा के प्रति प्रशंसा के भाव नहीं हैं, ईर्ष्या ही है किन्तु इससे उनके हृदय की झुँझलाहट स्पष्ट होती है। कृष्ण भी तो ठगे गये, यही उनके लिए एक सन्तोष की बात है।

भ्रमरगीत की प्रत्येक पंक्ति व्यंग से भरी है, पर विशेष द्रष्टव्य हैं उनके वे पद जो संदेश, जोग, स्यामरंग और मधुकर शब्द को लेकर लिखे गये हैं। संदेश को सुनते ही उन्हें अंदेशा हो गया क्योंकि जिस कृष्ण ने उन्हें अंग-अंग में आभूषण पहिनाए, केश में पुष्प गूँथे, वे ही भला भस्म रमाने और जटा बनाने को कैसे कहेंगे ?[2] उद्धव जी जो संदेशा लाये थे वह था जोग। इस जोग का गोपियों ने बड़ी चतुराई से उपहास किया। संकेत से ही वे कहती हैं—

ऊधौ ब्रज में पैठ करी ।
ले आए हौ नफा जानि कै सबै वस्तु अकरी ।।
हम अहीरि माखन दधि बेचें सगुन टेक पकरी ।
यह निर्गुन निर्मूल गाठरी, अब कित करन धरी ।।
यह ब्यौपार यहाँ जु समातौ, हुती बड़ी नगरी ।
सूरदास गाहक नहिं कोऊ, देखियत गरै परी ।।[3]

संदेश रूप में भेजी हुई वस्तु निष्प्रयोजन है। 'सगुन' और 'टेक' शब्द श्लिष्ट हैं इनके द्वारा ब्रज-वासियों का कुल और धर्म सगुणावलम्बी सिद्ध होता है क्योंकि रस्सीदार मथानी का आधार लेकर ही वे कृष्ण-स्नेह-नवनीत को प्राप्त करते हैं। अतः निर्गुण की गठरी तो उनके लिए बिना मूल्य की भी अग्राह्य है। साथ ही वस्तु की निस्तत्वता भी सिद्ध है क्योंकि उसका कोई ग्राहक मथुरा जैसे नगर में भी न मिला—प्रतीत होता है वस्तु गले पड़ी है क्योंकि इसका ग्राहक कोई नहीं है।

गोपियाँ कुब्जा को आलम्बन बनाकर उपहास करती हैं और उसी के द्वारा

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद, ३८३८ ।

२. **यह अलि हमें अँदेसौ आवै ।**
कौन गुनाह जोग लिखि पठयौ, सो तू कहि समुझावै ।।
जे अंग रचे वसन आभूषन, कैसे भस्म चढ़ावै ।
कबरी केस सुमन गहि राखे, सो क्यों जटा बनावै ।।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६५६

३. वही, ३६६३ ।

योग-संदेश की निरर्थकता भी सिद्ध करती हैं। वे कहती हैं कि ऊधव जी आपको सार-हीन वस्तु देकर छला गया है, सच तो यह है कि कृष्ण को कुब्जा के साथ रमना था और आपको कुछ बहाना देकर बाहर करना था।

ऊधौ भूलि भलै भटके।
कहत कही कछु बात लड़ैतैं, तुम ताही अटके॥
देख्यौ सकल सयान तिहारौ, लीन्हें छरि फटके।
तुम्हिं दियौ बहराइ इर्ताहं कौं, वे कुब्जा अटके॥[1]

'कछु बात' में रहस्य है जिसको ऊधौ जी नहीं समझ सके। उनकी सारी चतुराई की परख हो गई। इस प्रकार योग-संदेश के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक खंडन प्रस्तुत न करते हुए सूर ने व्यंजना के बल पर उसका तथा ऊधव का उपहास किया है। योग के व्यावहारिक पक्ष को ही लेकर उसकी अनुपयुक्तता दिखाई है। वैसे जब से कृष्ण मथुरा गये हैं गोपियों के जीवन और योगियों के जीवन में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। उनके बाल भी जोगियों के जटाजूट की भाँति रूखे धूलि भरे हैं, फटी-पुरानी और सिली हुई चीर साधुनियों जैसी है और रूपरेखा भी जोगियों जैसी है—

हम तौ तबहिं तें जोग लियौ।
जबही तें मधुकर मधुबन कौं, मोहन गौन कियौ॥
रहित सनेह सिरोरुह सब तन, श्रीखंड भसम चढ़ाए।
पहिरि मेखला चीर पुरातन, फिरि फिरि फेरि सियाए॥
श्रुति ताटंक मेलि मुद्रावलि अवधि अधार अधारी।
दरसन भिच्छा माँगत डोलति, लोचन पात्र पसारी॥[2]

इस प्रकार योग का व्यावहारिक रूप तो गोपियों ने धारण कर ही रखा है, रहा आध्यात्मिक चिन्तन रूप योग की बात उसे भी वे कर लेने को उद्यत हैं किन्तु जिस मन से उस रूप का चिन्तन होगा वह तो उनके पास नहीं है, वह तो कृष्ण के साथ मथुरा में है। यदि मन उन्हें मिल जाय तो वे सौगन्धपूर्वक कहती हैं कि उसे योग-साधन में लगा देंगी—

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारै।
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै, मथुरा जबहिं सिधारै॥
× × ×
अजहूँ मन अपनौं हम पावैं, तुम तें होइ तौ होइ।
सूर सपथ हमें कोटि तिहारी, कही करैंगी सोइ॥[3]

इस प्रकार अनेक पदों में गोपियाँ जो कुछ कहना चाहती हैं व्यंजना से कहती हैं। उन्हें उद्धव की बात स्वीकृत नहीं है, ऐसा कभी नहीं कहतीं, वे तो अपनी

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६६७।
२. वही, ३६९३।
३. वही, ३७१९।

परिस्थिति, प्रकृति और विवशता को सम्मुख रखकर सब कुछ करने को तैयार रहती हैं। कृष्ण के प्रति उनकी कठोरता और उनके अन्याय प्रदर्शित करने के लिए उनके स्याम रंग का आधार लेती हैं। ऊधो या कृष्ण को कुछ न कहकर संसार की सभी काली वस्तुओं का गुण बताती है। यह तो उनका अपना ही दुर्भाग्य है कि उन्हें दु:ख भोगना पड़ा, कृष्ण ने तो जो कुछ किया अपनी प्रकृति के अनुरूप ही किया—

सखी री स्याम सबै इकसार।
मीठे वचन सुहाए बोलत, अंतर जारनहार॥
भंवर, कुरंग, काक अरु कोकिल, कपटनि की चटसार।
कमलनैन मधुपुरी सिधारे, मिटि गयौ मंगलचार॥
सुनहु सखी री दोष न काहू, जो बिधि लिख्यौ लिलार।
यह करतूति उनहिं की नाहीं, पूरब बिबिध बिचार॥
कारी घटा देखि बादर की, सोभा देति अपार।
सूरदास सरिता सर पोषत, चातक करत पुकार॥[1]

भ्रमरगीत का सम्पूर्ण उपालम्भ व्यंजना से ही कहा गया है। प्रत्येक पद इसीलिए बड़ा ही मार्मिक और सहृदय संवेद्य है। ऊधो की गम्भीर बातों का उत्तर भी सूर ने सरल और व्यंजनात्मक उक्तियों से दिलाया है। निर्गुण के घटव्यापकत्व पर वे कहती हैं कि—

तुमहीं कहत सकल घट व्यापक और सबहिं तें नियरे।
नख सिख लौं तन जरत निसा दिन, निकसि करत किन नियरे॥[2]

भला यह कैसे हो सकता है कि जिस कृष्ण ने सब प्रकार की आपदाओं से रक्षा की, दावानल, प्रलय-वर्षा और सभी राक्षसों से बचाया, वे हृदय में ही रहकर विरहाग्नि से न बचाएँ। गोपियों की विरह-वेदना की कैसी सुस्पष्ट व्यंजना है! न केवल निर्गुण मत का सप्रमाण खंडन हो रहा है वरन् गोपियों की असह्य वेदना का प्रत्यक्षीकरण भी हो रहा है। भ्रमरगीत का प्रत्येक पद कवि के व्यंजना-कौशल का स्थायी कीर्तिस्तम्भ है। शब्द बड़े ही सरल, किन्तु उनकी पैठ बड़ी गहरी है। इन पदों में कथा का अंश शून्य है, एक ही बात के अनेक व्यक्तीकरण हैं।

पर्याय-ध्वनि—रसात्मक प्रसंगों के अतिरिक्त सूर-शब्दावली की व्यंजना-शक्ति का कौशल उनके समानार्थक संज्ञा शब्दों के विशिष्ट प्रयोगों में मिलता है। पर्यायवाची शब्द समानार्थक होते हुए भी अपने-अपने विशिष्ट अर्थ के कारण एक दूसरे से भिन्न होते हैं। श्रेष्ठ कवि पर्यायवाची अनेक शब्दों में से प्रसंगानुरूप शब्द का चयन करता है और उससे अपने पद के अर्थ-सौरस्य को चमत्कृत कर लेता है। सूर के कला-गीतों के प्रधान आलम्बन भगवान कृष्ण थे। सूरसागर में कृष्ण के अनेक पर्यायवाची शब्द—कृष्ण, कान्ह, स्याम, हरि, गोपाल, माधव, मोहन, मनमोहन, मदनगुपाल, नवलकिशोर,

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३७४६।
२. वही, ३७८८।

ब्रजराज, नंदनन्दन, यशोदानन्दन, देवकीनन्दन, रसिकशिरोमणि, रतिनागर, यदुपति, घनश्याम, गिरधर आदि प्रयोग किये गये हैं। प्रायः इन शब्दों के प्रयोग विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। तुक के लिए अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग भी मिलता है जो अधिक उपयुक्त नहीं हैं। सूरदास जी ने बाल-वर्णन में प्रायः कान्ह, कान्हकुँवर, ब्रजराजकुँवर, गोपाल, मदनगुपाल, नंदनन्दन, स्याम शब्दों का प्रयोग किया है। इन सब में वात्सल्य-भाव का आलम्बनत्व प्रधान है।

कान्ह में कृष्ण का शैशव, सुकुमारता और लाड़लापन अधिक है। इसलिए ऐसे ही अवसरों पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे--

कान्हें लै जसुमति कोरा तें रुचि करि कंठ लगाए।
कन्हैया हालरो हलरोइ···
सूरदास प्रभु सोए कन्हैया, हलरावति मल्हरावति है।
कान्ह कुँवर की करहु पासनी, कछु दिन घटि षट मास गये।
आजु कान्ह करिहें अनप्रासन।
(वर्षगाँठ वाले पद में)
कान्ह गरै सोहति वनमाला, अंग आभूषन अंगुरिन गोल।
किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
धनि जसुमति बड़भागिनी लिए कान्ह खिलावै।
मनिमय आंगन नंद कै खेलत दोउ भैया।
गौर स्याम जोरी बनी, बलराम कन्हैया।
कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
बोलि लई नववधू जानि जँह खेलत कुँवर कन्हाई।
कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
कान्हर बलि आरि न कीजै। जोइ जोइ भावै सोइ लीजै॥
किहि विधि करि कान्हहिं समुझैहौं?
मैं ही भूलि चंद दिखरायौ, ताहि कहत मैं खैहौं।
खेलन दूरि जात कत कान्हा?
आज सुन्यौ मैं हाऊ आयौ, तुम नहिं जानत नान्हा।
जेंवत कान्ह नंद इकठौरे।
कछुक खात लपटात दोउ कर बालकेलि अलि भोरे।
कान्हहिं बरजत किन नंदरानी।
कन्हैया तू नहि मोंहि डरात।
जसोदा कान्हहु ते दधि प्यारौ।
पुनि पुनि लै दधि खात कन्हाई और जननि पै माँगै।
टेरत हैं सब ग्वाल कन्हैया अबहूँ देर भई।

शिशु-लीला के पश्चात् 'कान्हा' शब्द का प्रयोग बहुत ही कम है। जहाँ है भी वहाँ

पद के तुक से साम्य होने के कारण ही। जैसे—

मुरली मोहे कुँवर कन्हाई।
अंचवति अधर सुधा बस कीन्हे अब हम कहा कहौं री माई॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६५४

खेलन के मिस कुँवरि राधिका, नंद महर के आई (हो)।
सकुच सहित मधुरे करि बोली, घर हौ कुँवर कन्हाई (हो)॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७००

ग्वाल कहत धनि धन्य कन्हैया।
बड़ौ देवता प्रगट बतायौ, यह कहि लेत बलैया॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८४७

गोपाल शब्द का प्रयोग गोपालक के अर्थ में न होकर लाल-गोपाल के अर्थ में है। गोपाल के साथ ही कहीं-कहीं नंदलाल का प्रयोग मिलता है। सूरदास जी ने गोपाल शब्द का प्रयोग अधिकतर ध्वनि साम्य वाले स्थानों में प्रयोग किया है। जैसे—

पालनै गोपाल झुलावै। —सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४५
नान्हरि गोपाल-लाल तू वेगि बड़ौ किन होइ। ७५
जननी बलि जाइ हालरु हालरौ गोपाल। ८४
सूर स्याम अवलोकत विहरत बाल-गोपाल नंद घर। १२४

गोपाल शब्द में नंद-नंदन, यशोदानन्दन का सौंदर्य रूप ही प्रधान है। गोपाल शब्द के पीछे जो अर्थ प्रायः सूर ने अनेक पदों में रखा है उसका विश्लेषण उन्होंने ही इस प्रकार दिया है—

(सजनी) येई हैं गोपाल गुसाई।
नंद महर के ढोटा जिनकी सुनियत बहुत बड़ाई॥
यह सुरूप नैननि भरि देखौ, बड़े भाग निधि पाई।
चंद चकोर, मेघ चातक लौं, अवलोकौ मन लाई॥
सुन्दर स्याम सुदेस पीत पट चंदन चर्चित कीन्हें।
नटवर वेष धरे मनमोहन, कंध दसन गज लीन्हें॥
नूपुर चारु चरन कटि किंकिनि, वनमाला उर सोहै।
कर कंकन मनि कंठ मनोहर जुवती जन मन मोहै॥
कुंडल स्रवन सरोज विलोकनि कुटिल अलक अलिमाल।
चंदन वदन अँचवति जु अमी रस धन्य धन्य ब्रजवाल॥
चंद चकोर स्वाति चातक ज्यों अवलोकति सत भाए।
सूरदास प्रभु दुष्ट विनासन माधव मथुरा आए॥[1]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३०६२।

तात्पर्य यह कि गोपाल रूप नंद-नंदन का नटवर रूप है, जिसमें नख से सिख तक अनुपम सौंदर्य है और जो गोप-गोपी के मन को हरने वाला है। भ्रमरगीत में गोपियों ने इसी अर्थ में 'गोपाल' शब्द का प्रयोग किया है। निर्गुण ब्रह्म के प्रतिवाद में उन्होंने जब गोपाल का उल्लेख किया है तो उसके समक्ष उक्त नंदनंदन गोपाल रूप ही था, तभी तो उन्होंने कहा कि—

अपने सगुन गोपालहिं माई इहि विधि काहें देति।
ऊधौ की इन मीठी बातनि निर्गुन कैसे लेति॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८६१

नाम गुपाल जाति कुल गोपक, गोप गुपाल उपासी।
गिरिवरधारी, गोधनचारी, वृंदावन अभिलासी।
राजा नंद जसोदा रानी, सजल नदी जमुना सी।
मीत हमारे परम मनोहर, कमल नैन सुख रासी।
सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं, अष्ट महानिधि दासी॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९२७

यह गोकुल गोपाल उपासी।
जे गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईसपुर कासी॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९२८

गोपाल शब्द का व्यंग्य अर्थ स्पष्ट हो जाता है, जब सूरदास जी 'गोपाल' को यदुपति के साथ प्रयोग करते हैं—

सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधौ कौ भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल, फिरत कुँजन में फूल्यौ।

× × ×

उपदेसन आयौ हुतौ मोंहि भयौ उपदेस।
ऊधौ जदुपति पै चले किए गोप को भेस।
भूल्यौ जदुपति नाम कह्यौ गोपाल गुसाईं।
एक बेर ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराईं॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४०९५

'मोहन' का प्रयोग बाल-वर्णन में बहुत है। वहाँ उनके शारीरिक सौंदर्य पर ही कवि की विशेष दृष्टि है। जैसे—

मोहन मानि मनायौ मेरो
हौं बलिहारी नन्द-नन्दन की, नेकु इतै हंसि हेरो।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१९

बाल-वर्णन में 'मोहन' शब्द भी 'कान्हा', 'गोपाल' या 'स्याम' की भाँति पुकारने के प्रिय नाम की भाँति प्रयुक्त हैं। किन्तु प्रणय-प्रसंगों में यह शब्द अधिक व्यापक है। वहाँ पर इस शब्द में विशेष अर्थ है। प्रत्येक स्थल पर यह शब्द 'सम्मोहन' गुण से युक्त कृष्ण के लिए है।

विराजत मोहन मंडल रास। —सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११२६
मोहन रच्यौ अद्भुत रास। ···११३३
मोहन मोहिनी रस भरे। ···११४५
मोहिनी मोहन की प्यारी। ···११६७
मोहन मुरली अधर धरी। ···१२२७
मोहन की मुरली में मोहिनी बसत है। ···१३६७
देखि री देखि मोहन ओर।
स्याम सुभग सरोज आनन चारु चित के चोर। ···१३८१
ये लखि आवत मोहन लाल।
स्याम सुभग घन तड़ित वसन वग पंगति मुक्तामाल। ···१३६०
मोहन बिन मन न रहै कहा कहौं माई। ···१४४४
टरति न टारै छवि मन जु चुभी।
सूरदास मनमोहन निरखत उपजी काम गुभी। ···१८७०
मनमोहन मुखदेखि रही तब काम विथा तनु बाढ़ी री। ·· १८७५
मोहन मुरली बजाई रिझाई तिनहीं हौं मोही मोहीरी। ···१६१७
नैन भए बस मोहन तें।
ज्यौं कुरंग बस होत नाद के टरत नहीं ता गोहनतें। ···२२८१
थकित भए मोहन-मुख नैन।
घूंघट-ओट न मानत कैसहुँ, बरजत कीन्हौं गौन। ···२३३६
स्याम धर्यौ तिय मोहन रूप। ···२६६६
सूरदास प्रभु नारि नागरी मनमोहन निज बस जु करचौ। ···२७७७

एक पद में मोहन के व्यंग्यार्थ का विश्लेषण भी सूर करते हैं—

हरि तत मोहिनी माई।
अंग अंग अनंग सत-सत, वरनि नहिं जाई।।
कोउ निरखि मुकुट की छवि सुरति बिसराई।
कोउ निरखि विथुरी अलक मुख, अधिक सुख छाई।।
कोउ निरखि रही भाल चंदन, एक चित लाई।
कोउ निरखि वियकी भृकुटि पर नैन ठहराई।।
कोउ निरखि रही चारु लोचन निमिष भरमाई।
सूर प्रभु की निरखि सोभा, कहत नहिं जाई।।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८०२

शृंगारिक प्रसंगों में 'नवलकिशोर', 'रतिनागर' और 'रसिक सिरोमनि' भी सर्वत्र विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—

सुख-विलास प्रसंग में—

नवल किसोर नवल नागरिया। —सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६८८

नवल गुपाल नवेली राधा, नये प्रेम रस पागे।--सूरसागर, द० स्क०, पद ६८६

चीर-हरण प्रसंग में—

तन की जरनि दूरि भई सबकी मिलि तरुनिन सुख दीन्हों।

× × ×

नवल किसोर ध्यान जुवतिन मन, वहै प्रगट दरसायौ—

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७६६

अबहीं देखें नवल किसोर। ···७७६

युगल-समागम प्रसंग में—

नवल किसोर किसोरी दोऊ आवत हैं रति रंग अनुरागे।

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१७६

सूर किसोर नवल नागर ये नागरि नवल किसोरी। ···१६०४

सूर प्रभु नवल नवला, नवल कुँज गृह अंत नहिं लहत दोउ रति विहारैं।

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६८८

'रसिक सिरोमणि' और 'रति नागर' शब्दों का प्रयोग मानलीला, युगल समागम और खंडिता प्रकरण में ही हुआ है। इन शब्दों का व्यंग्य प्रयोग निश्चित है। जैसे—

माखन की चोरी तें सीखे, करन लगे अब चित की चोरी।

× × ×

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, देखत निगम बानि भई भोरी॥

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८६१

सूरदास प्रभु रसिक रसीले, बहुनायक है नाउं जिना॥ ···१६१५

सूरदास राधिका नागरी, नागर के रंग राँची। ···१६६८

मनसिज माधवै मानिनिहिं मारै।

× × ×

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, तुम तजि काहि पुकारै। ···२११६

सूरदास प्रभु रसिक, प्रिय राधिका रसिकिनी कोक-गुन सहित सुख लूट लीन्हें—

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१२६

सूरदास नागरि नागर प्रभु, जीते रति अरु कामा। ···२१८१

मान लीला प्रसंग में—

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि लसहु स्याम सुजान। ···२६०३

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि रसिक रसिकई नीकै जानी। ···२६३०

राधा वर निसि रसिक सिरोमनि, कवि कुल परी ठगौरी। ···२६४८

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मिलि जु सुधा सुख दीन्हों ···२७००

भ्रमरगीत प्रसंग में—

समुझति नहीं चूकि सखि अपनी बहुतैं दिन हरि लाए।

सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, मधुवन बसि बिसराए॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३०८

'स्याम' शब्द कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों में सबसे अधिक प्रयोग किया गया है। शब्द पुकारने में छोटा और अतीव मधुर है। मनोहारिता, सुरूपता और सुवर्ण के द्योतक होने के कारण प्रायः सौंदर्य-निरूपण में इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। जैसे—

मैं बलि स्याम मनोहर नैन।
जब चितवत मोतन करि अँखियनि मधुप देत मनु सैन।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०३

नीलजलद-अभिराम स्याम तन निरखि जननि दोउ निकट बुलाए।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४

सुन्दर स्याम सरोज नीलतन, अंग अंग सुभग सकल सुखदनियाँ ···१०६
चलत स्याम घन राजति, बाजति पैंजनि मग मग चारु मनोहर। ···१२४

'स्याम' वर्ण-सौंदर्य की चरमसीमा ही कवि ने माना है। इसीलिए न केवल कृष्ण जिनका वर्ण श्यामल या श्याम कहा गया है वरन् गौरवर्ण वाली राधा को भी सूरदास जी ने अनेक बार श्यामा कहा है। तात्पर्य यह कि श्याम शब्द अपने लाक्षणिक अर्थ में कवि के द्वारा प्रयुक्त हुआ है।

नृत्यत हैं दोउ स्यामा-स्याम।
अंग मगन पिय तें प्यारी अति निरखि चकित ब्रज बाम॥

× × ×

श्री राधिका सकल गुन पूरन जाके स्याम अधीन।
संगतैं होत नहीं कहुँ न्यारे, भए रहत अति लीन॥
रस समुद्र मानौ उछलित भयौ सुन्दरता की खानि।
सूरदास-प्रभु रीझि थकित भए कहत न कछू बखानि॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०६०

दोऊ राजत स्यामा-स्याम।
ब्रज जुवती मंडली विराजति, देखति सुरगन वाम। ···१०७६
स्यामा स्याम रिझावति भारी।
मन मन कहति और नहिं मोंसी, कोऊ पिय की प्यारी। ···१०७९
गावत स्याम स्यामा रंग।
सुघर गति नागरि अलापति, सुर भरति पिय संग। ···१०८३
दुलहिनि दूलह स्यामा-स्याम।

× × ×

अतिहिं सुघर पिय कौ मन मोहति, अपबस करति रिझावति।
सूर स्याम मोहनि-मूरति कौं, बार बार उर लावति।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११४४

नृत्यत स्याम-स्यामा हेत। ···११४८

सूर प्रभु स्याम स्यामा संग गोपिका मिटी तन साध
भई मगन भारी। ...११५७
स्यामा स्याम सुभग जमुना जल निर्भ्रम करत विहार। ...११५९
सूर स्यामा-स्याम रस क्रीड़त, जमुना तरंग थकीली। ...११६०
स्यामा स्याम अंकम भरी। ...११६७

हरि शब्द का प्रयोग भी बहुत है। सभी लीलाओं में हरि शब्द मिलता है किन्तु प्रायः इस शब्द के पीछे कृष्ण के अलौकिकत्व की ध्वनि है। किसी-न-किसी प्रकार की अद्भुतता, ऐश्वर्य या माहात्म्य सर्वत्र ध्वनित होता है। जैसे—

हरि किलकत जसुमति की कनिया।
मुख में तीनि लोक दिखराए, चकित भई नंद रनिया।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८३

हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा हरनि।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०९

हरि को विमल जस गावत गोपंगना।
मनिमय आँगन नंदराइ कौ, बाल-गोपाल करैं तहँ रंगना।
× × ×
वसुधा त्रिपद करत नहिं आलस तिनहिं कठिन भयौ देहरी उलंघना।
सूरदास प्रभु-ब्रज-बधु निरखत रुचिर हार हिय सोहत बघना।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११३

आवत हरि को वाल बिनोद
× × ×
आनंद-कंद, सकल सुखदायक, निसि-दिन रहत केलि रस ओद।
सूरदास प्रभु अंबुज लोचन, फिरि फिरि चितवत ब्रज-जन कोद॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११९

हरि हरि हँसत मेरौ माधैया।
देहरि चढ़त परत गिरि गिरि कर, पल्लव गहति जु मैया॥
भक्ति हेत जसुदा के आगें, धरनी चरन धरैया।
जिन चरनन छलियौ बलि राजा, नख गंगा जु बहैया॥
जिहिं सरूप मोहे ब्रह्मादिक, रवि ससि कोटि उगैया।
सूरदास प्रभु तिन चरनन की, बलि बलि जै बलि जैया॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३१

कल बल कै हरि आरि परै
× × ×
जे गिरि कमठ सुरासुर सर्पहिं धरत न मन में नैकुँ डरैं।
ते भुजभूषन भार परत कर गोपिन के आधार धरैं।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४१

जब दधि रिपु हरि हाथ लियौ ।
खगपति-अरि डर, असुरनि संका, बासर-पति आनन्द कियौ ।।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४३

हरि कर राजत माखन रोटी ।
मेली सजि मुख अंबुज भीतर, उपजी उपमा मोटी ।
मनु वराह भूधर सह पुहुमी, धरी दसन की कोटी ।।
···१६४

हरि हर संकर नमो नमो ।
अहिसायी अहि अंग विभूषन, अमित दान बल विष हारी ।।
× × ×
अज अनीह अविरुद्ध एकरस, यहै अधिक ये अवतारी ।
सूरदास सम रूप नाम गुन, अंतर अनुचर अनुसारी ।।
···१७१

प्रथम करी हरि माखन चोरी ।
मन में यहै विचार करत हरि, ब्रज घर घर सब जाउँ ।
गोकुल जनम लियौ सुख कारन, सब कैं माखन खाउँ ।।
बालरूप जसुमति मोंहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग ।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज लोग ।।
···२६८

निगम सार देखौ गोकुल हरि ।
जाकौ दूरि दरस देवन कौ, सो बाँध्यौ जसुमति ऊखल धरि । ···३६२
हरि ब्रज जन के दुख बिसरावन । ···६०३
जब हरि मुरली अधर धरत ।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत ।
× × ×
सूरदास भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत । ···६२०
ब्रज जुवती हरि चरन मनावैं ।
जे पद-कमल महामुनि दुर्लभ, सपने हूँ नहिं पावैं । ···६३१

गोवर्धन-लीला प्रसंग में—

सबै मिलि पूजौ हरि की बहियाँ ।
जो नहिं लेत उठाइ गोवर्धन को बाँचत ब्रज महियाँ । ···६७०

रास-लीला प्रसंग में—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-बनिता उठि धाई । ···६६०
तब हरि भए अंतरधान ।
जब कियौ मन गर्व प्यारी, कौन मोंसी आन । ···११०३

आजु हरि अद्भुत रास रचायौ
एकहिं सुर सब मोहित कीन्हें मुरली नाद सुनायौ ।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५४०

भ्रमरगीत प्रसंग में—

ऊधो हरि काहे के अंतरजामी ।
अजहुँ न आइ मिलत इहि अन्तर अवधि बतावत लामी ···३६२९
ऊधौ हरि कहिए प्रतिपालक ।

× × ×

सत्वर सूर सहाइ करै जो, रही छिनक सी बात ···३७४५
हरिजू सुनहु वचन सुजान ।

× × ×

जगत-जीवन, जगत-पालक, जगतनाथ कृपाल ।
करि जतन कहु सूर के प्रभु, ज्यौं जियै ब्रज बाल ।।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४१०१

तात्पर्य यह कि सूरदास जी ने 'हरि' शब्द का प्रयोग प्रायः विशेष अर्थ में किया है । लीला में गोपाल, स्याम, मोहन, रसिक सिरोमनि आदि प्रयोग करते गए हैं । किन्तु बीच-बीच में जहाँ उन्हें प्रभु के ईश्वरत्व का उद्घाटन करना पड़ा है वहाँ 'हरि' शब्द का प्रयोग किया गया है । किन्तु जैसा पीछे कहा जा चुका है, अनेक स्थलों पर हरि शब्द कृष्ण के सामान्य पर्यायवाची शब्द के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, विशिष्ट अर्थ सर्वत्र नहीं मिलता । जैसे—

हरि अपने आगे कछु गावत—

—सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद १७७

देखि माई हरि जू की लोटनि । ···१८७
ठाढ़ी अजिर जसोदा हरिहि लिए चंदा दिखरावति । ···१८८
खेलन कौं हरि दूर गयौ री । ···२१९
करें हरि ग्वाल संग विहार । ···२६९
चरावत बृन्दावन हरि धेनु । ···४४०
खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी । ···६७२
हमारें हरि हारिल की लकरी । ···३९८८

कृष्ण शब्द का प्रयोग सबसे कम है । जहाँ है वहाँ कृष्ण का तात्पर्य 'प्रभु' या रक्षक ही लिया गया है । जैसे—

धन्य कृष्न धनि उरग जानि जन कृपा करी हरि ।

× × ×

धन्य कंस धनि कमल ये धन्य कृष्न अवतार ।।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५८९

प्रनत पाल केसव कमलापति कृष्न कमल लोचन अगतिनि गति । ···वही, ९८१

कृष्न कृष्न कहि टेरि उठति हैं जुग सम बीतति पलक घरी। ...१११६
कृष्न कृष्न सरनागत कहि कहि बहुरि गिरी भहराइ॥ ...११२२
हमारे जीवन धन कृष्न मुकुन्द।
परम उदार कृपानिधि कोमल पूरन परमानन्द। ...३६४३

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में 'कृष्ण' शब्द से तात्पर्य अवतारी भगवान कृष्ण है। दो-चार स्थल ऐसे भी हैं जहाँ 'कृष्न' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में भी है। जैसे—

कृष्न पति हम तुरत पावैं काम आतुर नारि।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७८१

जो पै कृष्न हमहिं जिय भावत। ...४०२६

सूरसागर में 'कृष्न'[1] शब्द के अपेक्षाकृत कम प्रयोग से प्रतीत होता है कि सूरदासजी ने 'कृष्न' नाम में प्रभु के लीला रूप के स्थान में अवतारी रूप की विशेष कल्पना की। रामावतार के साथ कृष्णावतार की चर्चा भक्त समुदाय में होती रहती है, इसीलिए सम्भवतः 'कृष्ण' नाम के साथ अवचेतन में स्थित अवतारी भाव की ध्वनि समाविष्ट हो गई। उनके सिद्धान्त ग्रंथ सूरसारावली से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। उसमें भी अवतारी प्रभु के लिए प्रायः कृष्ण नाम ही मिलता है।

राम कृष्न अवतार मनोहर भक्तन के हित काज।[1]
यह अनेक अवतार कृष्ण के को करि सकै बखान।[2]
अटल शक्ति अविनाश अधिक बल एक अनादि अनूप।
आदि अव्यक्त अम्बिका पूरण अखिल लोक तव रूप।
कृष्णचन्द्र के चरण-कमल में सदा रहे अनुराग।
ये ही पति नित होंहि हमारे जोग पूरण मम भाग।[3]

सारांश यह कि सूर द्वारा प्रयुक्त कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों में विशिष्ट ध्वनि प्राप्त होती है। और भी पर्यायवाची शब्द इसी प्रकार विशिष्ट ध्वनि रखते हैं। यहाँ केवल कृष्ण के पर्यायवाची शब्दों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिससे कवि के पर्याय-ध्वनि-प्रयोगों का किंचित् दिग्दर्शन हो सके।

चित्रण-कला—चित्रण शिल्प का प्रधान प्रसाधन है। सभी कलाओं में कलाकार भावानुभूति को मूर्तिमान करने के लिये चित्र बनाता है। वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला में तो चित्रण मूल आधार ही है, संगीत और काव्य में भी चित्रण-कला का मुख्य उपादान है। संगीत में नाद, भाव-भंगिमा और अभिनय चित्र प्रस्तुत करते हैं। काव्य में कवि के शब्द-चित्र पाठक या श्रोता के समक्ष प्रतिपाद्य का चित्र खींचते हैं। चित्र ही पाठक के सुप्त भावों को सहसा जाग्रत करने में समर्थ होता है। जिस कवि का चित्रण जितना ही सजीव होता है उतना ही रसात्मक और चित्ताकर्षक

---

१. सूरसारावली छन्द ११३। (वेंकटेश्वर प्रेस का सूरसागर, पृष्ठ ६)
२. वही, ३५३। (वही, पृष्ठ १५)
३. वही, ६३१-३२। (वही, पृष्ठ २७)

उसका काव्य होता है। महाकवि सूर चित्रण-कला में प्रवीण थे। भगवान कृष्ण की लीला-सम्बन्धी विभिन्न झाँकियाँ उनके हृत्पट पर अंकित थीं। उन सबको ज्यों-का-त्यों अपने शब्द-चित्रों के द्वारा प्रस्तुत कर देना उनकी सहज प्रतिभा के लिए साधारण बात थी। काव्य-प्रणयन में उनका मूल उद्देश्य न तो कृष्ण-चरित्र का माहात्म्य प्रस्तुत करना था और न उनके विशाल और बहुक्षेत्रीय जीवन के महत्त्वपूर्ण विवरण देने थे, उन्हें तो इष्ट था रसावतार कृष्ण की लीलाओं की मनोरम झाँकियाँ सजाना, इसीलिए उनकी वृत्ति सुन्दर-से-सुन्दर चित्रों के चयन में निरत हो गयी। चित्रों को पूर्णता देने के लिए प्राय: एक ही प्रसंग पर वे अनेक चित्र रचते थे। जैसे कुशल चित्रकार एक ही चित्र पर बार-बार तूलिका चलाता जाता है और जब तक उसके मन को तृप्ति नहीं होती, वह आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार सूरदास जी भी नयी-नयी शब्दावली के द्वारा एक ही चित्र को अनेक बार नये-नये पदों में रचते थे। अनेक बार तो उपमाएँ तक वही आ जाती हैं जो कि पूर्व पदों में हैं। सूरदास जी विषय की दृष्टि से पुनरुक्ति दोष की चिन्ता नहीं करते थे। उन्हें चित्रण की दृष्टि से ही प्रगति और विस्तार वांछनीय थे। इसीलिए उनके विभिन्न पदों में एक ही चित्र के भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते हैं। एक में रेखा-चित्र है तो दूसरे में रंगों का उभार है और तीसरे में अप्रस्तुत विधान की कमनीयता है। कवि उपमा के लिए आकाश-पाताल एक करता है फिर भी हारकर बैठ रहता है। जब साधारण चित्रों से उसका जी नहीं भरता तो वह असाधारण चित्र चमत्कारिक शब्दावली में प्रस्तुत करता है।

सूरदास जी के सम्मुख कृष्ण पालने में झूल रहे हैं। इसी प्रसंग को वे कई पदों में कई रूपों में उपस्थित करते हैं। उनका रेखा-चित्र इस प्रकार है —

पलना स्याम झुलावति जननी।
अति अनुराग परस्पर गावति प्रफुलित मगन होति नंद घरनी ।।
उमंगि उमंगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी।
सूरदास प्रभु मुदित जसोदा पूरन भई पुरातन करनी ।।[1]

चित्र पूरा नहीं है किन्तु अनुभूति सुस्पष्ट है। शिशु और माँ दोनों के मन की सहज उमंग मात्र ही इसमें उभारी गई है—शिशु का हुलसना और बाँह उचाना तथा माँ का प्रमुदित होना और गोद में उठा लेना ही है—चित्र में रंग आदि का कोई प्रयोग नहीं है।

इसी चित्र का रंगीन रूप निम्न प्रकार से है —

कनक रतन मनि पालनो गढ्यो काम सुत हार।
विविध खिलौना भाँति के (बहु) गज मुक्ता चहुँ धार ।।
जननि उलटि नहवाइ कै (सिसु) क्रम सौं लीन्हें गोद।
पौढाए पट पालनें (हँसि) निरखि जननि मन मोद ।।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४४।

अति कोमल दिन सात के (हो) अधर चरन कर लाल ।
सूरस्याम छवि अरुनता (हो) निरखि हरष ब्रज-बाल ।।[1]

स्पष्ट है इस पद में रंगों के समुचित प्रयोग से पालने में सौंदर्य की कितनी वृद्धि है। शिशु के कर और चरणों की लाली पालने के रंगों की अनुरूपता से सज गयी है। किन्तु चित्र की पूर्णता यहाँ भी नहीं है। पूर्ण चित्र निम्न पद में है--

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै ।।
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावै ।
तू काहे न बेगि हीं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै ।।
कबहुं पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै ।
सोवत जान मौन ह्वै के रहि, करि-करि सैन बतावै ।।
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै ।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै ।।[2]

पालने में कन्हैया को झुलाती हुई और लोरी गाती हुई यशोदा पाठक के समक्ष दिखाई पड़ती है। लोरी की पंक्तियाँ "मेरे लाल को आउ निंदरिया" आदि मूक-चित्र को बोलता हुआ बना देती हैं। गान का मनोवैज्ञानिक प्रभाव शिशु पर पड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। अर्धनिद्रित अवस्था में बाल-कृष्ण का पलक मूँदना, अधर फड़काना, माँ का मौन होना और लोरी बन्द होने के साथ ही बालक का कलबलाना आदि थोड़े से ही विवरण से कवि ने एक संश्लिष्ट और मनोरम चित्र प्रस्तुत कर दिया है। फिर भी चित्र में सादगी है, बनाव-शृंगार नहीं है। यद्यपि इस पद में वे अपने हृदय के हर्ष और आमोद को पूर्णतया व्यक्त कर देते हैं और नन्द-भामिनी के सुख को देखकर एक प्रकार की ईर्ष्या भावना की झलक भी देते हैं तथापि उनके भक्त-हृदय की तृप्ति कहाँ ? वे तो उस पर अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप किये बिना नहीं रह सकते—

पालनैं गोपाल झुलावैं ।
सुर-मुनि-देव कोटि तैंतीसौं कौतुक अंबर छावैं ।।
जाकौ अन्त न ब्रह्मा जानैं शिव सनकादि न पावैं ।
सो अब देखौ नंद-जसोदा हरषि-हरषि हलरावैं ।।[3]

तात्पर्य यह कि सूर का चित्र एक ही पद में पूर्ण नहीं होता। उसके भिन्न-भिन्न पक्ष वे भिन्न-भिन्न पदों में प्रस्तुत करते हैं।

कृष्ण कुछ बड़े हुए, घुटने के बल चलने लगे। सूरदास जी उनके चित्र प्रस्तुत करने में जुट गये। पहले वे रेखा-चित्र ही खींचते हैं—

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४२।
२. वही, ४३।
३. वही, ४५।

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की ।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की ।।
छिटकि रहीं चहुँदिसि जु लटुरियाँ, लटकन लटकनि भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी, कंठ कमल-दल माल की ।।
कछुक हाथ कछु मुख माखन लै, चितवनि नैन बिसाल की।
सूरदास प्रभु प्रेम-मगन भईं, ढिग न तजनि ब्रज बाल की ।।[1]

कवि ने चित्र को स्पष्ट करने के लिए व्योरा पूरा दिया है—छबीला रूप, धूलि-धूसरित शरीर, रेंगना, तोतली बोली, छिटकी हुई कुंचित लटें, मोती वाली नथुनी, कंठ-माल, हाथ और मुख में मक्खन, बड़ी-बड़ी बातें—चित्र सर्वथा पूर्ण है किन्तु इसमें रंगों का वैभव नहीं है। रंगों की चमक-दमक के लिए कवि रंगीन उपमानों का उपयोग करता है। यही चित्र जब रंगों से सुसज्जित होता है तो उसका स्वरूप इस प्रकार बनता है—

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई ।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छवि पाई ।।
कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर कैं, बहुविधि सुरंग बनाई ।
मानों नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ।।
अति सुदेस-मृदु हरत चिकुर मन मोहन-मुख बगराई ।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिर आई ।।
नील सेत अरु पीत लाल मनि लटकन भाल रुनाई ।
सनि, गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ।।
दूध दंत-दुति कहि न जात कछु अद्भुत उपमा पाई ।
किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु घन में बिज्जु छपाई ।।
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई ।
घुटरुन चलत रेनु-तन-मंडित सूरदास बलि जाई ।।[2]

चित्र के विवरण में कोई अन्तर नहीं है, पूर्व पद की भाँति यहाँ भी कृष्ण धूलि-धूसरित आँगन में घुटने के बल चल रहे हैं, मुख पर लटूरियाँ लटकी हैं, कुलही (टोपी) पहने हैं, तोतली बोली में बोलते हैं किन्तु वैभव रंगों का है। नीचे की पृष्ठ-भूमि कनक का आँगन है। स्याम सुन्दर के ऊपर सतरंगी कुलही है, इन्द्रधनु की उपमा उसकी चमक को शतगुणा करती है, मुख पर लटूरियाँ हैं मानों लाल कमल पर भौंरों की पक्तियाँ हैं और उनमें नील, स्वेत, पीत और लाल मणियों की लटकनें लटक रही हैं। साँवले होठों के बीच दूध की द्वै दंतियाँ ऐसी लगती हैं मानों बादलों में बिजली निकल-निकल छिप जाती हो। ये सभी सटीक उपमाएँ कृष्ण-छवि के रंगीन चित्र की कान्ति को बढ़ाती हैं। इस प्रकार इस पद में आलम्बन रूप कृष्ण का पूर्ण चित्र है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०५ ।
२. वही, १०८ ।

आलम्बन का बिम्ब ग्रहण कराना चित्र का मूल आधार है। यह पद इसी कौशल का एक उदाहरण है।

चित्रण में जब कवि की कल्पना असीम हो जाती है तो वह चमत्कार-सृजन में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अपने उद्देश्य से दूर हो जाता है और रूप-छवि के स्थान पर कल्पना की करामातों में लग जाता है। बाल-छवि के वर्णन में सूरदास जी कृष्ण के बाल-रूप में शंकर का चित्र देखने लगते हैं और हर-रूप के सभी अंगों को कृष्ण के बाल-रूप में आरोपित करते हैं। कल्पना या अलंकार की दृष्टि से चमत्कार भले ही माना जाय किन्तु त्रिपुरारि का सांग-रूपक कृष्ण-छवि के चित्रण में विशेष योग नहीं देता।[1] शंकर की जटाएँ बाल-कृष्ण की सुन्दर लटूरियों का चित्र नहीं दे सकतीं। कहाँ मस्तक पर का केसर बिन्दु और कहाँ शंकर का भयंकर त्रिनेत्र! कहाँ कंठ की नील-मणि और कहाँ ग्रीवा का विष! कहाँ अम्भोज माल, और कहाँ वीभत्स कपाल-माल! ये उपमाएँ तो चित्र को और बिगाड़ती हैं।

सूर की चमत्कारिक प्रवृत्ति शब्द-क्रीड़ा में भी रत होती है परिणाम यह होता है कि चित्र विकृत हो जाता है, अधूरा चित्र मात्र ही बनकर रह जाता है, कवि दधि खाते हुए कृष्ण का कथन मात्र ही करके रह जाता है उसकी शेष करामात शब्द के चमत्कारिक अर्थों में लग जाती है।[2] कवि का प्रतिपाद्य विषय दधि खाते हुए कृष्ण का सौंदर्य प्रस्तुत करना नहीं रह जाता, उसका कार्य तो दधि-सुत (चन्द्र-मुख) में दधि के जाने, रिपु-चन्द्र (मुख) में रिपु-कमल (हाथ) के सामने, दधि पर कीर (नासिका), कीर पर पंकज (आँख) और पंकज के द्वै पात (पलकें और भौंहें)—आदि विलक्षणताओं

१. **बरनौं बाल वेष मुरारि।**
थकित जित तित अमर मुनि-गन नंदलाल निहारि॥
केस सिर बिन वपन के चहुँ दिसा छिटके झारि।
सीस पर धरि जटा मनु सिसु रूप कियो त्रिपुरारि॥
तिलक ललित ललाट केसर बिन्दु सोभाकारि।
रोष अरुन तृतीय लोचन रह्यौ जनु रिपु जारि॥
कंठ कठुला नील मणि अंभोज माल सँवारि।
गरल ग्रीव कपाल उर इहिं भाइ भये मदनारि॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६६

२. **देखो माई दधि सुत में दधि जात।**
एक अचम्भौ देखि सखी री, रिपु में रिपु जु समात।
दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यह सोभा देखत पसुपालक फूले अंग न समात।
बारम्बार विलोकि सोचि चित नंद महर मुसक्यात।
यहै ध्यान मन आनि स्याम कौ सूरदास बलि जात॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७२

को घटित करने में सीमित हो जाता है।

अनुभूति को व्यक्त करने के लिए उसके विषय अथवा पात्र के रूप का चित्रण अथवा उनकी मूर्त चेष्टाओं का अंकन आवश्यक है। इसी को शास्त्रीय दृष्टि से आलम्बन-विधान और अनुभाव-विधान कहते हैं। संयोग-शृंगार का बड़ा विस्तृत निरूपण सूर ने प्रस्तुत किया है, अतः दोनों प्रकार के मनोरम चित्र प्राप्त होते हैं।

आलम्बन-चित्र—शृंगार-रस में आलम्बन का सांग चित्र प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि प्रणय में रूप-लिप्सा का किंचित् योग अवश्य होता है; उसमें रूप-चित्रण एक आवश्यकता है। इन चित्रों में सूर ने उपमानों को नहीं जुटाया है किन्तु उनके आकर्षक अंग-उपांगों के द्वारा चित्रों को मूर्तिमान किया है। राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन के अवसर पर कवि द्वारा प्रस्तुत चित्र[1] आलम्बन चित्र का सुन्दर नमूना है। राधा और कृष्ण दोनों के चित्र समान रूप से आकर्षक हैं। दोनों में रंगीनी है—कृष्ण पीली कछनी काछे, पीताम्बर बाँधे, हाथ में भौंरा-चकडोरी लिये हैं। सिर पर रंगीन मोर मुकुट है, कान में कुण्डल चमक रहे हैं, मस्तक पर चन्दन का टीका है। इसी प्रकार राधा भी विविध रंगों के शृंगार में चित को चुराने वाली हैं। सबसे अधिक उनके विशाल नेत्र ही आकर्षक हैं, मस्तक पर रोली, नील वस्त्र और कटि में फरिया, पीठ पर हिलने वाली काली वेणी, रंग गोरा, अल्प वयस और कई लड़कियों के बीच सुशोभित है। दोनों का एकाएक मिलना और एक दूसरे को देखकर ठगा-सा रह जाना चित्र को और भी मनोरम करने वाला है। यद्यपि पंक्तियाँ कम हैं, सर्वांगों की नामावली या अप्रस्तुत विधान का सहाय्य नहीं है तथापि चित्र सर्वथा पूर्ण है। दोनों के नेत्रों को मिलाने वाली प्रणय-रेखा बड़ी सूक्ष्म है और यही चित्र में प्राण-प्रतिष्ठा करती है।

संयोग-वर्णन में सूरदास जी ने राधा-कृष्ण की मनोहारी छवि के वर्णन में बहुत अधिक पद लिखे हैं। लीला के भिन्न-भिन्न क्रम में जहाँ-जहाँ उन्हें अवसर मिलता है, वे राधा और कृष्ण का नख-शिख वर्णन करने लग जाते हैं। इस नख-शिख वर्णन का मूल उद्देश्य राधा और कृष्ण का सर्वांग चित्र उपस्थित करना है। सूर ने नख-शिख वर्णन में अंग-प्रत्यंगों की गणना करायी है और अनुरूप उपमानों के द्वारा उनका चित्र प्रस्तुत किया है। कृष्ण और राधा के कितने ही नख-शिख वर्णन प्राप्त होते हैं।

---

१. खेलत हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि काछनी पीताम्बर बांधे हाथ लियें भौंरा चकडोरी ॥
मोर-मुकुट, कुण्डलस्रवननि वर, दसन दमक दामिनि छवि छोरी।
गए स्याम रवि तनया कैं तट, अंग लसति चंदन की खोरी ॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे, पीठि रुलति बेनी झकझोरी ॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर स्याम देखते ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६७२

कृष्ण का वर्णन नख से शिख तक है—पद-कमल, नख-इंदु, जानु, जंघ, पीत-पट, कनक-क्षुद्रावली, रोमावली, मुक्ता-माल, बाहु-दंड, चिबुक, अधर, नासिका, कपोल, नैन, कुण्डल भृकुटियों और मोर-मुकुट का क्रमशः कथन मिलता है।[1] राधा का नख-शिख वर्णन है। सिर के केश से लेकर क्रमशः चरण-कमलों तक का वर्णन है।[2] अनेक पदों[3] में केवल ऊपर के अंगों का कथन मिलता है। 'अद्भुत एक अनूपम बाग'[4] जैसे

---

१. नटवर वेष काछे स्याम।
पद कमल नख इंदु सोभा, ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सुघटनि करभा, नाहिं रंभा तूल।
पीत-पट काछनी मानहुँ, जलज केसर झूल॥
कनक छुद्रावली पंगति, नाभि कटि कैं भीर।
मनहुँ हँस रसाल पंगति, रहे हैं हृद तीर॥
झलक रौमावली सोभा, ग्रीव मोतिन हार।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली, मिलि त्र्य धार॥
बाहु दंड बिसाल तट दोउ, अंग चंदन रैनु।
तीर-तरु बनमाल की छवि, ब्रज-जुवति सुख दैनु॥
चिबुक पर अधरनि, दसन दुति, बिंब बीजु लजाइ।
नासिका-सुक, नैन-खंजन, कहत कवि सरमाइ॥
स्रवन-कुंडल कोटि रवि छवि, भृकुटि काम कोदंड।
सूर प्रभु हैं नीप कैं तर, सीस धरै सिखंड॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७५५

२. आजु अति राधा नारि बनी।
प्रति प्रति अंग अनंग जीति, रस-बस त्रैलोक्य धनी।
सोभित केस विचित्र भाँति दुति, सिखि-सिखंड-हरनी।
रची माँग सम भाग राग-निधि, काम धाम सरनी।
अलक तिलक राजत अकलंकित, मृग मद अंक बनी।
भौंह कमान समान बान मनु, हैं जुग नैन अनी।
नासा तिल प्रसून बिंबाधर, अमल कमल बदनी।
चिबुक मध्य मेचक रुचि राजत, बिंदु कुंद रदनी।
कंबु कंठ विधि लोक विलोकत, सुन्दरि एक गनी।
बाहु मृनाल लाल कर पल्लव, मद गज गति गवनी।
पति मन मनि कंचन संपुट कुच, रोमराजि तटनी।
नाभि भंवर त्रिबली तरंग गति, पुलिन तुलिन ठटनी।
कृस कटि पृथु नितंब किंकिनि जुत, कदलि खंभ जघनी।—वही २१८४

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११४-१८।

४. वही, २११०।

दृष्टकूटों में राधा का भी नख-शिख मिल जाता है। नख-शिख वर्णन के चित्र चाक्षुष हैं, अंगों का ऐन्द्रिय आकर्षण ही उनमें है। कुछ चित्र ऐसे भी हैं जिनमें दो पंक्तियों में झाँकी सज जाती है। एक ही अवयव के उभार देने से चित्र में सजीवता उत्पन्न हो जाती है। जैसे—

भुजा पकरि ठाढ़े हरि कीन्हें।
बाँह मरोरि जाहुगे कैसे, मैं तुम नीके चीन्हे ।।[1]

राधा के कृष्ण की भुजा पकड़कर रोक देने मात्र से राधा-कृष्ण की नोक-झोंक का पूरा चित्र आँखों के सामने खिच जाता है। ऐसे चित्र सूरसागर में कम है।

अनुभाव-चित्र—आश्रय में रति-भाव की प्रतीति उसकी चेष्टाओं और क्रिया-कलापों से होती है। कायिक-अनुभावों से बड़े मनोरम चित्र प्रस्तुत होते हैं और स्थायी तथा संचारी भावों की सुन्दर व्यंजना उनके द्वारा होती है। सूर ने अन्तस्तल के सूक्ष्म भावों का निरूपण बाह्याकार की स्थूल विकृतियों के द्वारा ही किया है, इसीलिए ऐसे स्थलों में चित्रांकनता स्वतः समाविष्ट हो जाती है। जैसे—

मुरि मुरि चितवत नंद गली।
डग न परत ब्रजनाथ साथ बिनु विरह बिथा में जाति चली ।।
बार-बार मोहन मुख कारन आवत फिरि फिरि रंग अली।
चली पीठि दै दृष्टि फिरावत अंग-अंग आनन्द रली ।।[2]

राधा का मुड़-मुड़कर देखना, रास्ते पर पाँवों का न पड़ना, लौट-लौटकर आना और आगे बढ़ना, दृष्टि का विकलता से फिराना और अंग-अंग का पुलकायमान होना आदि आंगिक अनुभावों से चित्र सजीव बन गया है। इनके द्वारा भावनाओं का चित्र भी अंकित है। रति-स्थायीभाव के अन्तर्गत आवेग, उन्माद, विषाद, चपलता, क्रीड़ा, संचारी-भाव तथा विलास हाव का जो पुट इन पंक्तियों में गर्भित है उससे राधा का रति-भाव मूर्तिमान हो जाता है।

शास्त्रीय निरूपण पर विशेष दृष्टि न रखते हुए भी सूर के कुछ चित्र अनुभाव की सुन्दर स्थिति करते हैं। जैसे—

अंगनि की सुधि बिसरि गईं।

× × ×

जो जैसें सो तैसें रहि गईं, सुख दुख कह्यौ न जाइ।
लिखी चित्र सी सूर सुह्वै रहिं, इकटक पल बिसराइ ।।[3]

इन पंक्तियों में ठगठगी का सजीव चित्र है। इसे हम स्तम्भ अनुभाव में अन्तर्भूत कर सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोपियों के सारे अंग संज्ञाशून्य हो गये हैं। कृष्ण के प्रति उनकी असीम रति की व्यंजना इनके द्वारा सहज ही हो जाती है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १९३२।
२. वही, ७३९।
३. वही, ६२१।

कृष्ण भी प्रेम के आश्रय हैं। शृंगार रस में नायक और नायिका समान रूप से रति के आश्रय होते हैं। एक स्थल पर सूर ने कृष्ण की विरहानुभूति का सुन्दर चित्र खींचा है—

कहुँ मुरली कहुँ लकुट मनोहर, कहुँ पट कहूँ चन्द्रिका मोर।
खन बूड़त, खनही खन उछरत, विरह सिंधु कैं परै झकोर।
प्रेम सलिल भीज्यौ पीरौ पट, फट्यौ निचोरत अंचल-छोर।
फुरै न बचन, नैन नहिं उघरत, मानहुँ कमल भए बिन भोर।
सूर सु अधर सुधारस सींचहु, मेटहु मुरछा नन्द किसोर॥[1]

सखी राधा के प्रति कृष्ण की दशा का निवेदन कर रही है। 'कहुँ मुरली, कहुँ लकुट' आदि में बेसुधी (स्तम्भ) का कैसा सजीव चित्र है। 'खन बूड़त खनही खन उछरत" में अपस्मार की स्थिति है। 'प्रेम सलिल भीज्यौ पीरौ पट' में स्वेद की अतिशयता, 'फुरै न वचन' में स्वर भंग, 'नैन नहिं उघरत' में मूर्छा (प्रलय) स्पष्ट है। इस प्रकार अनुभाव-विधान चित्रण का सहज प्रसाधन बना है।

कुछ संचारी भावों को ही लेकर उनके द्वारा दशा का चित्रण भी सूर ने अनेक स्थलों पर किया है। जैसे—

आलस भरि सोभित सुभागिनी।
राजत सुभग नैन रतनारे, हरि संग जागत गई जामिनी।
बाँह उचाइ जोरि जमुहानी, ऐंड़ाई कमनीय कामिनी।

× × ×

विथुरी अलक, सिथिल कटि डोरी, नख छत छरित मराल गामिनी।[2]

नैन अलसाए हैं, बाँहें उठाकर जम्हाई लेती और ऐंड़ाती हैं, अलकें बिखरी हैं और वस्त्र तथा समस्त अंग शिथिल हैं। केवल एक ही संचारी भाव आलस्य का चित्रण है किन्तु चित्र सर्वथा पूर्ण है।

विरहिणी के करुण-चित्र में भी सूर अनुभाव-विधान का साहाय्य ग्रहण करते हैं कुछ ही पंक्तियों में विरहिणी की शारीरिक दुरवस्था और मानसिक व्यथा प्रत्यक्ष हो जाती है—

छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी, गिरी बल हीन।
कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनौं, ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि संभारि भट ज्यौं, परम साहस कीन।
सूर हरि के दरस कारन, रही आसा लीन॥[3]

चित्र निरलंकार है किन्तु है अत्यन्त सजीव। राधा अति कृष-काय है, किन्तु कभी उठी

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २७३९।
२. वही, २६६६।
३. वही, ४१०७।

ही नहीं, अतः उसे ज्ञान भी नहीं है कि उसकी किंकिणी कटि में ठहर नहीं सकती। संदेश कहने की हड़बड़ी में उसका उठना, पैरों में किंकिणी के उलझ जाने से गिर पड़ना, कंठ का रूँध जाना, एकाएक अश्रुधाराओं का निकल पड़ना, फिर भी परम साहस के साथ जैसे-तैसे उठना आदि करुणा को साकार करते हैं। स्तम्भ, कंप, स्वरभंग और आँसू सात्विक भावों के कारण चित्र अनुपम बना है और कवि के कौशल का परिचायक है।

प्रकरण ३

अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य

अप्रस्तुत योजना से अभिप्राय और उसका प्रयोजन—काव्य में अप्रस्तुत-योजना से अभिप्राय अप्रस्तुत वस्तुओं के उस उपयोग से है जिसे कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति को रमणीय और सबल बनाने के निमित्त अपनाता है। इसका प्रयोजन काव्य के शरीर (शब्द और अर्थ) को भूषित करना और काव्य के प्राण (रस) को पूर्ण उत्कर्ष देना है। अप्रस्तुत के प्रयोग से अभिव्यक्ति में मूर्तिमत्ता आ जाती है और पाठक या श्रोता की ग्राहक कल्पना को आधार मिल जाता है।

सूरदास की रचना-शैली का लक्ष्य उनकी सीमित रसानुभूति को अधिकाधिक रमणीय रूप में प्रस्तुत करना था। सूर के जीवन का क्षेत्र संकुचित था और उनका वर्ण्य-विषय सीमित था किन्तु इस लघु वृत्त को उन्होंने यथासम्भव सुन्दरतम प्रकाशन देना चाहा। यही कारण है कि प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के लिए उन्होंने अप्रस्तुत के कोटि रूपों को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया। प्रस्तुत प्रकरण में हमारा उद्देश्य सूर-काव्य में परम्परागत अप्रस्तुत-योजना का अनुसन्धान करना नहीं है बल्कि सूर की अप्रस्तुत-योजना की विभिन्न प्रणालियों का उद्‌घाटन करना और उनके द्वारा सम्पन्न सौंदर्य-विकृतियों का निरूपण करना है। कारण यह है कि परम्परागत अलंकार-विधान से परिचय होते हुए भी सूर की प्रकृति शास्त्रीय परिधि में बँधकर चलने की नहीं थी।

अप्रस्तुत-योजना का वर्गीकरण—जब हम सूर-रचित समग्र काव्य की अलंकृत पंक्तियों को देखते हैं तो हमें सूर की अप्रस्तुत-योजना के तीन वर्ग ही प्रधान रूप में मिलते हैं—

१—साम्यमूलक, २—अतिशयमूलक, और ३—विरोधमूलक।

साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना—साम्य तीन प्रकार का बताया गया है—रूप-साम्य (सादृश्य), धर्म-साम्य (साधर्म्य) और प्रभाव-साम्य। पर सूर ने ऐसे साम्य भी प्रस्तुत किये हैं जो उक्त तीन साम्यों में अन्तर्भूत नहीं होते। कहीं-कहीं कवि की कल्पना की अतिरंजना ऐसा साम्य उपस्थित करती है जो प्रस्तुत का ग्रहण कराने में सर्वथा असमर्थ हो जाती है, उसका अपना ही अलग चित्र हो जाता है। इस प्रकार के साम्य को हम काल्पनिक-साम्य कहेंगे। इसके अतिरिक्त सूर की विदग्ध उक्तियों में ऐसा भी साम्य मिलता है जो इन चारों प्रकारों से भिन्न है। ऐसा साम्य व्यंग्य अर्थ को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के साम्य को हम व्यंग्य-साम्य कहेंगे।

रूप-साम्य—रूप-चित्रण में सूर के अप्रस्तुत-विधान का लक्ष्य प्रधानतया वस्तु के चित्रण को रमणीय करना, भावों को उत्कर्ष देना और सहृदय की कल्पना को इस

प्रकार उद्दीप्त करना है कि वासना रूप में सुप्त उसके मनोभाव जागृत हो सकें और रस रूप में सहज आस्वाद्य हो सकें। जैसे—

आँगन खेलत घुटरुवन धाए।
नील-जलद-अभिराम स्याम तन, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए।
बंधूक-सुमन अरुन-पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए॥[1]

यहाँ प्रस्तुत है 'स्याम-तन' और 'अरुन-पद'। 'तन' और 'पद' 'स्याम' और 'अरुण' विशेषणों से युक्त होते हुए भी तथ्य-कथन मात्र ही कर सकते हैं, भावोत्तेजन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसीलिए सूर ने स्याम तन के साथ 'नील-जलद-अभिराम' और 'अरुण पद' के साथ 'बंधूक सुमन' विशेषण लगाकर कृष्ण शरीर की श्यामता और पदों की लालिमा को मूर्तिमान किया। इससे वस्तु चित्रण रमणीय हो गया है और मूल भाव का उत्कर्ष हुआ है। अप्रस्तुत 'नील जलद अभिराम' का स्वरूप इतना प्रभावशाली है कि उसे सुनते ही कृष्ण के श्याम-सौंदर्य का रूप पाठक पर अनायास ही छा जाता है। इसी प्रकार 'बंधूक सुमन' की लालिमा पद लाली को प्रत्यक्ष करती तथा पाठक को रस-मग्न कराती है।

सूर के सादृश्य-विधान का मुख्य कार्य सौंदर्य-बोध है। उनके उपमान वर्ण्य का चित्र खींचने में बहुत समर्थ हैं। जैसे—

असित अरुन सित आलस लोचन, उभय पलक पर आवैं।
जनु रविगत संकुचित कमल जुग, निसि अलि उड़न न पावैं॥[2]

यहाँ अलसाए नेत्रों में पलकों से बँधी पुतलियों की उपमा अर्ध मुकलित कमल में बँधे भौरे से दी गयी है। मुकलित कमल तथा मुँदे हुए नेत्रों में रूप-साम्य है। उसी प्रकार भ्रमर और पुतली में भी रूप-सादृश्य है। कमल-पुष्प और भ्रमर दोनों ही सौंदर्य के प्रतीक हैं। इनके द्वारा उपमेय के सौंदर्य की प्रतीति सहज ही हो जाती है।

इसी प्रकार—

कुलही लसति सिर स्याम सुंदर के बहुविधि सुरंग बनाई।
मानौ नव घन ऊपर राजति मघवा धनुष चढ़ाई॥
अति सुदेस मृदु हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई।
मानों प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई॥[3]

सुकुमार कृष्ण के श्याम रंग और नव-घन में तथा इन्द्र-धनुष और सतरंगी टोपी में साम्य है। मुख पर बिखरी घुँघराली काली अलकों की उपमा प्रफुल्ल कमल पर उड़ती हुई भ्रमरावली से समता रखती है।

कृष्ण की मुसकान के लिए सूर ने जो उपमाएँ प्रस्तुत की हैं वह न केवल सौंदर्य-बोध कराती हैं वरन् सौंदर्य-सृष्टि भी करती हैं—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४।
२. वही, ६५०।
३. वही, ७२६।

दूध दंत दुति कहि न जाइ कछु, अद्भुत उपमा पाई।
किलकत हँसत दुरति प्रगटति मनु, घन में बिज्जु छटाई ॥[1]

यहाँ कृष्ण के स्याम रंग की उपमा घन से तथा उनके दंतुलियों की उपमा बिज्जु से दी गयी है। जिस प्रकार बादलों के बीच बिजली के चमकने से बादलों की श्यामता तथा बिजली की स्वर्णाभा बार-बार प्रकट होती रहती है उसी प्रकार कृष्ण के किलकने और हँसने से उनके दूध के दाँत बार-बार प्रकट होते और छिपते रहते हैं। इस कार्य-कलाप में कृष्ण की मृदु मुसकान से उनका सम्पूर्ण मुखमंडल इस प्रकार दीप्त हो उठता है जिस प्रकार बिजली की आभा से समस्त नभ-मंडल। स्पष्ट है कि अप्रस्तुत योजना यहाँ अनुपम सादृश्य-विधान के कारण न केवल सौंदर्य बोध करती है बल्कि सौंदर्य-सृष्टि भी करती है।

उपमान-योजना की दृष्टि से शृंगार-लीलाओं का सौंदर्य-वर्णन बाल-वर्णन से कुछ भिन्न है। बाल-वर्णन में उपमाएँ प्रायः सादृश्य मात्र तक ही रह जाती हैं। उनमें कल्पना की दीप्ति और कला की कमनीयता उतनी नहीं मिलती जितनी शृंगार-वर्णन में। मधुरा-भक्ति का प्रभाव उपमाओं पर भी दिखाई पड़ता है। सूर गोपियों के माध्यम से कृष्ण की रूप-सुधा का पान करना चाहते हैं। इस कारण उपमान योजना में एक प्रकार की रसात्मकता आ जाती है। बाल-वर्णन में वदन पर लटकती अलकों की उपमा भ्रमरावली से दी हुई बतायी जा चुकी है। शृंगार-वर्णन में यही उपमा अधिक चमत्कृत हो गयी है। जैसे–

वदन-सुधा सरसीरुह लोचन, भृकुटी दोउ रखवारी।
मनौ मधुप मधु पानहिं आवत देखि डरत जिय भारी ॥[2]

यहाँ भी नैनों की उपमा कमल से और अलकों की मधुपों से दी गई है। किन्तु अब सादृश्य साधारण नहीं है। यहाँ कमलवत् नेत्रों में वदन की सुधा भरी है और धनुषाकार भृकुटियाँ इस सुधा की रक्षा कर रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों अलकों रूपी भौंरे मधु-पान के लोभ से आते हैं किन्तु धनुषाकार भृकुटियों को देखकर डर जाते हैं। घुँघ-राली बिखरी अलकों का रूप डरे हुए भौंरों से खूब मिलता है।

वदन प्रभामय चंचल लोचन, आनंद उर न समात।
मानहुँ भौंह जुवा रथ जोते, ससि नचवत मृग जात ॥[3]

मृग चन्द्रमा के रथ का वाहन कहा गया है, चंचलता मृग का स्वभाव है। भृकुटियों और रथ के जुवे के आकार में सादृश्य है। प्रसिद्ध उपमानों के सहारे नई उपमा प्रस्तुत की गयी है जिसमें रूप-साम्य के साथ ही उक्ति का चमत्कार है।

राधा के सौन्दर्य-वर्णन में उपमाएँ सौन्दर्य-बोध मात्र नहीं करतीं, वर्णन में एक सजीवता लाती हैं और सौरस्य में योग देती हैं। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७२६।
२. वही, २४२७।
३. वही, १८०५

प्रथमहिं सुभग स्याम वेनी की सोभा कहौं विचारि ।
मनौ रह्यौ पन्नग पीवन कौ ससि मुख सुधा निहारि ॥[1]

यहाँ सादृश्य सहेतुक है। वेणी रूपी पन्नग के झुकने का प्रयोजन मुख-शशि की रूप-सुधा का पान करना है। वेणी और पन्नग में रूप साम्य है किन्तु हेतु की कल्पना राधा के रूप के सुधा-तत्त्व को भी प्रमाणित कर रही है। इसी प्रकार सूरदास जी ने बाल-वर्णन में भृकुटी की परम्परागत उपमा धनुष से सामान्य सादृश्य के लिए दी है किंतु राधा के सौंदर्य-वर्णन में इसी उपमा में एक नवीनता मिलती है—

भृकुटी विकट निकट नैननि कै, राजति अति वर नारि ।
मनौ मदन जग जीति जेर करि, राख्यौ धनुष उतारि ॥[2]

यहाँ सूर ने भृकुटी और धनुष के सादृश्य को व्यक्त किया है पर कल्पना के सन्निवेश से इसे बहुत चमत्कृत कर दिया है। उपमान धनुष, सामान्य धनुष न होकर कामदेव का वह धनुष है जिसने एक बार संपूर्ण विश्व पर विजय कर और उसे सर्वथा श्रीहत करके शान्ति ले ली है। भृकुटियों की शिथिलता सहेतुक है। एक हेतु तो यह कि इनमें भोलेपन का सौंदर्य है और दूसरे यह कि कृष्ण के सम्मुख न होने से लक्ष्य-सन्धान की स्थिति नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा सूर की उपमान-योजना में सौंदर्य-बोधकता का परिचय प्रस्तुत किया गया है पर उनमें केवल सौंदर्य-बोधकता ही नहीं, तीव्र भावोत्पादन की क्षमता भी है। जैसे —

सुन्दर भाल तिलक गोरोचन, मिलि मसि-बिंदुका लाग्योरी ।
मनु मकरंद अंचै रुचि के, अलि सावक-सोइ न जाग्योरी ॥[3]

यहाँ रूप-सादृश्य स्पष्ट है। 'मसि-बिन्दु' और 'अलि-शावक' के रूप सादृश्य हैं। मसि-बिन्दु के साथ केसर का तिलक है जो भौंरे के पीत रंग से समता रखता है। इस प्रकार साम्य पूर्ण रूप से है। किन्तु यहाँ कवि की प्रधान दृष्टि रूप-सादृश्य पर नहीं है, वह तो अलिशावक की रसोन्मत्तता पर है। पद का संदर्भ है कि सखी कृष्ण के रूप को देखकर अपने को भूल गयी है। इस प्रकार सखि के नयन-अलि कृष्ण के रूप-मकरन्द को पीकर सो गये हैं। भक्त हृदय सूर में भी कृष्ण-स्वरूप-दर्शन से तद्गत-भाव की अनुभूति हो रही है। पाठक में भी यह उपमा सदृश भाव जागृत करती है। इस प्रकार यहाँ सादृश्य गौण और भाव-तीव्रता प्रधान है।

सूर की साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना का एक रूप वह भी है जिसमें कवि का कवित्व अधिक प्रधान बन जाता है और अलंकारिता ही साध्य बन जाती है। सूर की उपमान योजना के इसी रूप को आगे चलकर रीतिकालीन कवियों — बिहारी, देव और मतिराम आदि ने विशेष रूप से अपनाया। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११४।
२. वही, २११४।
३. वही, १३७।

श्रीपति केलि-सरोवरी, सैसव-जल भरपूर।
प्रगटी कुच उच्चस्थली, सोख्यो जोवन-सूर ॥[१]

यहाँ साम्य की दृष्टि से अप्रस्तुत-योजना उपयुक्त है। यौवन सूर्य के उदय होने पर सरोवर के शैशव-जल का सूखना और उसमें उरोज उच्चस्थली का निकलना साम्य की दृष्टि से युक्तियुक्त है पर सूर की अप्रस्तुत-योजना की भाव-प्रवणता को इसमें अवसर नहीं है ऐसे स्थल सूर-साहित्य में अधिक नहीं हैं।

धर्म-साम्य—अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य अनुभूति को संवेदनीय बनाना है। जब कवि रूप-साम्य के द्वारा अपने अभीष्ट पर नहीं पहुँच पाता तब वह धर्म-साम्य का अवलम्ब लेता है। उदाहरण के लिए खिलता हुआ कमल आँख के स्वरूप से अधिक नहीं मिलता। उसका गोलाकार रूप उसकी लम्बी अनेक पंखुड़ियाँ, उसका रंग और उसके बीच के उठे हुए रेशे आँखों से नहीं मिलते। फिर भी कमल से नेत्रों की उपमा दी जाती रही है क्योंकि कमल की सरसता, सुकुमारता तथा कमनीयता नेत्रों के इन गुणों से साम्य रखती है। इसी प्रकार चकोर और नेत्रों में कोई रूप-सादृश्य नहीं है फिर भी चन्द्र को निर्निमेष देखने के धर्म-साम्य के कारण वह नेत्रों का उपमान बना हुआ है। सूरदास जी को अपने आराध्य की लीलाओं के भावित सूक्ष्म चित्र का मूर्त रूप देना था, केवल सादृश्य-विधान का सौन्दर्य दिखाना नहीं था। इसीलिए उन्होंने अप्रस्तुत-योजना में धर्म-साम्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कभी-कभी सूर स्वयं उपमान-योजना में धर्म-साम्य बताते हैं। जैसे

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पट तर इक सैन॥
राजिव-दल इंदीवर सत दल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसत, ये विकसत दिन राति॥[२]

यहाँ सूर ने स्वयं बताया है कि उन्होंने नेत्रों की उपमा खंजन, मीन और मृग से उनकी चपलता के लिये तथा कमल आदि से उनके विकसित होने के लिए दी है। इसी प्रकार सूर ने पखेरू[3], मृग[४], कुरंग[५], बटपारी[६], सुभट[७] और चोर[८] आदि कितने ही प्राचीन और नवीन उपमान नेत्रों के लिये प्रस्तुत किये हैं। इन सबमें कवि की दृष्टि रूप-साम्य की ओर नहीं है। प्रत्येक में दृष्टि धर्म-साम्य की ओर ही है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६१३।
२. वही, १८१३।
३. वही, २२७२ —**लोचन भये पखेरू माई।**
४. वही, २२७७ —**लोचन मेरे भृंग भये री।**
५. वही, २७८० —**मेरे नयन कुरंग भये।**
६. वही, २२९० —**नयना हैं री ए बटपारी।**
७. वही, २२८८ —**सुभट भये डोलत ए नैन।**
८. वही, २३०० —**नयना ओछे चोर अरीरी।**

हरि दरसन की साध मुई।
उड़िये उड़ी फिरति नैननि संग, फर फूटे ज्यौं आक रुई ॥
× × ×
सूखति सूर धान-अंकुर सी, बिनु वर्षा ज्यौं मूल तुई ॥[1]

दर्शन की साध की उपमा आक की रुई तथा धान के अंकुर से दी गई है। इनमें सादृश्य तो कोई है नहीं, साधर्म्य अवश्य है। दर्शन की लालसा आक की रुई के समान क्रम-क्रम से विलीन हो गयी। धान-अंकुर जैसे वर्षा के अभाव में सूख जाता है वैसे ही दर्शनेच्छा भी कृष्ण-दर्शन के अभाव में नष्टप्राय है। इन ग्रामीण उपमाओं में धर्म-साम्य मात्र ही उपमा का आधार है जो भावोत्तेजन में पूर्ण समर्थ है।

नैन भए वोहित के काग।
उड़ि उड़ि जात पार नहिं पावत, फिरि आवत तिहिं लाग ॥[2]

यहाँ नेत्रों और जहाज के काग में रूप-साम्य का कोई प्रश्न ही नहीं केवल धर्म-साम्य ही अभिप्रेत है। नेत्र और काग दोनों ही विवश तथा एकनिष्ठ हैं। कृष्ण रूप को छोड़कर अन्यत्र दृष्टि न उठाने में तथा जहाज को छोड़कर और कहीं न जाने में धर्म-साम्य है।

प्रभाव-साम्य—प्रभाव-साम्य धर्म-साम्य का अगला चरण है। इसमें सादृश्य तो होता नहीं, साधर्म्य भी स्पष्ट नहीं होता। लक्षणा के आधार पर टिका हुआ साधर्म्य अन्तिम प्रभाव की ओर लक्ष्य रखता है। इससे अनुभूति अधिक स्पष्ट हो जाती है। सूर अपनी भावना की उमंग में प्रस्तुत और अप्रस्तुत के रूप या धर्म की असमानता और असंगतता की ओर से उदासीन हो जाते थे पर जो प्रभाव उनका उनके हृदय पर होता था उसकी समर्थ व्यंजना अवश्य करते थे। जैसे—

सूरदास बिछुरत नहिं दरक्यौ वज्र समान हियौ।[3]

हृदय की उपमा वज्र से देना प्रभाव-साम्य ही है। वैसे हृदय और वज्र में कोई धर्म-साम्य भी नहीं है क्योंकि वास्तव में हृदय वज्र की तरह कठोर नहीं होता पर हृदय फटा नहीं इसलिए प्रभाव की दृष्टि से उसकी कठोरता वज्र के समान बताई गई है।

दूसरा उदाहरण—

पिया बिन नागिन कारी रात।
जो कहुँ जामिनि उवत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात ॥[4]

यहाँ काली रात और नागिन का रूप-साम्य आंशिक ही है। दोनों का एक धर्म भी नहीं है पर इन पंक्तियों में रसावेग के आधिक्य का मूल कारण है गोपियों के विरह-कातर हृदय की वह पीड़ा जो रात्रि को देखकर उन्हें होती है। इस प्रकार रात्रि

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८५५।
२. वही, २३१२।
३. वही, ३५६५।
४. वही, ३२७२।

को देखकर जो प्रभाव गोपियों पर पड़ रहा है उसका साम्य नागिन-दंश के प्रभाव से सर्वथा मिल जाता है और यही इस उपमा का आधार है।

अपह्नुति के रूप में प्रस्तुत की हुई निम्न अप्रस्तुत-योजनाएँ प्रभाव-साम्य ही प्रस्तुत करती हैं—

(ईहि वन) मोर नहीं ये काम बान ।।
चातक न होइ कोइ बिरहिनि नारि ।[२]

मोर और काम-बाण अथवा चातक और विरहिणी में सादृश्य या साधर्म्य नहीं हैं किन्तु मोर की वाणी का जो प्रभाव गोपियों के मन पर पड़ता है उसे वे काम-बाण का शूल अनुभव करती हैं। इसी प्रकार विरह-वेदना से पीड़ित गोपी की निरन्तर पुकार पपीहे की 'पी कहाँ' की रट के प्रभाव से मिल जाती है और सहृदय के मन पर पिहकती हुई गोपी और रटते हुए चातक के प्रभाव एक से ही पड़ते हैं।

संयोग-वर्णन में गोपियाँ कृष्ण के रूप को देखती हैं। सूरदास जी कृष्ण के रूप की समता सागर से करते हैं और सांग रूपक प्रस्तुत करते हैं—

देखो माई सुन्दरता को सागर।

× × ×

तदपि सूर तरि सकी न शोभा रही प्रेम पचि हारि ।।[3]

सागर और कृष्ण रूप की क्या समता ? दोनों में न सादृश्य है और न साधर्म्य। सूर ने जल, तरंग, भँवर, मीन, मकर आदि के लिये उपमान खोजकर केवल गणना पूरी की है। इस प्रकार की जोड़-गाँठ औपम्य का वास्तविक आधार नहीं है। वास्तविक आधार तो वह प्रभाव है जो गोपी के हृदय पर पड़ता है। सागर अपार है, उसी प्रकार कृष्ण की छवि भी अपार है। उसे देख-देखकर वह हार जाती है। उसकी बुद्धि, उसका विवेक, सभी समाप्त हो जाते हैं, उसी में डूब जाते हैं। यदि यह प्रभाव-साम्य न होता तो रूपक वाणी का विलास मात्र बनकर रह जाता।

प्रभाव-साम्य में अन्तस्तल पर पड़ा हुआ प्रभाव ही प्रमुख होता है अतः ऐसे पद का प्रभाव स्वतः पाठक को अभिभूत कर लेता है। जैसे—

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी
जैसे बधिक चुगाइ कपट कन पाछें करत बुरी ।।
मुरली मधुर चैंप कांपोकरि मोर चंद फंदवारी।
बंक विलोकनि लगी लोभ बस, सकी न पंख पसारि ।।
तरफत छाँड़ि गये मधुवन को, बहुरि न कीन्ही सार।
सूरदास प्रभु संग कल्पतरु, बहुरि न बैठी डार ।।[४]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३२६।
२. वही, ३३३५।
३. वही, ६२८।
४. वही, ३१८५।

यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के बीच साम्य का आधार दैन्य और विवशता है। एक ओर कृष्ण के विरह की मारी गोपियाँ हैं—सर्वथा विवश, दीन और दुखी। दूसरी ओर वे पक्षी हैं जिन्हें बधिक ने पहले कपट-कन चुगाया फिर उनके गले पर ही छुरी फेर दी। 'तरफत छाँड़ि गये मधुबन कौ' में उस प्रभाव को स्पष्ट किया गया है जो कवि के साम्य का आधार है।

काल्पनिक साम्य—सूर की अधिकांश विलक्षण कल्पनाओं में काल्पनिक साम्य ही कार्य करता है। उनके हृदय पर प्रभु की विलक्षणता का प्रभाव पड़ता था। इसी से उनकी कल्पनाएँ विचारों का सन्तुलन छोड़ देती थीं। कृष्ण के अलौकिक सौंदर्य का जो चमत्कारी प्रभाव उनके अन्तर-पट पर था उसी को अंकित कर देना उनका मन्तव्य था। ऐसा करने में संभाव्य और असंभाव्य की सीमा अनायास ही टूट जाती थी।

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव जनु तड़ित छपाए॥[1]

बादलों के घिरे होने पर तारागणों का दिखाई पड़ना और बिजली का स्थायी रूप से बना रहना सम्भव नहीं है किन्तु मुक्ता-हार आदि से सुशोभित नील-कलेवर पर पीत पट डालने पर जो शोभा कवि के मन पर है उसी के अनुसार अप्रस्तुत के रूप में भी परिवर्तन हो गया। इतना होते हुए भी यह विलक्षण उपमा पाठक के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव प्रस्तुत करने में समर्थ हो जाती है जैसा कि कवि के हृदय पर है। सूरदास जी कृष्ण के रूप में अमृत देखते थे। इस भावना के फलस्वरूप वे वदन के साम्य के लिए कभी सुधाधर की और कभी सुधा-सर की कल्पना करते थे—

सुधा-सर जनु मकर क्रीड़त इंदु डह डह डोल।[2]
मलयज भाल भृकुटि रेखा की कवि उपमा इक पाई।
मानहुँ अर्धचन्द्र तट अहिनी सुधा चुरावन आई॥[3]

कृष्ण के कपोलों पर चंचल कुण्डलों की झलक पड़ रही है। कुण्डल मकर की आकृति के बने हैं। मकर सरोवर में चलता है किन्तु कवि के हृदय पर कृष्ण के रूपामृत का जो प्रभाव है उसने उसकी कल्पना को अतिरंजित किया और उसने सुधा-सर में मकर के क्रीड़न की उपमा प्रस्तुत कर दी। इसी प्रकार सर्पिणी का सुधा चुराने के लिए जाना कोरी कल्पना है किन्तु सूर कृष्ण के रूप में दूध की कल्पना नहीं कर सकते। दूध और सुधा दोनों में रंग-सादृश्य है, इसीलिए सूर की अहिनी भी सुधा-पान के लिए दौड़ पड़ती है। सुधा, सुधाधर में होती है, इसीलिए भाल के चन्दन में अर्धचन्द्र की कल्पना की गयी। तात्पर्य यह कि इन उपमाओं में काल्पनिक साम्य ही है।

कृष्ण का ईश्वरत्व भक्त सूरदास के हृदय पर छाया रहता है इसीलिए वे बाल कृष्ण के मुँह में रोटी देखकर वाराहावतार की कल्पना कर डालते हैं—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४।
२. वही, ६२७।
३. वही, १८१४।

मेली सजि मुख अम्बुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु वराह भूधर सह पुहुमी, धरी दसन की कोटी ॥[1]

साधारण दृष्टि से शिशु कृष्ण के दाँतों पर रखी रोटी की समता वाराह भगवान के दाँत पर रखी पृथ्वी से करना कल्पना की अतिरंजना है किन्तु सूर के हृदय पर पड़े हुए प्रभाव को देखते हुए इसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं दिखायी देती।

सूर-द्वारा प्रस्तुत अनेक उपमाएँ कल्पना की अतिरंजना उपस्थित करती हैं। जो अप्रस्तुत-योजनाएँ इस प्रकार की हैं उनमें बिम्ब-ग्रहण कराने की सामर्थ्य नहीं है। कवि विलक्षण से विलक्षण वस्तुओं का अनमेल-मेल मिलाता चला जाता है—

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत लै सुभग कलेवर, ऐसे हैं बनमाली ॥
मनौं प्रात की घटा साँवरी, तापर अरुन प्रकास।
ज्यौं दामिनि बिच चमकि रहत है, फहरत पीत सुवास ॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि, जुग फल बिम्ब सुपाके।
नासा कीर आइ मनु बैठो, लेत बनत नहिं ताके ॥

× × ×

किधौं अरुन अंबुज बिच, बैठी सुन्दरताई जाई।
सूर अरुन अधरन की सोभा, बरनत बरनि न जाई ॥[2]

इस पद के समस्त उपमान काल्पनिक हैं। प्रातः की घटा है, उस पर सूर्य का अरुण प्रकाश है और उसी के बीच-बीच में बिजली चमक रही है। एक तो सूर्य के अरुण प्रकाश के ऊपर बिजली की चमक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता दूसरे वर्ण्य अधरों की लाली के बिम्ब-ग्रहण में इस अप्रस्तुत-योजना का विशेष हाथ नहीं है। इस प्रकार तमाल की बेलि में दो पके हुए बिम्बा फलों का लाना अस्वाभाविक कल्पना है। कनक-बेलि से तरुणी के तन की उपमा दी जाती है जिसमें मन्तव्य उसके तन की कृपता होती है। कृष्ण-शरीर के लिए बेलि का प्रयोग लिंग-वैचित्र्य है। दो बिम्बा फलों के रूप और अधरों के रूप में भी कोई साम्य नहीं है पर कवि ने केवल रंग पर दृष्टि रखते हुए इस प्रकार का कल्पनामूलक साम्य प्रस्तुत कर दिया है। अन्तिम पंक्ति में भी अरुण कमल के बीच सुन्दरता देवी का निवास एक कल्पित चित्र ही है।

बाल-वर्णन में कृष्ण-रूप पर शिव का आरोप कल्पनामूलक है---

सखीरी नंद नंदन देखु।
धूरि-धूसर जटा जुटली, हरि कियो हर-भेष ॥

× × ×

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६४।
२. वही, १७३२।

देखि अंग अनंग झझक्यौ, नंद-सुत हर जान।
सूर के हिरदै बसौ नित, स्याम सिव को ध्यान ॥[१]

इसी प्रकार भ्रान्तापह्नुति के द्वारा सुंदरी में शिव का आरोप कल्पना-जन्य है–

सिव न ! अवध सुन्दरी, वधं जनि।
मुक्ता-माल, अनंग, गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्याम घन ॥[२]

बाल-वर्णन के अनेक पदों में सूरदासजी ने बालों के भीतर रंग-बिरंगी लटकनों के लिये गुरु, शनि, शुक्र, मंगल आदि ग्रहों से उपमाएँ दी हैं जो केवल काल्पनिक साम्य प्रस्तुत करती हैं।

भाल विसाल ललित लटकनि मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाए।
मानौ गुरु सनि कुज आगें करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए ॥[3]

इस उपमा में सादृश्य, साधर्म्य या प्रभाव-साम्य की प्रतीति नहीं होती, केवल कल्पना की अतिरंजना मिलती है।

बिखरे हुए बालों के लिए एक और विलक्षण उपमा सूर ने प्रस्तुत की है—

ललित लट छिटकाति मुख पर, देति सोभा दूनु।
मनु मयंकहिं अंक लीन्हौं, सिंहका को सूनु ॥[४]

सिंह-शावक का चन्द्रमा को गोद लेना एक विलक्षण कल्पना है। इससे वर्ण्य का किसी प्रकार का सौंदर्य-वर्धन नहीं होता, भाव की दृष्टि से एक असुन्दर और भयानक चित्र अवश्य प्रस्तुत हो जाता है।

ऊखल-बन्धन प्रकरण में कृष्ण-रुदन भी सूर को बड़ा आनन्द देता है। वहाँ भी उनकी कल्पना अपना चमत्कार प्रस्तुत करती है। आँसू के लिए उन्होंने कहा है—

देखत आँसू गिरत नैन तें, यौं सोभित ढरि जात।
मुक्ता मनों चुगत खग खंजन, चौंच पुटी न सुहात ॥[५]

खंजन सम्पूर्ण आँख का उपमान अवश्य है पर खंजन पक्षी का मुक्ता खाना कहीं नहीं सुना गया। कुछ भी हो सूर की कल्पना के लिए सब कुछ सम्भव है।

स्वरूप वर्णन में ऐसी उपमाएँ बहुत हैं। कुछ उदाहरण—

१—प्रथमहिं सुभग स्याम वेनी की, सोभा कहौं विचारि।
मनौं रह्यौ पन्नग पीवन को, ससि मुख सुधा निहारि ॥[६]

यहाँ नाग का चन्द्रमा से सुधा पीना विलक्षण कल्पना है।

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७०।
२. वही, २११७।
३. वही, १०४।
४. वही, १८४।
५. वही, ३६६।
६. वही, २११४।

२—सुरंग गुलाल माल कुच मंडल, निरखत तन मन वारि।
मनु दिसि-दिसि निर्धूम अग्नि के, बैठे तप त्रिपुरारि ॥[१]

यहाँ कुचों के सादृश्य के लिए निर्धूम अग्नि के बीच शिव के तप-करण की कल्पना असाधारण-सी है।

३—कनक मनिमय जटित कुण्डल, जोति जगमग करनि।
मित्र मोचन मनहुँ आए, तरल गति द्वै तरनि ॥[२]

यहाँ कुंडल के सादृश्य के लिए दो सूर्यों की कल्पना भी अव्यावहारिक-सी है।

४—निकसि सर तैं मीन मानौ, लरत कीर छुराइ।[3]

यहाँ तालाब से निकलकर दो मछलियों (नेत्रों) के लड़ने और तोते (नासिका) का बीच में आकर उन्हें छुड़ाने की कल्पना एक तमाशा ही है।

५—हरि कर राजति माखन रोटी।
मनु वारिज ससि बैर जानि जिय, गह्यौ सुधा ससि-धोटी ॥[४]

कमल का शशि से बैर तो शाश्वत है पर यह कल्पना कि उसी बैर से वारिज (हाथ) ने शशि (मुख) की बेटी सुधा (रोटी) को पकड़ लिया है, बड़ी क्लिष्ट हो गयी है।

इन उपमानों से न तो भावोत्कर्ष में और न अर्थ-सौरस्य में ही किसी प्रकार का योग मिलता है। प्रतीत होता है कि यह अलंकार-क्रीड़ा भी सूर की उसी प्रवृत्ति की द्योतक है जो दृष्टकूटों आदि की शब्द-क्रीड़ा में प्राप्त होती है।

व्यंग्य-साम्य—व्यंग्य-साम्य का प्रयोजन सादृश्य या साधर्म्य उपस्थित करना नहीं है, उसका प्रयोजन अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत अनुभूति की व्यंजना करना है। व्यंग्य-साम्य में बाहरी वस्तुओं की समता नहीं होती, होती भी है तो विशृंखल। अलंकारिक दृष्टि से उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक की अपेक्षा दृष्टान्त, उदाहरण, अर्थान्तरन्यास और निदर्शना जैसे अलंकारों की स्थिति होती है। यही कारण है कि यहाँ अलंकारों का शास्त्रीय रूप विकृत मिलता है किन्तु अनुभूति की दृष्टि से साम्य बड़ा ही तीखा और मर्मस्पर्शी होता है। जैसे—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई विरह जुर-जारी ॥[५]

इस पद में यमुना का वर्णन ज्वर में पड़ी हुई नारी के रूप में किया गया है। सांगरूपक द्वारा ज्वर के विभिन्न अवयव—तड़पन, उपचार, स्वेद, मलिन वस्त्र, बिखरे बाल, भ्रम और सन्निपात आदि उपमान रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु इस रूपक में वास्तव में कालिन्दी उपमेय नहीं है, उपमेय गोपियाँ हैं जो विरह के ज्वर से पीड़ित

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११४।
२. वही, ३५१।
३. वही, ३५२।
४. वही, १६४।
५. वही, ३१६१।

हैं। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत-योजना का आधार केवल व्यंग्य भाव है जिसके द्वारा सू: ने गोपियों की विरह-दशा प्रत्यक्ष की है।

दूसरा उदाहरण—

मति कोउ प्रीति के फंग परै।
सादर स्वाति देखि मन मानै, पंखी प्रान हरै।
देखि पतंग कहा क्रम कीन्यौ, जीव कौ त्याग करै।।
अपने मरिबे तें न डरत है, पावक पैठि जरै।
सारंग सुनत नाद रस मोह्यो, मरिबे ते न डरै।।
जैसे चकोर चन्द को चाहत, जल बिन मीन मरै।
सूरदास प्रभु सों ऐसे करि, मिलै तौ काज सरै।।[1]

इस पद की अप्रस्तुत-योजना में चातक, पतंग, हिरन, चकोर और मीन के प्रेम का कथः किया गया है। व्यंग्य अन्योक्ति गर्भित है। प्रत्येक वाक्य समान है। सबका धर्म मरन समानार्थक शब्दों में कहा गया है। इस प्रकार धर्म-साम्य होते हुए भी अप्रस्तुत-योजन का मूल आधार साधर्म्य नहीं है क्योंकि पद में उपमेय वाक्य है ही नहीं केवल उपमा: वाक्य ही हैं। उपमेय तो गोपियाँ हैं जो कृष्ण के विरह में मरने की आकांक्षा लिए है पद की टेक में गोपियों की उस प्रीति की व्यंजना है जो चातक, सारंग, दीप और मीः आदि के प्रेम में है।

अपनी दशा के चित्रण के लिए गोपियों ने विरह-वेदना में जलने वाले अनेव उपमान प्रस्तुत किये हैं। उन उपमानों से उन्होंने अपना साम्य व्यंग्य द्वारा दिखाया है उपमेय रूप में अपने को कहीं प्रकट नहीं किया है। जैसे—

प्रीति तो मरिबोऊ न विचारै।
निरखि पतंग ज्योति-पावक ज्यौं, जरत न आपु सँभारै।।
प्रीति कुरंग नाद मन-मोहित, बधिक निकट ह्वै मारै।
प्रीति परेवा उड़त गगन तें, गिरत न आपु सँभारै।।
सावन मास पपीहा बोलत, पिय-पिय करि जु पुकारै।
सूरदास प्रभु दरसन कारन, ऐसी भाँति विचारै।।[2]

यहाँ यह कहा गया है कि प्रीति मृत्यु का भी भय नहीं मानती अर्थात् पतं: प्रीति के कारण दीपक की ज्योति में जल जाता है, कुरंग नाद-प्रेम के कारण वधि: द्वारा मारा जाता है और परेवा प्रीति के कारण आकाश से गिरने में अपने को सँभा लता नहीं। इस कथन में पतंग, कुरंग और परेवा उपमान हैं। इनके उपमेय निश्च: ही गोपियाँ हैं जिनको पद में कहीं प्रकट नहीं किया गया है, व्यंग द्वारा उनकी प्रतीि कराई गई है।

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२८७।
२. वही, ३२९०।

इसी प्रकार निम्नलिखित पद में हृदय-स्थित विरह के प्रकाशन के लिये नैनों की विपत्तियों का वर्णन किया गया है और उसी के अर्थ अप्रस्तुतों की योजना की गई है—

ऊधौ क्यौं राखें ये नैन ।
सुमिरि-सुमिरि गुन अधिक तपत हैं, सुनत तुम्हारे बैन ।।
ये जु मनोहर बदन इंदु के, सादर कुमुद चकोर ।
परम तृषारत सजल स्याम घन, तन के चातक मोर ।।
मधुप मराल जु पद पंकज के, गति विलास जलमीन ।
चक्रवाक दुति मनि दिनकर के, मृग मुरली आधीन ।।[1]

यहाँ परम्परित रूपक द्वारा नैनों में कुमुद, चकोर, चातक, मोर, मधुप, मीन, चक्रवाक और मृग का आरोप किया है । इन उपमानों में न तो रूप-साम्य है, न धर्म-साम्य और न प्रभाव-साम्य । साम्य तो केवल उस विरह-वेदना का है जो सब में अपने प्रियतम के प्रति है जिसे व्यंग द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

और भी अनेक उपमाएँ ऐसी हैं जो केवल व्यंगोक्ति को दृष्टि में रखकर दी गई हैं । अलंकारशास्त्र में यद्यपि व्यंग्य को उपमान-योजना का मूल नहीं कहा गया है पर बोलचाल में इसका उपयोग प्रायः मिलता है । जिसके प्रति हेय भावना होती है, उसे 'कुत्ता' और जिसके प्रति उच्च भावना होती है उसे 'देवता' कहा जाता है । सूरदास जी ने उद्धव-गोपी-संवाद में गोपियों के मुख से अनेक उपमान ऐसे दिलाये हैं जिनमें यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । जैसे—

ज्यों कोइल-सुत काग जियावै, भाव भगति भोजन जु खवाइ ।
कुहुकि-कुहुकि आये बसन्त ऋतु, अन्त मिलैं अपने कुल जाइ ।।
ज्यों मधुकर अंबुज रस चाख्यौ, बहुरि न बूझै बातें आइ ।
सूर जहाँ तक स्याम गात हैं, तिन सों कीजै कहा सगाइ ।।[2]

कौआ कोयल के बच्चे को पालता है पर बड़े होने पर वह उसे छोड़कर अपनी जाति में मिल जाती है । कृष्ण बचपन में गोकुल में पले फिर मथुरा में जाकर यादव हो गये । इस प्रकार इस उपमा में व्यंग्य ही साम्य का आधार है । इसी प्रकार भौंरे का कमल के रस को चख लेने के बाद फिर बात न पूछना उनके इस भाव का द्योतक है कि किस प्रकार कृष्ण गोपियों को लूटकर चले गये । 'रस' और 'बूझै बात' शब्द लाक्षणिक हैं और इनका उद्देश्य कटूक्ति को तीव्र करना है ।

उद्धव के प्रति अपनी खीझ भी वे अप्रस्तुत-योजना के व्यंग द्वारा उपस्थित करती हैं—

दादुर बसै निकट कमलनि के, जनम न रस पहिचानै ।
अलि अनुराग उड़त मन बाँध्यौ, घैर सुनत नहि कानै ।।[3]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५६६ ।
२. वही, ३५६१ ।
३. वही, ३६६० ।

उद्धव जैसे महात्मा, विद्वान् और कृष्ण-सखा के लिए दादुर की उपमा गोपियों के रोष की द्योतक है। क्रोध के कारण विपक्षी के प्रति जो हीन-भावना मन में बन जाती है, उसी का उदाहरण यह उक्ति है।

कुब्जा के प्रति कही हुई उपमाओं में भी यही भाव प्रधान है—

नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपि ज्यौं नाच नचावै।[1]
उनको सदा सुभाव सलिल कौ, खोरनि खार भरचो।[2]
जोरी भली बनी है उनकी, राजहंस अरु काग।
सूरदास प्रभु ऊख छांड़ि कै, चतुर चिचोरत आग॥[3]

स्पष्ट है कुब्जा के लिए 'नटिनी', 'खोरनि', 'खार', 'काग' और 'आग' (आक) उपमानों के पीछे गोपियों की व्यंग्यवाणी ही है। जो डाह उनके हृदय में कुब्जा के प्रति थी, उसी की प्रतिक्रिया इन उपमानों में दिखाई पड़ रही है।

निष्कर्ष यह है कि सूर की साम्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना परम्परित अलंकार-विधान से कुछ भिन्न है। सूर को संस्कृत-काव्य-परम्परा का परिज्ञान तो था किन्तु काव्य-रचना में अलंकार-विधान की ओर उनकी विशेष दृष्टि न थी इसीलिए प्रायः उनके साम्य में नवीनताएँ दृष्टिगत होती हैं। काव्यशास्त्र के अलंकारों का अनुसंधान यदि किया जाय तो निर्दिष्ट अलंकारों में अनेक विकृतियाँ मिलेंगी और अनेक अलंकार ऐसे भी मिलेंगे जो सर्वथा नवीन होंगे। इस प्रकार का कार्य अनुसन्धान का भिन्न विषय हो सकता है। सूर की दृष्टि केवल अलंकारिक नहीं थी, उन्होंने अलंकारों का साहाय्य वहीं तक लिया है जहाँ तक वे भाव-संवर्धन में योग दे सकते हैं, इसीलिए उनकी अलंकृत पंक्तियों की प्रमुख प्रणालियों का दिग्दर्शन कराया गया है।

अतिशय-मूलक अप्रस्तुत-योजना

अतिशय-मूलक अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य—कवि-कर्म के दो पक्ष हैं—अनुभूति और अभिव्यक्ति। अनुभूति में कवि की भावना उद्दीप्त होती है। भावना के आवेग के साथ वाणी भी स्वतः संवर्धित होती है और परिणाम यह होता है कि अभिव्यक्ति स्वभावतया साधारण को छोड़कर असाधारण की ओर अर्थात् स्वभावोक्ति को छोड़कर अतिशयोक्ति की ओर उन्मुख हो जाती है। कवि के साधन केवल शब्द और उसके अर्थ हैं। यदि केवल सत्य के अवलम्बन द्वारा जो वस्तु जैसी है वैसी ही बिना कुछ बढ़ाए-घटाए प्रस्तुत कर दी जाय तो वह संवेद्य बनने के लिए अपर्याप्त होगी। काव्य का लक्ष्य भावों को उद्दीप्त करना है। यह तभी सम्भव है जब बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाय। कवि की सूक्ष्म अनुभूति का वैसा ही ग्रहण श्रोता और पाठक तभी कर सकता है जब उस सूक्ष्म अनुभूति को अतिशय के द्वारा स्थूल किया

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६३९।
२. वही, ३६४६।
३. वही, ३६५२।

जाय। सहृदय की भावोत्तेजना के लिए जिस उत्कर्ष और चित्त के विस्तार की अपेक्षा है उसके लिये अतिशय का आलम्बन आवश्यक है। इसीलिए अतिशय सभी अलंकारों में सामान्य रूप से और अतिशयमूलक अलंकारों में विशेष रूप से प्राप्त होता है। साम्यमूलक अलंकारों में भी उपमेय की अपेक्षा उपमान सदा बढ़ा-चढ़ा ही होता है। उत्प्रेक्षा में कल्पना की करामात अधिक होती है इसीलिए, सम्भवतः, आचार्य रुद्रट ने उत्प्रेक्षा को भी अतिशयमूलक[1] वर्ग में रखा था, यद्यपि उसमें साम्य की ही प्रधानता होती है।

शास्त्रीय दृष्टि से अतिशयमूलक अलंकार वे ही माने जाते हैं जिसमें कल्पना की अपरिमित उड़ान केवल आश्चर्य और चमत्कार-सृजन के लिए होती है। इस प्रकार के अलंकार हैं—अतिशयोक्ति, अत्युक्ति, उदात्त और विशेष। अलंकारशास्त्रियों ने ऊहा को अलग अलंकार नहीं माना है। ऊहा का अन्तर्भाव उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत नहीं हो पाता। ऊहा के अतिशय में कल्पना की विकृति होती है। सूर की अप्रस्तुत-योजना अतिशय का आधार लेती हुई भी प्रायः साम्यमूलक हो जाती है। सूर ने अतिशय का उपयोग चमत्कार-सृजन के लिए नहीं किया फिर भी भाव की उद्दीप्ति के लिए अनेक स्थलों पर अतिशयमूलक अप्रस्तुत-योजना भी मिलती है। जैसे—

नैननि जल-धारा बाढ़ी अति, बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।[2]

यहाँ नैनों की जल-धारा से ब्रज के डूबने की अतिशयोक्ति गोपियों की विरह-वेदना की तीव्र अनुभूति को प्रत्यक्ष कराने के लिए ही की गयी है, उक्ति का चमत्कार दिखाने के लिए नहीं।

रूप-वर्णन में कवि की वाणी स्वतः अतिशय की ओर बढ़ जाती है और अनजाने शास्त्रीय अतिशयोक्ति अलंकार का रूप धारण कर लेती है—

सखी री सुन्दरता कौ रंग।
छिन-छिन माँहि परति छवि औरैं, कमल नयन के अंग॥

× × ×

सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा गति पंग॥[3]

यहाँ द्वितीय पंक्ति में भेदकातिशयोक्ति और अंतिम में सम्बन्धातिशयोक्ति है किन्तु कवि का प्रयत्न अलंकरण की ओर नहीं है। भावना की उद्दीप्ति में इस प्रकार के कथन स्वाभाविक रूप में हो गये हैं।

इसी प्रकार—

चितवत ही उर पैठ नैन-मग, ना जानौं धौं कहा करघोरी।

× × ×

लियो चुराइ चितै चित सजनी, सूर सोच तनु जात जरघोरी॥[4]

---

१. काव्यालंकार, अध्याय ७।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३१६०।
३. वही, ६४०।
४. वही, १८७२।

यहाँ चंचलातिशयोक्ति का स्वरूप देखा जा सकता है। यहाँ की उक्ति में अतिशय, भावोत्तेजन के सहज प्रभाव के फलस्वरूप ही है।

राधा के रूप-वर्णन और सुरति-वर्णन में रूपकातिशयोक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—

अद्भुत एक अनूपम बाग।[१]

कनक बेलि तमाल अरुझी, सुभुज बन्ध अखोल।[२]

रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग कवि ने भक्ति-भाव-प्रेरित मर्यादा के निर्वाह के लिए किया है। इसमें भी उक्ति का चमत्कार प्रस्तुत करना कवि को अभिप्रेत नहीं है।

अत्युक्ति मुरली-प्रसंग और विरह-वर्णन में विशेष मिलती है। सूर मुरली की ध्वनि का विश्वव्यापी प्रभाव प्रस्तुत करते हैं—

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै जमुना जल न बहत॥
खग मोहैं मृग जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छवि छरत।
पशु मोहैं सुरभी विथकित, तृन दंतनि टेकि रहत॥
सुक सनकादि सकल पुनि मोहैं, ध्यान न तनक गहत।
सूरदास भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत॥[3]

तथा

सुनि कै धुनि छूटि गई, संकर की तारी।
वेद पढ़त भूलि गये, बह्मा ब्रह्मचारी॥
इंद्र सभा थकित भई, लगी जब करारी।
रंभा को मान मिट्यो, भूली नृत कारी।[४]

मुरली के वर्णन में अलंकार-दृष्टि से अत्युक्ति अवश्य है किन्तु सूर की भावना को दृष्टि में रखने पर इसमें किसी प्रकार का बढ़ाव-चढ़ाव नहीं दिखाई देता। यह तो मुरली के स्वर का असीम प्रभाव प्रस्तुत करने के लिए है।

विरह-वर्णन में अतिशयोक्ति की मात्रा पर्याप्त है। किन्तु यहाँ भी अतिशय में भावना के आवेग का सहज रूप ही है—

सखी री इन नैननि ते घन हारे।
विरही ऋतु बरषत निसि वासर, सदा मलिन दोउ तारे॥

× × ×

बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवर धर प्यारे॥[५]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११०।
२. वही, २१३२।
३. वही, ६२०।
४. वही, ६४६।
५. वही, ३२३४।

'बूड़त ब्रजहिं' की अतिशयोक्ति की व्यंजना गोपियों की वास्तविक दशा का ही चित्रण करती है।

ऊहा का उपयोग सूर ने पर्याप्त मात्रा में किया है। उनके ऊहात्मक कथन विरह की अनुभूति कराने में सफल हुए हैं, साथ ही इनसे उक्ति में चमत्कार भी उत्पन्न हो गया है। यद्यपि संस्कृत की शृंगार-सतसइयों में इस प्रकार की उक्तियाँ उक्ति को चमत्कृत करने के हेतु प्रयुक्त हो चुकी थीं किन्तु सूर ने इनका उपयोग केवल उक्ति-चमत्कार-रूप में नहीं किया। जैसे—

कागर गरे मेघ मसि खूटी, सर दवि लागि जरे।[1]

विरह से नेत्र के आँसू गिरते रहते हैं अतः कागज आँसुओं के जल से गल जाता है। स्याही हाथों की जलन से सूख जाती है और विरह की जलन से लेखनी जल जाती है। ऐसी उक्तियों में चमत्कार कम मार्मिक अनुभूति अधिक है। शरीर की कृषता की व्यंजना के लिए भी ऊहात्मक प्रयोग मिलते हैं—

कर कंकन तें भुज टाड़ भई।[2]
कंकना कर रहत नाहीं, टाड़ भुज गहि लीन।[3]
कहुँ कंकन कहुँ गिरि मुद्रिका, कहूँ टाड़ कहुँ नैत।
चेतत नहीं चित्र की पुतरी, समुझाई सौचेत॥[4]

कंगन भुजा में जा पहुँचा है, कृषता के कारण उँगली में न अँगूठी ठहरती है और न कलाई में कंगन। विरहिणी इतनी दुबली हो गयी है और मूर्छा की अवस्था में अचेत है कि चित्र की पुतलिका प्रतीत होती है, उसके मानव तन की प्रतीति तब होती है, जब कोई उसके सम्बन्ध में समझाता है।

विरहिणी राधा का ऊहात्मक-वर्णन सूर ने भी किया है। सम्भवतः परवर्ती रीतिकालीन कवियों ने इस प्रकार के वर्णन में सूर से भी प्रेरणा ली हो। जैसे—

कर कंकन कोकिला उड़ावति, बिन मुखनाम लिए।
ससि संका निसि जालनि कै मग, वसन बनाइ लिए॥
दिसि दिसि सीत समीरहिं रोकत, अंचल ओट दिए।
मृगमद मलय परसि तन तलफत, जनु विष विषम पिए॥[5]

'कर कंकन कोकिला उड़ावति' से तात्पर्य यह है कि कोयल की वाणी से उद्दीप्त होकर जब वह उसे उड़ाना चाहती है तो कृषता के कारण उसके कंकण आकाश की ओर उछल जाते हैं। चन्द्रमा की किरणों में उष्णता अनुभव करती है और बीच में वस्त्र की ओट करती है। कस्तूरी और चन्दन के लेप के स्पर्श से उसका शरीर इस

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३०० ।
२. वही, ४०६० ।
३. वही, ४१०७ ।
४. वही, ४११५ ।
५. वही, ४११८ ।

प्रकार तड़पता है मानो उसने तीव्र विष का पान किया हो । ये सभी ऊहा के उदाहरण हैं, किन्तु इनके द्वारा भी गोपियों की वास्तविक विरह-वेदना की ही प्रतीति होती है । फिर भी ऊहा का अतिरंजित रूप भी कहीं-कहीं मिलता है । जैसे—

सखि कर धनु लै चंदहि मारु ।

× × ×

उठि हरुवाइ जाइ मंदिर चढ़ि, ससि सनमुख दरपन विस्तारि ।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर मैं, अति बल खंड-खंड करि डारि ।।[1]
दूर करहि बीना कर धरिबौ ।
रथ थाक्यौ मानौ मृग मोहै, नाहिन होत चंद को ढरिबौ ।।[2]
तिरिया रैनि घटै सचुपावै ।
अंचल लिखति स्वान की मूरति, उडुगन पथहिं दिखावै ।।
हँसत कुमोदिनि, विहँसत पदमिनि, भँवर निकट गुन गावै ।
तजत भोग चकवा चकई जल, सारंग वदन छपावै ।।
अपने सुख संपति के काजै, कस्यप सुतहिं मनावै ।
सूरदास कंकन द्यौं तबहीं, तमचुर वचन सुनावै ।।[3]

साधारण दृष्टि से देखने पर ऊहाओं में अस्वाभाविकता लगती है । चन्द्रमा को तीर से मारना या दर्पण में बुलाकर चूर-चूर करना, वीणा को सुनकर चन्द्रमा के रथ का रुकना, अंचल में श्वान की मूर्ति बनाकर चन्द्रमा को दिखाना इत्यादि प्रातःकाल कराने के लिए अनेक प्रयत्न उन्माद के द्योतक हैं । किन्तु उन्माद विरह की स्वाभाविकता है । विरह की चरम सीमा में इस प्रकार का उन्माद और प्रलाप विप्रलम्भ को विशेष संवेदनीय बनाता है । यही कारण है कि विरह के चित्रण में इसी प्रकार के भाव संस्कृत-काव्यों[4] में तथा जायसी[5] के पद्मावत में प्राप्त हुए हैं, और जहाँ भी ऐसे स्थान प्राप्त हुए है, सहृदयों के परम प्रिय हैं ।

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना—विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य प्रतीयमान विरोध के द्वारा प्रभाव को तीव्र करना है । जिस प्रकार साम्यमूलक अलंकार समता द्वारा भावों को उत्कर्ष देते हैं और वर्ण्य को रमणीय करते हैं उसी प्रकार

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३५३ ।
२. वही, ३३५७ ।
३. वही, ३२७३ ।
४. **कुरु करे गुरुमेकपयोध्नं,**
वहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे ।
विशति तत्र तदैव विधुस्तदा,
सखि सुखादहितं जहि तं द्रुतम् । —श्रीहर्षकृत नैषध चरितं ४।५६
५. **गहै बीन मकु रैनि बिहाई । ससि बाहन तब रहे ओनाई ।**
—जायसी ग्रंथावली (डाक्टर माताप्रसाद गुप्त), छन्द संख्या १६८ ।

विरोधमूलक अलंकार वैषम्य द्वारा उसको अधिक चमत्कृत करते हैं। विरोधमूलक अलंकार साम्यमूलक या अतिशयमूलक अलंकारों की भाँति कल्पना को आधार नहीं बनाते। इनमें उक्ति का चमत्कार प्रधान होता है। व्यंगोक्ति में इसीलिए विरोध-मूलक अलंकार बड़े ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। सूर ने विरोध का उपयोग न केवल वैषम्य के स्थलों में किया है, वरन् साम्य में भी उसके द्वारा विशेष तीव्रता की वृद्धि की है। इनमें विरोध का एक दूसरा रूप प्रतियोग कवि ने प्रस्तुत किया है—

अद्भुत कौशल देख सखी री, बृन्दावन नभ होड़ परी री।
उत घन मुदित सहित सौदामिनि, इतहिं मुदित राधिका हरी री।।

× × ×

सूरदास प्रभु कुँवरि राधिका गगन की सोभा दूरि करी री।।[1]

तथा

देखियत दोऊ घन उनए।
उत मघवा बस, भक्त-बस्य इत, दोउ रन-रोष रए।
उत सुर-चाप, कलाप चन्द्र इत, तड़ित पट पीत नए।
उत सैनापति वरषत, ये इत, अमृत धार चितए।[2]

इन उदाहरणों में रूप-चित्रण है, साम्य अन्तिम लक्ष्य है क्योंकि कवि को कृष्ण-राधिका की तुलना आकाश से या कृष्ण की समता आकाश के बादलों से करनी है किन्तु प्रतियोग उपस्थित करने से भावानुभूति कहीं अधिक तीव्र बन गयी है।

प्रतीप और व्यतिरेक अलंकार साम्यमूलक हैं किन्तु सूरदास ने उनमें विरोध का तत्त्व भर दिया है इसीलिए उनकी तीव्रता में भी अभिवृद्धि हो गयी है—

नैना सावन भादों जीते।

× × ×

वे झर लाइ दिना द्वै उघरत, ये न भूलि मग देत।
वे बरषत सबके सुख कारन, ये नंद नंदन हेत।।
वे परिमान पुजें हद मानत, ये दिन धार न तोरत।
यह विपरीत होति देखत हौं, बिना अवधि जग बोरत।।[3]

यहाँ नैन अपने विरोधी सावन भादों को पराभूत कर रहे हैं क्योंकि आँसुओं की धार कभी बन्द ही नहीं होती। इस प्रकार व्यतिरेक विरोध के बल से काव्यानुभूति के उद्दीपन में अधिक सशक्त बन गया है।

भ्रमरगीत में विरोधमूलक विदग्ध उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। विरोधाभास, विषम, विभावना, व्याघात, असंगति और व्याज निन्दा के रूप में वैषम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना हृदय की जलन को प्रत्यक्ष करने में सफल हुई है। इन कथनों में उक्ति-वैचित्र्य

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११८९।
२. वही, ९८३।
३. वही, ३२३५।

स्वाभाविक रूप से उभर आया है। जैसे—

कहँ अबला कहँ दिसा दिगम्बर, मष्ट करौ पहिचानै।[१]
कहँ रस रीति कहाँ तन-सोधन, सुनि सुनि लाज मरौ।
चन्दन छाँडि विभूति बतावत, यह दुख कौन जरौ॥[२]

विषम अलंकार के रूप में अबला (सलज्ज नारी) और दिगम्बर (नग्न), "रस-रीति" और "तन-सोधन" (तपस्या), "चंदन" और "विभूति" के विरोध न केवल उक्ति में बांकपन लाते हैं वरन् गोपियों की विरहानुभूति का चित्रण भी करते हैं।

प्रेमोन्मत्ता गोपियों के लिए योग का ग्रहण स्वतः उलटी बात है। इसीलिए वे विरोधाभास के द्वारा उद्धव के उपदेश की असारता स्पष्ट करती है—

बूची खुभी आंधरी काजर, नकटी पहरे बेसरि।
मुडली पाटी पारै चाहे, कोढी लावै केसरि॥[3]
रीझे जाइ सुन्दरी कुबजा, इहि दुख आवति हाँसी।[४]
जोतत धेनु दुहत पय बृष कौं, करन लगे जू अनीति।[५]

ये विरोधी अप्रस्तुत योजनाएँ गोपियों पर सटीक बैठती हैं। उद्धव को रस-रीति का ज्ञान न था। उनकी समझ में यह नहीं आ सकता कि कैसे कोई जोग मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता। किन्तु उपर्युक्त उपमान उस विपरीतता को प्रत्यक्ष कर देते हैं जो उद्धव के कथन और गोपियों की सहजानुभूति के बीच थी।

गोपियों की समस्त व्याज निन्दा का आधार विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना ही है—

चारि मास बरषा के आगम, मुनिहु रहत इक ठौर।
दासी-धाम पवित्र जानि कै, नहिं देखत उठि और॥[६]
मधुकर, भली करी तुम आए।
वे बातें कहि-कहि या दुख में, ब्रज के लोग हँसाए॥[७]

'दासी-धाम' और पवित्रता स्वतः विरोधात्मक हैं, कुब्जा में कुदृष्टि रखनेवाली गोपियाँ इस विरोध से कुब्जा और कृष्ण पर कटूक्ति कर रही हैं, कृष्ण के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग वैसा ही व्यंग्यात्मक है। ऊधव की बातें सुनकर जल उठने वाली गोपियाँ उनका

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५२१।
२. वही, ३५५१।
३. वही, ३५५०।
४. वही, ३६५४।
५. वही, ३८७६।
६. वही, ३६४४।
७. वही, ३८८६।

समर्थन करती हैं। दुख में हँसना विरोध है, पर यही गम्भीर व्यंग्य का साधन बना है।

विभावना भी मिलती है—

बिनु पावस पावस करि राखे, देखत हौ विदमान।[1]

मुरली के सम्बन्ध में भी विभावना की विपरीतता है—

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृच्छ फले॥[2]

विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना, व्याघात अलंकार का रूप धारण करती है तो भाव को बहुत तीव्र करती है और उक्ति को भी चमत्कृत करती है। कारण यह है कि प्रकृति के ठीक विपरीत वस्तुओं का परिणाम इसमें दिखाई पड़ता है—

मृगमद मलय कपूर कुँकुमा, सींचति आनि अली।
एक न फुरत विरह जुर तै कछु, लागत नाहिं भली॥[3]

चंदन चन्द समीर अगिनि सम, तनहिं देत दव लाई।
कालिन्दी अरु कमल कुसुम सब दरसन ही दुखदाई॥[4]

संयोग-समय के सुखदायी सौंदर्य-प्रसाधन अब विपरीत परिणाम उपस्थित कर रहे हैं। कस्तूरी, चन्दन, कपूर, चन्द्रमा, शीतल वायु, यमुना और कमल सभी विरह-ज्वर को बढ़ाने वाले हैं। चन्द्र आदि का विपरीत भाव वास्तव में हृदय की परिवर्तित स्थिति के कारण हैं।

इस प्रकार सूर ने विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना का उपयोग केवल इसलिए किया है कि यह प्रणाली वस्तु के अनुरूप थी। उक्ति में चमत्कार उत्पन्न करने के निमित्त उन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया है। गोपियों में जो विरह-वेदना थी और जिसमें उद्धव के योग के उपदेश ने जले पर नमक का कार्य किया, उसी से विरोधमूलक व्यंग्योक्तियाँ स्वतः निकल पड़ीं। इनसे विरह की बातों का खंडन भी हो गया और उनकी अन्तर्दशा का निरूपण भी। गोपियों के मर्मस्थल पर जो चोट लगी थी उसकी प्रतिक्रिया स्वभावतया विरोध के द्वारा प्रगट हो गयी और यही सूर की विरोधमूलक अप्रस्तुत-योजना का रहस्य भी है।

---

१. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद ३५७७।

२. वही, १०६८।

३. वही, ३१९७।

४. वही, ३१९८।

उक्ति-वैचित्र्य

वक्रोक्ति—उक्ति की वक्रता रस की प्रतीति कराने का सशक्त साधन है। इसीलिए उक्ति-वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति का काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया गया है। आचार्यों ने वक्रोक्ति के दो सीमान्तवर्ती अर्थ लिये हैं। एक अत्यन्त व्यापक अर्थ जिसमें वक्रोक्ति सम्पूर्ण कवि-कौशल का पर्याय माना गया है और जिसके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक थे, दूसरा भोजराज और मम्मट आदि का अति सीमित अर्थ जिसमें वक्रोक्ति एक शब्दालंकार मात्र ही है। हम वक्रोक्ति अथवा उक्ति-वैचित्र्य का ग्रहण उसके सामान्य अर्थ में कर रहे हैं। हमारी धारणा है कि सूर ने वक्रोक्ति को उसके सामान्य अर्थ में ही ग्रहण किया है। उनका अर्थ न तो कुन्तक की वक्रोक्ति तक व्यापक है और न अलंकारशास्त्रियों के एक अलंकार तक सीमित। सूर-काव्य में भाव-प्रेरित कथन की वक्रता अधिकांश स्थलों पर प्राप्त होती है। कवि ने कथन के सीधे ढंग को छोड़कर वक्रता का सहारा लिया है। सूर के उक्ति-वैचित्र्य का अधिकाश चमत्कार सूर-सागर के बिखरे हुए संवादों में वचन-चातुरी (Witt) के रूप में देखने को मिलता है। उसी पर हम एक दृष्टि डालेंगे।

वचन-चातुरी—सख्य-भाव-प्रधान, विनय के पदों में, सूर अपने प्रभु के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से अपनी वाक्-पटुता प्रदर्शित करते हैं। वे अपने पाप-कर्मों के कारण प्रभु के समक्ष जाते हुए घबराते नहीं बल्कि उन्हीं का सहारा लेते हैं—

गज-गनिका अरु विप्र अजामिल, अगनित अधम उधारे।
यहै जानि अपराध करें मैं, तिनहूँ सों अति भारे।[1]

इस प्रकार सूर को पाप करने की प्रेरणा मानों भगवान ने ही दी, न भगवान गज-गनिका को तारते न सूर पाप-कर्म में प्रवृत्त होते।

इस प्रकार विनय के पदों में अनेक उक्तियाँ ऐसी प्राप्त हैं जिनमें सूर बड़ी चतुराई से आत्म-निवेदन प्रस्तुत करते हैं। गो० तुलसीदास की भाँति वे दीन-हीन होकर दाँत नहीं दिखाते। अपने असंख्य पातकों को गिनाते[2] हुए भी वे घिघियाते नहीं। वे तो

---

१. सूरसागर (सभा), विनय, पद १२५।

२. **प्रभु जी हौं तो महा अधर्मी।**
अपत उतार अभागौ कामी, विषयी निपट कुकर्मी॥
घाती, कुटिल, ढीठ, अतिक्रोधी, कपटी, कुमति, जुलाई।
औगुन की कछु सोच न संका, बड़ौ दुष्ट अन्यायी॥
बटमारी, ठग, चोर, उचक्का, गाँठि कटा, लठबाँसी।
चंचल, चपल, चबाइ, चौपटा, लिये मोह की फाँसी॥

तीव्र शब्दों में अपने प्रभु को ललकारते हैं—

कै प्रभु हार मानि कै बैठो, कै करौ विरद सही।
सूर पतित जो झूठ कहत है, देखौ खोलि बही।।[1]

माखन-चोरी-प्रसंग में भी सूर का उक्ति-वैचित्र्य बालक कृष्ण की वचन-चातुरी में देखने को मिलता है—

मैं जान्यौ यह घर अपनौ है, ता धोखे में आयौ।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न कौ कर नायौ।।[2]

तथा—

देखि तुही सीके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने, मैं कैसे करि पायो।।[3]

अलंकार-विहीन ये पंक्तियाँ उक्ति-वैचित्र्य के कारण ही इतनी लोक-प्रिय हो गयी हैं।

राधा-कृष्ण के प्रथम मिलन में भाव-प्रेरित वचन-विदग्धता के दर्शन होते हैं। अति सूक्ष्मवार्त्ता में उक्ति की वक्रता दोनों ओर परस्पर-प्रीति का आमन्त्रण देती है—

काहे कौं हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्त्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी।
तुम्हरौ कहा चौरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि गोरी।।[4]

कृष्ण और राधा के उपर्युक्त कथन ऐसा मर्मभेदी प्रभाव रखते हैं कि दोनों आजीवन प्रेम-पाश में बँध जाते हैं। कटु-वचनों की इस मुधात्व का रहस्य उक्ति की वक्रता है।

मुरली-प्रसंग में भी वचन-चातुरी के अनेक स्थल हैं। कृष्ण के अधरों पर विराजमान मुरली को देखकर गोपियों में ईर्षा-भाव जाग्रत होता है। वे उसे बुरा-भला कहती हैं कि नीच कुल-धर्म वाली मुरली सब प्रकार से पतित है, तभी तो उसने कृष्ण को भी अपने वश में कर लिया इसमें कृष्ण का क्या दोष आखिर पुरुष ठहरे—

यह छिनारि लंपट अन्यायिनि, कुल दाहत नहिं बार।
मधुर मधुर बानी कहि रिझए, साजि तान सिंगार।।

× × ×

चुगुल, जुवारि, निर्दय, अपराधी, झूठौ खोटौ खूटा।
लोभी, लौंद, मुकरवा झगरू, बड़ौ पढ़ैलौ लूटा।।

× × ×

परनिन्दक पर-धन को द्रोही, पर-सन्तापनि बौरौ।
औगुन और बहुत है मोमें, कह्यौ सूर में थौरौ।।

—सूरसागर (सभा), विनय, पद १८६

१. सूरसागर (सभा), विनय, पद १३७।
२. वही, २७६।
३. वही, ३३४।
४. वही, ६७३।

ऐसी बनि ठनि मिली आइ के, ह्वै गए स्याम अजान ।
पुरुष भंवर उन कँह कह लागे, नारि भजे जब आइ ।
सूरज प्रभु तब कहा करैंरी, ऐसी मिली बलाइ ।।[1]

गोपियाँ मुरली की इन करतूतों से बड़ी झुँझलाती हैं। सबसे बड़ी खीझ तो उन्हें तब होती है जब मुरली कृष्ण के अधरामृत को तृण, तरु, शैल, सरिता आदि में बाँटती है। जिस रस के लिए उन्होंने कालिन्दी-तट पर इतनी तपस्याएँ कीं उसे हृदयहीन मुरली इस प्रकार उड़ाए—

ईहि मुरली कछु भलो न कीन्हों ।
अधर-सुधा-रस अंस हमारो, बाँटि-बाँटि सबहिन कौं दीनौ ।।
बीरुध, तृन, द्रुम, सैल, सरित, तट, सींचति है वसुधा मृग मीनौं ।
जानै स्वाद कहा श्रीमुख कौ, छूछौ हियो सार बिन हीनौ ।[2]

वंशी पोली होती है। उसी पोलेपन को लेकर वक्रता उपस्थित की गयी है। मुरली का हृदय तो 'छूछा' सारहीन है वह भला अधरामृत के मूल्य को क्या जाने ?

इस प्रकार मुरली के प्रति गोपियों की अनेक वक्र-उक्तियाँ हैं और प्रत्येक अपने आप में चमत्कृत है। यह प्रसंग यहीं समाप्त नहीं होता। मुरली भी वैसी ही वक्रता से उत्तर देती है—

रिझे लेहु तुमहू किन स्यामहिं ।
काहे को बकवाद बढ़ावति, सतर होति बिनु कामहिं ।।
मैं अपने फल कौं फल भोगति, तुमहू करि फल लीजौ ।
तब धौं बीच बोलि है कोऊ, ताहि दूरि धरि कीजौ ।।[3]

मुरली वन की अपनी तपस्याओं का वर्णन करती है और कहती है कि यदि तुम भी वैसा कर सको तो हमें कोई आपत्ति न होगी। गोपियों को इससे सन्तोष होता है और वे मुरली से ईर्षा-भाव छोड़कर उसे बहन मान लेती हैं—

यह कुलीन अकुलीन नहीं री, धनि याके पितु मात ।
सुनहु सूर नाते की भैनी, कहति बात हरषात ।।[4]

इस प्रकार सम्पूर्ण मुरली-प्रसंग सूर की उक्ति-वैचित्र्य का सुन्दर स्थल है। गोपियों की वचन-चातुरी के कारण इस प्रकरण के सभी पद बड़े सरस हो गये हैं।

पनघट-लीला कृष्ण और गोपियों की नोक-झोंक का विशद-वातावरण प्रस्तुत करता है। कृष्ण एक गोपी की गगरी ढरका देते हैं। वह इनकी लकुटी छीनकर खड़ी हो जाती है और एक वक्र-भंगिमा से कहती है—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १२९४।
२. वही, १३०६।
३. वही, १३३६।
४. वही, १३६०।

एक गाँव इक ठाँव बास, तुम कै हौ क्यों मैं सैहौं ?
सूर स्याम मैं तुम न डरैहौं, ज्वाब स्वाल को वैहौं ।।[1]

इसी क्रम में गोपिका कहती है–'ठगत फिरत हौ नारि पराई' इस पर उत्तर-प्रत्युत्तर होने लगते हैं—

"कहा ठग्यौ, तुम्हारौ ठगि लीन्हौं ?"
"क्यों नहिं ठग्यो, और कह ठगिहौ, औरहिं के ठग चीन्हौं ।।"
"कहौं नाम धरि कहा ठगायौ, सुनि राखैं यह बात ।
ठग के लच्छन मोहि बतावहु, कैसे ठग के घात ?"
"ठग के लच्छन हमसौं सुनियै, मृदु मुसकनि चित चोरत ।
नैन-सैन दे चलत सूर प्रभु, तन त्रिभंग करि मोरत ।।"[2]

गोपी ने कृष्ण की ठगी का विश्लेषण वचन-चातुरी द्वारा ऐसा किया कि कृष्ण निरुत्तर हो गये ।

दान-लीला भी वचन-चातुर्य पर ही आधारित है। कृष्ण स्पष्ट न कहकर सांकेतिक शब्दों में अंगों का दान माँगते हैं—

लैहौ दान इननि कौं तुम सौं ।
मत्त गयंद, हंस हम सौहैं, कहा दुरावति हम सौं ।।
विद्रुम, हेम, वज्र के कनुका, नाहिन हमहिं सुनावति ।
खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल, मृग जानति ।।
× × ×
यह बनिजति वृषभानु-सुता तुम, हमसौं बैर बढ़ावति ।
सुनहु सूर एते पर कहियत, हम धौं कहा लदावति ।।[3]

दान-लीला में दोनों ओर से उत्तर-प्रत्युत्तर होते हैं जिनमें प्रायः वचन-चातुरी ही प्रधान है ।

वचन-चातुरी का सर्वश्रेष्ठ स्थल भ्रमरगीत है। यहाँ कभी शब्द, कभी अर्थ और कभी उपमान को लेकर सूर ने अनेक भाव-प्रेरित वक्रोक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। भ्रमर-गीत के व्यापक वचन-चातुर्य को हम चार वर्गों में बाँट सकते हैं–विनोद, उपहास, व्याज-निन्दा और कटूक्ति ।

विनोद—विनोद विरोध का शिष्ट रूप है। मीठी होते हुए भी इसकी चोट मर्म-स्थल पर बड़ी गहरी और अचूक पड़ती है। अन्तस्तल के विरोध को गोपियाँ दबा लेती हैं और रोचक ढंग से उक्ति की फुलझड़ियाँ उछालती हैं। इनसे कथन में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है और उनके हृदय की वेदना अधिक तीव्रता के साथ व्यक्त हो जाती है। वे बड़ी मिठास के साथ उद्धव पर फबतियाँ कसती हैं—

---

१. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद १४०५ ।
२. वही, १४१४ ।
३. वही, १५४६ ।

ऊधौ स्याम सखा तुम साँचे ।
की करि लियौ स्वाँग बीचहि तैं, वैसहि लागत काँचे ॥
जैसी कही हमहिं आवत ही, औरनि कहि पछिताते ।
अपनौ पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते ॥[1]

गोपियों का शंका करना कि ऊधो सच्चे सखा हैं या कच्चे और फिर यह कहना कि लगते तो कच्चे ही हैं—विनोद और व्यंग से युक्त है। कथन में भोलापन है। घनिष्टता भी प्रकट की गयी है और क्षोभ भी। कैसा तीखा वार है कि हमने तो कृष्ण-सखा समझ कर छोड़ दिया नहीं तो जो बात हमारे लिये कही है, और के लिए कहते तो कुछ मेह-मानी अवश्य खाते।

गोपियाँ ऊधो की बात सुनकर औरों को बुलाती हैं और कहती हैं कि ऊधव जी बड़ी सुन्दर सीख दे रहे हैं, वस्त्र, आभूषण, गेह-नेह-सुत आदि छोड़ने को कहते हैं—

देन आये ऊधौ मत नीकौ ।
आवहु री मिलि सुनहु सयानी, लेहु सुजस कौ टीकौ ॥
तजन कहत अम्बर आभूषन, गेह नेह सुत ही कौ ।
अंग भस्म करि सीस जटा धरि, सिखवत निरगुन फीकौ ।[2]

'नीकौ', 'सयानी', 'सुजस' और 'अम्बर' शब्द विशेष रूप से साभिप्राय हैं और विनोद के आधार हैं।

गोपियाँ शंका करती है कि ऊधव जी कहीं भटक तो नहीं गये। फिर वे कृष्ण की विनोदी प्रकृति जानकर अनुमान लगाती हैं कि कहीं कृष्ण ने जान-बूझकर उद्धव को मूर्ख तो नहीं बनाया—

ऊधौ जाहु तुम्हें हम जाने ।
स्याम तुमहिं ह्याँकौं नहिं पठयो, तुम हौ बीच भुलाने ॥
× × ×
साँच कहौं तुमकौं अपनी सौं, बूझति बात निदाने ।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैकहुँ मुसुकाने ॥[3]

यहाँ गोपियों की नारी-सुलभ वक्रता द्रष्टव्य है। वे सौगन्ध देकर पूछती हैं कि क्या कृष्ण तुम्हें भेजते समय कुछ मुस्काए थे—उनका भाव यह है कि या तो कृष्ण ने तुम्हें कहीं और भेजा था, तुम अपनी मूढ़ता से यहाँ भटककर आ गये या कृष्ण ने जान-बूझकर तुम्हारे साथ हँसी की है।

उपहास—विनोद की अपेक्षा उपहास में विपक्षी को तुच्छ सिद्ध करने की भावना अधिक होती है। इसमें हास्य भी अधिक स्पष्ट और विकृत होता है। स्वयं निन्दा न करते हुए भी विपक्षी को निन्दित ठहराना इसका लक्ष्य होता है। उपहास में सख्य भाव की प्रधानता होती है। सूरदास जी सख्य-भाव के भक्त थे अतएव गोपियों के माध्यम से

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५१६।
२. वही, ३५१४।
३. वही, ३५३१।

उन्होंने कृष्ण और कृष्ण-सखा उद्धव का उपहास प्रस्तुत किया। साथ ही पुष्टिमार्गी सूर को योग-मार्ग की असारता सिद्ध करने के लिए भी सुअवसर उपलब्ध हो गया। गोपियों का उपहास ऊधव जी के जोग को स्पर्श करता है—

ऊधौ जोग बिसरि जनि जाहु।
बाँधौ गाँठि छूटि परि है कहुँ, फिरि पाछे पछिताहु॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर, मरम न जाने और।
ब्रज बनितन के नहीं काम की, है तुम्हरेई ठौर॥[1]

उनका असली भाव तो यह था कि जोग बहुत निकम्मी वस्तु है और तुम जैसे मूढ़ को छोड़कर कोई इस निकृष्ट वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु इसी को वे व्यंग्य से कहती हैं कि यह अनुपम है, इसके मर्म को कोई नहीं जान सकता।

योग के बाहरी आडम्बर, लौकिक माहात्म्य और शास्त्रीय आवरण आदि के लिए सूर बड़ी चतुराई से उपहास प्रस्तुत करते हैं—

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े॥[2]

'पाँड़े', 'परमारथी' और 'पुराननि लादे' तीनों शब्द उपहासात्मक हैं। 'पाँड़े' और 'पंडित' शब्द तत्वतः एक होते हुए भी व्यवहार में भिन्न हैं। 'पंडित' में जहाँ विद्वत्ता और ज्ञान-गरिमा की ध्वनि है वहाँ 'पाँड़े' में पाडित्य का बाहरी दिखावा मात्र है। 'पांड़े' शब्द से जो स्वर निकलता है वह उसकी व्यावहारिक ध्वनि से मिलकर उपहासात्मक बन जाता है। 'परमारथी' शब्द भी इसी प्रकार व्यंग्य युक्त है। परमार्थ (योग) का ज्ञान देने वाले और दूसरे का हित करने वाले दोनों का अर्थ यहाँ लिया गया है। 'परमारथी' का भी स्पष्टीकरण उन्होने अपने ढंग से उसी पद के अगले चरण में किया है—'हमरे गति पति कमल नयन की, जोग सिखै ते राँडे' अर्थात् आप ऐसे परमारथी हैं कि 'योग' की शिक्षा से हमसे हमारा पति छीनकर हमें विधवा बनाने की कृपा करने आये हैं। पुराननि शब्द द्वयार्थक है—पुराण और पुरान—पुराणों का ज्ञान ऊधव की तात्विक वार्ता में है पर साथ ही उसमें कोई नई बात नहीं है, पुरानी पिटी-पिटाई बातें हैं। पुराणों का आकार बड़ा है—अठारह पुराणों की बड़ी-बड़ी पोथियाँ हैं। उन सबका बड़ा बोझ ऐसा है जैसे बनजारों के लदे बैलों का समूह। बनजारा शब्द भी सम्मानहीन व्यापारियों के लिये ही व्यवहार में आता है।

एक दूसरे पद में इसी भाव को उन्होंने दूसरी शब्दावली में प्रस्तुत किया है—

आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की ब्रज में आइ उतारी।[3]

'बड़ो व्योपारी' शब्द में विपरीत लक्षणा का समावेश है और 'खेप' भी उसी प्रकार उपहासजनक है जैसे 'टाँडे'।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८०९।
२. वही, ३६०४।
३. वही, ३९६५।

गोपियाँ व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर कसकर जोग की खिल्ली उड़ाती हैं—

ऊधौ जोग कहा है कीजतु ।
ग्रोढियतु है या बिछैयतु है, किधौं खैयतु है, किधौं पीजतु ॥
कीधौं कछू खिलौना सुन्दर, की कछु भूषन नीकौ ।
हमरे नन्द-नंदन जो चहियतु, मोहन जीवन जीकौ ॥[1]

'योग' को इस प्रकार जाँचना उसकी सारी महत्ता को नष्ट करना है । योग ग्रोढ़ा जाता है या बिछाया जाता है, वह कोई सुन्दर खिलौना है या कोई गहना । यह सब उपहास का ही ढंग है ।

कुब्जा के प्रति गोपियों का रोष स्वाभाविक है । दाम्पत्य भाव से कृष्ण से प्रेम करने वाली गोपियाँ कुब्जा के साथ दाम्पत्य-रति की कल्पना करती हैं ग्रौर मर्यादा का उल्लंघन करके स्त्री-सुलभ उपहास करती हैं । उनकी प्रथम दृष्टि कृष्ण ग्रौर कुब्जा के रूप-वैषम्य पर जाती है—

ऊधौ यहै ग्रचम्भा बाढ़ ।
ग्रापु कहाँ ब्रजराज मनोहर, कहाँ कूबरी राढ़ ॥
जिहिं छन करत कलोल संग रति, गिरिधर ग्रपनी चाढ़ ।
काटत हैं परजंक ताहि छिन, कै धौं खोदत खाढ़ ॥
किधौं सदा विपरीत रचत हैं, गहि गहि ग्रासन गाढ़ ।
सूर सयान भए हरि बाँधत, माँस खाइ, गलहाड़ ॥[2]

उपहास में कुब्जा के प्रति घृणा स्पष्ट है । 'ढ़' का तुकान्त ग्रसूया ग्रौर उपहास के भद्देपन को बढ़ाने वाला है । सुरति-कर्म की भीषण विडम्बना से ग्राम्य उपहास उभारा गया है ।

व्याज-निन्दा—उपहास में उपहास करनेवाला स्वयं निन्दा नहीं करता, उपादान मात्र एकत्रित करके रख देता है जिससे ग्रन्य सभी लोग ग्रालोच्य की निन्दा करने लगें । व्याज-निन्दा में वह स्वयं निन्दा करता है किन्तु सीधे शब्दों में नहीं वरन् स्तुति के द्वारा । इस प्रकार व्याज-निन्दा का मूल उक्ति-वैचित्र्य है । गोपियों ने कृष्ण, कुब्जा ग्रौर उद्धव तीनों की मनोरंजक सराहना की है । कृष्ण के त्याग-भाव की प्रशंसा में वे कहती हैं—

मथि-मथि सिन्धु सुरन को पोखे, सम्भु भए विष-ग्रासी ।
इन हति कंस राज ग्रौरहिं दै, चाहि लई इक दासी ॥[3]

कंस जैसे भयंकर राक्षस का निपात कर उग्रसेन को राज्य दे देना ग्रौर केवल एक दासी (कुब्जा) को ले लेना ठीक वैसा ही है जैसा सिन्धु-मन्थन के उपरान्त शिव का

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९९६ ।
२. वही, ३९४२ ।
३. वही, ३९७५ ।

अमृत के स्थान पर विष ले लेना। कुब्जा का आधार लेकर कृष्ण के बड़प्पन पर कैसी मीठी चोट है।

कुब्जा की भी प्रशंसा किये बिना वे नहीं रहतीं—

बरु उन कुबिजा भलौ कियौ।
सुनि सुनि समाचार ये मधुकर, अधिक जुड़ात हियौ॥
जिनके तन मन प्रान रूप गुन हरचौ, सु फिरि न दियौ।
तिन अपनौ मन हरत न जान्यौ, हँसि हँसि लोग जियौ॥[1]

कुब्जा बड़ी अच्छी है कि उसने हम नारियों का बदला ले लिया। कृष्ण ने दूसरों का मन हर लिया था तो कुब्जा जैसी निकृष्ट स्त्री ने उनका भी मन हर लिया, वे जान भी न सके और सारे जग के उपहास के पात्र बने। इस प्रकार कुब्जा की प्रशंसा में उसी की निन्दा है।

कृष्ण के महाराजपने का भी बखान वे करती हैं—

कहत अलि मोहन मथुरा-राजा।
नेब अक्रूर बदत बन्दी, तुम गावत हौ नृप साजा।
× × ×
गुन अनुरूप समान भेषता, मिले दुआदस बानी।
मधुवन देस कान्ह कुब्जा सँग, बनी सूर पटरानी।[2]

कृष्ण मथुरा के राजा हैं, सभी उनके अनुरूप मिले हैं, अक्रूर (क्रूर) जैसे मन्त्री, बकवादी उद्धव जैसे बन्दीजन और उनके त्रिभंगी रूप के अनुरूप कुब्जा पटरानी। उद्धव जी की स्तुति में निवेदन करती हैं—

मधुवन सब कृतज्ञ धरमीले।
अति उदार परहित डोलत है, बोलत वचन सुसीले॥
प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधु-रिपुहिं सिधारे।
उहाँ कंस ह्याँ हम दीनन कौं, दूनौं काज सँवारे॥
हरि कौं सिखे सिखावन हमकौ, अब ऊधौ पग धारे।
ह्वाँ दासी रति की कीरति कै, इहाँ जोग विस्तारे॥[3]

उद्धव जी के धर्मात्मापन, उपकार और विद्वत्ता की कैसी सुन्दर कहानी है। संकेत से कृष्ण और कुब्जा पर भी छींटे कसे गये हैं।

कटूक्ति—विनोद, उपहास और व्याज-निन्दा में विरोध का साधन ध्वनि है। प्रत्यक्ष रीति से मन्तव्य प्रकट नहीं किया जाता। किन्तु कटूक्ति में सारा विरोध-कथन सीधे शब्दों में होता है। हृदय का विषाद और रोष जितना ही गहरा होता है, उसका व्यक्तीकरण उतना ही तीव्र और एकनिष्ठ होता है। कटूक्ति के तीर सीधे जाते हैं और विषैले तथा

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६३८।
२. वही, ३६२७।
३. वही, ३५६४।

अणियारे होने से लगते ही जलन उत्पन्न करते हैं। कटूक्ति में भी सौंदर्य होता है क्योंकि उसका भी प्रेरक भाव प्रेम है। कटूक्ति के रोष के पीछे पीड़ा है, इसीलिए कटूक्ति यदि उक्ति की वक्रता के साथ है तो काव्य की मनोरम विधा बन जाती है।

सूर की गोपियाँ जली-कटी खूब सुनाती है किन्तु भाषा में यहाँ भी संयम है। कृष्ण उनके प्रेमी हैं, प्रेम प्रतिदान चाहता है, प्रतिदान तो कौन कहे उनके प्रेमी कृष्ण प्रेम के दो अक्षर भी नहीं लिख सकते—

लिखि नहिं पठवत हैं द्वै बोल।
द्वै कौड़ी के कागद मसि कौ लागत है बहु मोल ?[1]

'द्वै कौड़ी के कागद मसि' में कृष्ण की निष्ठुरता की स्पष्ट व्यंजना है। प्रतिक्रिया का तीखापन प्रत्यक्ष है—

कृष्ण के थोथे प्रेम की आलोचना करती हुई एक गोपी उनके चरित्र पर आक्षेप करती हुई सांकेतिक ढंग से कहती है—

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे कौं आवत, भावति नव जोवनियाँ॥
× × ×
सूरदास-प्रभु वाके बस परि, अब हरि भये चिकनियाँ॥[2]

कृष्ण को प्रेमी कौन कहता है, वे तो विनोद करने वाले हैं, नित्य नया मनबहलाव खोजते रहते हैं।'मधुबनियाँ' श्लिष्ट है। इससे तात्पर्य शहरी या छैला है। कृष्ण छैला बनकर अब 'नव जोवनियाँ' खोजते फिरते हैं। चिकनियाँ भी श्लिष्ट है। इसमें भी छैला की वेशभूषा का भाव है। 'नव जोवनियाँ' शब्द विपरीत लक्षणा से कुब्जा की असुन्दरता पर भी चोट करता है। यहाँ कटूक्ति में एकनिष्ठता का आभास है। कुब्जा के प्रति जो कटूक्तियाँ हैं उनमें तीव्रता अधिक है, अपने हृदय की घृणा को वे रोक नहीं सकतीं। यह सुनने पर भी कि कृष्ण ने कुब्जा के कुबड़ेपन को दूर कर दिया है, उनका हृदय उसे वैसी ही देखता है। उनकी असूया शब्दों की वक्रता में अनायास झलकती रहती है—

मधुकर उनकी बात हम जानी।
कोऊ हुती कंस की दासी कृपा करी भइ रानी॥
कुटिल, कुचील जन्म की टेढ़ी, सुन्दरि करि घर आनी।
अब वह नवल बधू ह्वै बैठी, ब्रज की कहति कहानी॥[3]

पद में विरोधाभास का वैचित्र्य है—दासी और रानी, कुटिल, कुचील जन्म की टेढ़ी और सुन्दरी नवल वधू। भाव यह कि लोग भले ही उसे रानी, सुन्दरी और नवल वधू मानें पर गोपियाँ तो उसे दासी, कुटिल, कुचील और कुबड़ी से अधिक नहीं मान

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२५४।
२. वही, ३३७७।
३. वही, ३६३६।

सकतीं, और सबसे बड़ी बात तो यह कि उसका यह अभिमान और यह साहस कि अब 'व्रज की कहानी' कह रही है।—उक्ति-वक्रता रोष-भरी गोपी को पाठक के समक्ष साक्षात खड़ी कर देती है।

सारांश यह कि सूर ने अभिव्यक्ति-कौशल के रूप में वचन-चातुरी का उपयोग किया है। इस वाक्वैदग्ध्य ने उनके काव्य को सरस और लावण्यमय बनाने में विशेष योग दिया है।

मानवीयकरण—शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग से उक्ति में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। लाक्षणिक प्रयोग भाव-प्रेरित वक्रताओं के सहज रूप हैं। प्रकृति में मानव व्यापारों की योजना लक्षणा पर आश्रित एक पद्धति है। इसमें प्रस्तुत प्रकृति होती है और अप्रस्तुत रूप में मानव-भावनाओं का चित्रण होता है। सूर-साहित्य में प्रकृति जड़ नहीं है, मानवी है। वह कहीं पर साम्य, कहीं विरोध, कहीं आलम्बन और कहीं उद्दीपन का कार्य करती हुई मनोदशाओं के चित्रण में सहायक होती है। इसीलिए सूर की गोपियाँ कभी प्रकृति से सहानुभूति करती हैं और कभी उन्हें अभिशाप देती हैं। यमुना नदी मात्र नहीं रह जाती, कृष्ण-विरह में गोपियों के समान ही विरहिणी है। विरह में वह भी उसी प्रकार तड़प रही है जैसे गोपियाँ—

लखियत कालिन्दी अति कारी।
सुनहु पथिक कहियो उन हरि सौं, भई विरह जुर जारी।[1]

पावस ऋतु, ऋतु मात्र न रहकर शत्रु बनकर आ चढ़ती है, शत्रु की भयंकर सेना के रूप में गोपियों को भयानक लगती है—

ब्रज पर सजि पावस दल आयौ।
धुरवा धुंध उठी दसहूँ दिसि, गरजि निसान बजायौ॥[2]

गोपियाँ उनके भीमकाय को देखकर भय खाती है और कृष्ण को साहाय्य के लिए पुकारती हैं। ग्रीष्म और वर्षा ने ब्रज में अपना स्थायी निवास बना लिया है। गोपियों के नयन निशि-दिन बरसते रहते हैं। नयनों की नदी बढ़ी है जो पलक-कूलों को डुबाए जाती है। इस प्रकार लाक्षणिक वक्रता द्वारा आत्यंतिक विरह की व्यंजना अनायास ही हो जाती है।

कृष्ण-विरह में जलती हुई गोपियाँ मधुवन को हरा देखकर कह उठती हैं—

मधुवन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥[3]

मोर, पपीहा, कोयल, कुंजें, चन्द्र सभी प्रतिशोध के प्रेरक प्रतीत होते हैं। चन्द्रमा तो जैसे साक्षात् शत्रु बनकर क्रोध करता है—

---

१. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद ३१९१।
२. वही, ३३०४।
३. वही, ३२१०।

कोउ माई बरजै री या चन्दहिं ।
अति ही क्रोध करत है हम पर, कुमुदनि कुल आनंदहिं ।[1]

गोपियाँ, शत्रु चन्द्र को मारने के लिए योजनाएँ भी बनाती हैं । धनुष लेकर तीर से मारने और दर्पण में बुलाकर चूर-चूर करने की कल्पनाएँ[2] उक्ति-वैचित्र्य के अतिरंजित रूप हैं ।

अन्य विदग्ध प्रयोग—कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का कोई भी प्रभाव सूरदास पर न था फिर भी कुन्तक का वक्रोक्ति-सिद्धान्त अपने में पूर्ण है । वक्रोक्ति के जो अनेक रूप उन्होंने बताये हैं उनके अन्तर्गत सभी प्रकार की वक्रोक्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है । सूरदास की वक्रोक्तियों में वक्रोक्ति मत के कुछ भेदों के दर्शन हो जाते हैं जैसे प्रकरण-वक्रता, लिंगवैचित्र्य-वक्रता, संवृति-वक्रता, काल-वक्रता और प्रत्यय-वक्रता आदि ।

प्रकरण-वक्रता—कभी-कभी कवि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी सुन्दर गौण प्रसंग की उद्भावना करता है । ऐसा करने से समग्र वृत्त में एक वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है । सूर-काव्य में ऐसे कुछ वक्र प्रकरण हैं, जैसे—गोपी-मुरली-संवाद और उद्धव-गोपी-संवाद । कृष्ण-कथा से इन दो प्रकरणों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है किन्तु अपने वैचित्र्य के कारण सबसे अधिक सरस प्रसंगों में इनकी गणना है । मुरली के सम्बन्ध में सपत्नीत्व की कल्पना का मूल कवि की लिंग-वैचित्र्य-वक्रता की मनोवृत्ति है । मुरली एक स्त्रीलिंग शब्द है । अतएव लिंग के आधार पर कवि की कल्पना मुरली को कृष्ण-अधरों का पान करती हुई तथा कृष्ण को उसमें अनुरक्त देखती है । मुरली जड़ से मानवी बनकर गोपियों की सपत्नी बन जाती है । गोपियाँ सपत्नी के सभी गुण उसमें देखने लगती हैं—वह स्वार्थिनी, अभिमानिनी, नीच कुल वाली और निर्लज्ज है, अपने सुहाग के बल पर किसी को नहीं गिनती, स्त्री होकर भी कृष्ण से पाँव दबवाती है[3] इत्यादि । मुरली उत्तर में गोपियों से कहती है कि उसके सौभाग्य का कारण उसकी तपस्या है । उसने कृष्ण को प्राप्त करने के लिए षट्-ऋतुओं में एक पैर पर खड़ी रहकर तपस्या की, अग्नि में तपी, सुलाक लगते समय तनिक भी न हिली । उससे गोपियों की ईर्षा ठीक नहीं, वह तो चेरी है । जब वे वैसी ही तपस्या करके कृष्ण को पा लेंगी, वह हट जायेगी ।[4] गोपियों को उसके उत्तर से सन्तोष हुआ,

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३५६ ।

२. **सखि कर लै धनु चंदहिं मारि ।**

× × ×

उठि हरुवाइ जाइ मन्दिर चढ़ि, ससि सनमुख दरपन विस्तारि ।
ऐसी भाँति बुलाइ मुकुर में, अति बल खंड-खंड करि डारि ।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३५३

३. वही, १२२२ से १२२६ तक

४. वही, १३३० से १३३८ तक

उन्होंने स्वयं उसके तप की प्रशंसा की, उसका स्वर अब उन्हें प्रिय लगने लगा। उन्हें वह राधा-कृष्ण-प्रणय का साधन प्रतीत होने लगी क्योंकि मुरली के ही माध्यम से कृष्ण-राधा का नाम उच्चारण करते हैं। इस प्रकार उन्हें लगा कि मुरली तो दासी होकर राधा की टहल में रहती है।[1]

उद्धव-गोपी-संवाद अथवा भ्रमर-गीत-प्रकरण भी सूर की निजी उद्भावना का परिणाम है। भागवत की कृष्ण लीला में इस प्रसंग का विशेष महत्त्व नहीं है। सूरदास जी ने ज्ञान-मार्ग पर भक्ति-मार्ग की प्रतिष्ठा स्थापित करने के प्रयोजन से इस प्रसंग का सर्वथा नवीन रूप में उपयोग किया। वाक्विदग्धता के बल पर यह एक ऐसा अभूतपूर्व प्रसंग हो गया कि परवर्ती कृष्ण-काव्य में इसकी एक अलग परम्परा ही चल निकली।

पनघट-लीला और दान-लीला प्रसंग भी सूर की मौलिक उद्भावना के परिणाम हैं जिनका भी मूल आधार वक्रोक्ति है। तात्पर्य यह कि सूर काव्य के इतिवृत्त में ऐसे स्थल हैं जिनमें प्रकरण-वक्रता के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

कुन्तक-प्रणीत अन्य प्रकार की वक्रोक्तियाँ जैसे—वर्णविन्यास-वक्रता, रूढि वैचित्र्य-वक्रता, पर्याय-वक्रता, विशेषण-वक्रता, संवृति-वक्रता, लिंग वैचित्र्य-वक्रता, काल वक्रता आदि भी सूर की पद-रचना में प्राप्त हो सकती हैं। वर्ण-विन्यास-वक्रता का विस्तृत विवेचन वर्ण-योजना के अन्तर्गत किया जा चुका है। पर्याय-वक्रता, उपचार-वक्रता और विशेषण-वक्रता भी शब्द-शक्ति के लक्षणा और व्यंजना के विस्तार में आ चुके हैं। संवृत्ति-वक्रता, लिंग-वैचित्र्य-वक्रता और प्रत्यय-वक्रता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।

संवृति वक्रता—जब कवि, स्पष्ट कथन की अपेक्षा सांकेतिक सर्वनाम शब्दों से उक्ति में सौंदर्य भरता है तब उसमें संवृत्ति-वक्रता मानी जाती है। जैसे—

यहि मुरली सखि ऐसी है।[2]
मुरली एते पर अति प्यारी।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'ऐसी' और 'एते' शब्द हैं जिनकी वक्रता के अन्दर वर्णनातीत भावों का समावेश होता है। मुरली के क्रिया-कलापों का वर्णन गोपियों को इष्ट था, उनका स्पष्ट कथन न करके केवल 'ऐसी' और 'एते' सर्वनामों से ही व्यक्त करके उतना कह डाला जितना कि वे किसी प्रकार से भी नहीं कह सकती थीं। इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ सूरसागर में मिल जाती हैं। जैसे—

अब हरि और भये हैं माई।[4]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३३६ से १३५८ तक।
२. वही, १२५६।
३. वही, १२६६।
४. वही, ३८४३।

ऊधो कछुक समुझ परी ।[1]
कहा दिन ऐसे ही चल जैहैं ।[2]
ऊधो हरि के औरे ढंग ।[3]

काल-वक्रता––जहाँ काल विशेष का प्रयोग चमत्कार विधायक होता है वहाँ काल-वक्रता मानी जाती है । जैसे––

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ ।
अब हरि गोकुल काहे को आवत, भावत नव जोवनियाँ ।।[4]

यहाँ 'आवत' शब्द का प्रयोग भविष्यत् काल के स्थान पर वर्तमान काल में हुआ है । यह प्रयोग व्याकरण का दोष नहीं बना है, इससे उक्ति की तीव्रता बढ़ गयी है ।

इसी प्रकार––

जियहि क्यों कमलनि कांदोहीन ।
जिनसों प्रीति हुती री सजनी, तिनहुँ बिछुरि दुख दीन ।।[5]

यहाँ 'हुती' भूतकाल में है । वास्तव में यहाँ काल वर्तमान होना चाहिए क्योंकि प्रीति की समाप्ति नहीं हुई है । इस प्रकार वर्तमान काल के स्थान पर भूतकाल उक्ति की वक्रता का आधार बना हुआ है ।

लिंग-वैचित्र्य-वक्रता––जब उक्ति का सौंदर्य शब्दों के चमत्कारपूर्ण लिंग-प्रयोग पर आधारित होता है तब लिंग-वैचित्र्य-वक्रता मानी जाती है । निष्प्राण पदार्थों में अर्थ के औचित्य को दृष्टि में रखकर किसी लिंग विशेष का प्रयोग होता है । पौरुषमय पदार्थ में पुल्लिग और सौकुमार्य तथा कोमलता युत पदार्थ में स्त्रीलिंग की अवतारणा कवि स्वयं कर लेता है यद्यपि उनका प्रयोग साधारणतया और प्रकार से हो सकता है ।

'काछनी', 'दंतुरिया', 'लकुटिया' और 'झंगूली' शब्दों का प्रयोग शिशु-कृष्ण की सुन्दरता से सम्बन्धित होने के कारण सदा सूर ने स्त्रीलिंग में किया है । व्यवहार में इनके पुल्लिग रूप–कच्छा, दाँत, लकुट और झगला भी प्रयुक्त होते हैं । लट के साथ लटूरियाँ शब्द भी मिलता है । वास्तव में सौकुमार्य और सौंदर्य के कारण ही इनका प्रयोग स्त्रीलिंग रूप में अधिक शोभित होता है । लकुटिया का पुल्लिग रूप वहाँ मिलता है जहाँ उसका उपयोग बल-प्रयोग के लिए है । जैसे गिरिधारण प्रसंग में––

लै-लै लकुट ग्वाल सब धाये, करत सहाय जु तुरतं ।[6]

कभी-कभी एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा प्रसंगानुकूल लिंग-प्रयोग से कथन

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९३२ ।
२. वही, ३२२३ ।
३. वही, ३९४७ ।
४. वही, ३३७७ ।
५. वही, ३३६४ ।
६. वही, ८७३ ।

को सशक्त करने की रीति भी सूर ने अपनायी है। जैसे दावानल-प्रसंग में भयंकरता के समय दावानल को पुल्लिग रूप में प्रयोग किया है—

दावानल ब्रजजन पर धायौ।[1]
भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।[2]

किन्तु उसके बुझने की अवस्था में उसकी निर्बलता सूचित करते हुए उसका प्रयोग इस प्रकार है—

तृन की आगि बरत ही बुझि गई, हँसि-हँसि कहत गोपाल।[3]

इसी प्रकार मुरली-धुनि और मुरली-नाद शब्द स्त्रीलिंग और पुल्लिग रूपों में उसके दो रूप प्रस्तुत करते हैं—

मुरली-धुनि बैकुंठ गई।
नारायन-कमला सुनि दंपति, अति रुचि हृदय भई॥
सुनो प्रिया यह बानी अद्भुत, वृन्दावन हरि देखौ।
धन्य-धन्य श्रीपति मुख कहि-कहि, जीवन ब्रज कौ लेखौ॥[4]

यहाँ मुरली का स्वर मधुर है, उसकी मधुरिमा ने ही नारायण और कमला को आनंदित किया है। इसीलिए सुकुमारता और मधुरता गुणों से आभूषित होने के कारण 'मुरली धुनि' स्त्रीलिंग में है। किन्तु जब कवि मुरली के स्वर के प्रबल प्रभाव को प्रदर्शित करना चाहता है तो उसे मुरली नाद कहकर पुल्लिग बना देता है—

जब हरि मुरली-नाद प्रकास्यौ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हें, पाहन जलज बिकास्यौ॥[5]

प्रत्यय-वक्रता—जहाँ एक प्रत्यय में दूसरा प्रत्यय लगाकर उक्ति में सौंदर्य उपस्थित किया जाता है वहाँ प्रत्यय-वक्रता मानी जाती है। जैसे—

मुरलिया कपट चतुरई ठानी।[6]
फूँकि फूँकि हियरौ सुलगावत।[7]

उपर्युक्त उदाहरणों में 'मुरली' और 'हिय' शब्दों में प्रत्यय विद्यमान थे किन्तु शब्दों में उक्ति-चमत्कार उपस्थित करने के लिए 'या' और 'रौ' के योग किये गये हैं। वास्तव में भाव-वक्रता का जो सहज प्रभाव उक्ति पर पड़ता है उसी का दिग्दर्शन प्रत्यय-वक्रता में होता है।

चमत्कारमूलक प्रयोग—उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करने का एक साधन

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५९२।
२. वही, ५९६।
३. वही, ५९८।
४. वही, १०६४।
५. वही, १०६६।
६. वही, १३०४।
७. वही, ३५४५।

'चमत्कार' है। चमत्कार श्रोता को विस्मय में डाल देता है। चमत्कार में मनोरंजन की शक्ति होती है किन्तु यह रंजन मस्तिष्क तक ही सीमित रहता है हृदय तक इसकी पहुँच नहीं होती। इस प्रकार की कविता में अनुभूति तत्त्व की उतनी प्रधानता नहीं होती जितनी आत्म-प्रदर्शन की। शब्द-क्रीड़ा उक्ति-वैचित्र्य का साधन बनती है। यमक, श्लेष तथा श्लेषमूलक अन्य अलंकार इसके प्रधान अंग होते हैं। कवि चमत्कार के लिए रस और औचित्य आदि का उत्सर्ग कर देता है। सूरदास जी रसवादी कवि थे, अनुभूति उनकी काव्य-रचना का प्राण है फिर भी उनकी रुचि चमत्कार की ओर भी उन्मुख थी। यही कारण है कि कहीं-कहीं चमत्कारमूलक प्रयोग उनकी अभि-व्यंजना के प्रसाधन बन उठे है। इतने पर भी सूर जैसा भावुक कवि चमत्कार के पीछे अपनी कविता को निष्प्राण नहीं कर सकता था। यही कारण है कि उनके काव्य में ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हैं। यमक और श्लेष आदि जहाँ हैं भी वे भावुकता को तीव्र करने में सहायक हैं। केवल दृष्टकूट पद ऐसे हैं जिनमें चमत्कार-वृत्ति अधिक प्रधान दिखाई पड़ती है यद्यपि वहाँ भी कविता निष्प्राण नहीं हुई है। दृष्टकूटों के अतिरिक्त यमक का प्रयोग सूरदास जी ने अधिक नहीं किया है दो-चार जगह ही हैं जहाँ यमक मिलता है। जैसे—

ऊधौ जोग जोगहिं देहु।[1]
ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।[2]
नाम गुपाल जाति कुल गोपक गोप गुपाल उपासी।[3]
ताते स्याम भई कालिन्दी सूर स्याम गुन न्यारे।[4]
लोचन जल कागद-मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम-स्याम जी की पाती।[5]
जहँ न अनंग-रस-रूप नेह कौ, तहँ दइ गति जु अनंग।
जौ अनंग वपु असुर दासिका, सो भइ नूतन अंग।[6]

ऊपर के रेखांकित शब्दों में यमक अलंकार है जो प्रत्येक स्थल पर उक्ति को सशक्त करने वाला और भाव की सरसता में योग देने वाला है। एकाध स्थल ऐसे भी हैं जहाँ यमक विरोधमूलक वक्रता का अंग बना है। जैसे—

खीन मुरली गहे मुर अरि, रहत निसि-दिन प्रीति।[7]

मुर का शत्रु मुर के क्षीण रूप मुरली को लिये हैं और रात-दिन उससे प्रीति करता

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९२३।
२. वही, ३९२४।
३. वही, ३९२७।
४. वही, ३७५२।
५. वही, ~~३४८७~~।
६. वही, ३९४७।
७. वही, १२२५।

है। इस प्रकार यमक विरोधमूलक वक्रता का साधन है।

यमक में शब्द का अर्थ परिवर्तित होता जाता है और अर्थ के परिवर्तन से ही उसमें चमत्कार उत्पन्न होता है। सूरदास जी ने बिना अर्थ में परिवर्तन किये भी उसमें समान कोटि का चमत्कार उत्पन्न किया है। जैसे—

मथुरा मोहिनी में जानी।
मोहन स्याम, मोहन जादव जन, मोहन जमुना पानी॥
मोहन नारि सबै घर-घर की, बोलति मोहन बानी।
मोहन सूरदास को ठाकुर, मोहन कुब्जा रानी॥[1]

'मोहन' शब्द की पुनरावृत्तियों में अर्थ का परिवर्तन नहीं है फिर भी कौतुक विद्यमान है।

यमक का शुद्ध चमत्कारिक रूप दृष्टकूट पदों में प्राप्त होता है। दृष्टकूट पदों में 'सारंग' और 'हरि' शब्द ही यमक के आधार हैं। सूरसागर, सारावली और साहित्य-लहरी तीनों ग्रन्थों[2] में 'सारंग' प्रधान रूप से यमक का रूप लेता है। जैसे—

सारंग सारंगधरहिं मिलावहु।
सारंग विनय करति सारंग सौं, सारंग दुख बिसरावहु॥[3]

(सारंग=वर्ही—वरही—श्रेष्ठ हृदय वाली। सारंगधर=गिरिधर—कृष्ण। सारंग=आकाश—अनन्त। सारंग=विष्णु। सौं=सौगन्ध। सारंग=सूर्य—ताप—काम—काम-ताप।)

श्लेष—यमक की भाँति ही श्लेष का भी अधिक प्रयोग चमत्कार मात्र के लिए सूरदासजी ने नहीं किया है। दृष्टकूटों को छोड़कर अन्यत्र श्लेष अलंकार अर्थ सौरस्य का अनिवार्य अंग है। जैसे—

विहरति मान-सर सुकुमारि।
कैसे हूँ निकसति नहीं, हौं रही करि मनुहारि।
× × ×
रह्यौ रचि रुचि-मान, मानिनि-मन-मराल मुरारि।
सूर आपुन आनियै, गहि बाँह नारि निकारि॥[4]

यहाँ मानसर के मान और मानसरोवर दोनों ही अर्थ हैं। इसी का विस्तार कवि ने रूपक में करके काव्य-कौतुक उत्पन्न किया है। मान के विरह में डूबती हुई राधा का सरस चित्रण श्लेष के ही आधार पर सम्पन्न हुआ है।

एक पद में 'गुन' शब्द का श्लेष देखने योग्य है—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३७८।
२. वही, ११९५, १६८५, १७०४, २०७७, २१११, २१७३, २४०६।
साहित्य-लहरी, पद संख्या ४, ४४, ४७, ५६, ५९।
सारावली, छन्द संख्या ९४४, ९४६।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २०९७।
४. वही, २५७५।

ऊधो हरि गुन हम चकडोर ।
गुन सौं ज्यौं भावै त्यौं फेरौ, यहै बात कौ ओर ।
×　　　　×　　　　×
सूर सहज गुन ग्रंथि हमारैं, दई स्याम उर माँहि ।
हरि के हाथ परै तौ छूटै, और जतन कछु नाहिं ॥[1]

गुन के श्लेष के कारण चकडोरी का खेल उक्ति का खेल बन गया है । साथ ही सगुण और निर्गुण की दार्शनिक उलझन भी सरसता से ही सुलझ गयी है । नंददास के सैद्धान्तिक तर्कों की अपेक्षा शब्द-क्रीड़ा मूलक श्लेष अधिक सफल अस्त्र सिद्ध हुआ है ।

दान-लीला में भी कुछ शब्द-श्लिष्ट हैं । जैसे—

कनक-कलस-रस मोहि चलावहु, मैं तुमसौं माँगत हौं ।[2]
लेहु गोरस दान मोहन, कहाँ रहे छपाइ ।[3]

यहाँ 'कनक-कलस-रस' 'गोरस' और 'दान' शब्द श्लिष्ट हैं । चमत्कार की अपेक्षा इन में अर्थ-सौरस्य की प्रधानता है ।

भ्रमरगीत में कृष्ण की पत्री गोपियों के लिए उद्दीपन का कारण बनती है । पत्री में अंक शब्द का श्लेष मनोहारी है—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के, बार-बार लावति लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै, ह्वै गई स्याम स्याम जू की पाती ॥[4]

यहाँ 'अंक' और 'श्याम' दोनों में श्लेष है । कृष्ण के लिखे हुए अंक (अक्षर) मानों उनकी गोद (अंक) है, अतः वे उसे बार-बार छाती से लगाती हैं और आह्लादित होती हैं, इसी प्रकार कृष्ण की पत्री आँसुओं और स्याही के मिले हुए रूप में कृष्ण बन गई । श्लेष के साहाय्य से भाव-व्यंजना अधिक स्पष्ट और मर्मस्पर्शी हो गयी है ।

मुद्रालंकार—साहित्य-लहरी में एक पद मुद्रालंकार के उदाहरण के रूप में प्राप्त होता है । अन्तिम पंक्ति में मुद्रा का कथन भी है—

कत मो सुमन सों लपटात ।
समुझ मधुकर परत नाहीं, मोंहि तोरी बात ॥
हेम जूही है न जा संग, रहै दिन पस्यात ।
कुमुदिनी संग जाहु करके, केसरी को गात ॥
सेवती संताप दाता, तुमै सब दिन होत ।
केतकी के अंग संगी, रंग बदलत जोत ॥[5]

पद में मोगरा, सोनजुही, कुमुदुनी, सेवती और केतकी फूलों का कथन है और साथ ही

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, ३५४४ ।
२. वही, १६२५ ।
३. वही, १४८३ ।
४. वही, ३४८७ ।
५. साहित्य लहरी (पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, प्रथम संस्करण), पद ७१ ।

विरहिणी का नायक के प्रति उपालम्भ भी है।

दृष्टकूट—शब्द-क्रीड़ा की परिसीमा दृष्टकूट पदों में देखने को मिलती है। शब्द-क्रीड़ा की रुचि ही सूर के दृष्टकूट-पदों की रचना के लिए उत्तरदायी है। साहित्य-रसिकों की गोष्ठियों में विन्दुमती, प्रहेलिका, चित्रकाव्य आदि के साथ दृष्टकूट भी पहले से ही प्रचलित थे। बाणभट्ट, दण्डी, माघ और भारवि आदि श्रेष्ठ कवियों ने इस प्रकार की रचनाओं में बड़ा श्रम किया था। काव्य-कौतुक मात्र ही इस प्रकार की रचनाओं का साध्य था। सूरदास जी अष्टछाप की गोष्ठी में रसिकों को काव्य-रसास्वादन कराया करते थे। वे शैलीकार थे, शब्द-क्रीड़ा उनकी सुरुचि के अनुरूप थी। पहले उन्होंने कुछ दृष्टकूट पदों की रचना कृष्ण की शृंगार-लीला क्रम में गूढ शब्दावली में किया होगा। काव्य-विनोदी भक्तों को यह शैली रुचिकर लगी होगी। फलतः ऐसे ही गिने-चुने काव्य-रसिक-भक्तों[1] के लिए ही उन्होंने अपनी दृष्टकूट-पद-रचना का विकास किया होगा। सूरसागर में दृष्टकूट-पद-रचना का प्रयोग-काल था, सारावली में उसका विकास है और साहित्य-लहरी तो समग्र ग्रंथ ही दृष्टकूटों में है।

दृष्टकूट-शब्दावली—दृष्टकूटों में संस्कृत (तत्सम) शब्दों का बाहुल्य है। कारण यह है कि सूरदास जी ने दृष्टकूट-शैली संस्कृत से ही ली है। दृष्टकूट में शब्दों की जोड़-जाड़ होती है, पर्यायवाची शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों में जबरदस्ती खींच-तान होती है और उसी से नये अर्थ उत्पन्न किये जाते हैं। संस्कृत का अमरकोष एक पर्यायवाची कोश है, इसका सहारा सूर को प्रायः लेना पड़ा है। संस्कृत शब्द प्रत्यय के बल पर भिन्नार्थक हो जाते हैं अतएव दृष्टकूट-शब्दावली के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। साथ ही भृगुसंहिता जैसे संस्कृत के ग्रन्थों में शब्दों और अंकों का जो निश्चित विधान है वही सूर के दृष्टकूटों का आधार है। इसीलिए दृष्टकूटों में अधिकांश शब्दावली संस्कृत की है।

सूरदास जी ने प्रयास किया है जहाँ सम्भव हो वे फारसी आदि के शब्दों को भी अवसर दें। जैसे—कुंतीसुत = कर्ण = दानी = सखी = सखी।[2] इस प्रकार कुन्ती-सुत का अर्थ सखी लेने के लिए उन्होंने 'सख़ी' (फारसी) शब्द का उपयोग किया है। इसी प्रकार दर[3] = दरवाजा, नजीक[4] = नजदीक का भी प्रयोग साहित्य-लहरी में है।

शब्दों की बनावट ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप है। क्रियापदों में 'आइहै' 'मिल्यौ', 'लखि', 'डोलें', गँवायो', 'कियो चाहियत', 'लगायौ', 'थाको', 'कीनी', तथा विभक्तियों में 'री', 'कों', 'सों', 'ते', 'पै', आदि रूप मिलते हैं। तात्पर्य यह कि साहित्य-लहरी की भाषा-शैली में जहाँ शब्दावली परिमार्जित, प्रौढ़ और तत्सम प्रधान है वहाँ उसमें ब्रजभाषा का सहज मार्दव भी विद्यमान है।

गेयत्व—गेयत्व की दृष्टि से दृष्टकूट-पदों में कोई दोष नहीं आया है। यद्यपि

---

१. **नंदनंदन दास हित साहित्य-लहरी कीन।**—साहित्य-लहरी, पद संख्या १०९।
२. **(कुंतीसुत सुभाव चित समुझत सारंग जाइ मिलावै।)**—साहित्य-लहरी, पद ४
३. साहित्य लहरी, पद ३।
४. वही, ४५।

दृष्टकूटों में कवि शब्द-साधना के चमत्कार-विधान में निरत था, स्वर-साधना के अनुरूप भावात्मक क्षेत्र उसके पास न था तथापि सूर जैसे संगीत-कला-अभ्यस्त-गायक के लिए यह कठिन सिद्ध न हो सका कि वे समास-पद-युक्त तत्सम पदावलियों को भी राग-रागनियों के ठीक स्वर तालों में बाँध सकें। सूरसागर के दृष्टकूटों के साथ रागों का नाम दिया गया है। साहित्य-लहरी के पदों के ऊपर राग विशेष का नाम नहीं है फिर भी सभी पद राग-विधान में निर्दोष हैं।

दृष्टकूट में उक्ति-वैचित्र्य की अतिरंजना—सूर की दृष्टि में वक्रोक्ति यदि 'काव्य का जीवित' नहीं तो उसका अत्यन्त उपयोगी प्रसाधन है। उक्ति-वैचित्र्य-काव्य-रूप का अतिरंजित रूप ही दृष्टकूट है। दृष्टकूटों में ठीक वही मनोवृत्ति मिलती है जो अन्य वक्र प्रयोगों में है। उक्ति में अलंकरण, गूढत्व और शब्द-चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ही सूर ने दृष्टकूटों का प्रयोग किया है। दृष्टकूटों की रचना कवि ने उसी समय की है जब कवि की कल्पना साधारण से असाधारण हो जाती है। जहाँ कृष्ण और राधा के अपार सौंदर्य पर मुग्ध होकर कवि उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं की सृष्टि में तल्लीन हो जाता था वहाँ वह अभिव्यक्ति का चमत्कारिक रूप प्रस्तुत करने के लिए दृष्टकूट पद रचना में भी संलग्न हो जाता था। इसीलिए प्रायः एक ही कथन की दो अभिव्यक्तियाँ अलंकार-रूप और दृष्टकूट-रूप में मिल जाती हैं। जैसे—अलंकार-रूप—

स्वाति सुत माला विराजति, स्याम तन इहिं भाइ।
मनौ गंगा गौरि डर हर, लई कंठ लगाइ॥[1]

दृष्टकूट रूप

बाजीपति अग्रज अम्बा तेहि, अरक-थान-सुत-माला गुंदहिं।
मानहुँ स्वर्गहिं तें सुरपति-रिपु-कन्या-सौति आइ ढरि सिदहिं॥[2]

[बाजीपति = उच्चैश्रवा घोड़ा—उसका अग्रज शंख—उसकी मां स्त्रीलिंग शंख = ग्रीवा। अरक = सूर्य—उसके ठहरने का स्थान समुद्र—उसका सुत मोती। सुरपति = इन्द्र उसका रिपु—पहाड़ (हिमालय) उसकी कन्या पार्वती।]

इसी प्रकार कृष्ण के मथानी पकड़ने पर कवि समुद्र-मंथन की कल्पना कर लेता है—फलतः शेष, मंदराचल, सिन्धु, शिव आदि भ्रम में पड़ जाते हैं। इसके दोनों रूप मिलते हैं—

अलंकार रूप—

जब दधि मथनी टेकि अरै।
आरि करत मटुकी गहि मोहन, वासुकि संभु डरै।
मंदर डरत सिंधु पुनि कांपत, फिर जनि मथन करै।[3]

दृष्टकूट रूप—

जब दधि-रिपु हरि हाथ लियो।
खगपति-अरि डर असुरनि संका, वासर-पति आनन्द कियो।[4]

---

१. सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद १७०।
२. वही, १०७।
३. वही, १४२।
४. वही, १४३।

[दधि-रिपु = दही को मारने वाली मथनी। खगपति + अरि = गरुड़ का अरि बासुकि। वासर = दिन = वार-वारि-वारि-पति = समुद्र। आनंद कियो = बढ़ा]

मुरली-प्रसंग उक्ति-वैचित्र्य का अनुपम स्थल है। मुरली-धुनि का अपरिमित प्रभाव जल-थल-चराचर पर पड़ा। इस भाव से चमत्कृत होकर सूर ने दृष्टकूट-पद-रचना भी कर डाली।

जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह-व्यौहार तजे आरज-पथ, चलत न संक करी॥
पद-रिपु पट अंटक्यौ न सम्हारति, उलट न पलट खरी।
सिव-सुत-वाहन आइ मिले हैं, मन चित बुद्धि हरी॥
दुरि गए कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारंग सुधि बिसरी।
उडुपति, विद्रुम, बिंब खिसाने, दामिनि अधिक डरी॥[1]

सूर के दृष्टकूट पदों के विषय, प्रायः वे ही हैं जो उक्ति-वैचित्र्य की अतिरंजना के अनुकूल स्थल हैं। जैसे कृष्ण और राधा का अलौकिक सौंदर्य, सुरति-वर्णन, नेत्रों की अनुरक्ति और विरह-वर्णन। तात्पर्य यह कि उक्ति-वैचित्र्य की अतिरंजना ही दृष्टकूटों का मूल है।

दृष्टकूटों का अलंकार-रूप—वैचित्र्य उत्पन्न करना ही दृष्टकूट का प्रयोजन है। साम्यमूलक अलंकार सूर के प्रिय अलंकार हैं। इनमें कुछ अलंकारों का स्वरूप ही गूढ़ और वैचित्र्यप्रधान है। इनका स्वरूप अनायास ही दृष्टकूट रूप धारण कर लेता है। रूपकातिशयोक्ति अलंकार जिसमें केवल उपमान के कथन से उपमेय का बोध होता है, गूढोक्ति एवं वैचित्र्य के सर्वथा अनुरूप है। इसीलिए राधा के नख-शिख और सुरति-वर्णन में सूरदास जी ने रूपकातिशयोक्ति का ही दृष्टकूट-रूप प्रस्तुत किया है। यद्यपि सूर के समक्ष राधा के नख-शिख-वर्णन में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आवश्यकता न थी और उन्होंने साधारण शब्दावली में बिना किसी संकोच के अधिक-से-अधिक नग्न-वर्णन किया है[2] तथापि दृष्टकूट-रूप नख-शिख या सुरति-वर्णन के लिए उन्हें अधिक अनुरूप प्रतीत हुआ इसीलिए सूरसागर में इन प्रसंगों पर दृष्टकूटों की संख्या अधिक है। जैसे—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥[3]
मोहन बेल शृंगार विटप सौं, उरझी आनन्द बेल।
कंचन बेल तमालहिं लपटी, रसिक रंग भरि रेल॥[4]

सारावली में भी राधा के रूप-वर्णन में ही दृष्टकूट-पदों का प्रयोग है।[5] साहित्य-लहरी में भी नख-शिख वर्णन का एक पद है।[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६५९।
२. वही, १९८८ और २४९७।
३. वही, २११०।
४. सारावली, पद ९८५।
५. सारावली, छन्द संख्या ९३७ से ९६६ और ९८५ से ९९१।
६. साहित्य-लहरी, पद संख्या १०३।

उत्प्रेक्षा अलंकार भी कल्पना का खेल प्रस्तुत करता है। जब उत्प्रेक्षा के उपमान गूढ़ हो जाते हैं या शब्द-क्रीड़ा का सहारा लेते हैं तो दृष्टकूट का रूप-निर्माण स्वतः हो जाता है। जैसे——

हरि उर-मोहनि-बेलि लसी।
ता पर उरग ग्रसित तब सोभित, पूरन अंस ससी।
चापति कर भुजदंड रेख-गुन, अंतर बीच कसी।
कनक-कलस मधु-पान मनौ करि, भुजगिनि उलटि धँसी।[1]

यहाँ रूपकातिशयोक्ति उत्प्रेक्षा से युक्त है। 'हरि-उर पर मोहनि-बेलि' राधा है। उरग रूपी वेणी से ग्रसित पूर्णशशि मुख है। कृष्ण के भुजदंडों के बीच कसी है। उसमें कृष्ण की भुजाएँ जो उलटी हैं, मानों कनक-कलशों (कुचों) का रस पान करके उलट गई हैं।

प्रतीप अलंकार में उपमान की अवहेलना होती है। कल्पना के बल पर इसमें कवि वैचित्र्य उत्पन्न करता है। उपमान उपमेय से डरकर भागते हैं और उक्ति चमत्कारिक बनकर दृष्टकूट का रूप धारण कर लेती है—

राधा तेरे रूप की अधिकाइ।
सिंह सकुचि, सर बिथा भरत दिन, बिनु सोइ नीर सुखाइ।
ससि डर घटत, हेम पावक जलै, चम्पक रहै कुम्हिलाइ।।[2]

शब्दार्थ का इन्द्रजाल—दृष्टकूट में पहेली उपस्थित करना कवि का उद्देश्य होता है। वह सुत, पितु, मित्र, अरि, भ्रात, भगिनी, सौत आदि के सम्बन्धों को लेकर खेलना चाहता है। जैसे इन्द्रजाल प्रस्तुत करने वाला एक वस्तु में दूसरी और दूसरी में तीसरी वस्तु बनाता और बिगाड़ता जाता है उसी प्रकार दृष्टकूट में कवि एक शब्द का दूसरे से सम्बन्ध जोड़ता जाता है और अन्त में विलक्षण अर्थ उत्पन्न कर देता है। जैसे——

राधे हरि-रिपु क्यों न दुरावत।
सारंग-सुत-वाहन की सोभा, सारंग-सुत न बनावत।।
सैल-सुता-पति ताके सुत, पति-ताके सुतहिं मनावत।
हरि-वाहन के मीत तासु पति, ता पति तोहिं बुलावत।।[3]

हरि-रिपु—हरि = विष्णु, उनका रिपु मधु = मद = मान। इस प्रकार हरि-रिपु का अर्थ हुआ मान।

सारंग-सुत-वाहन——सारंग = जल, जल का सुत चन्द्रमा, चन्द्रमा का वाहन मृग (नेत्र)। इस प्रकार सारंग-सुत-वाहन का अर्थ हुआ नेत्र।

सारंग-सुत—सारंग = दीपक, दीपक का सुत काजल।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११९६।
२. वही, २७७६।
३. वही, २७४९।

शैल-सुता—नदी, उसका पति समुद्र, समुद्र का सुत चन्द्रमा, उसका पति सूर्य, सूर्य का पुत्र शनि, शनि का गुण मन्दता, अतः पूरी पंक्ति का अर्थ मन्दता है।

हरि=इन्द्र, उसका वाहन बादल, बादल का मित्र जल, जल का पति वरुण, वरुण के पति कृष्ण। इस प्रकार हरि-वाहन के मीत तासु पति तापति, श्रीकृष्ण हुए।

यही जोड़-जाड़ सूर के अधिकांश दृष्टकूटों का मूल है। सूरसागर, साहित्य-लहरी और सूरसारावली के दृष्टकूटों में एक ही प्रकार की जोड़-जाड़ मिलती है। इस प्रवृत्ति की चरमसीमा साहित्य-लहरी में है क्योंकि साहित्य-लहरी ग्रन्थ है ही दृष्ट-कूट-ग्रन्थ।

इन्द्रजाली जैसे जोड़-जाड़कर नई वस्तु बनाता है उसी प्रकार वस्तुओं को तोड़-ताड़कर तथा एक का अंश दूसरे में जोड़कर उसका नया रूप दे देता है। दृष्टकूटों में कवि ऐसा खेल भी प्रस्तुत करता है। जैसे—

चपला और वराह रस आखर आद देख झपटाने।[1]

यहाँ 'चपला', 'वराह' और 'रस' शब्दों के आदि अक्षरों–चपला का 'च' बराह=कोल का 'को' और 'रस' का 'र' को अलग निकालकर जोड़ डाला तो (च+को+र) चकोर शब्द बन गया।

इसी का एक और विलक्षण रूप है—

वायस शब्द अजा की मिलवन दीनो काम अनूप।[2]

यहाँ 'वायस' और 'अजा' के शब्द (बोली) जोड़े गये हैं—कौए की बोली 'का' और अजा की बोली 'म' के योग से 'काम' बन गया है।

इसका तीसरा और सब से विलक्षण रूप वह है जिसमें अक्षरों मात्र के द्विगुण-त्रिगुण करके शब्द बनाये जाते हैं। जैसे—

तीन वि वि दधि सुत उतारन, राम दल जुत सान।
तीन ल ल बल करै तो संग, कौन भल अलि जान।
डेढ़ ल ल कल लेत नाहीं, प्रान प्रीतम प्रान।[3]

'वि वि' को तीन बार पुकारने पर छः 'वि' हुए, इनसे शब्द बना **छवि**। 'ल ल' को तीन बार पुकारने पर छः 'ल' हुए, इस प्रकार शब्द बना **छल**। 'ल ल' को डेढ़ बार कहने पर तीन 'ल' हुए, इस प्रकार शब्द बना **तिल**। इस प्रकार छवि, छल और तिल शब्दों की रचना काव्य का इन्द्रजाल ही है।

शब्दों की भाँति संख्याओं की जोड़-जाड़ से भी सूर ने अनेक दृष्टकूट लिखे हैं। जैसे—

देखे सात कमल इक ठौर।
तिनको अति आदर दैबे कौं धाइ, मिले द्वै और॥[4]

१. साहित्य-लहरी, पद ७२।
२. वही, ६९।
३. वही, २१।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४५८।

सात कमल से तात्पर्य है—राधा के २ पाँव, २ हाथ, २ नेत्र और १ मुख, दौड़कर मिलने वाले कृष्ण के २ नेत्र हैं।

इसी प्रकार—'पाँच कमल द्वै सिन्धु'[1], 'चार इंदु एक जोर'[2], 'प्रगट द्वादस मीन[3]', 'तीस भानु इक ठौर'[4], 'देखे साठ कमल[5] इक जोर' आदि उपस्थित किये गये हैं। एक पद में कृष्ण, राधा और एक सखी का नख-शिख है उसमें संख्याओं की गणना लम्बी है—

बसौरी नैनन में षट इंदु ।
नंदनंदन, वृषभानु नंदिनी, सखी सहित सोभित जगबंद ।
द्वादश ही पतंग, ससि सौबिस, षट फनि, चौबिस चतुरंग छंद ।
द्वादस बिम्ब, सौ बानवे वज्रकन, षट कमलनि मुसुक्यात जु मंद ।[6]

साधारण देखने में ये पद बड़े विचित्र लगते हैं। इसी विचित्रता के लिए ही सूर ने इनकी रचना की है, किन्तु उपमानों की गणना के अतिरिक्त इनमें और कुछ नहीं है। उपर्युक्त पद की व्याख्या इस प्रकार है—कृष्ण, राधा और सखी तीनों आमने-सामने खड़े हैं, तीनों के प्रतिबिम्ब एक दूसरे पर पड़ रहे हैं। इस प्रकार इनके तीन चन्द्रमुख और तीन प्रतिबिम्ब मिलकर ६ इंदु हो गये। तीनों कुंडल पहिने हैं इस प्रकार छः कुंडल और उनके प्रतिबिम्ब मिलकर १२ कुंडल, बारह सूर्य हुए। सब के बीस-बीस नाखून ६० हुए, प्रतिबिम्ब मिलाकर १२० हुए यही सौ बिस ससि हैं। प्रत्येक की चोटियाँ और प्रतिबिम्ब मिलकर छः साँप बने। तीनों के शरीर पर की कान्ति चार-चार रंग की हैं—स्वर्ण (कांति), रजत (हँसी), ताम्र (होंठ), लौह (अंजन)—इस प्रकार १२ रंग और १२ प्रतिबिम्ब यही चौबीस चतुरंग छन्द हैं। प्रत्येक के फटे हुए होंठ २ बिम्बा फल हैं, इस प्रकार ६ बिम्बा फल और ६ प्रतिबिम्ब मिलकर १२ बिम्बा फल हुए। प्रत्येक के ३२ दाँत और उनके प्रतिबिंब मिलकर एक सौ बानवे वज्रकन हुए। षट् कमल उनके तीन मुख और तीन प्रतिबिम्ब हैं।

संख्याओं के लिए ज्योतिष ग्रंथों में एक रूढि पद्धति है। अंकों का बोध शब्दों से होता है। १ के लिए शशि या गणेश-वदन, २ के लिए नेत्र, ३ के लिए राम, ४ के लिए वेद, ५ के लिए शर, ६ के लिए रस, ७ के लिए मुनि, ८ के लिए बसु, ९ के लिए ग्रह, ११ के लिए रुद्र, १२ के लिए मुहूर्त, १६ के लिए शृंगार, २७ के लिए नक्षत्र शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। भृगुसंहिता जैसे ज्योतिष ग्रंथों में यही पद्धति मिलती है। सूरदास जी को ज्योतिष का सम्यक् ज्ञान, था। कृष्ण की जन्म-कुंडली

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४६६ ।
२. वही, २४६७ ।
३. वही, २४६८ ।
४. वही, २४६९ ।
५. वही, १२०३ ।
६. वही, २१७१ ।

उन्होंने साहित्य-लहरी और सूरसागर दोनों में प्रस्तुत की है[1]; दोनों में पत्री एक ही है शब्दावली मात्र भिन्न है क्योंकि एक, साधारण शब्दों में और दूसरी दृष्टकूट में है। सूरदास जी ने अनेक दृष्टकूटों में ग्रहों, नक्षत्रों, राशियों आदि का उल्लेख भी किया है। साहित्य-लहरी के २९वें पद में तो १२ हों राशियों का उल्लेख है। अनेक पदों में ज्योतिष की इसी गणना से जटिलता उत्पन्न हो गयी है। जैसे—

भानु त्रिय जननी सुहित कौ सहचरी गुन लेत।[2]

में भानु त्रिय का अर्थ है सूर्य से तृतीय ग्रह अर्थात् मंगल। इसी प्रकार—'**तीन दोइ दृग पांच सात इक**"[3]—का अर्थ—३ + २ = ५, पाँचवाँ नक्षत्र मृगशिरा है, अतः मृग-दृग = मृगनयनी और ५ + ७ + १ = १३, तेरहवाँ नक्षत्र हस्तिन = हाथी = गजगामिनी—लिया गया है।

सूर के दृष्टकूटों में अंक शब्दों में मिलते हैं। जैसे—

अचरज सुभग वेद जल-जातक, कनक नील मनि गात।

× × ×

चंचल खग वसु अष्ट कंज-दल, सोभा वरनि न जात॥[4]

इनमें वेद का अर्थ ४ और वसु का अर्थ ८ है।

द्वै अरु चारि छहों वै बीते, काहें गहरु लगावति।

नौ अरु सात ये जु तोहिं सोभित, ते तू काह दुरावति॥[5]

यहाँ २ + ४ + ६ = १२ से १२ मुहूर्त और ९ + ७ = १६ से १६ शृंगार का अर्थ लिया गया है।

उर पर देखियत हैं ससि सात।[6]

---

१. **आदि ज्योतिषी तुम्हरे घर कौ, पुत्र जन्म सुनि आयौ।**
लगन सोधि सब ज्योतिष गनि कै चाहत तुमहिं सुनायौ॥
संवत् सरस विभावन भादौं, आठैं तिथि बुधवार।
कृष्ण पच्छ, रोहिनी, अर्द्ध निसि, हर्ष न जोग उदार॥
इत्यादि। सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८६

विप्र जी पावन पुण्य हमारे।
जो जजमान जानि कह मो कहँ, आपु यहाँ पगु धारे॥
× × ×
संवत मास षष्ठ वसु तिथि है रवि तें चौथी बार।
पुन्न पच्छ और वेद नखत है, हरषन जोग उदार।
इत्यादि। साहित्य-लहरी, पद संख्या ८१।

२. साहित्य-लहरी, पद २।

३. वही, २०।

४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४६५।

५. वही, २७४८।

६. वही, ११९८।

में ससि = १ + ७ = ८ = साँप = केश

मघ पंचक लै गयौ साँवरो, ताते अति अकुलात।[1]
नखत, वेद, ग्रह, जोरि अरध करि, सोइ बनत अब खात॥

नक्षत्र २७ + वेद ४ + ग्रह ९ = ४० का ½ = बीस = विष।

मघ पंचक = मघा से पाँचवाँ नक्षत्र चित्रा = चित्त।

दधि सुत वेद खैंच अपनो कर, सरुच सुभाव सुनाधे।
ग्रह मुनि दुत हित के हित, कर ते मुकर उतारत नाधे॥[2]

यहाँ 'दधि-सुत वेद' का अर्थ चन्द्रमा से चतुर्थ ग्रह वृहस्पति और ग्रह मुनि से सातवाँ ग्रह शनिश्चर का अर्थ लिया गया है।

मुनि पुनि रसन के रस लेष।
दसन गौरीनंद को लिखि, सुबल संवत पेष॥[3]

में मुनि से ७, रसन से रस—०, रस से ६, गणेश का दसन से १, लिया गया है; इस प्रकार 'संख्याया वामतो गतिः' के अनुसार इसका अर्थ १६०७ हुआ जो कि ग्रन्थ का रचना-काल कवि ने लिखा है।

शब्दार्थ की खींचतान—दृष्टकूटों में शब्द के अर्थ की खींचतान बहुत होती है। यहाँ कविगण पर्याय मात्र का ही आधार न मानकर उसकी स्वर-मैत्री से भी लाभ उठाकर विचित्र अर्थ निकालते हैं। जैसे—

मंदिर अरध अवधि हरि बदि चले, हरि-अहार चलि जात।

में मन्दिर का आधा पाख और पाख का अर्थ पक्ष तथा हरि = सिंह का आहार मांस, मांस और मास की उच्चरित ध्वनि (मांस) का साम्य लेकर उसका अर्थ महीना लिया गया है। इसी प्रकार बीस की ध्वनि विष से मिलने के कारण इसका यही अर्थ लिया गया है।

'नीक' शब्द से आँख का अर्थ भी इसी प्रकार का है क्योंकि 'नीक' का अर्थ है अच्छा। 'अच्छा' और 'अक्षि' का उच्चारण सदृश है अतः नीक[4] का अर्थ आँख लिया गया है। 'दिनपति'[5] शब्द का अर्थ सूर्य है जिसका एक पर्याय मित्र है। इस प्रकार दिनपति से सखा का अर्थ लिया जाना दृष्टकूट के अनुरूप है।

तात्पर्य यह कि सूरदास जी ने दृष्टकूट पदों की रचना उक्ति-वैचित्र्य के रूप में

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९७६।

२. साहित्य-लहरी, पद ६।

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०९।

४. **सारंग सम कर नीक नीक सम सारंग सरस बखानै।**

—साहित्य लहरी, पद ४

५. **दिनपति चले धौं कहा जात।**

—साहित्य-लहरी, पद ८

ही की है। सूर का जो अलंकार-विधान वैचित्र्य की ओर उन्मुख था उसी का विकसित रूप दृष्टकूट है। दृष्टकूटों की पद्धति संस्कृत काव्य और ज्योतिष-ग्रन्थों में प्राप्त है। सूरदास जी को काव्य और ज्योतिष दोनों का विशद ज्ञान था अतः उन्होंने दृष्टकूटों के द्वारा काव्य का एक अन्यतम रूप प्रस्तुत किया है। यद्यपि शब्द और अर्थ की वक्रता ही मूलतः दृष्टकूट का साध्य है फिर भी सूर ने इनमें रसानुभूति को भी स्थान दिया है। यह उनकी अपनी विशेषता है। साहित्य-लहरी में कवि न केवल शब्दार्थ-वक्रता को निभा रहा था वरन् नायिका-भेद, अलंकार और रसावयवों का उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहा था। इनमें भी अधिकांश पदों में रसानुभूति के दर्शन होते हैं।

सर्वेक्षण

सूर की अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य के परिशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूरदास जी को काव्य-परम्परा का पूर्ण परिज्ञान था और उन्होंने यथासम्भव काव्य-परम्परा के निर्वाह में योग भी दिया किन्तु परम्परा की परिधि से घिरा रहना भी उनकी प्रकृति और परिस्थिति के विपरीत था इसीलिए उन्होंने परम्परा से मुक्ति लेकर नवीन-काव्य-शैली का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी काव्य-शैली का मुख्य प्रयोजन रस का उत्कर्ष करना था। ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं जहाँ उनकी अप्रस्तुत-योजना तथा उक्ति-वैचित्र्य रसोत्कर्ष में बाधक सिद्ध हुए हों।

परम्परा का अनुसरण—सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना में सूर ने प्रायः परम्परा का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। रूपक विशेषतया परम्परा के अनुरूप है। सूरदास जी ने अपने काव्य में प्रचुर मात्रा में सांग-रूपक प्रस्तुत किये हैं। रूढ़ रूपकों में कवि का उद्देश्य भिन्न-भिन्न अंगों के लिए उपमानों की गणना करनी होती है। उसकी दृष्टि इस तथ्य की ओर नहीं होती कि उपमेय और उपमान में किसी प्रकार का सादृश्य है या नहीं। सूर के सांगरूपक विनय, रूप-वर्णन, नख-शिख, दान-लीला, मान-लीला और भ्रमरगीत में भरे पड़े हैं। विनय में गौ-रूपक[१], काया-नगर[२], जीवन-नृत्य[३], चौपड़-रूपक[४], और भव-अंबुनिधि रूपक[५] प्रमुख हैं। इन रूपकों के उपमान अधिकांश सूर के अपने हैं किन्तु सांगरूपक की शैली परम्परागत है।

रूप-वर्णन के सांग-रूपकों में कल्पना का पुट अधिक है फिर भी उनकी शैली

१. **माधौ नेंकु हटकौ गाइ।** —विनय, पद ५६
२. **जनम साहिबी करत गयौ।**
काया नगर बड़ी गुंजाइश नाहिन कछू बढ़्यौ॥ —विनय, पद ६४
३. **अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।** —विनय, पद १५३
४. **चौपरि जगत पड़े जुग बीते।** —विनय, पद ६०
५. **अब के नाथ मोहि उधारि।**
मगन हौं भव-अंबुनिधि में, कृपा सिन्धु मुरारि॥ —विनय, पद ६६

परम्परित शैली से भिन्न नहीं है। सुन्दरता-सागर[१], शोभासिन्धु[२] और काम-तड़ाग[३] एक ही सांग-रूपक के विभिन्न प्रकार हैं। मानिनी राधा का मान-सर-रूपक भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।[४] इन रूपकों में अप्रस्तुत-योजना परम्परा के क्रम में है किन्तु इनका उपयोग सूर ने अपने ढंग से किया है। प्रत्येक पद के अन्त में वे रूपक को इस प्रकार ढालते हैं कि उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। कृष्ण रूप सुन्दरता का सागर या शोभा-सिन्धु है तभी तो गोपियों के नेत्र उसको पार न कर सके उसी में निमग्न हो गये। वे काम-तड़ाग या मान-सर में भी डूब जाती हैं, कृष्ण ही उन्हें निकाल सकते हैं।

संयोग शृंगार में रति-रन रूपक[५] और वियोग-शृंगार में विरह-वन रूपक[६] इसी पद्धति के हैं। नख-शिख-वर्णन और सुरति-वर्णन में रूपकातिशयोक्ति सांगरूपक के द्वितीय रूप हैं। इन समस्त रूपकों में उपमान-योजना प्रायः एक-सी है। प्रसंगों के अनुसार बदल-बदलकर वे ही उपमेय और उपमान नये-नये वेष में आ विराजते हैं। सौंदर्य-वर्णन में जो उपमान आकर्षण के विधायक थे वे ही विरह की भीषणता में भयानक बन बैठते हैं। यही सूर का निजी योगदान है।

सादृश्यमूलक अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का मिलता है। सम्भवतः इसलिए कि इसमें कल्पना की उड़ान और वैचित्र्य-निक्षेप का अवसर अधिक है। उपमा, प्रतीप, व्यतिरेक, रूपक आदि में उत्प्रेक्षा सहायक रूप में मिलती है। सूर की नवीन कल्पनाएँ अधिकतर उत्प्रेक्षाओं में ही हैं किन्तु कवि-परम्परा की रक्षा यहाँ अधिकांश स्थलों पर है। रूप-वर्णन में कवि-परम्परा से प्राप्त निम्नलिखित उपमान मिलते हैं—

उपमेय	उपमान
मुख	विधु, कमल
कच	मधुप, शिखी, नाग
आँख	खंजन, मीन, मृग, वारिज, भृंग
भृकुटि	धनु, सुरचाप
नासिका	कीर, तिलप्रसून
दसन	दाड़िम, दामिनी, मुक्ता, वज्रकन

१. **देखो माई सुन्दरता को सागर।**
बुधि, विवेक, बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६२८

२. **स्याम सोभा-सिन्धु जान्यौ, अंग-अंग निहारि।**
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८१६

३. वही, १८१५।

४. वही, २५७५।

५. वही, पद १६८६ और २१२६

६. वही, २०७६।

कंठ	कपोत, कंबु
भुज	भुजंग
उर	गिरि
उदर	सरवर
कटि	सिंह
पैर	रंभा, करभा
चरण	कमल

कहीं-कहीं अलंकारों की सचेष्ट योजना भी परम्परा के क्रम में ही मिलती है। जैसे—

छुटे केस मज्जन समय, देखि विरुध अहि मोर।
भोर-कुहू-निसि मेरु तैं, उतरि चले उहि ओर।। (भ्रम)
सीस सचिक्कन केस तैं, बिच सीमंत सँवारि।
मानहु किरनि-पतंग तें, भयो दुधा तम हारि।। (वस्तूत्प्रेक्षा)
मुक्ता आपु बिकाइ के, उर में छिद्र कराइ।
अधर-अमृत हित तप करै, अधमुख ऊरध पाइ।। (फलोत्प्रेक्षा)
गुंजा की सी छवि लई, मुक्ता अति बड़ भाग।
नैनन की लई स्यामता, अधरनि को अनुराग।। (तद्गुण)
नैननि ऊपर कह कहौं, यों राजत भुव भंग।
जुवा बनावत चन्द्रमा, चपल होत सारंग।।[1] (उपमा)

इसी प्रकार अनुराग-लीला में एक स्थान पर सन्देह, भ्रम और भ्रान्तापह्नुति अलंकार भी परम्परा के क्रम में प्राप्त होते हैं—

सन्देह—

कंधर की धर-मेरु सखीरी।
की बग-पंगति की सुक-सीपज, मोर कि पीड़ पखी री।।
की सुर-चाप किधौं बनमाला, तड़ित किधौं पट पीत।
किधौं मन्द गरजनि जलधर की, पग-नूपुर रव नीत।।
की जलधर की स्याम सुभग तनु, यहै भोर तें सोचति।
सूर स्याम रस भरी राधिका, उमँगि-उमँगि रस मोचति।।[2]

भ्रान्तापह्नुति

राधिका हृदय तें धोख टारो।
नंद के लाल देखे प्रात-काल तें, मेघ नहिं स्याम-तनु-छवि बिचारो।।
इन्द्र-धनु नहीं बन-दाम बहु सुमन के, नहीं बग पाँति वर मोति-माला।
सिखी वह नहीं सिर मुकुट सौखंड-पछ, तड़ित नहिं पीत-पट-छवि रसाला।।[3]

---

१. सूरसागर, (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६१३।
२. वही, २०५७।
३. वही, २०६१।

आवृत्ति—

(इहि वन) मोर नहीं ये काम बान।[१]

चातक न होइ कोइ विरहिनि नारि।[२]

अर्थान्तरन्यास और व्यतिरेक के अनेक उदाहरण काव्य-परम्परा के अनुकूल मिलते हैं। जैसे—

अर्थान्तरन्यास—

प्रीति कर कोऊ सुख न लह्यौ।

प्रीति पतंग कियो दीपक सौं, आपै प्रान दह्यौ।

अलि-सुत प्रीति कियौ जल-सुत सौं, संपुट मांझ गह्यौ।।[३]

व्यतिरेक—

स्याम वियोग सुनो हो मधुकर, अँखियाँ उपमा जोग नहीं।

कंज, खंज, मृग, मीन होंहि नांहि, कवि जन वृथा कहीं।।

कंजन हू की लगति पलकदल, जामिनि होति जहीं।

खंजन हूँ उड़ि जात छिनक में प्रीतम जित तित हीं।।[४]

यथासंख्य—

जैसे मीन कमल चातक कौ, ऐसे दिन गये बीति।

तरफत, जरत, पुकारत निसि-दिन, नाहिन ह्वाँ कछु नीति।।[५]

अप्रस्तुत प्रशंसा—

तब तैं इन सबहिन सचुपायौ।

जब तैं हरि संदेस तुम्हारौ, सुनत ताँवरो आयौ।।

फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।

खोले मृगनि चौक चरननि के, हुतौ जु जिय बिसरायौ।।[६]

परम्परा से मुक्ति—मौलिक अप्रस्तुत-योजना के दो रूप हैं—एक तो वह जो प्राचीन उपमानों ही का कायाकल्प है और दूसरा वह जो नितान्त नवीन है।

परम्परा पर किंचित आश्रित—परम्परागत उपमानों में कल्पना की करामात से कवि उसको नवीन रूप देता है। जैसे—

भुज भुजंग, सरोज नैननि, वदन विधु जित लरनि।

रहे विवरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि।।[७]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३२६।

२. वही, ३३३५।

३. वही, ३२८८।

४. वही, ३५७१।

५. वही, ३८३८।

६. वही, ४१४१।

७. वही, १०६।

भुजा के लिए 'भुजंग', नैनों के लिए 'सरोज' और वदन के लिए 'विधु' उपमान नये नहीं हैं किन्तु क्रमालंकार द्वारा 'विवरनि', 'सलिल' और 'नभ' में उनकी स्थिति का नियोजन उन्हें नवीन बना देता है।

'तड़ित' से पीट-पट की उपमा प्राचीन है किन्तु कल्पना के योग से कवि ने उसे अभूतपूर्व बना दिया है—

उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनु तड़ित छपाए ॥[1]

उडुगण दिखाई पड़ रहे हैं, नील जलद छाये हैं और उन पर स्थिर दामिनी सुशोभित है। अचपल विद्युत् निश्चय ही एक नवीन वस्तु है।

नेत्रों के लिए सूर के उपमान प्राचीन होते हुए भी नवीन बन गए हैं—

मानहुँ भौंह जुवा रथ जोते, ससि नचवत मृग जात।[2]

मृग नेत्रों का परम्परागत उपमान है। भौंहों का सारूप्य जुए से है। इसलिए भृकुटियों की चंचलता के लिए कवि कहता है कि मुख-शशि के संकेत पर उसके रथ का वाहन मृग थिरकता जाता है और उसकी जुवा (भृकुटियाँ) घूमती जाती हैं। इस प्रकार प्राचीन सामग्री से ही कवि ने एक नवीन उपमान प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार नेत्रों की उपमा कमल (तामरस) से देना नवीनता नहीं है किन्तु इसको सूर जिस रूप में उपस्थित करते हैं वह उसे नवीन बना देता है—

मनहु ँ तामरस के संग खेलत बाल भृंग की पाँति।[3]

कमल पर भौंरे मँडराते हैं, बाल-भृंग की पंक्ति भृकुटी के सारूप्य की द्योतक है। बाल-भृंग की पंक्ति के योग से 'तामरस' उपमान को संजीवनी प्राप्त हो गयी है।

परम्परा से सर्वथा मुक्ति—जो उपमान परम्परा से सर्वथा मुक्त नितान्त नवीन हैं उनमें सूर की भक्ति-भावना और उनकी एकान्त परिस्थिति का संयोग है। शिशु-कृष्ण को पालने में पाँव का अँगूठा चूसते देखकर उनकी कल्पना जाग्रत हो जाती है, उनकी दृष्टि प्रभु के चरणों के रसामृत की ओर जा पड़ती है—

जा चरनारविन्द के रस कौ, सुर मुनि करत विषाद।
सो रस है मोहू ँ को दुरलभ, तातें लेत सवाद ॥[4] (हेतूत्प्रेक्षा)

उनके विचारों की शृंखला उसी दिशा में अग्रसर होती है और पाँव के अँगूठे को मुँह में देखकर वे प्रलय की कल्पना कर डालते हैं—

सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ़्यो सागर जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिगदंतीन सकेलत ॥[5]

(भ्रमालंकार)

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४।
२. वही, १८०५।
३. वही, १८२१।
४. वही, ६४।
५. वही, पद ६३।

सोते हुए बाल-कृष्ण के उदर को श्वास-प्रश्वास के कारण लहराते देखकर उसमें क्षीर-सागर-शायी-विष्णु का स्वरूप देखना भक्त-हृदय सूर के लिए स्वाभाविक है —

स्वास उदर उससित यों मानों, दुग्ध सिंधु छवि पावै ।
नाभि सरोज प्रगट पदमासन, उतरि नाल पछितावै ॥
कर सिर तर करि स्याम मनोहर, अलक अधिक सोभावै ।
सूरदास मानौ पन्नगपति, प्रभु ऊपर फन छावै ॥[१] (उत्प्रेक्षा)

इसी प्रकार कृष्ण के दूध-दँतुलियों के बीच रोटी देखकर वे वाराह भगवान के दाँतों पर रखी हुई पृथ्वी की कल्पना कर डालते हैं——

मनु वराह भूधर सह पुहमी, धरी दसन की कोटी ।[२]

बाल-कृष्ण का शिव-रूपक भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है——

सखीरी नंदनंदन देखु ।
धूरि-धूसर जटा-जुटली, हरि किये हर भेषु ॥[3]

बाल-वर्णन और नख-शिख वर्णन के अनेक पदों में अलक के रंग-बिरंगे लटकनों की गुरु, शनि, शुक्र, मंगल आदि से उपमा दी गयी है——

भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल दसा के चिकुर सुहाए ।
मानौ गुरु, सनि, कुज आगे करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए ॥[४]

घुटनों के बल चलते प्रभु को देखकर उनका श्रद्धा-भाव उभरता है और उनकी अप्रस्तुत-योजना का रूप इस प्रकार होता है——

कनक भूमि पर कर-पग छाया, यह उपमा इक राजति ।
करि-करि प्रति पद प्रतिमनि वसुधा, कमल बैठकी साजति ॥[५]
चलत पद-प्रतिबिम्ब मनि, आंगन घुटुरुवनि करनि ।
जलज, संपुट, सुभग-छवि, भरि लेत उर जनु धरनि ॥[६]

तात्पर्य यह कि सूरदास जी काव्य शास्त्रीय अलंकार-विधान से सुपरिचित थे । काव्य-परम्परा के अनुसरण पर ही उन्होंने काव्यालंकारों का प्रयोग अपने काव्य में किया किन्तु उन्होंने उपमान-योजना कहीं से ज्यों-की-त्यों नहीं ली है । उपमानों को उपस्थित करते हुए उन्होंने अपनी कल्पना के द्वारा साधारण और असाधारण प्रत्येक स्थल से सामग्री एकत्रित की है और उनको एक शास्त्रीय एवं साहित्यिक स्वरूप दे दिया है । उनका यह विधान साहित्यिक के लिए नवीन वस्तु है ।

अलौकिक उपमान—शृंगारिक प्रसंगों में सूर की अप्रस्तुत-योजना विलक्षण

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६५ ।
२. वही, १६४ ।
३. वही, १७० ।
४. वही, १०४ ।
५. वही, ११० ।
६. वही, १०६ ।

प्रयोगों के द्वारा असाधारणत्व की प्रतिष्ठा करती है। राधा के रूप-वर्णन में कवि अलौकिक उपमानों की योजना करता है ।

सूर ने मुखमंडल के लिए कलंक-रहित चन्द्र, माँग की मुक्ताओं के लिए उडुगन बेसर की चन्दक की अनेक मणियों के लिए गुरु, शुक्र, शनि और भौम, कान के तर्‌यौना के लिए सूर्य, तथा लाल माल के बीच कुचों के लिए निर्धूम अग्नि पर तपस्या करते हुए शिव का प्रयोग किया है—

प्रिया मुख देखौ स्याम निहारि ।
छीरोदक घूँघट हातौ करि, सन्मुख दियौ उघारि ।
मनौ सुधाकर दुग्ध सिंधु तें, कढ्यौ कलंक पखारि ।।
मुक्ता माँग सीस पर सोभित, राजति ईहिं आकारि ।
मानौ उडुगन जानि नवल ससि, आए करन जुहारि ।।
× × ×
बेसरि के मुक्ता के झांई, वरन विराजति चारि ।
मानौ सुरगुरु, सुक्र, भौम, सनि, चमकत चंद मझारि ।।
तरिवन स्रवन रतन मनि भूषित, सिर सीमंत संवारि ।
जनु जुग भानु दुहूँ दिसि उगए, भयौ द्विधा तम हारि ।।
लाल माल कुच बीच विराजति सखियन गुही सँवारि ।
मनहुँ धुई निर्धूम अग्नि पर, तप बैठे त्रिपुरारि ।।[1]

स्पष्ट है इस प्रकार की अलौकिक अप्रस्तुत-योजना राधा के सौंदर्य को अलौकिकत्व प्रदान करने में समर्थ है । इस प्रकार सुन्दरी लौकिक नायिका से सर्वथा भिन्न हो जाती है । रंग और रूप का सादृश्य सर्वत्र है किन्तु समस्त उपमान दैवी होने से उपमेय में एक दिव्यत्व की छाप आ जाती है ।

राधा-कृष्ण-संभोग-प्रेम में पुनीतता लाने के लिए स्थल-स्थल पर सुर-सरिता का उपमान भी कवि ने रखा है । सुरति-वर्णन में राधा-कृष्ण की उपमा गंगा-यमुना के पवित्र संगम से दी गयी है और सुरति-वर्णन रूपकातिशयोक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया है। पुनीत उपमानों द्वारा वर्णित होने से संभोग-शृंगार की मलिनता स्वतः धुल जाती है—

लपटे अंग सों सब अंग ।
सुरसरी मनु कियो संगम, तरनि-तनया संग ।।[2]

सुरति-वर्णन केवल उपमानों की सहायता से करने के कारण लीला का विस्तृत वर्णन भी हो जाता है और वर्णन की पुनीतता भी बनी रह जाती है ।

रसना जुगल रसनिधि बोल ।
कनक-बेलि तमाल अरुझी, सुभुज बंध अखोल ।।

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११८ ।
२. वही, २१३१ ।

भृंग-जूथ सुधाकरनि मनु, सघन आवत जात।
सुरसरी पर तरनि-तनया, उमँगि तट न समात ।।[१]

विपरीत रति का वर्णन भी इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति के द्वारा बड़ी सफाई के साथ सूरदास जी कर जाते हैं—

स्याम-स्यामा परम कुसल जोरी।
मनो नव जलद पर दामिनी की कला, सहज गति मेटि अति भई भोरी ।।[२]

आलिंगन और अधर-दंशन-कामना का व्यक्तीकरण भी रूपकातिशयोक्ति के द्वारा बड़ी कमनीयता से किया गया है—

चोरी के फल तुमहिं दिखाऊँ।
कंचन खंभ, डोर कंचन की, देखौ तुमहिं बँधाऊँ।
खंडौं एक अंग कछु तुम्हरौ, चोरी नाउँ मिटाऊँ ।।[३]

सुरति-वर्णन के बीच-बीच में भी विषय का परिष्करण करने के हेतु कवि ने गंगा और त्रिवेणी-रूपक प्रस्तुत किये हैं। राधा का इस प्रकार का वर्णन संभोग-लीला के आरम्भ में है जब कि कृष्ण का अन्त में। राधा के वर्णन में सूर कहते हैं—

मानौ गिरिवर तें आवति गंगा।
राजति अति रमनीक राधिका, इहि विधि अधिक अनूपम अंगा ।।
गौर-गात-दुति विमल वारि-विधि, कटि-तट त्रिबली तरल तरंगा।
रौम-राजि मनु जमुन मिली अध, भँवर परत मानौ भुव भंगा ।।

× × ×

सूरदास मनु चली सुरसरी, श्रीगुपाल-सागर सुख संगा।[४]

और कृष्ण के सम्बन्ध में सुरतान्त में यही उपमान योजना इस प्रकार है—

आजु बने बन तें ब्रज आवत।
जदपि हैं अपराध भरे हरि, देखि तऊ मोहिं भावत ।।
नख रेखा मुक्तावलि के तट, अंग अनूप लसी है।
मनौ सुरसरी ईस-सीस तें, लै विधु-कला धँसी है ।।

× × ×

निरखत अंग सूर के प्रभु कौं, प्रगटति भई त्रिवेनी।
मन-वच-कर्म दुरित नासन कौ, मानहुँ स्वर्ग निसेनी ।।[५]

तात्पर्य यह कि सूरदास जी ने अप्रस्तुत-योजना को अपना प्रधान साधन बनाया है। उन्होंने इन्हीं के उदात्तीकरण से अश्लील प्रसंगों को भी पवित्रता प्रदान की है।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१३२।
२. वही, २०३३।
३. वही, १६३७।
४. वही, २४५४।
५. वही, २६४७।

उनका उद्देश्य कृष्ण-राधा की प्रणय-लीला का अधिकाधिक विस्तार प्रस्तुत करना था। भक्ति के वातावरण में लौकिक ऐन्द्रिय-लीला का विस्तृत वर्णन वासनामय-दुर्गन्ध के बिना प्रस्तुत कर पाना इसीलिए सम्भव हो सका कि सूरदास जी ने अप्रस्तुत-विधान के दिव्य और पुनीत संस्कार अक्षुण्ण रखे। जिस प्रकार सूर का संयोग और विरह-वर्णन भारतीय साहित्य में सबसे विस्तृत और विशद है उसी प्रकार उनका अप्रस्तुत-विधान भी सबसे विस्तृत और सशक्त है। सूरदास जी ने अपने स्वामी और स्वामिनी की प्रणय-लीलाओं को अपने दिव्य-चक्षुओं से सर्वथा निरपेक्ष और निर्लिप्त भाव से देखा, लीला-दर्शन में उनके भक्त-हृदय में किसी प्रकार की विकृति न आई, उन्होंने सुरति, विपरीत-रति, बहुनायकत्व, खंडिता आदि लीलाओं से भक्ति-भावना को प्रगाढ़ किया[1], किन्तु यदि उन्होंने अप्रस्तुत-विधान को ऐसा दिव्य, अलौकिक और पुनीत रूप न दिया होता तो उनका वर्णन भी जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति की भाँति ही हो जाता और पाठक के सामने यह समस्या खड़ी हो जाती कि इन वर्णनों में शुद्ध शृंगार है या भक्ति, कवि शुद्ध-भक्त है या शृंगारिक।

ग्रामीण उपमान—ग्राम्य वातावरण से प्राप्त उपमाओं का जो प्रयोग सूर ने किया है वह साहित्य के लिए नवीन वस्तु है। बोलचाल की उपमाओं को साहित्यिक साँचे में ढाल दिया गया है। जैसे—

कहा तुम इतनेहि कौ गरबानी।
जोबन रूप दिवस दस ही कौ, जल अंजुरी कौ पानी॥
तृन को अगिनि, धूम कौ मंदिर, ज्यों तुषार कन पानी।

× × ×

तब धन जानि जाम जुग छाया, भूलति कहा अयानी॥
नवसं नदी चलति मरजादा, सूधियै सिंधु समानी।
सूर इतर ऊसर के बरषैं थौरेंहि जल इतरानी॥[2]

यौवन की अस्थिरता की उपमा अंजुली के जल, तृण की अग्नि, धूम के मंदिर, तुषार-कण के पानी, युग-याम की छाया और ऊसर की बरसाती नदी से देना नवीन प्रयोग है। कुछ और उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. पुलकित सुमुखी भई स्याम-रस ज्यों जल में काची गागरि गरि।[3]
२. निकसन हूँ पैये नहिं, कासों दुख कहिए, देखे नहिं हरि कौ।
सूरदास के प्रभु तन मेरौ, ज्यौं भयो हाथ पाथर तरकौ।[4]

---

१. सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को, भक्ति भावना पाऊँ।
कीजै कृपा आपने अनुचर, अनुपम लीला गाऊँ।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१४०।

२. वही, २५६२।
३. वही, १२०।
४. वही, १९१६।

३. फलन माँझ ज्यों करुई तोमरी, रहत घुरे पर डारी।
अब तो हाथ परी जंत्री के, बाजत राग दुलारी ॥[1]
४. दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुँह खैहै।
मूरी के पातन के बदले, को मुक्ताहल दैहै ॥[2]
५. इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनो दूध छाँडि को पीवै, खार कूप को बारी ॥[3]

उक्ति-वैचित्र्य में परम्परा-निर्वाह—सूर का उक्ति-वैचित्र्य नितान्त मौलिक है। वक्रोक्ति में सूर ने परम्परा पर दृष्टि नहीं रखी। कुन्तक-प्रणीत वक्रोक्ति के कुछ रूप अवश्य ही सूरसागर में मिलते हैं किन्तु उनके उदाहरण इतने कम हैं और उनमें शास्त्रीय दृष्टि का इतना अभाव है कि उन्हें हम सूर के सहजोद्‌गार के विभिन्न रूप मात्र ही कह सकते हैं। दृष्टकूटों में अवश्य ही उन्होंने परम्परा का पालन किया है। सूरसागर और सारावली के समस्त दृष्टकूट कवि-परम्परा के अनुसरण में लिखे गये हैं। साहित्य-लहरी के दृष्टकूटों का स्वरूप-निर्माण भी उसी पद्धति में है। दृष्टकूट-पद्धति में सिद्ध हो जाने पर सूरदास जी ने उसी के अन्तर्गत नायिका-भेद, अलंकार और रस जैसे विषयों के भेदों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये। यह कार्य बड़ा दुस्तर भी है और नवीन भी। अतएव दृष्टकूटों के सम्बन्ध में यही सूर की मौलिक उद्‌भावना हो सकती है।

रसोत्कर्ष में साधक या बाधक—

सूरदास जी की अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य का उद्देश्य कवि के भक्ति-भाव को इस प्रकार प्रस्तुत करना है कि सहृदय उस भाव का तद्वत् रसास्वादन कर सके। रूपक, उत्प्रेक्षा आदि रसोत्कर्ष के साधन मात्र हैं। पिछले विवेचन के साथ-साथ हम संकेत करते गये हैं कि किस प्रकार सूर के अलंकार और वक्र-प्रयोग रसोत्कर्ष में योग देते हैं। प्रायः सूरदास जी समस्त पद में अलंकार-योजना का चमत्कार रखते हैं किन्तु अन्त में एक ऐसा संकेत देते हैं जो उपमान-योजना के अस्थिपंजर में जीवन-रस लहरा देता है। जैसे—'सुन्दरता का सागर' सांगरूपक है, उसकी अन्तिम पंक्ति में 'सूर तदपि तरि सकौं न सोभा रहीं प्रेम पचि हारि' वाली पंक्ति रूपक को सार्थक कर देती है। गोपियाँ और भक्त कृष्ण के अपार सौन्दर्य में डूब जाते हैं, आखिर सागर है उसका पार कैसे पावें ?

इसी प्रकार 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' की रूपकातिशयोक्ति अलंकार-योजना का अद्‌भुतता का एक उदाहरण है। इस पद की भी अन्तिम पंक्ति इसी प्रकार रसात्मक है। पद में ललिता के द्वारा कृष्ण के सम्मुख राधा का नख-शिख वर्णन प्रस्तुत किया गया है। एक अद्‌भुत बाग के देखने का जो कुतूहल कृष्ण में उत्पन्न होगा उसे और

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४४४।
२. वही, ३६६४।
३. वही, ३६६५।

भी उत्कृष्ट करने के लिए वह प्रलोभन देती है—'सूरदास-प्रभु पियहु सुधा-रस मानहु अधरनि के बड़ भाग' इस प्रकार विषय और रस को दृष्टि में रखते हुए अप्रस्तुत-योजना चमत्कार-विधायक न होकर रसोत्कर्ष-विधायक है। उनकी विलक्षणता भी सप्रयोजन है। दृष्टकूट-पद भी जिनमें विस्मय उत्पन्न करने की वृत्ति सबसे अधिक है, निष्प्रयोजन नहीं है। प्रणय, विहार या सुरति जैसे वर्णनों में दृष्टकूटों का प्रयोग बड़ा श्लाघ्य है। साहित्य-लहरी के दृष्टकूट अवश्य ही अलग हैं क्योंकि वह तो ग्रंथ ही दृष्टकूट चमत्कार-प्रधान है।

कुछ स्थल ऐसे भी मिल सकते हैं जिनमें कल्पना की अतिरंजना रसोत्कर्ष में सहायक नहीं होती। उदाहरण के लिए पनघट से आती हुई राधा का चित्र देखा जा सकता है—

गागरि नागरि लै पनघट तैं चली घरहि को आवै।
× × ×
गति गयंद, कुच कुंभ, किंकिनी मनहुँ घंट घहनावै।
मोतिन हार जलाजल मानो, खुभी दन्त झलकावै॥
चन्दक मनहुँ महाउत मुख पर, अंकुस बेसरि लावै।
× × ×
घट जल छलकि कपोलनि कनिका, मानो मदहिं चुवावै॥
बेनी डोलति दुहूँ नितंबनि, मानहुँ पुच्छ हिलावै।
गज-सरदार सूर को स्वामी, देखि-देखि सुख पावै॥[1]

भाव की दृष्टि से अपनी स्वामिनी के लिए ऐसा रूपक प्रस्तुत करना सूर के लिए असंगत है। सादृश्य की दृष्टि से तो रूपक और भी निकृष्ट है क्योंकि कुच-कुंभ, किंकिनी-घंट, खुभी (कर्णफूल)-दन्त, चन्दक-महावत, अंकुश-बेसरि, रोमावली-सूंड आदि में कोई सादृश्य नहीं है। नितम्बों पर वेणी डोलने की उपमा हाथी के पूंछ हिलाने से देना असंस्कृत मनोवृत्ति का द्योतक है। सम्पूर्ण अप्रस्तुत-योजना उपहासास्पद है, रसोत्कर्ष करने के विपरीत यह तो रस-साधना में बाधक ही है। इसी प्रकार बिखरी हुई अलकों को देखकर ऐसी कल्पना करना कि सिंहिनी के सुत ने मयंक को गोद में लिया है।[2] निरर्थक है। सिंह-शावक का मृग को गोद में रखना एक विचित्र व्यापार है किन्तु इससे पाठक या श्रोता को सौंदर्यानुभूति नहीं होती, भय की अवतारणा भले ही हो जाय। इससे न तो वर्ण्य के सौंदर्य में वृद्धि होती है और न सहृदय में किसी प्रकार का भावोत्कर्ष होता है, किन्तु इस प्रकार के विचित्र स्थल बहुत कम हैं जहाँ विचित्रता है कि वहाँ विस्मय, रस को उद्दीप्त करने में सहायक है। सूर की वक्रोक्तियाँ तो सर्वत्र ही रसोत्कर्ष में साधक हैं, उनमें कहीं भी ऐसा वैचित्र्य नहीं है जो भावानुमोदित न हो।

१. सूरसागर, (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४३९।
२. **मनु मयंकहिं गोद लीन्हौं सिंहिका को सूनु।**
—सूरसागर, (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८४

प्रकरण ४

सूर की भाषा

ब्रजभाषा और इसके स्वरूप-निर्माण में सूर का योग—

सूरदास की भाषा ब्रजभाषा है। सूरदास जी ने इसका नाम 'ब्रजभाषा' कहीं नहीं कहा, तुलसीदास[1] जी की भाँति इन्होंने भी इसे 'भाषा' कहा है।[2] उर्दू के प्राचीन लेखक भी ब्रजभाषा को 'भाखा' नाम से पुकारते थे। डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने अपने ग्रंथ 'सूर और उनका साहित्य' में ब्रजभाषा के सम्बन्ध में मिर्जा खां द्वारा लिखित एक प्राचीनतम पुस्तक का उल्लेख किया है। उसमें भी ब्रज और उसके आस-पास की बोली को 'भाखा' कहा गया है।[3] साहित्य में इस भाषा का सर्व-प्रथम प्रवेश चंद-बरदायी-रचित पृथ्वीराज रासो में माना जाता है।[4] इस ग्रंथ के पश्चात् बहुत काल तक ब्रजभाषा का प्रयोग साहित्य में नहीं मिलता। ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक गोरखनाथ की बानियों में अवश्य ही ब्रजभाषा का प्रथम रूप मिलता है। जैसे—

अवधू जाप जपौ जपमाली, चीन्हौ जाप जप्या फल होई।
आगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई॥[5]

क्रिया-पद ही भाषा के परिचायक होते हैं। उक्त पद में 'जपौ', 'चीन्हो', 'जप्या', 'जपीला', 'चीन्हत', ब्रज के क्रिया-पदों के रूप हैं। गोरखबानी की भाषा का ही रूपान्तर कबीर में मिलता है। कबीर आदि की सधुक्कड़ी भाषा में ब्रज-प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। जैसे—

अपनो करम न मेट्यो जाई।
करम क लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई॥
गुरु वशिष्ठ मिलि लगन सुधायो, सुरज मन्त्र इक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिआही, पल एक संचु न कीन्हा॥[6]

यहाँ भी 'मेट्यो', 'धौं', 'सुधायो', 'इक', 'दीन्हा', 'बिआही' ब्रज के रूप हैं। सन्तों की बानियों में ब्रजभाषा के कुछ रूप मिल अवश्य जाते हैं किन्तु खड़ी बोली, अवधी, राजस्थानी और पंजाबी के मिश्रित रूप में उनका स्थान नगण्य-सा है। इस प्रकार

---

१. **भाषा भनित मोरि मति थोरी।** —रामचरितमानस बालकांड

२. **सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ।**
सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २२५

३. सूर और उनका साहित्य; पृष्ठ ४५०।

४. ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा), पृष्ठ १८।

५. गोरखबानी (डा० बड़थ्वाल), पद संख्या १३, पृष्ठ १०१।

६. बीजक, शब्द ११०, पृष्ठ २३७।

सूरदास से पूर्व उपलब्ध साहित्य में ब्रजभाषा का सम्यक् स्थान न मिलना इस बात का प्रमाण है कि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रज को साहित्यिक रूप दिया।

अनुकूल परिस्थितियाँ—सूरदास जी की प्रचलित बोली को साहित्यिक रूप देना स्वाभाविक था। उनको ऐसे सुयोग प्राप्त हुए कि अनायास ही उनके द्वारा भाषा का परिष्कार हो गया। सूरदास जी बचपन से ही ब्रज-प्रान्त में निवास करते थे। श्री बल्लभाचार्य जी के मिलन से पूर्व वे कबीर आदि की परम्परा में भगवद्भजन करते थे। विचार की दृष्टि से उनके गीतों और कबीर आदि सन्तों के गीतों में अन्तर न था। भाषा की दृष्टि से सूर के इन पदों की भाषा शुद्ध ब्रज थी, कबीर की भाँति मिश्रित न थी किन्तु उसमें साहित्यिकता का पुट विशेष न था। उदाहरण के लिए सूर के विनय के पद देखे जा सकते हैं। जैसे—

हरि, तुव माया को न बिगोयो।
सौ जोजन मरजाद सिन्धु की, पल में राम बिलोयो॥
नारद मगन भए माया में, ज्ञान बुद्धि बल खोयो।
साठ पुत्र अरु द्वादस कन्या, कंठ लगाये जोयो॥
संकर को मन हर्यो कामिनी, सेज छाड़ि भू सोयो।
चारु मोहिनी आइ आँध कियो, तब नख-शिख ते रोयो॥
सौ भैया दुरजोधन राजा, पल में गरद समोयो।
सूरदास कंचन अरु काँचहिं, एकहि धगा पिरोयो॥[1]

भाषा की दृष्टि से यह पद ब्रजभाषा के प्रतिनिधि पद का अच्छा नमूना है। कबीर आदि के पदों की अपेक्षा ब्रजभाषा की प्रकृति इस पद के प्रत्येक शब्द के रूप विकारों में प्राप्त होती है। विचार की दृष्टि से इसमें संतधारा का प्रतिफलन है। वैराग्य, दास्य-भक्ति और आत्मनिवेदन युक्त ऐसे ही पद गाकर सूरदास पद-गायक के नाम से प्रसिद्ध थे। महाप्रभु की प्रेरणा से उनकी विचारधारा में भगवान कृष्ण की रसमय लीलाओं का आविर्भाव हुआ। लीला-प्रसंग की रसमय अवतारणा से भाषा ने स्वतः साहित्यिक स्वरूप धारण कर लिया।

सूर की सहज-भाषा के साहित्यिक बन जाने का दूसरा कारण यह है कि अब सूर पहले जैसे ऐसे गायक-संत न रहे जिनके समाज में अशिक्षितों, असाहित्यिकों या अशास्त्रीय गवैयों का बहुमत होता है। स्वामी बल्लभाचार्य जी के स्थायी ब्रजवास का ब्रज-भाषा के विकास पर निश्चय ही गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रज-प्रान्त साहित्य, संगीत, दर्शन और धर्म का केन्द्र बन गया। पुष्टिमार्गीय भक्तों के साथ ही गौड़ीय, राधावल्लभीय, निम्बार्कीय और हरिदासी भक्तों ने भी ब्रज को अपना कला-केन्द्र बनाया तथा भक्ति और संगीत का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया गया। भक्ति को पहले केवल भाव माना जाता था। श्री रूपगोस्वामी जी ने 'उज्ज्वल नील मणि' और 'भक्ति रसात्मक सिन्धु' ग्रंथों में भक्ति की गणना रसों में की और उसकी शास्त्रीय विवेचना की। परि-

---

१. सूरसागर, विनय, पद ४३।

णाम यह हुआ कि भक्तों की भाषा शास्त्रीय पक्ष की ओर उन्मुख हो गयी।

भक्ति-क्षेत्र के बाहर भी काव्य-शास्त्रीय-अध्ययन होने लगा था और ब्रजभाषा इस अध्ययन का माध्यम बन चुकी थी। इसका प्रमाण यह है कि सूर के समकालीन कृपाराम जी ने 'हित-तरंगिणी' जैसे ग्रंथ की रचना सं० १५९८ में प्रस्तुत की। हित-तरंगिणी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। सूरदास जी की साहित्य-लहरी में अलंकार, नायिका-भेद और रसावयवों का शास्त्रीय-क्रम में नियोजन भी इसी तथ्य का बोधक है कि उस काल में काव्यशास्त्रीय अभिरुचि सभी काव्य-जिज्ञासुओं में उत्पन्न हो चुकी थी।

सूरदास जी की भाषा के साहित्यिक बन जाने का कारण यह भी है कि वे वल्लभाचार्य जी के पश्चात् रसिकवर श्री विट्ठलनाथ जी की उस रसज्ञ गोष्ठी के रत्न बने जिसमें आठ प्रतिष्ठित वीणाओं की शास्त्रानुमोदित रागिनियाँ गूँजा करती थीं। अष्टछाप की गोष्ठी के सभापति 'शृंगाररस मंडन' के रचयिता शास्त्रज्ञ विट्ठलनाथ जी थे और उसमें नन्ददास और परमानन्ददास जैसे काव्य-कलाविद् थे। अतः यह स्वाभाविक है कि यहाँ प्रस्तुत किये जाने वाले पदों की भाषा में कवि की दृष्टि परिष्कार और कलात्मकता की ओर हो गयी होगी।

सूरदास का यह परम सौभाग्य था कि उन पर महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे महापुरुष की कृपा एकाएक हो गयी। घाट के गायक को गुरु-चरणों का अवलम्ब मिला। वे एकदम उठाकर श्रीनाथ जी के मन्दिर में नियुक्त किये गये और आज्ञा हुई कि वे लीला-पदों की नयी-नयी रचना से प्रभु का कीर्तन करें। लोक-गायक प्रतिष्ठित समाज का गायक बन गया। फलतः नैत्यिक और नैमित्तिक लीला के क्रम में वे ब्रजभाषा में पदों की रचना करने लगे। अभ्यास बढ़ जाने पर क्रमशः भाषा में परिष्कार होता गया। सूरसागर में भाषा-परिष्कार का यह क्रम-विकास नहीं मिलता। कारण यह है कि सूरसागर का सम्पादन बाद में हुआ है जिसमें पूर्व-रचित सभी स्फुट पद विषय-क्रम से रखे गये हैं।

तात्पर्य यह कि सूर से पूर्व ब्रजभाषा-काव्य की कोई स्थिर परम्परा नहीं बनी थी। या तो ब्रजभाषा में काव्य-रचना हुई ही न थी और यदि हुई भी तो इतनी नगण्य कि वह एकदम काल-कवलित हो गयी। सूरदास जी को ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ कि ब्रजभाषा में सर्वप्रथम प्रचुर साहित्य का निर्माण करें। उनकी भाषा में साधारण लोकगीत से लेकर चमत्कारप्रधान दृष्टकूट-पद-रचना तक की विविधता मिलती है इसलिए उनको 'ब्रजभाषा का वाल्मीकि' कहना सर्वथा उचित ही है। सूरदास जी ने ब्रजभाषा को जो स्वरूप दिया वह स्थिर रूप से परवर्ती साहित्यकारों द्वारा ग्रहण किया गया। ब्रजभाषा की जो सामान्य विशेषताएँ आगे चलकर दृढ़ हुईं उनका सूत्रपात सूर ने ही किया।

भाषा-समृद्धि—

शब्द-कोश—शब्द ही भाव-प्रकाशन के माध्यम हैं। जिस कवि का शब्द-कोश जितना विशाल होगा उसकी भाषा और शैली उतनी ही समृद्ध होगी। सर्वोत्तम भावा-

भिव्यक्ति के निमित्त कवि चारों ओर से शब्दों को ग्रहण करता है और आवश्यक काट-छाँट करके उनका प्रयोग करता है। ऐसा करने से भाव-प्रकाशन सुन्दर हो जाता है। सूरदास जी से पूर्व ब्रजभाषा काव्य की कोई प्रतिष्ठा प्राप्त परम्परा न थी। सूरदासजी ने ही बोली को साहित्यिक क्षेत्र में उतारा। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा में विभिन्न प्रकार के शब्द आ गये। भाषा का संस्कार करने के उद्देश्य से उन्होंने संस्कृत से सबसे अधिक शब्द लिये। सच तो यह है कि हिन्दी में संस्कृत के ही तत्सम और तद्भव शब्द सबसे अधिक हैं। बोलचाल में संस्कृत शब्दों के विकृत रूप प्रयुक्त होते रहते हैं। सूरदास जी ने प्रचलित शब्दों में प्रायः परिवर्तन नहीं किया है इसीलिए संस्कृत के तद्भव शब्द सूर की भाषा में बहुत हैं। तत्सम शब्द अधिकांश वहाँ हैं जहाँ उन्हें अप्रस्तुत योजना करनी पड़ी है या जहाँ भागवत आदि के आधार पर कुछ तथ्य-कथन करना पड़ा है या किसी और प्रकार का वर्णन देना पड़ा है। तत्सम और तद्भव शब्दों से भी भाषा के अन्य शब्द बन जाते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से उनका मूल मनो-रंजक होता है। कभी-कभी उनमें विलक्षण परिवर्तन भी हो जाते हैं। हिन्दी में ऐसे बहुत अधिक शब्द हैं। इन्हें हिन्दी शब्द कहना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उनकी व्युत्पति संदिग्ध है। सूर के द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-शब्द कुछ तो समस्त हिन्दी-प्रदेश में प्रयुक्त हो चले हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल ब्रज में ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो सूरदास जी के समय में प्रचलित थे किन्तु कालान्तर में उनका प्रयोग ब्रज-प्रान्त में तथा ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा में न चल सका। इतना अवश्य है कि इन शब्दों का प्रयोग अपने स्थल पर बड़ा ही उपयुक्त है। सूरदास जी ने विदेशीय, अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया है। इन शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्होंने इन पर ब्रजभाषा की कलई कर रखी है। यही कारण है कि शब्दों का स्वरूप हिन्दी के इतने अनुरूप हो गया है कि उनका विदेशीपन लक्षित ही नहीं होता। अर्थ की दृष्टि से इन शब्दों का सौंदर्य अनुपम है। सूरदास जी ने पात्र और परिस्थिति के अनु-रूप जो शब्द पाया उसका उसी प्रकार प्रयोग किया। देशी-विदेशी, साहित्यिक-असाहित्यिक, शिष्ट-अशिष्ट जैसा भी उपयुक्त शब्द उन्हें मिला, उन्होंने उसको सहर्ष स्वीकार किया। इससे भाषा की व्यंजकता और अर्थ-वैभव की वृद्धि हुई है।

इस प्रकार सूर की शब्द-योजना बड़ी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण हो गई है। उसका एक पक्ष उसके स्वरूप का है, दूसरा उसके अर्थ-विस्तार का। स्वरूप का वह अंश जो भाषा वैज्ञानिक है, प्रस्तुत-प्रबन्ध का विषय नहीं है किन्तु विभिन्न उद्गमों से प्राप्त शब्दों में कवि ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जो परिवर्तन किये हैं उनका विवे-चन काव्य-कला के प्रसंग में आवश्यक है।

तत्सम शब्द—जैसा कि हमने ऊपर कहा है सूरदास जी ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग या तो उन पदों में किया है जिनमें उन्हें सिद्धान्त-निरूपण करना था या जहाँ अप्रस्तुत-योजना करनी थी। लीला-पदों में तत्सम शब्दावली अपेक्षाकृत कम है। कारण यह है कि सिद्धान्त-कथन में उन्होंने संस्कृत-ग्रंथों का आधार रखा है और साहित्यिक अप्रस्तुत-योजना में संस्कृत-काव्य-परम्परा का। लीला-गायन में उन्होंने वाह्य

आधार कम लिया है, स्वानुभूति या मौलिक उद्भावना के बल पर ही पदों की रचना की है इसीलिए इन पदों की शब्दावली में सहज बोल-चाल का परिमार्जित रूप मात्र है। सूरदास जी स्वभावतया ब्रज-बोली के सहज मार्दव की रक्षा का ही ध्यान रखते थे इसीलिए यथासम्भव उन्होंने तत्सम शब्दावली में विशेष रुचि नहीं दिखाई।

सिद्धान्त-निरूपण में—संस्कृत रचनाओं के आधार लेने से जहाँ तत्सम शब्दावली का प्रयोग दुर्निवार हो गया है वहाँ भी उन्होंने तत्सम शब्दों को बोल-चाल का रूप देने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए उनका सारावली ग्रंथ सिद्धान्त-ग्रंथ है। उसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग सूर के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक है किन्तु उसके तत्सम शब्दों को भी सरल बनाने का प्रयास कवि ने किया है। जैसे—

अविगति आदि अनन्त अनूपम, अलख पुरुष अविनासी।
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी॥
जहँ वृन्दावन आदि अजर जहँ, कुंज लता विस्तार।
तहँ विहरत प्रिय प्रियतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार॥[1]
शोभा अमित अपार अखंडित, आप आतमाराम।
पूरण ब्रह्म प्रगट पुरुसोत्तम, सब विधि पूरण काम॥
आदि सनातन एक अनूपम, अविगत अल्प अहार।
ओम्कार आदि वेद असुरहन, निर्गुण सगुण अपार॥[2]

उक्त पंक्तियों में सभी शब्द तत्सम हैं किन्तु इनमें से कुछ पर सूरदास जी ने बोली का रंग चढ़ाया है। 'अनूपम', 'अलख', 'अविनासी', 'पूरण', 'विहरत', 'आतमाराम', 'असुरहन' ऐसे ही हैं। अत्यल्प परिवर्तन के द्वारा ये तत्सम शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं मानों तद्भव हों। यही प्रवृत्ति सूरसागर के पदों में भी परिलक्षित होती है। जैसे—

आदि सनातन हरि अबिनासी। सदा निरंतर घट-घट वासी॥
पूरन ब्रह्म पुरान बखानैं। चतुरानन सिव अन्त न जानैं॥[3]
अच्छर अच्युत अविकार है, निराकार है जोइ।
आदि अन्त नहिं जानियत, आदि अन्त प्रभु सोइ॥[4]

तत्सम लेते हुए भी सूरदास जी ने 'अविनाशी' को अबिनासी, 'पूर्ण' को पूरन, 'पुराण' को पुरान, 'अक्षर' को अच्छर कर दिया है।

विनय के पदों में जहाँ शास्त्र का प्रभाव है तत्सम शब्दावली का प्रयोग अधिक है। जैसे—

---

१. सूर सारावली, छन्द १, २।
२. वही, ९९२-९९३।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३।
४. वही, ११७५।

माधौ नेकु हटकौ गाइ ।
भ्रमत निसि-वासर अपथ-पथ, अगह गहि नहिं जाइ ।।
छुधित अति न अघाति कबहूँ, निगम द्रुम दलि खाइ ।
अष्टदल-घट नीर अंचवति, तृषा तउ न बुझाइ ।।

× × ×

नारदादि सुकादि मुनिजन, थके करत उपाइ ।
ताहि कहुँ कैसे कृपानिधि, सकत सूर चराइ ।।[1]

'निसि', 'अगह', 'छुधित', 'अंचवति', 'तृषा' तथा 'सुकादि' शब्दों के वर्णों में ही किंचित् परिवर्तन करके उनमें भाषापन ला दिया गया है ।

कहीं वर्णों के अत्यल्प परिवर्तन से ही शब्दों की रंगत बदल दी गयी है । जैसे—

भृंगीरी भजि स्याम-कमल-पद, जहां न निसि कौ त्रास ।
जहँ विधु-भानु समान एक रस, सो वारिज सुख-रास ।।
जहँ किंजल्क भक्ति नव-लच्छन, काम-ज्ञान रस एक ।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि-जन भृंग अनेक ।।
सिव, विरंचि खंजन-मन-रंजन, छिन-छिन करत प्रवेस ।
अखिल कोष तहँ भरयो सुकृत-जल, प्रगटित स्याम-दिनेस ।।
सुनिमधुकरि, भ्रम तजि कुमुदिनकौ, राजिव वर की आस ।
सूरज प्रेम-सिन्धु में प्रफुलित, तहँ चलि करैं निवास ।।[2]

पद पर वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत का ऐसा प्रभाव है कि शब्दों की तत्समता का भान पहले नहीं होता यद्यपि अधिकांश शब्द अपने तत्सम रूप में ही प्रयुक्त हैं । अपनी पद्धति से कवि ने 'श्याम' को 'स्याम', 'निशि' को 'निसि', 'राशि' को 'रास', 'लक्षण' को 'लच्छन', 'शिव' को 'सिव', 'क्षण' को 'छिन', 'प्रवेश' को 'प्रवेस', 'आशा' को 'आस' तथा 'प्रफुल्लित' को 'प्रफुलित' कर दिया है । परिवर्तन अत्यल्प हैं किन्तु इतने ही से शब्दों की रंगत सर्वथा बदल गई है ।

स्तोत्र-पद्धति की स्तुतियों में—सूरदास जी ने कुछ स्तुतियाँ स्तोत्र-पद्धति में लिखी हैं । इन स्तोत्रों में तत्सम शब्दावली सबसे अधिक मिलती है । तत्सम शब्दावली के आधिक्य से कवि को शब्दों में परिवर्तन लाने का अवसर कम मिला है फिर भी जहाँ कहीं उन्हें तनिक भी सुविधा हुई उन्होंने संस्कृत शब्दों पर ब्रजभाषा का माधुर्य चढ़ा ही दिया है । उदाहरण के लिए गोवर्धन-लीला के उपरान्त इन्द्र की स्तुति है—

जयति नंदलाल, जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल, आनन्दकारी ।
कृष्न कमनीय, मुख-कमल राजत-सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि बनबिहारी ।।

---

१. सूरसागर, विनय, पद ५६ ।
२. सूरसागर (सभा), प्रथम स्कन्ध, पद ३३९ ।

स्याम घन, दिव्य-तन पीत पट, दामिनी, इन्द्र-धनु मोर कौ मुकुट सोहै।
सुभग उर-माल-मनि, कंठ चंदन अंग, हास्य ईषद जु त्रैलोक्य मोहै॥
सुरभि मंडल मध्य, भुज सखा अंस दिये, त्रिभंग सुन्दर लाल अति विराजै।

× × ×

सूर कौ गोपाल सोइ सुख-निधि, नाथ, आपनौ जानि कै सरन आयौ।[1]

इस स्तोत्र में भी सूरदास जी ने 'कृष्ण' को 'कृष्न', 'ध्वनि' को 'धुनि', 'श्याम' को 'स्याम', 'मयूर' को 'मोर', 'मणि' को 'मनि', 'अंश' को 'अंस', 'शरण' को 'सरन' कर दिया है।

तात्पर्य यह है कि सूरदास जी को ब्रजभाषा का सहज मधुर स्वरूप ही प्रिय था। इसीलिए वे प्रायः तत्सम शब्दावली के स्थान पर तद्भव शब्दावली को अधिक प्रयोग करते रहे हैं। जहाँ उन्हें सिद्धान्त-प्रतिपादन करना था, स्तुति करनी थी या भागवतीय कथन करने थे वहाँ विषयानुरूप शब्दावली रखने के लिए उन्होंने तत्सम शब्दावली का प्रयोग तो किया है पर ब्रजभाषा के मार्दव और उसकी प्रकृति को प्रधानता देने के लिए ब्रज में प्रयुक्त शब्दों का विशेषतया और अन्य शब्दों का सामान्यतया रूप परिवर्तन कर दिया है। यही कारण है कि सूर के तत्सम वर्ण-प्रधान-पद भी गोस्वामी तुलसीदास जी की विनयपत्रिका के अनेक पदों की भाँति भाषापन को खो नहीं देते। सूर के पदों में तत्सम शब्दावली कट-छँटकर ब्रजभाषा की मधुर ध्वनि में मिल जाती है और भाषा के सुवर्ण-आधार में जटित पुखराज की भाँति और भी सुदीप्ति प्रसारित करती है।

अप्रस्तुत-योजना में—तत्सम शब्दावली का दूसरा प्रयोग सूर के उन पदों में मिलता है जिनमें कवि ने अप्रस्तुत-योजना की है। प्रायः अपने प्रभु कृष्ण के रूप-चित्रण में कवि ने उपमानों के जुटाने में अपने कवि-कर्म की पराकाष्ठा कर डाली है। सूरदास जी को संस्कृत काव्य की सम्पन्न परम्परा का पूर्ण परिज्ञान था। उन्होंने अप्रस्तुत-योजना में प्रायः कवि-परम्परा का अनुसरण किया है। इसीलिए उसी प्रकार कल्पना के पंख पसारते हुए सूर की शब्द-योजना भी संस्कृतमयी हो गई है। इन पदों में सूर का कवि-पक्ष अधिक प्रबल है, अतः इन पदों की तत्सम-शब्द-योजना ऊपर लिखी धार्मिक-पदों की तत्समता से भिन्न है। सूर के काव्यत्व ने इन पदों में विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है। धार्मिक पदों में तत्समता कटने-छँटने पर भी उभरी हुई स्पष्ट दिखाई पड़ती है पर सहित्यिक पदों में तत्सम-शब्दावली का बाहुल्य होते हुए भी, वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगीत और अलंकरण के कारण ब्रजभाषा संस्कृत-तत्समता पर प्रबल प्रतीत होती है। जैसे—

धन्य नन्द जसुदा के नन्दन।
धनि सीखंड पीड़ सिर लटकनि, धनि कुंडल धनि मृगमद चंदन॥
धनि राधिका धन्य सुन्दरता, धनि मोहन की जोरी।
ज्यौं घन मध्य दामिनी की छवि, यह उपमा कहौं थोरी॥[2]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६८०।
२. वही, १०४७।

इन पंक्तियों में सभी शब्द—'धन्य', 'यशोदानन्दन', 'सीखण्ड', 'कुंडल', 'मृगमद', 'चंदन', 'सुन्दरता', 'घन', 'मध्य', 'दामिनी', 'छवि'—तत्सम हैं किन्तु वर्ण-योजना के चमत्कार के कारण उनकी तत्समता लुप्त-सी प्रतीत होती है। निम्नलिखित पद में तत्सम शब्दावली और भी अधिक है—

देखौ माई रूप सरोवर साज्यौ।
ब्रज बनिता बर-बारि वृंद में, श्री ब्रजराज बिराज्यो॥
लोचन-जलज मधुप-अलकावलि, कुंडल-मीन सलोल।
कुच-चकवाक बिलोकि बदन-बिधु, बिछुरि रहे अनबोल॥
मुक्ता-माल बाल-बग-पंगति, करत कुलाहल कूल।
सारस, हंस, मोर, सुक-स्रेनी, बैजयंती सम तूल॥
पुरइनि कपिस निचोल विविध अंग, बहुरति रुचि उपजावै।
सूर-स्याम आनन्द-कंद की, सोभा कहत न आवै॥[1]

यह पद सांगरूपक में ग्रथित सुन्दर कला-गीत का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें तत्सम शब्दावली प्रकट है। रूपक के उपमान संस्कृत-काव्य-परम्परा के हैं। इसीलिए शब्दावली तत्सम है। तत्समता के प्रभाव को हटाने के लिए जिस चतुराई का प्रयोग कवि ने किया है, द्रष्टव्य है। गीत की टेक "देखौ माई रूप सरोवर साज्यौ" में शुद्ध भाषापन है। क्रिया "साज्यौ" विशेषतया उसमें भाषा की सहजता और ब्रज-माधुरी का समावेश करती है। "टेक", गीत में बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, गीत में अनेक बार चरणान्त में दुहराई जाती है। इसके द्वारा भाषापन का प्रसार अन्य पंक्तियों पर स्थापित होता जाता है। दूसरी पंक्ति का प्रत्येक शब्द तत्सम है किन्तु कवि ने बड़ी चतुराई से प्रत्येक "व" को "ब" कर दिया है। "ब" ब्रजभाषा की प्रिय-परिचित ध्वनि है। इस प्रकार सम्पूर्ण पंक्ति जिसमें "ब" ध्वनि का ही वृत्यनुप्रास है अपनी तत्समता को अनायास ही खो बैठती है। इसके पश्चात् दो पंक्तियाँ साथ-साथ गायी या पढ़ी जाती हैं। इनमें भी प्रत्येक शब्द तत्सम है। इसमें अगली पंक्ति अर्थात् "कुच-चकवाक बिलोकि बदन-बिधु बिछुरि रहे अनबोल" में "चक्रवाक" के स्थन पर "चकवाक" और "बिलोकि बदन-बिधु, में "ब" का वृत्यानुप्रास तथा अन्त में ब्रज के तीन शब्द "बिछुरि रहे अनबोल" दोनों पंक्तियों की तत्समता के प्रभाव का निराकरण कर देते हैं। शेष पंक्तियों में तत्समता प्रबल नहीं है—'बाल-बग-पंगति', "कुलाहल", "मोर", "सुक-स्रेनी" ब्रज-बाना धारण करके पंक्ति में भाषा की स्वाभाविकता उत्पन्न किये हैं। अन्तिम पंक्तियों में तो तत्सम शब्द हैं ही बहुत कम। प्रतीत होता है कि अन्तिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते उनकी तत्समता की प्रबलता स्वतः मन्द पड़ जाती है। इस प्रकार जिस पद में सूरदास जी तत्सम शब्दावली की बहुलता रखते हैं उसमें भी उसका प्रभाव प्रबल नहीं होने पाता, ब्रज की बोली की सामान्य मृदुता संस्कृत-तत्समता के माधुर्य को अपने रंग में ही मिला लेती है। सूर की इसी कला ने ब्रज-भाषा-शब्द-योजना को एक

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४६।

निराला रूप दिया। आगे चलकर परवर्ती ब्रज-कवियों ने सूर के इसी गुण में विशेष मृदुता भरने का प्रयास किया, फलतः ब्रजभाषा-काव्य का अपना माधुर्य संस्कृत की समास-गर्भित सानुप्रासिक ध्वनि-आपूरित माधुर्य से भिन्न हो गया। ब्रजभाषा के माधुर्य में जहाँ सहज मिठास दिखाई पड़ा, वहाँ संस्कृत-तत्सम-शब्दावली में कृत्रिम माधुर्य की गंध भी आने लगी। सूरदास ही ब्रज-काव्य-परम्परा के प्रथम कलाकार थे जिन्होंने साहित्यिक ब्रजभाषा में ऐसी शब्दावली का प्रचलन किया जिसमें तत्सम शब्दावली के आधिक्य होने पर भी संस्कृतता के स्थान पर भाषापन की मिठास का ही प्राधान्य हो।

तत्सम शब्दावली का अधिक प्रयोग सूर ने बाल-छवि-वर्णन[1], मुरली-प्रसंग में कृष्ण-छवि-वर्णन[2], रास-लीला में श्याम-श्यामा के रूप-वर्णन[3], रास-(नृत्य) वर्णन[4], वृन्दावन-विहार[5], यमुना-जल-विहार प्रसंग में कृष्ण का रूप-वर्णन[6], राधा का नख-शिख[7], युगल-समागम[8]—में किया है। इन प्रसंगों में असंख्य तत्सम शब्द मिलेंगे।

सूर के द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्द प्रायः संज्ञा रूप में हैं किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने शब्दों में क्रिया-रूप भी प्रयोग किये हैं। जैसे—

गति सुधंग नृत्यति नारि।[9]
नृत्यत स्याम स्यामा अंग।[10]
स्याम तनु राजति पीत पिछौरी।[11]

प्रथम दृष्टि में देखने पर प्रतीत होता है कि कवि ने 'नृत्यति' या 'राजति' शब्द क्रिया के तत्सम रूप में प्रयोग किया है किन्तु वास्तव में कवि ने 'नृत्यति' और 'राजति' शब्दों को क्रिया रूप में उस प्रकार नहीं लिया है जिस प्रकार संस्कृत में इनका प्रयोग होता है क्योंकि पुल्लिग में सूर ने 'नृत्यत' रूप लिखा है। संस्कृत में पुल्लिग में भी रूप 'नृत्यति' ही रहता। तात्पर्य यह कि 'नृत्य' शब्द मात्र को ही सूर ने तत्सम रूप में लिया है 'त', 'ति' प्रत्यय इसमें इसी प्रकार लगे है जैसे निरखत, उघटत, चलत,

---

१. सूरसागर (सभा). दशम स्कन्ध, पद ९८ से ११०, १६९ से १७१, ६१६ से ६१९ तक।

२. वही, ६२० से ६४१ तक।

३. वही, १०४७ से १०७० तक।

४. वही, ११३६ से ११६० तक।

५. वही, ११८७ से १२०७ तक।

६. वही, १७५२ से १८४१ तक।

७. वही, २११४ से २११८ तक।

८. वही, २१२८ से २८०५ तक।

९. वही, १०५७।

१०. वही, १०५६।

११. वही, १०५४।

बाजत या करत, जाति, चलति, हँसति, विराजति, कहति आदि में। तिष्ठति[1] का प्रयोग अवश्य ही विचारणीय है, इस पर संस्कृत का प्रभाव निश्चय ही अधिक है।

तद्भव शब्द—सूरदास जी ने सबसे अधिक तद्भव शब्दों का ही प्रयोग किया है। कारण यह है कि उन्होंने व्यावहारिक भाषा को अधिक महत्त्व दिया है। तद्भव शब्दावली की बहुलता के कारण भाषा का आडम्बरहीन सहज सौंदर्य स्वभावतः ही बढ़ गया है। संस्कृत के ही शब्दों को ऐसा कर्ण-प्रिय सरल रूप दिया गया है कि वे ब्रज-भाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हो गये हैं और उनसे भाषा की ग्राम्यता भी जाती रही है। उदाहरण के लिए सूर द्वारा प्रयुक्त कुछ तद्भव शब्दों की लघु सूची प्रस्तुत की जाती है—

अंकवारि (अंकमाल), अंचयो (आचमन), अंचरा (अंचल), अंदोर (आंदोलन, अंदोल), अंधियारो (अंधकार), आंगन (प्रांगण), अगमने (आगमन), अगहर (अग्रहर), अकरी (अकृत्य), अनत (अन्यत्र), अनियारे (ऊणि—नोक+आर), अजरायल (अजर) अनैस (अनिष्ट), अमराई (आम्रराजि), ओदे (आर्द्र), औसर (अवसर), कल (कल्य), कान्ह (कृष्ण), गुड्डी (गुरु+उड्डीन), दही (दधि), लवन (नवनीत), चड़ाई (चंडता), टक (त्राटक), ढीठ (धृष्ट), बिसारि (विस्मृत), निठुराई (निष्ठुरता) निसंक (निश्शंक), जुवा (द्यूत), नेम (नियम), पंखी (पक्षी), भौंह (भ्रू), सुरति (स्मृति), सोग (शोक), सौंहें (सम्मुख), हियरौ (हृदय)।

तद्भव शब्दों में अनेक शब्द ऐसे हैं जो संस्कृत धातु और शब्दों के आधार पर तो बने हैं किन्तु उनका रूप हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से ही हुआ है। जैसे 'अघाइ' शब्द है, जिसका अर्थ है तृप्त होना। शब्द की व्युत्पत्ति सूर-शब्द-कोश में संस्कृत आघ्राण = नाक तक—से बतायी गयी है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के हिन्दी-शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत से निकाली जाती है किन्तु प्रयोग में ये अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। इनकी बनावट, इनकी ध्वनि और इनका अर्थ अपने ढंग का होता है। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा में बोली का सहज रूप निखरता है किन्तु इनका अधिक प्रयोग भाषा को असाहित्यिक बना देता है। उदाहरण के लिए ब्रज की बोलचाल में गिराने के स्थान पर 'गेरना' शब्द प्रयुक्त होता है। यह प्रयोग भाषा को स्वाभाविक भले ही कर दे किन्तु उसमें असाहित्यिकता की झलक भी भरता है। सूरदास जी ने भी 'गेरना' क्रिया का प्रयोग किया है जैसे—

बारम्बार जगावति माता लोचन खोलि पलक पुनि गेरत।[2]

सूरदास जी ने इस प्रकार के प्रयोग बहुत कम किये हैं। यहाँ पर भी तुक के लिए ही इसका प्रयोग किया गया है। प्रायः हिन्दी शब्दों का अपना अर्थ है जो कि किसी तत्सम, तद्भव या विदेशी शब्दों द्वारा उतनी सुन्दरता से प्रकट नहीं किया जा सकता उदाहरण के लिए शब्द है 'अंजोरि' जिसका अर्थ है छीनकर। 'अंजोरि' की व्युत्पत्ति

---

१. **तिष्ठति जाइ बारबारनि पै, होति अनीति नई।**
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २८०६।

२. वही, ४०५।

संस्कृत 'अंजलि' शब्द से है। हथेलियों के मिलाने से जो अंजलि बनती है, उससे बना हुआ 'अंजोरि' शब्द 'हथियाने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु जहाँ हथियाने में छीना-झपटी, बर्बरता और अन्याय की ध्वनि है वहाँ अंजोरि में हृदय हरने की मिठास भरी भावना है। प्रयोग इस प्रकार है--

सूरदास ठग रही ग्वालिनी, मन हरि लियो अंजोरि।[1]
सूर स्याम चितवत गये मो तन, तन मन लियो अंजोरि।[2]

स्पष्ट है उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में अंजोरि' के समान अर्थ-सौरस्य और स्वर-माधुर्य का चमत्कार उत्पन्न करने वाला अन्य कोई भी समानार्थक शब्द नहीं हो सकता है। ऐसे ही शब्दों का बाहुल्य सूर के पदों में मिलता है और इन्हीं शब्दों के कारण ही सूर की भाषा-शैली हिन्दी-साहित्य भर में अनोखी है। परवर्ती ब्रजभाषा कवियों ने साहित्यिकता के मोह में पड़कर इन लोक-भाषा के प्रचिलत रत्नों की मृदु कान्ति न पहचानी। चमक-दमक के हेतु उन्होंने कृत्रिम अलंकरण से शब्दों से सहज गुण को विलीन कर दिया। उनके औज्ज्वल्य में काँच या मुक्ताओं की चकाचौंध तो आ गयी किन्तु 'सीपज' का सहज मार्दव उसमें न आ सका। इस प्रकार के चुने हुए रत्नों की एक लघु सूची इस प्रकार है—

अंटक्यो, अकबकात, अकुचत, अघाइ, अठिलात, अनखानि, अनमने, अनेरी, अबै, अरगाई, अवढेरि, असवारी, अहकनो, इंगुर, इंडुरी, उजड़नो, उढ़ाने, उनए, उपचति उपराजी, उनहारि, उबरनो, उरझना, उरहन, उरेह, ऐंड़ानी, ओडर, ओलती, औचाई, औरासी, कचरची, कचौरा, कछोटी, कनौड़े, कमाई, कमोरी, कराह, कलबल, कल-मलात, कलेऊ, कसक, कसमसात, किलकिलात, कारी, कीक, कुरवारहीं, खतियानो, खनावै, गहीली, गारी (गाली), घटत, घनो, घबरानो, घालि, घिरावत, चपरि, चवाई, चँड़ाई, चितई, चीन्हि, चुरकुट, छहरि, छाँड़ि, छाक, छाकी, छिटकाति, जनाए, जम्हाई, जेंवना, जोवना, ज्याई, जुड़ाई, जुहार, जूंठन, जोरत, झकझोरन, झगरो, झमकना, झरोखो, झंपति, झारी, झीनी, झिझकारि, झूरी, झोर, टेक, टेकत, टेर, टेव, ठाकुर, ठकुराइत, ठग, ठये, ठाँव, ठानी, ठौर, डगमगाति, डगर, डेरा, ढरन, ढुरावति, ढेरि, ढौरि, तर-सायौ, तरैं, तलफति, ताक्यौ, निरुवारति, नेवज, पटतर, पत्यानी, पचि, पनहियाँ, पयान, पाँवरी, बगराई, बहुरि, बरजति, बाछैं, बाला, बियाहन, बियौ, बूहत, बिस्वास, भाड़ौ, भोंदू, भुलाई, मसान, महतारी, मीत, मीड़ै, मुसुकाहिं, मूड़, रीझे, लुनिए, ल्यावहु, विथकी, विटिनिया, विसूरति, सकोरत, सकुचात, सठिया, सत्रहिन, सविताई, सम्हारि, साध, सिंगार, सिखवै, सीत, समुझात, सौंज, हिय, हेरी।

अनुकरणात्मक शब्द—अनुकरणात्मक शब्द भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए बड़े ही उपयुक्त होते हैं। उनकी ध्वनि अर्थध्वनन युक्त होती है। सूर के शब्द-कोश में अनुकरणात्मक शब्द भी बहुत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अनेक साहित्यिक

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २७०।
२. वही, ६७०।

शब्दावली में प्रवेश न पा सके किन्तु इन शब्दों के प्रयोग से सूर के भाव-सौंदर्य और कला में बड़ा अनूठापन आ गया है। इस प्रकार के शब्दों की एक छोटी सूची इस प्रकार है—

अरबराइ, अरराात, ककोरत, कलमलात, किलकना, किलकिलात, कीकैं, खर-भरयो, खलबली, खुनखुना, गरराात, गहगहात, घहरानि, घुरकी, चटकि, चटचटात, चमचमात, चकचौंधति, चचोरत, चुचकारे, झकझोर, झकिझकि, झकोरा, झझकारत, झझकि, झटकि, झकार, झपटिझपटत, झमकत, झरझराति, झरक, झरयत, झरहरि, झिरकि, झनमलात, झकझोरत, झहरात, झिलमिल, झुनुक-झुनुक, टकटोरत, टनटनात टपकत, डगमगाइ, तरकि, तरराात, दरराात, फुंकार्यौ, भभकत, भहरात, सकसकात, हरराात, हलबली, हहरे।

देशज-शब्द—सूर ने अनेक देशज शब्दों का प्रयोग भी किया है। ब्रज-प्रान्त में जीवन भर रहने के कारण ब्रज प्रान्त के अनेक देशज उनकी वाणी में रम गये थे। इनकी अर्थ-व्यंजना किसी समानार्थक साहित्यिक शब्द से सम्भव न थी। इसीलिए सूरदास ने इन शब्दों का प्रयोग किया है। यही कारण है कि देशज शब्दों की संख्या कम है। इनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

अकूहल, अचगरी, अमात, अहीठ, आरोगत, औचट, उल्हरत, उपरफट, करवर कैती, करोवति, खरिक, खुनस, खुटिला, खोही, खाँगी, गिडुरी, ग्वैडे, गैसी, गोहन, गोसों, घैया, चाढी, चभोरी, छाक, जोहर, झंगुआ, झगा, झारी, झूसी, डहकायौ, डोंगरी, ढूकी, ढौरी, दुर (एक गहना), दौंचि, धारी, नरजी, निटोल, नैंसी, फचोर, फेफरी, फोकट, बगदाइ, बाइ, बाखरि, बागरि, बुड़की, लड़बौरी, लठबांसी।

विदेशी शब्द—सूर काल में अनेक फारसी, अरबी और तुरकी शब्द भाषा की सम्पत्ति बन चुके थे। फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग प्रायः सभ्य और प्रतिष्ठित समाज में हुआ करता था क्योंकि तत्कालीन शासन की राज्य-भाषा फारसी थी। फारसी और अरबी के ज्ञाता सहृदय मुसलमानों ने ब्रज-भाषा के माधुर्य की प्रशंसा की और उसे अपनाया भी। उधर ब्रज-भाषी कवियों ने भी रहीम और रसखान जैसे कवियों का समुचित सम्मान किया। इस आदान-प्रदान के कारण फारसी और अरबी के शब्द हिन्दी में पच गये। इन शब्दों के कारण ब्रज बोली में नागरिकता की छाप लगती थी इसीलिए सूरदास जी ने ब्रज-बोली की व्यंजकता बढ़ाने तथा उसे प्रतिष्ठित और साहित्यिक स्वरूप देने के लिए फारसी और अरबी शब्दों का स्वतन्त्रता से प्रयोग किया। इतने पर भी सूर द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्दों में सूर की निजी रुचि द्रष्टव्य है। निश्चय ही फारसी अरबी के तत्सम रूप ही शिष्ट समुदाय में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते रहे होंगे क्योंकि नागरिकों की दृष्टि में शब्दों का शुद्ध रूप वही होता है जो तत्सम होता है। सूरदास जी ने फारसी और अरबी के तत्सम रूप की प्रतिष्ठा की परवाह न की। उन्हें तो शब्द का वह रूप प्रिय था जो उनकी ब्रज-माधुरी में खप सकता हो। इसीलिए उन्होंने फारसी और अरबी शब्दों के ऊपर भी अपनी छैनी चलाई और उन्हें काट-छाँट कर ऐसा सरल और मृदु बना दिया कि ब्रज के शब्दों के बीच

प्रयुक्त अरबी और फारसी शब्दों की पहचान भी कठिन हो जाती है। उदाहरण के लिए फारसी शब्द 'अंदेशा' है, सूर ने इसे 'अंदेस' कर के लिखा है—

सूर निर्गुन ब्रह्म उर धरि तजहु सकल अंदेस।[1]

शब्द ब्रज-माधुरी के इतना अनुरूप है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों शुद्ध ब्रजभाषा का ही कोई शब्द है। इसी प्रकार फारसी का 'कुलाह' शब्द 'कुलही' बन कर ब्रज का देशी शब्द प्रतीत होता है। इस प्रकार सूर ने बिना किसी परिवर्तन के विदेशी शब्दों को नहीं स्वीकार किया है। किसी में स्वर परिवर्तन है तो किसी में ध्वनि परिवर्तन, किसी में स्वरागम है तो किसी में स्वर लोप। कभी हिन्दी प्रत्यय आदि लगते हैं तो कभी वर्णों को मसृण कर दिया गया है। फारसी और अरबी के कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

फारसी—

अंदेस, अवाज, अजाद, अपसोच, अबेस, आब, कंगूरा, कमान, कुरुख, कुलही, खराद, खाक, खानाजाद, खुमारी, गहर, गिलकरना, गुदारा, गुनहगार, गुनही, गुलामी, गुंजाइश, गुजरान, चंग, चुगली, चीज, जरद, जहाज, जोर, तलफ, तगीरी, तरसनि, तुरसी, दस्तक, दर, दरजी, दरद, दरवाजे, दरबार, दस्तार, दाग, दिवानी, दुश्मन, नकली, निवाज, निसान, नीम, परवाह, परदा, परवाना, पोइस, बकसना, बजाज, बजार, बरामदा, बुन्यादि, बेसरम, मुजरा, यारी, रुख, रेसम, लश्कर, सरदार सरमात, सही, साऊ, साफ, सहर, सिकार, सिरपाव, सेहरो, सोर, हरज्यौ, हरामी।

अरबी

अकस, अदाई, अमल, अमीन, अरप, असल, अहदी, आखिर, आदमी, उजीर, उमर, उमराव, कलक, कलकानि, कसम, कसाई, कसूर, कहर, कागद, कागर, काजी, कातिल, कुरबानी, कुलुफ, कुल्ल, कैद, खता, खर्च, खबरि, खबास, खरीद, खसम, गरज, गरीब, गसूर, गाफिल, गारत, गुलाम, जमा, जिम्मा, ज्वाब, तनकीर, तमासौ, दगा, दगाबाज, नजीर, नफा, निहाल, फरद, फौज, बाकी, मसखरा, मसाहत, महल, मिलकियत, मिलिक, मुकरबा, मुजमिल, मुस्तकी, मुहकम, मोहरिल, मौज, राजी, रुक्का, लायक, वासिल, सदकी, स्याहा, साविक, सावित, साहिवी, सुलतान, हकीम, हजूर।

समानार्थक शब्द—समर्थ कवि एक ही शब्द के अनेक समानार्थक शब्द प्रयुक्त करता है। वह समानार्थक शब्दों का प्रयोग पर्याय-ध्वनि के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए न करके पुनरुक्ति मात्र को बचाने के लिए और अर्थगत नवीनता प्रस्तुत करने के लिए करता है। इससे उक्ति में प्रतिवस्तुपमा अलंकार की शोभा भी आ जाती है। सूर के क्रियापदों में यह कौशल विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ अधिक अवसर न होने से हम केवल तीन क्रिया-पदो को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करेंगे।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४२४।

१—देखना—कृष्ण और राधा की छवि-वर्णन करने के अवसर सूर को अनेक मिले हैं। सर्वत्र 'देखना' क्रिया अनिवार्य रूप से आयी है। 'आँख' और 'नैन' को लेकर ही कवि ने संयोग और वियोग दोनों स्थितियों में २२० पदों की रचना कर डाली है। 'देखने' के अर्थ में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उन्हें हम नीचे दे रहे हैं और जिन पदों में इनका प्रयोग है, उनकी संख्या भी साथ ही साथ देते जा रहे हैं।

	दशम स्कन्ध पद संख्या		दशम स्कन्ध पद संख्या
पेखि विलोकि ध्यान मन आनि	१७२	चितवत रहति नैकु न पलक समावति	६३०
निरखि रही इक टक	६३४	दृष्टि रही	६३६
तरि सकत न सोभा	६३७–६२७	देख्यो पेख्यो	६४३
नैन रहें इकटक हीं नैनु न अंत भटकहीं पलक भुलाने अपनी सुधि उन नाहीं स्याम छवि सिंधु समाने	२२९६	नैन चकोर भुलाने रूप सुधा न अघाने ताही माँझ समाने नेकहुँ नाहिं थकाने अंग अंग अरुझाने	२३०५
छवि अटके लटके फेरे फिरत न (घटके) लाल के मोदनि अटके कहत न काहू हटके	२३२२	नैनन साध नहीं सिराइ पलक नहिं लागत तृपितात नाहीं तृषा नाहिं बुझाइ नैन लोभ न जाइ	२३६९
रस लंपट नैन भये चाख्यो रूप सुधा लुब्धे चुभे जाइ हरि रूप में रहत उतहिं को आतुर रीझे रूप-प्रकाश	२३७५	(लोचन) भए पराए जाइ सनमुख रहत टरत नहिं कबहूँ भए गुलाम रहत हैं	२३९३
(अँखियनि) लागति ज्यों भ्रमरी चितवति बहति चकोर चन्द ज्यों बिसूरति नाहिं छरी गड़ि जु रही वा रूप में रस लूटति हैं	२४००	दरसन कौं तरसति झाँकति झखति लगति नहिं पल चितवति	३२४०

२—भाना—अच्छा लगना

मन भावै कहत न आवै रिझावै धीरज धरै को सो कहावै	६२९	माँगत हैं मन ओल महा छवि लागत न पलक डुलावति डोल दासी सकल भई मन ओल	६३०

स्याम रंग भूली नैन कोइ फूलीं चातक-मन लाए हृदय हरष पाए रतिमाने रीझे रसभीजे	६४२
भुलानी बिकानी सिथिल भईं पछितानी सुधि नहिं काहू हरषित निरखति रही फुरति नहिं बानी चकचौंधी अकुलानी बिततानी	६४४
रीझी चित्र सी लखि काढी सुधि नहीं मन घर कौं लोक-लाज भुलानी लुब्धी डरै न काहू डर सौ मन मान्यौ	६४७
मन और भयौ आइ ढरीं जुग भरि जात घरी	६५१

३—शोभा पाना—

साजत भ्राजत छाजत कोटि काम लाजत तनु को है कह हाजत	६३८
बिराजति अति राजति मदन छवि लाजति यह उपमा कछु लागति (आपु आपु) अनुरागत सोहत मोहत	६४५

मुहावरे और लोकोक्तियाँ—मुहावरे और लोकोक्तियाँ बोलचाल की सबल भाषा के अनिवार्य उपकरण हैं। यह मानव-जाति की परम्परागत सम्पत्ति है। समाज के सम्मिलित अनुभव अपने लक्ष्यार्थ में रूढ होकर अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन बन जाते हैं। परिस्थिति विशेष में लोग इन लाक्षणिक उक्तियों का अवलम्बन लेकर बड़ी सरलता से अपने भाव व्यक्त कर लेते हैं। प्रायः जब किसी को अपने प्रियजन के प्रति कोई कटु बात या अप्रिय-सत्य कहने की इच्छा होती है तो वह बड़ी विषम स्थिति में पड़ जाता है। अपने प्रिय या सम्मान्य-जन के प्रति ऐसी बात कैसे कहे, न केवल कहे जानेवाले व्यक्ति की अप्रसन्नता का प्रश्न है वरन् ऐसा कथन अशिष्ट भी हो जायगा। बात दिल से उठकर होठों तक आती है और रुक जाती है। ऐसी अवस्था में लोकोक्तियाँ और मुहावरे साहाय्य के लिए आ उपस्थित होते हैं। अपनी बत न कहकर परम्परागत वाक्यांश या वाक्य

के प्रयोग से वह अपना भाव भी स्पष्ट कर देता है, शिष्टता की पूरी रक्षा होती है, कटु-सत्य प्रिय बन जाता है। मीठी मार उद्दिष्ट पर गहरा घाव करती है, बेचारा मुस्करा-कर आहत होता हुआ धराशायी होता है और प्रहार-कर्त्ता प्रहार का भरपूर प्रभाव देखकर मुग्ध हो जाता है। सूर की गोपियाँ और उद्धव की परिस्थिति ऐसी ही थी और इसीलिए सूर के मुहावरों और लोकोक्तियों का चमत्कार भी यहीं देखने को मिलता है।

मुहावरे और लोकोक्तियों में भेद—मुहावरों और लोकोक्तियों में अन्तर है। मुहावरे शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से बनते हैं। इनका एक विशिष्ट रूप बन जाता है जो वाक्यांश बनकर वाक्यों में प्रयुक्त होता है। मुहावरे में पूरी बात नहीं कही जा सकती। किन्तु लोकोक्ति एक विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। लोकोक्तियों के पीछे कोई अन्तर्कथा होती है इसीलिए इसका नाम कहावत है। इन अन्तर्कथाओं का आधार समाज में घटित घटनाएँ रही होंगी जो काल कवलित हो चुकी हैं किन्तु उनका सारभूत अंश कहावतों के रूप में आज तक उपयोग में आता जा रहा है। तुलसी-सूर जैसे श्रेष्ठ लोक-कवियों की सूक्तियाँ भी कहावतों का रूप धारण कर चुकी हैं। जैसे—"कोउ नृप होउ हमें का हानी", "पर उपदेश कुशल बहुतेरे", "लौंडी की डौंडी जग बाजी", "सूर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता हैं सूखी", "मूरी के पातन के बदले को मुकताहल देहै" आदि।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग में भी अन्तर है। मुहावरे स्वतः अभिव्यक्ति बन जाते हैं किन्तु कहावतें उक्ति की पुष्टि में कही जाती हैं। जैसे—

तारे गनत गगन के सजनी बीते चारों जाम।[1]

यहाँ गगन के तारे गिनने का प्रयोग स्वतः एक उक्ति है किन्तु—

इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनो दूध छाँडि को पीवै, खारे कूप को बारी॥[2]

में निम्न पंक्ति प्रथम पंक्ति की पुष्टि में कही गयी है।

सूर के मुहावरों और लोकोक्तियों के विशिष्ट प्रयोग—सूर-साहित्य में प्राप्त मुहावरों और लोकोक्तियों की एक लम्बी सूची बन जाती है। किन्तु मुहावरों की बहुलता सूर की भाषा में सर्वत्र समान रूप से नहीं मिलती। मुहावरों और लोकोक्तियों के स्थल निश्चित हैं। इनकी सबसे अधिक संख्या भ्रमरगीत में उद्धव और कुब्जा के प्रति कहे हुए गोपियों के वचनों में मिलती है। लगभग ९० प्रतिशत मुहावरे और लोकोक्तियाँ यहीं हैं। गोपियों के विरह-वर्णन, सन्देश या उद्धव-कृष्ण-वार्त्ता आदि भ्रमरगीत सम्बन्धित अन्य प्रसंगों में भी इनका प्रयोग नहीं मिलता। सूर के शेष दश प्रतिशत मुहावरों और लोकोक्तियों के स्थल में मुरली के प्रति गोपियों के वचन, नैन समय के पद, मान-लीला तथा ऐसे स्थल जहाँ किसी प्रकार मानसिक आकुलता या विवशता

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३०९।
२. वही, १९३५।

की स्थिति है। सूरसागर के अति सुन्दर प्रसंग—जैसे रूप-वर्णन, शृंगार-लीला, बाल-लीला, रास-लीला, विहार आदि तथा साधारण वर्णनात्मक पदों में इनका उपयोग प्रायः नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा के सामान्य प्रवाह में निष्प्रयोजन नहीं किया है।

मुहावरे—सूरदास जी ने मुहावरों का प्रयोग दो रूपों में किया है, (१) परिस्थिति विशेष में पीड़ित हृदय के सहजोद्गार के रूप में, और (२) उक्ति-वैचित्र्य के प्रसाधन-रूप में।

सहजोद्गार-रूप में—गोपियाँ विरह-वेदना से पीड़ित थीं, उद्धव के वचन सुन कर उनकी भावना को ठेस लगी। चोट खाकर उन्होंने उद्धव जी पर व्यंग्य-बाण छोड़े। मुहावरों को उन्होंने अपनी तीर की अनी बनाया। कुब्जा को लेकर जो पद सूर ने लिखे हैं उनमें यह भाव विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। जैसे—

अब वह नवल बधू ह्वै बैठी, ब्रज की कहति कहानी।[1]
सिर पर सौति हमारे कुब्जा, चाम के दाम चलावैं।

× × ×

सूरदास प्रभु हमहिं निदरि, दाढ़े पर लौन लगावैं।[2]
काटे ऊपर लोन लगावत, लिखि-लिखि पठवत चीठी।[3]
सूरदास प्रभु समुझि न देखौ, मँगनी चढौ चही कौ।[4]

इनमें "कहानी कहना", "चाम के दाम चलाना", "दाढ़े पर लोन" या "काटे ऊपर लोन लगाना" और "चही को मँगनी चढ़ना" मुहावरे गोपियों की खीझ के सहजोद्गार हैं। कुब्जा भले ही कृष्ण-प्रिया बन गई है, पर उनकी दृष्टि में तो कंस की निकृष्ट कुरूपा दासी है। वे यह कैसे सह सकती हैं कि वह उनके प्रति अभिमानपूर्ण संदेशा भेजे। उपर्युक्त सभी मुहावरे इसी तथ्य के द्योतक हैं कि कुब्जा की अनधिकार चेष्टा और दुस्साहस उन्हें सह्य नहीं है।

जिन पदों में गोपियों के उपालम्भ उद्धव के प्रति हैं उनमें भी मुहावरों का प्रयोग गोपियों के सहजोद्गार के प्रकाशन के रूप में हुआ है। जैसे—

जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें, एक डार के तोरे।[5]
अति विचित्र लरिका की नाईं, गुर देखाइ बौरावहि।[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६३६।
२. वही, ३६३९।
३. वही, ३६७२।
४. वही, ३६४९।
५. वही, ३५९५।
६. वही, ३४९८।

घर ही के बाढे रावरे ।[1]
सूर इतै पर समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो ।[2]
सूरदास प्रभु हम तो खोटो, तुम तो बारह बाने हो ।[3]
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते ।
अपनो पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते ।[4]

स्पष्ट है उद्धव के प्रति कहे हुए वचनों में भी वैसा ही रोष है जैसा कुब्जा के प्रति कहे हुए वाक्यों में। भेद केवल इतना है कि इन उक्तियों में उतनी हीन भावना नहीं है। भ्रमरगीत में इस प्रकार के अन्य मुहावरे निम्नलिखित हैं, कोष्ठक में दशम स्कन्ध के पदों की संख्या है--

हियरो सुलगावत (३५४५), बार खसो मत न्हातै (३५४७,३६५६), पालागौं (३८१०), ताकी जननी छार (३८१६), लेहु-लेहु ज्यों सूप (३८१७), सहद लाइ कै चाटौ (३९२६), धूम के हाथी (३९३६), गुर चींटी ज्यों पागी (३९५८), ज्यौं खेरे की दूब (३९८९), माखीमधु (४००८), फिरति धतूरा खाए (४०४०), कारे कृतहिं न माने (४०४२), हंस काग को संग (३४१८), गुडी डोर ज्यौं तोरी (३३६१), बरसति आँखी (३२०९), मधु दूहे की माखी (३२०९), लौंडी की डौंडी जग बाजी (३६५२), अंग आगि बई (३७०३), दई प्रेम की फाँसी (३७०७)।

अन्य प्रसंग के मुहावरों में से जिनमें पीड़ा, विवशता, आकुलता या दैन्य के सहजोद्गार हैं, कुछ इस प्रकार हैं—

मुँह सम्हारि तू बोलत नाहीं (५३७), बदति नहीं काहू (१२४१), पढ़ये पाठ (१२८८), मूड़ चढाई (१२७०), मामी पीवे (३६२९), अपनै ही सिर मानि लियौ री (१८२८), सीस चढाई (१८६८), हाथ बिकानी (१८९८), मिली दूध ज्यों पानी (१८९८), भयो हाथ पाथर तर कौ (१९१६), मन मिलयौ (२०००), भए बजाइ गुलाम (२२३९), लेन न देन (२२५१), फिरै को पाछै (२३४१), कछू मूंड पढि परज्यौ (२३४७), बोहित के काग (२३१२), भौंहें तानत (२३१०), भावंरि सी पारि फिरै (२३०३), (लोचन) भए पराए (२३९३), भई भुस पर की भीति (३१८४), मन की मन ही माँझ रही (३२८०), मरत लोचन प्यास (३२२८), मूठि···मारुत (३३३८)।

उक्ति-वैचित्र्य के रूप में—उद्धव के प्रति गोपियाँ जब अपनी मनोदशा का व्यक्तीकरण करने के लिए विनोद, उपहास या कटूक्ति प्रस्तुत करती हैं तो प्रायः वे मुहावरों का प्रयोग उक्ति-वैचित्र्य के रूप में करती हैं। मुरली-प्रसंग और नैन-समय के पदों में भी मुहावरों के रूप इसी प्रकार हैं। उदाहरण—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६१६।
२. वही, ३५४०।
३. वही, ३५२०।
४. वही, ३५१६।

तिनको क्यों मन विस्मय कीजै, औगुन लौं सुख साँति ।
तैसेइ सूर सुनै जदुनन्दन, बजी एक ही ताँति ॥[1]

विनोद में 'बजी एक ही ताँति' बड़ी सहायक है । शिष्टता के साथ यदुनन्दन के प्रति उपालम्भ भी है और कम-से-कम शब्दों में हृदय की कटूक्ति का प्रकाशन भी। इस प्रकार के कुछ मुहावरे निम्नलिखित हैं—

फिरि न चढ़ौ रंग (३५४७), खारे कूप कौ वारी (३६६५), गगन कूप खनि बोरै (३६००), तेरो कह्यौ पवन कौ भुस भयौ (३५४०), बह्यो जाति ज्यौं आँधी (३५४०), धुर ही ते खोटो खायो है (३६६५), पढ़े एक परिपाटी (३५६५), रतन छँड़ाइ गहावत माटी (३५६५), लांबी मेल दई है तुमकौ (३५४०), को खनि कूप मरै (३७०१), परचो है पैंड़े (३६१५), बातै गढ़ि-गढ़ि बोलत (२३१०), पोच कियो री (१८२८), कहति लोक में खांची (१८६७), अँगुरी गहत गह्यौ पहुँचौ (१३०५), अपने ही सिर मानि लियो (१८२८), अपनी सी जु करी (२३५०), इतनो कहा गाँठि को लागत (२५७०), गूँगे गुर की दसा (२५२६), मोल लियो बिन मोल (१४५७), काहे को द्वै नाव चढ़ावत (१२८७) ।

लोकोक्तियाँ—लोकोक्तियों का प्रयोग सूरदास जी ने सर्वत्र कथन की पुष्टि में किया है । उक्ति की वक्रता इनका अनिवार्य गुण है । लोकोक्तियों का परिष्कार भी प्रायः उन्होंने किया है । सूर की अनेक वक्र-उक्तियाँ भी लोकोक्तियों का रूप ले चुकी हैं । इस प्रकार इनकी लोकोक्तियाँ तीन प्रकार की हैं—प्रचलित कहावतें, परिष्कृत लोकोक्तियाँ तथा सूर की निजी उक्तियाँ जो आगे चलकर लोकोक्तियाँ बन गयीं । प्रत्येक के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं, कोष्ठक में सूरसागर की पद-संख्या है—

प्रचलित कहावतें—बही जाति माँगत उतराई (३५६६), एक पंथ द्वै काज, करवत लेहों कासी (३५५८), इतकी भई न उतकी (२६३५), जहीं व्याह तँह गीति (३७८३), दूध दूध पानी कौ पानी, एक आँधरो (हिय की फूटी) दौरत पहिरि खराऊ (४१२६), कथा कहत माशी के आगे जानत नानी नानन (३६४६), खाटी मही कहा रुचि मानै सूर खवैया घी को (३८५८), धान का गाँव पयार ते जाने (३६००), बाजी ताँति राग हम बूझो (३६५०), कैसे समहिंगे एक म्यान दो खांड़े (३६०४), जूठे खये मीठे कारन, दाई आगे पेट दुरावति, बीस बिरियाँ चोर की तौ काहू मिलि है साहु, अपनो बोयो आप लोनिए । काकी भूख गई मन लाहू (३८६१) ।

परिष्कृत लोकोक्तियाँ—स्वान पूंछ कोउ कोटिक लागै सूधी कहुँ न करी । लघु अपराध दास को त्रासै ठाकुर को सब सोहै । सूर मिले मन जाहि जाहि सों, ताको कह को काजी, (सूरदास) सो समाइ कहा लौं छेरी बदन कुम्हेड़ो । अपनो दूध छाँडि को पीवे खारे कूप को वारी । काटहु अम्ब बबूर लगावहु चन्दन की करि बारि । जल बूड़त अवलम्ब फेंन को फिरि फिरि कहा कहत हो । जोबन रूप दिवस दस ही को ज्यों अँजुरी को पानी । ताको कहा परेख्यौ कीजै जाने छाछ न दूधो ।

---

१. सूरसागर, (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३७५३ ।

जे भयभीत होहिं सुक देखे क्योंऽब छुवहिं अहि कारो । ज्यों ऊजर खेरे की पुतरी को पूजै को मानै । कंचन खोइ कांच लै आये । धोखै ही बिरवा लगाइ के काटत नाहिं बहोरी । लेवा देइ धराधरि में है कौन रंक को भूप ।

सूर-कृत-लोकोक्तियाँ—सूर सुकत हठि नाव चलावत ये सरिता हैं सूखी (३५५७), ले आये हो नफा जानि कै सबै वस्तु अकरी । भूरी के पातन के बदले को मुकुताहल देहैं । लौंडी की डोंडी जग बाजी (४२७०), प्रेम कथा सोई पै जानै जापै बीती होइ (४१६०) । सूर सुवैद कहा लै कीजे कहै न जाने रोग (४२०८) । कहो कौन पै कढ़त कनूका जिन हठि भुसी पछोरी (४१७१) । तुम सौं कथा को कहिबो मनो काटिबो घास (४५७८) । जाकी बान परी सखि जैसी तो तेहि टेक रह्यौ । जाको मन भावत है जासो सो तहँही सुख मानै (१६२२) । बड़ो निदरे नाहिं काहू ओछोई इतरात (१८८६) । जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो (३५६५) । जोई लीजै सोई है अपनो (२८८३) । सूरदास गथ खोटो काहे पारखि दोष धरै (२६५८) । सूर सु बहुत कहे न रहे रस गूलर को फल फोरे (४२१६), तुलसी को कटि नीम प्रगट कियो । तनु जोवन ऐसो चलि जैहैं ज्यों फागुन की होरी । गनतहिं गनत भई सुनि सजनी कर अँगुरिन की रेखैं । सूर सूर अक्रूर लै गये ब्याज निबरत ऊधो । सूरदास तीनौं नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़ै (४२२२) । तब सुनि सूर मीन को जल बिनु नाहिन और उपाउ (४२३६)। सूरजदास दिगम्बरपुर तें रजक कहा ब्योसाइ (४५७५) । सुमेरु तृण ओट दुरावत । सूरदास जे मन के खोटे अवसर परै जाहिं पहिचाने (४३६६) । सूर स्वभाव तजै नहिं कारो कीने कोटि उपाय (४६१७) । मनो श्याम छांडि कै घुँघुचि गाँठ को बाँधै । सूर परेखो काको कीजै बाप कियो जिन दूजो (४२६८) ।

सारांश यह कि सूर के मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग भी विशेष दृष्टिकोण से युक्त हैं। भाषा की रूढ़ता के सहज माध्यम मात्र न होकर सशक्त अभिव्यंजना के प्रसाधन हैं । सूर ने जिस प्रकार अलंकार-योजना और उक्ति-वैचित्र्य का उपयोग विशिष्ट स्थलों पर किया है उसी प्रकार लोकोक्ति और मुहावरे भी विषयानुरूप विशिष्ट स्थलों में ही प्रयुक्त हुए हैं । इनके द्वारा जहाँ सूर की भाषा-समृद्धि का परिचय मिलता है वहाँ उनके सामाजिक अनुभव और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिज्ञान भी होता है, इसीलिये सूर की लोकोक्तियाँ और मुहावरे साहित्य में प्राप्त मुहावरों और लोकोक्तियों के सामान्य प्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं ।

रूप-रचना—भाषा की प्रकृति की परीक्षा उसके शब्द-भण्डार से उतनी नहीं होती जितनी उसके व्याकरण से । शब्दों में तो परिवर्तन होता ही रहता है क्योंकि भाषा की व्यंजकता बढ़ाने के लिए दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेना और अपनी भाषा के शब्दों में परिमार्जन करना वांछनीय है । व्याकरण में इसके विपरीत अधिक स्थिरता होती है । दूसरी भाषा के शब्दों के ग्रहण में भी व्याकरण के रूप अपनी भाषा के रखे जाते हैं । भाषा रूपों में परिवर्तन और परिवर्द्धन बहुत धीरे-धीरे होता है । फिर भी जब बोली साहित्य में प्रविष्ट होती है तो उसके सामान्य

रूप में कुछ परिष्कार अवश्य होता है। बोली गद्य में होती है, पद्य में ढलते ही उसमें अद्‌भुत अभिव्यंजना-क्षमता आ जाती है। जैसा पीछे लिखा जा चुका है, ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने वालों में सूरदास जी अग्रगण्य हैं इसलिए इन्होंने बोली में जो परिष्कार किये वे तत्कालीन साहित्यिक ब्रजभाषा के सामान्य गुण बन गये। अतः सूर-साहित्य में प्राप्त संज्ञा, सर्वनाम आदि की रूप-रचना पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

संज्ञा—ब्रजभाषा की संज्ञाएँ स्वरान्त होती हैं। सूर-साहित्य में संज्ञा शब्द इस प्रकार मिलते हैं—

अकारान्त—नन्द, स्याम, करम, पंथ, आदि अकारान्त शब्दों की संख्या बहुत है।

आकारान्त—बछरा, राधा, नैना।

इकारान्त—मोतिसरि, सौति, खनि, ससि।

ईकारान्त—बाँसुरी, सजनी, ठगौरी, इंद्री।

उकारान्त—बेनु, तनु, मनु, वपु।

एकारान्त—पैंड़े, राधे।

ऐकारान्त—समै, हिरदै।

ओकारान्त—माधौ, ऊधौ, ज्यौं।[1]

उपर्युक्त रूपों में केवल दो रूप विशेष द्रष्टव्य हैं—उकारान्त तथा ओकारान्त, क्योंकि इन रूपों में सूर की निजी छाप मिलती है। अन्य रूप सामान्य बोली के रूप हैं, सूर ने इनमें परिवर्तन नहीं किया। उकारान्त जैसे वपु[2], धेनु,[3] तनु[4] सूर के निजी प्रयोग हैं। संज्ञा के साथ ही उन्होंने अव्यय शब्दों—नैंकु,[5] बिनु,[6] मनु[6] में भी उकार का समावेश कर दिया है। सूर-साहित्य में उकारान्त में शब्दों की संख्या बहुत नहीं है जैसा कि ब्रज-काव्य में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर ने वर्ण-मैत्री के लिए ही यह प्रयोग आरम्भ किया था किन्तु आगे चलकर यह साहित्यिक ब्रजभाषा की एक विशेषता बन गयी। ओकारान्त शब्दों के स्थान पर औकारान्त शब्द ही सूर ने प्रायः प्रयुक्त किये हैं। ब्रजभाषा में ओकारान्त शब्दों की संख्या बहुत है किन्तु सूर की प्रकृति ओकारान्त को औकारान्त करने की रही है। जैसे—

निहोरो से निहोरौ —सूरसागर (सभा) दशमस्कंध, पद ७३१

---

१. तब तें मेरौ ज्यौं रहि न सकत।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६७१

२. वपु जु दहत मिलि तीन। ······३३६४

३. आवहु आवहु इतै स्याम जू पाई हैं सब धेनु। ······५०२

४. अति विरह तनु भई व्याकुल घर न नैंकु सुहाई। ······६७२

५. अति विरह तनु भई व्याकुल, घर न नैंकु सुहाइ। ······६७२

६. सूर विरह की कौन चलावै, बूड़त मनु बिनु पानी। —वही, ३५०२

मीठो से मीठौ	......७३१
झगरो से झगरौ	......७३४
कारो से कारौ	......७४१
बड़ो से बड़ौ	......७४५
ऐसो से ऐसौ	......७४६

परवर्ती साहित्यिक ब्रज में ओकारान्त शब्दों की भी एक प्रवृत्ति रही है।

संज्ञाओं के बहुवचन के रूपों में सूर-सागर में दो ही रूप मिलते हैं--

१--शब्दों के अन्त में नि जोड़कर जैसे--

सखियनि (२२०८)	मौतिनि (२२२०)
नैननि (२२५७)	अँगुरियनि (२२०५)
अलकनि (२२३८)	कमलनि (२५२३)
गुननि (२७४२)	कपोलनि (२५०२)

२--शब्दों के अन्त में याँ अथवा आँ जोड़कर जैसे--

नैनाँ (२२५८)	अँखियाँ (२४०७)
गैयाँ (४४३)	

परवर्ती ब्रज-काव्य में बहुवचन के लिए 'नि' के स्थान में न, न्ह, नु आदि भी प्रयुक्त होने लगे, किन्तु सूर-पदों में ये रूप नहीं मिलते।

सर्वनाम--सर्वनामों के प्रायः प्रचलित रूप ही मिलते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम के मूल रूप में, हौं, और हम ही मिलते हैं। जैसे--

मैं बलि जाउँ स्याम मुख छवि पर[1]।

हौं अपने अभिमान रूप जोवन कैं गर्व भरी।[2]

हम अहीर अबला ब्रजवासी वे जदुपति जदुराई।[3]

'मैं' के बोलचाल के रूप 'मैं' या 'मइँ' का प्रयोग सूर-साहित्य में नहीं मिलता। इसी प्रकार 'हौं' के असाहित्यिक रूप 'हो' या 'हूँ' का भी प्रयोग कहीं नहीं प्राप्त होता। तत्कालीन ब्रजभाषा गद्य में 'मैं' और 'हूँ' दोनों का प्रयोग मिलता है।[4]

विकृत रूप में एक वचन में 'मो' और 'मोहिं' तथा बहुवचन में 'हम' के प्रयोग मिलते हैं। जैसे--

मधुकर मो मन अधिक कठोर।[5]

मोहिं अलि दुहूँ भाँति फल होत।[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६६४।

२. वही, ६५१।

३. वही, ३७९९।

४. ब्रजभाषा (डा० धीरेन्द्र वर्मा), पृष्ठ ६१ और ६२।

५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३७२९।

६. वही, ३८१७।

ऊधौ हमहिं न जोग सिखैये ।[१]

बोली के रूप 'मो' और 'मोय' सूर-साहित्य में नहीं मिलते ।

सम्बन्ध कारक में 'मेरी, मेरे, मेरो, हमारी, हमारे, हमौ और हमारो' रूप मिलते हैं । अवधी के 'मोर', 'मोरी' और 'हमार' रूप भी मिलते हैं किन्तु केवल तुक के लिए । जैसे—

मेरी कौन गति ब्रजनाथ ।[२]

मेरे इन नैननि इतै करे ।[३]

आजु गयो मेरौ गाइ चरावन हौं बलि जाउँ निछनियाँ ।[४]

हमारी तुमसौं लाज हरी ।[५]

हमारे अंबर देहु मुरारी ।[६]

हमारैं हरि हारिल की लकरी ।[७]

कह न देहु कह करै हमारौ बरु उठि जैहै झोल ।[८]

अवधी रूप तुक के लिए—

माखन चोरी करत रहे तुम, अब भए मन के चोर ।
सुनत रही मन चोरत हैं हरि, प्रगट कियो मन मोर ।[९]

जात कहाँ बलि बाँह छुड़ाए, मूसे मन संपति सब मोरी ।[१०]

कहीं-कहीं अवधी के ऐसे रूप भी हैं जहाँ तुक का आग्रह नहीं है । जैसे—

कमल नैन अपनें मन हमार बाँधौ ।[११]

परवर्ती साहित्य में अधिक प्रयोग 'मेरी' और 'हमारो' के ही मिलते हैं किन्तु सूर ने सर्वत्र अधिक प्रचलित उच्चारण—मेरौ और हमारौ—का ही प्रयोग किया है ।

मध्यम पुरुष के रूप उत्तम पुरुष के समानान्तर ही मिलते हैं अर्थात् मूल रूप में 'तू', 'तैं', 'तुम' तथा विकृत रूप में 'तो', 'तोहि', और 'तुम' मिलते हैं । जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६६२ ।
२. वही, ३६६२ ।
३. वही, विनय पद १२६ ।
४. वही, दशम स्कन्ध, पद २३४० ।
५. वही, ४१८ ।
६. वही, विनय पद १८४ ।
७. वही, दशम स्कन्ध, पद ७८८ ।
८. वही, ३८७० ।
९. वही, १६३२ ।
१०. वही, १६३१ ।
११. वही, ३२८५ ।

तू आई है बात बनावन ।[1]
तैं कछु नाहिं काहू कौ लीन्हौं ।[2]
तुम सौं कहा कहौं सुन्दर घन ।[3]
तोहिं स्याम हम कहा दिखावें ।[4]
तोसौं कहा धुताई करिहौं ।[5]

सम्बन्ध कारक में 'तेरें', 'तेरौ', 'तिहारौ', 'तिहारी', 'तुम्हारी', 'तुम्हरी', 'तुम्हारौ', रूप मिलते हैं—

तेरौ भलौ हियौ है माई ।[6]
तेरें लाल मेरौ माखन खायो ।[7]
तिहारे आगे बहुत नच्यौ ।[8]
तिहारौ कृष्न कहत कह जात ।[9]
तिहारो लाल मुरली नैकु बजाऊँ ।[10]
तुम्हरे भजन सबहिं सिंगार ।[11]
तुम्हारौ गोकुल हो ब्रजनाथ ।[12]

तुक के लिए 'तोर' और तुम्हार' रूप भी प्राप्त होते हैं । 'तुम्ह', 'तोय' या 'तुमारी रूप नहीं प्राप्त होते ।

अन्य पुरुष—दूरवर्ती निश्चयात्मक में केवल साहित्यिक रूप ही प्राप्त होते हैं अर्थात् मूल रूप में वह, वे और वै तथा विकृत रूप में वा, उन । जैसे—

वह तौ मेरी गाइ न होइ ।[13]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६३ ।
२. वही, २७५६ ।
३. वही, २४३३ ।
४. वही, १६८१ ।
५. वही, २०६६ ।
६. वही, ५३७ ।
७. वही, ३३१ ।
८. वही, विनय पद १७४ ।
९. वही, प्रथम स्कन्ध, पद ३१३
१०. वही, दशम स्कन्ध, पद २१४१ ।
११. वही, विनय पद ४१ ।
१२. वही, ३३१३ ।
१३. वही, दशम स्कन्ध, पद २००५ ।

ये देखो आवत दोऊ जन ।[१]

वे कह जानैं पीर पराई ।[२]

वा पट पीत की फहरानि ।[३]

उनको यह अपराध नहीं ।[४]

बोली वाले रूप जैसे 'बौ', 'बु', 'बो', 'बा', 'बिनु' या 'बिन' नहीं मिलते ।

निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम के भी साहित्यिक रूप मूल रूप में 'यह' 'ये' और विकृत रूप में 'या', 'इन' मिलते हैं । जैसे—

यह तो नैनन ही जु कियौ ।[५]

ये सब मेरेंहि खोज परीं ।[६]

याके गुन मैं जानति हौं ।[७]

इनकौ ब्रज हीं क्यों न बुलावहु ।[८]

बोली वाले रूप–यउ, यहु, जा, जौ, जे, इनु, या जिनि-रूप सूर काव्य में नहीं मिलते ।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम के मूल रूप 'जो' और 'जे', तथा विकृति रूप 'जा' और 'जिन' के प्रयोग मिलते हैं । इसी प्रकार **नित्य सम्बन्धी सर्वनाम** के मूल रूप में-'सो', 'सोइ' और 'ते' तथा विकृत रूप में 'ता' और 'तिन' मिलते हैं जैसे—

जे लोभी ते देहिं कहा री ।[९]

जाकौ दीनानाथ निबाजै ।[१०]

जिन जिनहीं केसव उर गायौ ।[११]

जिहिं तन हरि भजिबौ न कियौ ।[१२]

सो कह जु मैं न कियौ, सोइ चित धरियौ ।[१३]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २३०४ ।
२. वही, ३०३६ ।
३. वही, ३१५४ ।
४. वही, विनय पद २७९ ।
५. वही, दशम स्कन्ध, पद २१०५ ।
६. वही, २०४७ ।
७. वही, १२४५ ।
८. वही, २१६४ ।
९. वही, २२६८ ।
१०. वही, विनय पद ३६ ।
११. वही, १९३ ।
१२. वही, ३५९ ।
१३. वही, १२४ ।

तिनहिं न पतीजे री जे कृतहिं न मानै।[1]

प्रश्नवाचक सर्वनाम के मूल रूप में 'को', 'कौन', 'कहा', और विकृत रूप में 'का', 'काहि', 'काहे', मिलते हैं। जैसे—

को माता को पिता हमारे।[2]
कौन बात यह कहत कन्हाई।[3]
कहा बड़ाई उनकी सरि में।[4]
काकौ काकौ मुख माई बातनि कौं गहिये।[5]
काहि कहत प्रतिपाल कियौ।[6]
काहे को गोपीनाथ कहावत।[7]

अनिश्चयवाचक सर्वनाम में मूल रूप में 'कोऊ' और विकृत रूप में 'काहू' मिलते हैं। 'कोई' का प्रयोग सूर में नहीं प्राप्त होता। अचेतन पदार्थों के लिए—'कछू' 'कछु' या 'कछुक'—का प्रयोग मिलता है। जैसे—

कोउ ब्रज बांचत नाहीं पाती।[8]
काहू के कुल तन न विचारत।[9]
नर के किये कछू नहिं होई।[10]
हम कछु लेन में, ये वीर तिहारे।[11]
कछुक अंग में उड़त पीत पट उन्नत बाहु विसाल।

परसर्ग—ब्रज बोली में परसर्गों के अनेक रूप मिलते हैं। सूर ने इनके प्रयोगों में नियमन रखा है। सूर-साहित्य में प्राप्त परसर्ग इस प्रकार हैं—

कर्त्ता – ने, नै, या नें बोल-चाल में सदा से प्राप्त होते थे किन्तु सूरदासजी ने इनमें से किसी का भी प्रयोग नहीं किया है। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५२०।
२. वही, ३७५१।
३. वही, १५३६।
४. वही, १५३५।
५. वही, १७३४।
६. वही, ३११३।
७. वही, ३६४७।
८. वही, ३४६०।
९. वही, विनय पद १२।
१०. वही, प्रथम स्कन्ध, पद २६१।
११. वही, २३८।
१२. वही, २७३।

देवनि दिवि दुन्दुभी बजाई।[१]
जुवतिन घेर लियो हरि को तब।[२]

कर्म और सम्प्रदान—कौं, कौ—

हमहूँ कौं विधि कौं डर भारी।[३]
यह जुवतिन कौ धर्म न होई।[४]

करण और अपादान—सौं, तें—

रवि सौं विनय करति कर जोरे।[५]
जब तें बंसी स्रवन परी।[६]

सम्बन्ध—का, की, के कें, कौं—

ऐसी ह्वै गई तनु दसा पिय की सुनि बानी।[७]
निठुर बचन सुनि स्याम के जुवती बिलखानी।[८]
राका चन्द चकोर जानि के पियत नैन को नीर।[९]

अधिकरण—में, पै, पर—

यहै में पुनि कहत तुमसौं जगत में यह सार।[१०]
कहा भयो जो हम पै आईं कुल की रीति गँवाई।[११]
तैसिये लट बगरि उर पर स्रवत नीर अनूप।[१२]

बोलचाल के परसर्ग—कूं, कू, सूं, ते आदि का प्रयोग सूर ने नहीं किया है। ब्रजभाषा-काव्य में प्रायः उपर्युक्त परसर्गों का प्रयोग हुआ। 'ने' का प्रयोग प्रायः काव्य-क्षेत्र से दूर हो गया यद्यपि इसके प्रयोग से भाषा का परिष्कार ही होता है।

तात्पर्य यह कि संज्ञा, सर्वनाम और विभक्तियों के रूपों का जो ग्रहण सूरदास जी ने किया वे ही साहित्यिक भाषा के अंग बन गये। सूरदास जी के इन प्रयोगों की

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६।
२. वही, १५३१।
३. वही, १०१७।
४. वही, १०१५।
५. वही, ७६८।
६. वही, ६५१।
७. वही, १०१८।
८. वही, १०१८।
९. वही, ११२६।
१०. वही, १०१६।
११. वही, १०१७।
१२. वही, ११६६।

एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने व्याकरण के रूपों में नियमन रखा है, अधिक विकल्प नहीं रखा। विभक्तियों में ऐकारान्त और औकारान्त को एकारान्त तथा ओकारान्त के विकल्प सूर में नहीं मिलते। आगे चलकर इस प्रकार का दृढ़ नियम न रह सका और एकार तथा ओकार के प्रयोग चल निकले।

क्रिया-पद—ब्रजभाषा की क्रियाओं की रूप-रचना में उसकी काल-रचना और कृदन्ती रूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रजभाषा के मूल काल तीन हैं—वर्तमान निश्चयार्थ, भविष्य निश्चयार्थ और आज्ञार्थ। कृदन्ती रूप हैं—वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, पूर्वकालिक कृदन्त, भूत संभावनार्थ। क्रियार्थक संज्ञा भी इन्हीं के समान स्थान रखती है। सूर के क्रिया-पदों में इन रूपों का संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक होगा।

वर्तमान निश्चयार्थ--सूर काव्य में वर्तमान निश्चयार्थ के प्रत्यय इस प्रकार हैं—

उत्तम पुरुष--एक वचन--**औं**--**कहौं हरि कथा सुनौ चित लाइ।**

—सूरसागर (सभा), नवम स्कन्ध, पद १

ऊं--स्याम बलराम को सदा ध्याऊं।

—सूरसागर (सभा), विनय पद १६७

बहु वचन--**एं**—**कहौ नाम धरि कहा ठगायौ सुनि राखें यह बात।**

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४१४

मध्यम पुरुष—

एक वचन--**अहि**—**तू जननि अब दुखि जनि मानहि।**

--सूरसागर (सभा), नवम स्कन्ध, पद ९४

बहु वचन--**ति**--**वृथा तम स्यामहिं दूषन देति।**

--वही, दशम स्कन्ध, पद १२९७

अन्य पुरुष—

एक वचन--**ऐ**--**जो यह लीला सुनै सुनावै।**

—वही, चतुर्थ स्कन्ध, पद १२०

बहु वचन--**ऐं**--**जो जो मुख हरि नाम उचारैं।**

हरिजन तिहिं तिहिं तुरत उधारैं।

—वही, षष्ठ स्कन्ध, पद ४

भविष्य निश्चयार्थ—

उत्तम पुरुष—

एक वचन--**औंगो**--**मैयारी मैं चंद लहौंगो।**

—वही, दशम स्कन्ध, पद १९४

ऐहौं—मैं तौ चंद खेलौना लैहौं।

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १९३

ऊंगौ या ऊंगो वाले बोली के रूप सूर ने ग्रहण नहीं किये।

स्त्रीलिंग—ओंगी—सूर स्याम ज्यौ उछंग लई मोंहि, त्यों मैं हूँ हँसि मेटोंगी।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध पद ११४७

य—कहाँ लौं राखिय मन विरमाई। ······३२८२

आज्ञार्थ—आज्ञार्थ के कई प्रत्यय सूर काव्य में मिलते हैं—

उ—कोकिल हरि को बोल सुनाउ।
······३३४०

इ—सुनि री सखि समुझि सिख मोरी। ······३३४१

यौ—बारक जाइयौ मिलि माधो। ······३२३२

हु—बारक नैन ही मिलि जाहु। ······३२३३

ओ—बहुत दिन जीवो पपिहा प्यारे। ······३३३७

ऐ—हरि बिन ऐसी ब्रज जीजै। ······३६१२

कृदन्ती-रूप—

वर्तमानकालिक कृदन्त—

पुंल्लिग—अत—घर घर माखन खात। ······३६०७

तु—हरि बिनु यहि विधि है ब्रज रहियतु। ······३६११

स्त्रीलिंग—त—डसि उलटी ह्वै जात। ······३२७०

ति—राधा रचि रचि सेज सँवारति। ······२०२६

भूतकालिक कृदन्त—

पुंल्लिग—ओ—यौ—निरखत ऊधो को सुख पायौ। ······३०७१

स्त्रीलिंग—ई—चलीं वन बेनु सुनत जब धाइ। ······१००३

न्ही—मुरलिया यह तो भलो न कीन्ही। ······१३०५

नी—उपमा हरि तनु देखि लजानी। ······१७५७

पूर्वकालिक कृदन्त—

व्यंजनांत धातुओं में—इ—देखि लहरि तरंग हरषी। ······१७५२

रैनि जमाइ धर्‌यौ है गोरस। ······२७७

य—जोड़ कर सूर ने पूर्वकालिक कृदन्त नहीं बनाए।

ऐ—उठत ओट लै लखत सबनि कों। ······२८२

भूत संभावनार्थ—

तौ—जौ हरि कौ सुमिरन तू करतौ।
—सूरसागर (सभा), चतुर्थ स्कन्ध, पद ९

त—जो पै कृष्ण हमहिं जिय भावत। —वही, दशम स्कन्ध, ४०२६

ति—जो पै राखति हौं पहिचानि। ······३१७९

क्रियार्थक संज्ञा--

न--आता मोहिं मारन कौं धिरवै, देखैं मोहिं न भावत।

--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १९४१

नौ--ऊधौ लहनौ अपनो पैये···। ·······३९०८

बौ--दूर करहिं बीना कर धरिबौ। ·······३३५७

ब्रजभाषा की रूप-रचना में सूर का योग-दान--

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सूरदास जी ब्रज-साहित्य के प्रथम प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं जिन्होंने प्रचुर मात्रा में स्थिर रूप से साहित्य-रचना की। उन्होंने ब्रज-भाषा के स्वरूप-निर्माण में निम्नलिखित योगदान प्रस्तुत किए--

१--ब्रजभाषा को सर्वथा समृद्ध किया। उसका शब्द-कोश व्यापक हो गया। उसमें, संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द, अनुकरणात्मक शब्द, देशज शब्द, ब्रज तथा अवधी, बुन्देल, कन्नौज आदि के प्रचलित शब्द, विदेशी--अरबी और फारसी शब्द--सभी का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ। परिणाम यह हुआ कि सूर के हाथों ही ब्रज-भाषा लचीली हो गयी।

२--मुहावरों और लोकोक्तियों का सम्यक् प्रयोग सूर ने किया। परिणाम यह हुआ कि भाषा की व्यंजकता बढ़ गयी और उसके प्रवाह में अपूर्व वृद्धि हुई।

३--व्याकरण के रूपों में सूर ने साहित्यिक दृष्टिकोण रखा, बोली में प्राप्त विकल्पों में से अपेक्षाकृत काव्योचित रूपों को ही लिया फिर भी उसे किसी प्रकार दृढ़ बन्धन में नहीं जकड़ा, बुंदेली और अवधी तक को अवसर दिया। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा में स्थिरता के साथ-साथ व्यापकता भी आ गयी जिससे भिन्न मातृ भाषा वाले कवियों ने भी सूर की भाषा को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं की।

४--भाषा में माधुर्य की ओर सूर का विशेष ध्यान था ब्रजभाषा का माधुर्य उसका सहज गुण रहा है। सूरदास जी ने उसे और भी मधुर बनाने का प्रयास किया यद्यपि सूर के प्रयास में भाषा की स्वाभाविक प्रकृति की हानि नहीं हुई।

इस प्रकार सूर-कृत भाषा-संस्कार अमिट हो गया। सूर की भाषा ही आरम्भ में ब्रजभाषा का आदर्श रूप बन गयी।

सौष्ठव--

अनुप्रास--अलंकरण सौष्ठव का आधार है। प्रत्येक कलाकार इसीलिए सजा-वट और अलंकृति पर विशेष ध्यान रखता है। भाषा की सजावट का एक साधन सानु-प्रासिक पदावली है। सूरदास जी ने अनुप्रास के प्रयोग द्वारा भाषा को अलंकृत किया है। जैसे--

कामी कृपन कुचील कुदरसन कौन कृपा करि तारचो।[1]
चंचल चपल चबाइ चौपटा[2]···

१. सूरसागर (सभा), विनय पद १०१।
२. वही, १८६।

सूरदास स्वामी सुख सागर···
सकल सुख की सींव[१]······
अहि-सायी अहि-अंग विभूषन, अमित दान बल विष हारी।
× × ×
अज अनीह अविरूप एक रस यहै अधिक ये अवतारी।[२]
मोहन मानि मनायौ मेरो ।[३]
जानु जुगल जुग जंघ विराजत···
लकुट लपेटि लटकि भए ठाढ़े।[४]
गोपी ग्वाल गाइ गोसुत ।[५]···
मदन मोहन बेनु मृदु मृदुल बजावै री।
× × ×
नंद लाल ललना ललचि ललचावै री।[६]
ब्रज वनिता वर वारि वृन्द में श्री व्रजराज विराज्यौ।[७]
राधे छिरकति छींट छबीली।
कुच कुंकुम कंचुकि बंद छूटे लटकि रही लट गीली।[८]

एक व्यंजन विशेष से आरम्भ होने वाले शब्दों की आवृत्ति से पंक्ति सज उठती है। सूरदास में यह सौन्दर्य यत्र-तत्र ही मिलता है। सूर ने कहीं भी एक ही व्यंजन से बनने वाले शब्दों का वैसा ताँता नहीं बाँधा है जैसा कि परवर्ती ब्रजभाषा-कवियों—पद्माकर आदि में मिलता है।

अन्त्यानुप्रास—आद्यानुप्रास के साथ ही सूर ने अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी पद-बन्धों के अलंकरण के लिये किया है। अन्त्यानुप्रास के कारण पद में एक प्रकार की लय स्वतः आ जाती है और पंक्ति आकर्षक लगती है। सम्भवतः गायक होने के कारण उन्होंने अन्त्यानुप्रास की ओर विशेष रुचि दिखाई है, अन्त्यानुप्रास के अनेक उदाहरण सूरसागर में प्राप्त होते हैं। जैसे—

विहरत गोपाल राइ, मनिमय रचे अंगनाइ,
लरकत परिरंगनाइ घुटुरूनि डोलै।[९]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०२।
२. वही, १७१।
३. वही, २१६।
४. वही, ६३२।
५. वही, ८७४।
६. वही, ६२६।
७. वही, १०४६।
८. वही, ११६०।
९. वही, १०१।

अति अगिनि भार भँभार धुँधार करि उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा धरनी गिरायौ ॥[1]
जयति नंदलाल, जय जयति गोपाल, जयजयति ब्रजलाल, आनन्दकारी ।[2]
धरनि पग पटकि, कर झटकि, भौंहनि मटकि, अटकि मन तहाँ रीझे कन्हाई ।
तब चलत हरि मटकि, रहीं जुवती भटकि, लटकि लटकनि छटकि छवि विचारें ।[3]
मिलति भुज कंठ दै, रहति अंग लटकि कै, जात दुख दूर ह्वै, झझकि सपने ।[4]
आपु जहँ तहँ गई विरह सब पगि रहीं, कुँवरि सों कहि गई स्याम ल्यावें ।
फिरत बन बन विकल, सहस सोरह सकल, ब्रह्म पूरन अकल नाहिं पावें ।[5]
मध्य ब्रज नागरी, रूप रस आगरी, घोष उज्जागरी, स्याम प्यारी ।
वदन दुति इंदुरी दसन छवि कुंदरी, काम-तनु दुंदरी करन हारी ।[6]
चिरई चुहचुहानी, चंद की ज्योति परानी, रजनी विहानी, प्राची पियरी प्रवान की ।[7]

उपर्युक्त उदाहरणों में अन्त्यानुप्रास के कारण पंक्ति के संगीत-गुण की जितनी अभिवृद्धि हुई है, स्पष्ट है ।

तुक—तुक अन्त्यानुप्रास का एक विशिष्ट रूप है । अन्त्यानुप्रास का क्षेत्र विस्तृत है किन्तु तुक का क्षेत्र बड़ा संकीर्ण है । तुक चरणों के अन्तिम शब्दों में ही होती है । तुक हिन्दी की एक विशेषता है । संस्कृत-काव्य में तुक का नितान्त अभाव-सा है । बँगला, गुजराती आदि भाषाओं में भी तुक का अधिक प्रयोग नहीं मिलता । प्राकृत तथा विदेशी भाषाओं फारसी-अरबी में भी तुक को स्थान नहीं मिला है । सूरदास ने तुक को न केवल परम्परा के निर्वाह रूप में ग्रहण किया है वरन् उन्होंने तो इसे अलंकरण का प्रमुख प्रसाधन बनाया है । सूर के तुकान्त प्रयोग पंक्ति के माधुर्य में वृद्धि करते हैं और लय की रक्षा करते हैं । संगीतज्ञ को पद की अन्य पंक्तियों को टेक से मिलाकर गाना होता है अतएव तुक-प्रधान पद-रचना गायन के अधिक अनुरूप बन जाती है । सूरदास जी ने तुक के लिए शब्दों को तोड़ने, मरोड़ने और विकृत करने में भी किसी प्रकार का सोच-विचार नहीं किया है । जैसे—

इनहूँ तो घटताई कीन्हीं ।
× × ×
निठुर निर्दयी घातें और न स्याम बैर हमसों है लीन्हीं ।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५९६ ।
२. वही, ६८० ।
३. वही, १०४१ ।
४. वही, १०६१ ।
५. वही, ११११ ।
६. वही, १७५१ ।
७. वही, २०३९ ।

या रस ही में मगन राधिका, चतुर सखी तबही लखि लीन्हीं।
सूर स्याम के रंगहि रांची, टरति नहीं जल तें ज्यों मीन्हीं ॥[1]

तुक के लिये कवि ने मीन को 'मीन्हीं' बना दिया है। एक ही पद में 'लीन्हीं' शब्द की पुनरुक्ति भी तुक के लिये ही है। इसी प्रकार साँची से तुक जोड़ने के लिए 'माँची', 'राँची', 'बाँची', 'काँची' और 'खाँची' शब्दों का प्रयोग हुआ है।[2] अर्थ और रूप-रचना की दृष्टि से इन शब्दों की दुर्दशा हो गई है। ऐसा होने पर भी ये शब्द के नादात्मक सौन्दर्य के बढ़ाने वाले हैं। इसी प्रकार के और बहुत से तुकान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे—

सरमात, परमात, भरमात, करमात, तरमात।[3]
कैसे हैं, नैसे हैं, तैसे हैं, सैसे हैं, ऐसे हैं।[4]
किलकी, तिलकी, हिलकी, मिलकी, पिलकी, सिलकी।[5]
पूरे, बिसूरे, समूरे, घूरे, चूरे, बूरे, सूरे, झूरे।[6]
भटके, अटके, फटके, कटके, कटुके, टटके।[7]
बूतें, सूतें, दूतें, लूतें, हूतें, धूतें।[8]
भागी, अनुरागी, दागी, लागी, परागी, पागी।[9]
नेह, एह, गेह, खेह, मेह, हेह, वेह, अवलेह।[10]
बादर, आदर, सादर, खादर, कादर, निरादर, दादर, ठादर।[11]
कीन्हों, दीन्हों, लीन्हों, चीन्हों, भीन्हों, गीन्हों।[12]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८५८।
२. **कहि राधिका बात अब साँची।**
तुम अब प्रगट कही मो आगे, स्याम-प्रेम-रस माँची।
तुम को कहाँ मिले नंदनंदन, जब उनके रंग-राँची।
खरिक मिले, की गोरस बेचत, की जब बिषहर बाँची।
कहें बनै छाँड़ो चतुराई, बात नहीं यह काँची।
सूरदास राधिका सयानी रूप-रासि-रस-खाँची।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८६०
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८४६।
४. वही, १७७०।
५. वही, ३२६१।
६. वही, ३५७६।
७. वही, ३६६७।
८. वही, ३९१६।
९. वही, ३९५८।
१०. वही, ४०१८।
११. वही, ८५८।
१२. वही, १२८२।

कहीं-कही पर सूरदास जी को तुक के लिये ब्रज के स्थान पर अवधी की रूप-रचना कर देनी पड़ी है जैसे—

बंक बिलोकनि मधुरी मुसुकनि, भावति है प्रिय तोर।
अंतर दूरि करौ अंचल को, होइ मनोरथ मोर॥[1]
तुम सारिखे बसीठ पठाये, कहिए कहा बुद्धि उन केरी।[2]

किन्तु ऐसे प्रयोग अधिक संख्या में नहीं हैं।

तुक के लिए शब्दों के विकृत रूप भी हैं। जैसे—

निठुर रहत जैसें जल मीनहिं, तैसिय दसा हमारी।
सूरदास धिक-धिक हैं, तिनको, जिनहिं न पीर परारी॥[3]

'हमारी' से तुक मिलाने के लिए 'पराई' शब्द 'परारी' बन गया है।

तुक तीन प्रकार के माने जाते हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट।

उत्तम तुक वहाँ होता है जहाँ छन्द के चरणों में अन्त के कई वर्णों (स्वरों एवं व्यंजनों) की एक ही क्रम में आवृत्ति होती है। जैसे—

बनावत, मनावत, बुलावत, आवत, गावत।[4]

इनमें 'आवत' की आवृत्ति प्रत्येक शब्द में है।

मध्यम तुक वहाँ होता है जहाँ छन्द के चरणों में अन्त के दो या एक ही वर्ण की आवृत्ति है। जैसे—

प्यारी, गिरिधारी, हारी, दुलारी, भारी, हितकारी।[5]

यहाँ 'आरी' की आवृत्ति शब्दों में है।

अधम तुक—जहाँ वर्णावृत्ति का कोई नियम नहीं रहता। अधम तुक के उदाहरण सूर-काव्य में नहीं मिलते।

सूरदास जी के बहुसंख्यक पदों में तुक, आदि से अन्त तक के चरणों में मिलती है। अनेक पद ऐसे भी हैं जिनमें दो-दो पंक्तियों की तुक मिलती है, विशेषकर लम्बे पदों में सभी चरणों में तुक का निर्वाह करना सम्भव नहीं है। सामान्यतः दस पंक्तियों तक के छोटे पदों में सूरदास जी ने तुक का निर्वाह सफलता से किया है।

वीप्सा में शब्द की एक आवृत्ति से भाषा में गति उत्पन्न की जाती है। सूर के पदों में वीप्सा का उपयोग भाव के उच्छलन के सहज रूप में हुआ है, अलंकरण के लिए वीप्सा का सचेष्ट प्रयोग कहीं नहीं है। फिर भी वीप्सा के कारण भाषा का सौष्ठव बढ़ गया है। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २७६७।
२. वही, ३५२८।
३. वही, २३४५।
४. वही, २७४९।
५. वही, २७५२।

मुरि-मुरि चितवति नंद गली ।
बार-बार मोहन मुख कारन, आवति फिरि-फिरि संग अली ।
चली पीठि दै दृष्टि फिरावति, अंग-अंग आनन्द रली ।।
कीर-कपोत-मीन पिक सारंग, केहरि-कदली छवि बिदली ।
सूरदास-प्रभु पास दुहावति, धनि-धनि श्री वृषभानु लली ।।[१]

पद में 'मुरि-मुरि', 'फिर-फिरि', 'अंग-अंग' और 'धनि-धनि' की आवृत्तियाँ एक विशेष गति उत्पन्न करती हैं। वीप्सा के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

उमंगि-उमंगि प्रभु भुजा पसारत, हरषि जसोमति अंकम भरनी ।[२]
हालरो हलरावै माता । बलि-बलि जाउँ घोष-सुख-दाता ।[३]
छिन-छिन छुधित जानि पय कारन, हँसि-हँसि निकट बुलाऊँ ।[४]
अब मैं बलि-बलि जाऊँ हरी ।[५]
निरखि-निरखि मुख कहति लाल सौं, मौं निधनी के धनियाँ ।[६]
तनक-तनक सी दूध दंतुलिया, देखौ नैन सफल करो आई ।[७]
देखि-देखि किलकत दंतियाँ द्वै, राजत क्रीड़त विविध विहार ।[८]
निरखि-निरखि अपनो प्रतिबिम्ब, हँसत किलकत औ,
पाछै चितै फेरि-फेरि मैया-मैया बोलै ।[९]
गरजि-गरजि घन बरषन लागे, मानौ सुरपति बैर धरयौ ।[१०]
घन गरजत बरज्यौ नहिं मानत, त्यौं-त्यौं रटत खरे ।
करि-करि प्रगट पंख हरि इनके लै-लै सीस धरे ।[११]

पुनरुक्ति-प्रकाश—वीप्सा में पुनरुक्ति होती है किन्तु शब्द केवल दो बार ही प्रयुक्त होता है, पुनरुक्ति प्रकाश में पुनरुक्ति अनेक बार होती है। पुनरुक्ति काव्य

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७३९ ।
२. वही, ४४ ।
३. वही, ४६ ।
४. वही, ७५ ।
५. वही, ८० ।
६. वही, ८१ ।
७. वही, ८२ ।
८. वही, ८४ ।
९. वही, ७१९ ।
१०. वही, ३३२० ।
११. वही, ३३२९ ।

का एक दोष है पर जब पुनरुक्ति ही रुचिरता का कारण बनती है तो अलंकार बन जाती है।[1] यहाँ पुनरुक्ति न केवल भाषा को रुचिर करती है वरन् अर्थ का भी उत्कर्ष करती है। इसके मनोरम उदाहरण सूरसागर में यत्र-तत्र मिलते हैं। जैसे—

आजु तौ बधाइ बाजे, मंदिर महर के।
फूले फिरैं गोपी ग्वाल, ठहर-ठहर के॥
फूली फिरैं धेनु-धाम, फूली गोपी अंग-अंग,
फूले फरे तरवर, आनन्द लहर के॥
फूले बंदीजन द्वारे, फले फूले बंदवारे,
फूले जहाँ जोइ सोइ, गोकुल सहर के॥
फूले फिरैं जादौ कुल, आनन्द समूल मूल,
अंकुरित पुन्य फूले, पाछिले पहर के॥
उमंगे जमुन-जल, प्रफुलित कंज-पुंज,
गरजत कारे भारे, जूथ जलधर के॥
नृत्यत मदन फूले, फूली रति अंग-अंग,
मन के मनोज फूले, हलधर वर के।
फूले द्विज संत-वेद, मिटि गयौ कंस-खेद,
गावत बधाइ सूर, भीतर-बहर के।
फूली हैं जसोदा रानी, सुत जायौ सारङ्गपानी,
भूपति उदार फूले, भाग फरे घर के।[2]

सुन्दर स्याम सखी सब सुन्दर, सुन्दर वेष धरे गोपाल।
सुन्दर पथ सुन्दर गति आवन, सुन्दर मुरली सब्द रसाल॥
सुन्दर लोग सकल ब्रज सुन्दर, सुन्दर हलधर सुन्दर भाल।
सुन्दर वचन बिलोकनि सुन्दर, सुन्दर गुन सुन्दर बन माल॥
सुन्दर गोप गाइ अति सुन्दर, सुन्दरि-गन सब करति विचार।
सूर स्याम संग सब सुन्दर, सुन्दर भक्त हेत अवतार॥[3]

धन्य राधा धन्य बुद्धि तेरी।
धन्य माता, धन्य पिता, धनि भगति तुव, धिक हमहिं, नहीं सम, दासि तेरी॥

---

१. एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्ती परकाश गुन, बरनै बुद्धि समर्थ॥
——काव्य-निर्णय (भिखारीदास), पृष्ठ १६८

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४।

३. वही, ४७४।

धन्य तुव ज्ञान, धनि ध्यान, धनि परमान, नहिं जानति ग्रान ब्रह्म-रूपी।
धन्य अनुराग, धनि मान, धनि सौभाग्य, धन्य जोवन रूप अति अनूपी ।।[१]

स्याम सुख-रासि रस-रासि भारी।
रूप की रासि, गुन-रासि, जीवन-रासि, थकित भई निरखि नव तरुन नारी।।
सील की रासि, जल-रासि, आनन्द-रासि, नील-नव-जलद छवि बरन कारी।
दया की रासि, विद्या-रासि, बल-रासि, निर्दयाराति दनु-कुल प्रहारी ।।
चतुरई-रासि, छल-रासि, कल-रासि, हरि भजें जिहि हेंत तिहिं देन हारी।
सूर-प्रभु स्याम, सुख धाम, पूरन काम, वसन कटि पीत, मुख मुरलिधारी ।।[२]

उपर्युक्त पदों में 'फूले', 'सुन्दर', 'धन्य' और 'रासि' शब्दों की पुनरुक्ति का सौन्दर्य प्रस्तुत किया गया है। पुनरुक्ति प्रकाश को सभी अलंकारिकों ने अलंकार नहीं माना है स्वयं दास ने इसे गुण माना है। चाहे इसे अलंकार मानें या न मानें किन्तु सूर के पदों में तो इसने भाषा-सौष्ठव और भावोत्कर्ष निश्चय ही उपस्थित किया है।

अर्थ-ध्वनन—भाषा के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका निर्माण उनकी ध्वनि विशेष के आधार पर हुआ है। ये शब्द अपनी ध्वनि से अपना अर्थ व्यक्त कर देते हैं। कुशल कवि शब्दों के इस गुण के उपयोग से भाषा में एक सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में इसे Onomatopoeia नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। हमारे यहाँ का अलंकार-शास्त्र इतना विशाल है फिर भी इस अलंकार को पृथक् स्थान नहीं मिला है। इसे अनुप्रास में ही अन्तर्भूत किया है। आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव से आधुनिक कवियों का झुकाव अर्थ-ध्वनन की ओर है। कविवर 'पंत' और 'निराला' में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। सूरदास जी संगीतज्ञ थे अतः शब्दों के नादात्मक सौन्दर्य से वे सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे शब्दों का विशिष्ट प्रयोग किया है जो अर्थ-ध्वनन के वैभव से युक्त थे। कृष्ण-जन्म के अवसर पर निशान बजते हैं। उनकी घहर-घहर की ध्वनि पद-रचना से भी स्वतः निकलती है—

आज हो निसान बाजे, नन्द जू महर के।
आनन्द मगन नर, गोकुल सहर के।।
आनँद भरी जसोदा, उमँगि अँग न मानि।
आनन्दित भई गोपी, गावति चहर के।।
× × ×
आनन्दित ग्वाल बाल, करत विनोद ख्याल,
भुज भरि भरि धरि, अंकम महर के ।।[3]

इसी प्रकार बाल-क्रीड़ा विषयक पदों में अनेक स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनमें ध्वनि अर्थ को देने वाली होती है। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७८८।
२. वही, १८०३।
३. वही, ३०।

ललित आँगन खेलै, ठुमुकि-ठुमुकि डोलै,
झुनुक-झुनुक बोलै, पैंजनी मृदु मुखर ॥[1]

'ठुमुकि-ठुमुकि' तथा 'झुनुक-झुनुक' अर्थ-ध्वनन से युक्त हैं।

कभी-कभी शिशु कृष्ण लुढ़कते चलते हैं। उनकी चाल शब्दों की ध्वनि से ही स्पष्ट हो जाती है—

डगनि डगमग पगनि डोलत, धूरि धूसर अंग।[2]

रेखांकित शब्दों की आवाज 'डगमगाते' हुए बालक का चित्र प्रस्तुत करती है। रास-लीला के पदों में ऐसे शब्द हैं जिनमें अर्थ-ध्वनन गुण विद्यमान है। जैसे—

मुकुट की लटक, झलक कुंडल की, निरतत नन्द दुलारौ।[3]
होड़ा होड़ी नृत्य करैं, रीझि-रीझि अंक भरैं,
ताता थेई, थेई उघटति हैं हरषि मन।[4]
दरकि कंचुकि, तरकि माला, रही धरनी जाइ।[5]
पग पटकत लटकत लट बाहु।
मटकत भौंहनि हस्त उछाहु॥
नुपुर किंकिनि कंकन चुरी।
उपजत मिश्रित ध्वनि माधुरी॥[6]

उपर्युक्त पंक्तियों में सभी शब्द, ध्वनि-सम्पत्ति से युक्त हैं और प्रायः उनसे वही ध्वनि निकलती है जो उनका अर्थ है।

अर्थ-ध्वनन का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग सूर के ओज-प्रधान प्रसंगों में दावानल-पान और गोवर्धन-धारण में मिलता है। शब्दावली और पंक्तियों की ध्वनिमात्र से अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ।

× × ×

झपटि झपटत लपट, फूल फल चट चटकि, फटत लट लटकि, द्रुम-द्रुम नवायौ।
बरत बन पात, भहरात, झहरात, अररात, तरु महा धरनी गिरायौ॥[7]

भहरात, झहरात, अररात आदि शब्दों की ध्वनि प्रचंड अग्नि की भीषणता की बोधक है। इसी प्रकार झपटि, झपटत, लपट आदि की ध्वनि, आँधी की झपेट और वृक्ष आदि के टूटने आदि का चित्र प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार गोवर्धन-धारण प्रसंग में—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५१।
२. वही, १८४।
३. वही, ११४३।
४. वही, ११४६।
५. वही, ११४५।
६. वही, ११८०।
७. वही, ५९६।

घटा घनघोर घहरात, अररात, दररात, थररात ब्रज लोग डरपे।
तड़ित आघात तररात, उतपात सुनि, नारि-नर सकुचि तन-प्रान अरपे॥[1]

बादर बहु उमडि घुमड़ि, वरषत ब्रज आए चढ़ि,
कारे, धौरे-धूमरे धारे अतिहीं जल।
चपला अति चमचमाति, ब्रजजन सब अति डरात,
टेरत सिसु-पिता-मात, ब्रज में भयौ गलबल॥
गरजत धुनि प्रलयकाल, गोकुल भयौ अंधजाल,
चकित भए ग्वाल बाल, गहरत नभ हलचल।
पूजा मेटी गुपाल, इन्द्र करत यहै हाल,
सूर स्याम राखौ ब्रज, हरवर अब गिरवर बल॥[2]

'घटा घनघोर घहरात' में बादल की भयंकर ध्वनि और 'चपला चमचमाति' में बिजली की चमक स्वतः प्रतीत होती है।

कान्ति-गुण—कुशल कवि शब्द चयन के बाद उस पर एक पालिश चढ़ाकर उसमें औज्ज्वल्य (Brilliance) एवं मसृणता (Smoothness) का समावेश कर देता है। ऐसा करने से भाषा का खुरदुरापन जाता रहता है और उसमें एक आभा आ जाती है। इसी का नाम पालिश या कान्ति-गुण है। ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों—बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर और घनानंद ने इस गुण पर विशेष दृष्टि रखी है इसीलिए उनकी भाषा की कमनीयता बहुत बढ़ गयी है। सूरदास जी ब्रज-भाषा के प्रथम श्रेष्ठ कवि हैं। उनकी दृष्टि भाषा की कलात्मकता की ओर उतनी नहीं थी जितनी परवर्ती कवियों की थी, फिर भी कान्ति-गुण उनके श्रेष्ठ पदों में अनायास ही मिल जाता है।

औज्ज्वल्य—कान्ति-गुण नागर पदावली पर अवलम्बित होता है। अनुनासिक ध्वनियों की बहुलता से माधुर्य का संचार होता है। जैसे—

मानों माई घन-घन-अंतर दामिनि।
घन-दामिनि, दामिनि-घन-अंतर, सोभित हरि ब्रज भामिनि॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहाई जामिनि।
सुन्दर ससि गुन रूप रागनिधि अंग-अंग अभिरामिनि॥
× × ×
खंजन, मीन, मयूर, हंस, पिक, भाइ भेद गज गामिनि।
को गति गनै सूर मोहन संग, काम विमोह्यो कामिनि॥[3]

पद में आदि से अन्त तक अनुनासिक ध्वनियों की गूंज विद्यमान है। इससे पद की पंक्तियाँ दमकती दृष्टिगोचर होती हैं।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८५५।
२. वही, ८५७।
३. वही, १०४८।

मसृणता--शिल्पकार कलाकृति की रचना करने के उपरान्त उसमें घिसाई करके उसे समतल करता है, ऐसा करने से ही उसमें एक चमक आ जाती है। कुशल कवि भी इसी प्रकार अपने शब्दों के खुरदुरेपन को निकालकर उसमें एकरूपता उत्पन्न करता है। ऐसा करने से पंक्ति में स्वाभाविक मिठास उत्पन्न हो जाती है। सूर में मसृणता सर्वत्र मिलती है। जैसे--

मुरली मधुर बजाई स्याम।
मन हरि लियौ भजन नहिं भावै, व्याकुल ब्रज की बाम॥
भोजन भूषन की सुधि नाहीं, तनु की नहीं सम्हार।
गृह गुरु-लाज सूत सों तोर्‌यौ, डरी नहीं व्यवहार॥
करत सिंगार बिवस भई सुंदरि, अंगनि गई भुलाइ।
सूर-स्याम वन वेनु बजावत, चित हित रास रमाइ॥[1]

सूरदास जी ने 'श' को 'स', 'ण' को 'न', 'व' को 'ब' कान्ति गुण की प्रक्रिया में ही किया है। वर्णों को घिसकर उन्हें मधुर कर दिया है। कान्ति गुण के लिए यदि कवि को बोली वाला रूप रुचता है तो वह उसे लेता है और यदि तत्सम शब्दावली अनुपम प्रतीत होती है तो उसे ग्रहण करता है। वर्णों के थोड़ा-बहुत विकृत कर देने से भी वह नहीं हिचकता। उसे तो पंक्ति में एकरूपता और उज्ज्वलता चाहिए। जैसे--

नैननि उहै रूप जो देखौ।
तौ ऊधौ यह जीवन-जग को, साँच सुफल करि लेखौ॥
लोचन चपल चारु खंजन, मन-रंजन हृदय हमारे।
सुरंग कमल, मृग, मीन मनोहर, सेत, अरुन अरु कारे॥[2]

इस पद में 'उहै' शब्द बोली का है फिर भी 'वहै' की अपेक्षा पंक्ति की ध्वनि के लिए अधिक अनुकूल है। इसलिए कवि ने इसे ही अंगीकार किया है। इसी प्रकार 'साँच' 'सत्य' की अपेक्षा अधिक मधुर है। 'स्वेत' शब्द को 'सेत' बनाकर उसे विशेष कोमल कर दिया है। शिल्पकार पहले वस्तु को मसृण (Smooth) करता है और फिर उस पर कान्ति (Polish) का आरोप करता है। उपर्युक्त पद की प्रथम दो पंक्तियों में कवि ने मसृणता भरी है और फिर निम्न दो पंक्तियों में कान्ति-गुण की अवतारणा की है।

सूर में सहज गुण की प्रधानता है, अपनी रचना में बहुत अधिक संशोधन और परिवर्धन उन्होंने नहीं किया तथापि गान के माध्यम से प्रस्तुत करने के कारण उनके शब्द और वर्ण प्रायः ध्वनि के अनुरूप स्वतः घिस-घिसाकर निकले तथा संगीत के स्वर विधान ने पंक्तियों में औज्ज्वल्य का आविर्भाव भी अपने आप कर लिया। इसीलिए सूर ही ब्रजभाषा के कान्ति-गुण के भी प्रवर्तक हैं।

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६६६।
२. वही, ३५६०।

दोष

संस्कृत-समीक्षकों ने काव्य-दोषों को काव्य-गुणों से कम महत्त्व नहीं दिया। अलंकार, गुण आदि के सम्बन्ध में उनमें मतभेद थे किन्तु दोष के सम्बन्ध में सभी एक मत थे। आचार्य दंडी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि काव्य में रंचमात्र दोष भी उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि छोटा-सा एक कुष्ट का धब्बा भी शरीर के सौन्दर्य को विकृत कर देता है।[1] निर्दोष-रचना काव्य का महान् गुण है किन्तु निर्दोष-रचना दुर्लभ है। रस काव्य की आत्मा है। रससिद्ध कवि रसवत्ता में मग्न हो जाने के कारण भाषा के बाह्य रूप पर उतना ध्यान नहीं रख पाता। फलतः उसमें भाषा-गत दोष रह जाते हैं। सूरदास जी की भाषा के सदोष होने का यही कारण है। उनकी रचना में भाषा-गत दोष पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में दोषों की बहुत बड़ी संख्या है। दोषों के शास्त्रीय विवेचन के विस्तार में न पड़कर हम यहाँ पर सूर की भाषा मात्र के कतिपय दोष प्रस्तुत करेंगे।

च्युत संस्कृति—व्याकरण की दृष्टि से सूर की भाषा अनेक स्थलों पर सदोष मिलती है। विशेष सावधानी न रखने तथा तुक और वर्ण-मैत्री आदि के मोह में पड़ जाने के कारण उन्होंने लिंग, कारक-चिह्नों और क्रिया-रूपों में नियमोल्लंघन किया है।

लिंग सम्बन्धी दोष—

विस्मय मिटी ससि पेखि समीपहिं, कहि अब सूर उभय हरि गाज्यौ।[2]

'विस्मय' शब्द पुल्लिग है किन्तु कवि ने स्त्रीलिंग रूप में प्रयाग किया है।

सोभा सिन्धु न अन्त रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमंगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।।[3]

'सोभासिन्धु' पुल्लिग है किन्तु इसके क्रिया पद 'अन्त रही', 'भरि पूरि उमंगि चलि' और 'फिरति बही री' स्त्रीलिंग हैं।

'सूल' शब्द पुल्लिग है पर सूर ने इसे स्त्रीलिंग में प्रयोग किया है—

मेरे मन इतनी सूल रही।[4]

सूरसागर में इस शब्द का प्रयोग अनेक[5] बार हुआ है, सर्वत्र स्त्रीलिंग ही है।

तुक के लिये अनेक स्थलों पर लिंग-दोष मिलता है। जैसे—

जसुमति कहति कहा मैं कीनों, रोवत मोहन अति दुख पावत।
सूर स्याम कौं जसुमति बाँधति, गगन चिरैयाँ उड़त दिखावत।।[6]

---

१. **तदल्पमपि नोपेक्ष्यं, काव्ये दुष्टं कथंचन।**
स्याद्वपु सुन्दरमपि, स्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।—काव्यादर्श १।७

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११९३।

३. वही, २९।

४. वही, ३३९५।

५. वही, ३२९९, ३३१८, ३३९५, ३३९८, ३७६९, ३७८३, ३९१०

६. वही, १८८।

इक इक अलक लटकि लोचन पर, यह उपमा इक आवति ।
मनहुँ पन्नग पति उतरि गगन तें, दल पर फन परसावति ।।[१]

उपर्युक्त उद्धरणों में तुक के लिए 'दिखावति' के स्थान पर 'दिखावत' और 'परसावत' के स्थान पर 'परसावति' किया गया है ।

एक समय मोतिन के धोखें, हंस चुनत है ज्वारि ।

× × ×

यह जोवन वरषा की नदि ज्यों, बोरति कर्तांह करारि ।[२]

'ज्वार' और 'करार' दोनों शब्द पुल्लिग हैं किन्तु तुक के लिए ये 'ज्वारि' और 'करारि' किये गये हैं ।

विशेषण के कारण भी कहीं उनके लिंग अशुद्ध हो गये हैं । जैसे—

नख शिख लौं यह मेरी देही, है पाप की जहाज ।[3]

इसमें गीत की लय के लिए 'देही' में 'ई' का प्रयोग आवश्यक था और 'देही' के कारण उन्हें 'जहाज' को भी स्त्रीलिंग करना पड़ा ।

इसी प्रकार कृदंती रूप के कारण भी अशुद्धि आ गयी है । जैसे—

तू चलि री बन बोली स्याम ।[४]
रसिक राधे, बोली नन्द कुमार ।[५]

यहाँ 'बोली' का अर्थ 'बुलाई गई' है, अर्थात् हे राधे, तू हरि या नंदकुमार के द्वारा बुलाई गयी है, किन्तु पंक्ति में 'बोली' शब्द भूतकालिक कृदंत के स्थान पर क्रिया के भूतकाल में प्रयुक्त प्रतीत होता है, इसीलिए इसमें लिग-दोष लगता है ।

विभक्तियों का अनियम—विभक्तियों के प्रयोग में सूर ने बड़ी स्वच्छन्दता बरती है । इसीलिए अनेक स्थलों पर भाषा विकृत हो गयी है । जैसे—

अधर अमृत की पीर मुई हम ।[६]
मृदु मुसकानि मोल इनि लीनी, अब सुनि-सुनि पछितानी ।[७]
अँखियनि स्याम आपनी करी ।[८]
यों भूली ज्यों चोर भरें घर, निधि नहिं जात लई ।[९]
री हौं स्याम मोहिनी घाली ।[१०]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८०९ ।
२. वही, २५९१ ।
३. वही, विनय पद, ९६ ।
४. दशम स्कन्ध पद, २७६२ ।
५. वही, २७६३ ।
६. वही, ३१६० ।
७. वही, २४०२ ।
८. वही, २४०४ ।
९. वही, १७८३ ।
१०. वही, १४०० ।

'अधर-अमृत की पीर' करण कारक में है अतः इसकी विभक्ति 'सें' या 'तें' होना चाहिए था जिसका प्रयोग नहीं हुआ है। इसी प्रकार 'मृदु मुसुकानि' कर्त्ता कारक में है, यद्यपि इसे भी करण कारक की स्थिति में होना चाहिए। 'अँखियनि' का रूप कर्त्ता कारक का है, किन्तु है यह कर्म कारक। 'चोर' भी करण कारक की अवस्था में है किन्तु विभक्ति के अभाव से स्थिति संदिग्धता की है। 'हौं स्याम मोहिनी घाली' में घाली क्रिया का कर्त्ता 'स्याम' है। 'हौं' कर्त्ता का रूप है इसके स्थान पर अधिकरण कारक होना चाहिए।

ग्राम्यत्व—यद्यपि सूर की दृष्टि काव्योचित प्रयोगों पर ही अधिक रही फिर भी परिस्थिति दोष से अनेक ग्राम्य-प्रयोग उनकी भाषा में स्वतः आ गये हैं। जो पद लोक-गीतों के रूप में हैं उनमें तो ग्राम्यत्व है ही, कला-गीतों में भी अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग है। उनमें से कुछ शब्द इस प्रकार हैं—

छीलर (१६६), लठबाँसी, लौंड़ी, टूंडक (१८६), मूंड (३३१), बाँभन (६७५), गोड़ (८३१), ग्वेंया (६८६), गेरत (१०२३), चँड़ाइ (१०६२), मौंड़ा (१०६६), लँगरी (२०३३), डहरि (२०३६), बुड़की (२५२६), लड़बौरी (२५६३), भैंनी (२५१४), चिरई चुहचुहानी (२६५७), भरुहाने (२८७१), चौंछोली (३२०६), बूतें (४५३४)।

ग्रामीण मुहावरे और लोकोक्तियाँ भी स्वभावतः भरी पड़ी हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। अधिक ग्राम्य-प्रयोगों से भाषा अपने सौष्ठव को खो बैठती है। सूरदास जी की भी इनसे हानि हुई है, इसमें सन्देह नहीं। जहाँ तक गोपियों की स्वभावोक्ति है वहाँ तक तो ये प्रयोग युक्तियुक्त हैं किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों की जो अति पदों में प्राप्त होती है, भाषा में ग्राम्यत्व उत्पन्न करती है।

अप्रतीतत्त्व—शास्त्र विशेष में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली जब काव्य-भाषा में प्रयुक्त होती है तो सामान्य जनों के लिए दुर्बोध होने से उसमें अप्रतीतत्त्व दोष माना जाता है। यदि ग्राम्यत्व भाषा को अति साधारण करता है तो अप्रतीतत्त्व उसे असाधारण बनाता है। सूरदास जी में यह दोष बहुत कम मिलता है। विनय पदों में कुछ पद इसी प्रकार के हैं। जैसे—

साँचौ सो लिखहार कहावै।
काया ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मनमहतो करि कैद अपने में, ज्ञान जहतिया लावै।[1]

× × ×

हरि हौं ऐसो अमल कमायौ।
साबिक जमा हुती जो जोरी, मिनजालिक तल ल्यायौ॥
वासिल वाकी स्याहा मुजमिल, सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त सु होत मुस्तौफी, सरन गहूँ मैं काकी॥[2]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४२।
२. सूरसागर (सभा), विनय, पद १४३।

इन पदों में मसाहत, जमा, महतो, जहतिया, अवारजा, मुजमिल, कुल्ल, वासिल, स्याहा, मुस्तौफी आदि परिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार चौपड़[1] रूपक और कायानगर[2] रूपक भी अप्रतीतत्त्व दोष के अन्तर्गत आते हैं।

क्लिष्टत्व—सूरदास जी ने दृष्टकूट पदों की रचना की है। इनमें से अधिकांश क्लिष्टत्व दोष से युक्त हैं। दृष्टकूटों का विवेचन विस्तार से किया गया है अतः उस पर पुनर्विचार आवश्यक नहीं है।

पुनरुक्ति—सूर का प्रधान दोष है। सूरसागर में न केवल प्रसंगों की अनेक आवृत्तियाँ हैं वरन् उक्तियों, उपमाओं और पंक्तियों की भी पुनरुक्तियाँ होती गयी हैं। कारण यह है कि सूरदास जी अन्धे गायक थे, वे कीर्तन के लिए प्रतिदिन पदों की रचना करते थे। उन्हें अपने पदों का संशोधन करने का अवसर न मिलता था। उन्हें सम्भवतः पूर्व रचित पदों की पंक्तियों, उपमाओं या विषय का स्मरण भी न रहता हो। सूरसागर का सम्पादन जब होने लगा तो विषय-क्रम के अनुसार पदों का संकलन कर दिया गया। विषय और उपमानों की कौन कहे कथन की पुनरुक्तियाँ भी अनेक हैं। जैसे—

१—मैं देख्यौ जसुदा को नंदन, खेलत आँगन बारौ री।
ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ, तन-मन ह्वै गयौ कारौ री॥[3]
२—जब तें आँगन खेलत देख्यौ मैं जसुदा को पूत री।
तब तें गृह सों नातौ टूटो, जैसे काँचो सूत री॥[4]
३—अद्‌भुत इक चितयौ हौं सजनी, नंद महर के आँगन री।
सो मैं निरखि अपुनपौ खोयो, गई मथानी माँगन री॥[5]

अधिक उदाहरण अनावश्यक हैं क्योंकि सूरसागर में इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ राशि-राशि हैं।

अधिकपदत्व—परिमार्जन का विशेष अवसर सुलभ न होने के कारण पुनरुक्ति की भाँति अधिकपदत्व और न्यूनपदत्व दोष भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। दो एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

---

१. **चौपरि जगत मड़े जुग बीते।**
गुन पाँसे क्रम अंक चारि गति, सारि न कबहूँ जीते।
—सूरसागर (सभा), विनय, पद ६०

२. **जनम साहिबी करत गयौ।**
कायानगर बड़ी गुंजाइश, नाहिन कछू बढ़्यौ।
—सूरसागर (सभा), विनय, पद ६४

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३५।

४. वही, १३६।

५. वही, १३७।

हृदय हरषित प्रेम गद-गद, मुख न आवत बैन ।[1]
भजी निसंक आइ तुम मौं कहँ, गुरुजन की संका नहिं मानी ।[2]

यहाँ 'गद्गद्' और 'मुख न आवत बैन' एक ही अर्थ के द्योतक हैं अतः 'मुख न आवत बैन' का अधिक पदत्व है । इसी प्रकार 'निसंक' शब्द के प्रयुक्त हो जाने के पश्चात् 'संका नहिं मानी' का कथन अनावश्यक है ।

न्यूनपदत्व—जहाँ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त शब्दों का अभाव होता है और अर्थ की प्रतीति में कठिनाई होती है वहाँ न्यूनपदत्व दोष माना जाता है। जैसे—

मुख छवि कहाँ कहाँ लगि माई ।
भानु उदै ज्यौं कमल प्रकासित, रवि ससि दोऊ जात छपाई ।।[3]

यहाँ मुख-छवि के वर्णन में दो कथन हैं (१)—मुख इस प्रकार प्रफुल्लित है जैसे सूर्योदय पर कमल, तथा (२)—मुख-छवि के सम्मुख रवि और शशि की ज्योति छिप गई है। किन्तु पंक्ति में इन दो भिन्न कथनों के पार्थक्य दिखाने के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे भानु के उदय में ही रवि-शशि का छिपना अर्थ निकलता है और भ्रम उत्पन्न करता है।

श्रुति-कटुत्व—शृंगार, वात्सल्य आदि कोमल रसों में मधुर या प्रसाद गुण वाले वर्ण शोभित होते हैं । उनके बीच में जब परुष वर्ण आ जाते हैं तो कानों को अप्रिय लगते हैं । मधुर वर्णों के मध्य कर्कश वर्णों का योग श्रुति-कटुत्व कहा जाता है। सूरदास जी शृंगार के मनोरम प्रसंग में कर्कश वर्णों का प्रयोग कर इस दोष के भागी हुए हैं । जैसे—

चटकीलौ पट लपटानौ कटि पर, वंसीवट जमुना के तट राजत नागर नट।
मुकुट की लटक, मटक भृकुटी की लोल, कुंडल चटक आछी, सुबरन की लुकट ।।
उर सोहैं बन माल, कर टेके द्रुम डाल, टेढ़े ठाढ़े नंदलाल सोभा भई घट घट ।
सूरदास-प्रभु की बानक देखें गोपी ग्वाल निपट निकट, पट आवै सौंधे की पट ।।[4]

वर्ण-योजना प्रसंग में हम दिखा चुके है कि किस प्रकार सूरदास जी मधुर वर्णों के साथ परुष वर्णों का प्रयोग करते गये हैं ।

अश्लीलत्व—व्रीड़ा विषयक अश्लीलत्व सूर के सुरति वर्णनों में कहीं-कहीं मिल जाता है । साहित्य में सुरति वर्णन त्याज्य तो नहीं है किन्तु कवि को उसे लक्षणा और व्यंजना से ही करना चाहिए जहाँ वह अभिधा से ऐसा वर्णन करता है, उसमें अश्लीलता आ जाती है। सूर ने अभिधा से भी ऐसा किया है । जैसे —

हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्हीं ।
प्रिया बिनु बसन करि, उलटि धरि, भुजन भरि, सुरति रति पूरि अति निबल कीन्हीं ।[5]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०३६ ।
२. वही, १०३४ ।
३. वही, ६३६ ।
४. वही, १४०१ ।
५. वही, १६८८

यही शब्दावली कवि ने दुहराई भी है—

बसन तन दूरि करि, सबल भुज अंक भरि, काम-रस बस वाम निदरि धारयो ।[1]

मूल्यांकन

सूर का भाषा पर अधिकार—सूरदास जी का ब्रजभाषा पर आधिपत्य निर्विवाद है। सूर की भाषा-समृद्धि, साधु-प्रयोग, वर्ण-योजना, शब्द-शक्ति, अलंकरण आदि इसके प्रमाण हैं। सूर ने असाहित्यिक भाषा को साहित्यिक बनाया। अतएव प्रयोगात्मक रूप होने के कारण उसका बहुत सा अंश आगे न चल सका। अन्धे होने के कारण सूर की भाषा के मार्जन का विशेष अवसर न था, कीर्तन के क्रम में नित्य नये पदों की रचना करना उनका कार्य था इसलिए अनेक पदों की भाषा सुगठित और सुव्यवस्थित भी न हो सकती थी। भाषा-सम्बन्धी दोषों का उसमें आ जाना इसीलिए स्वाभाविक हो गया। इतना होते हुए भी उनका भाषा पर व्यापक अधिकार सिद्ध है। तुक-प्रियता ने सूर की भाषा को विश्रृंखल किया है किन्तु तुक उनके भाषा-अधिकार का प्रमाण भी है। सूर के पदों में बारह, पन्द्रह और बीस पंक्तियों तक तुक का सुन्दर निर्वाह मिलता है। प्रतीत होता है शब्द आप-से-आप आते चले आते हैं। साधारण विकृति चाहे हो जाय पर शब्द न तो निरर्थक होते हैं और न रसहीन। विकृत होते हुए भी संगीत के अनुरूप होने के कारण सूर के तुक सरसता की अभिवृद्धि करने वाले हैं।

सूर की भाषा का सबसे बड़ा गुण भावानुकूलता है। यही कारण है कि सूर की भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों में जहाँ सूर ने भागवत के भावानुवाद रूप में कथा-कथन किया है वहाँ भाषा लचर और गद्यात्मक है। उसमें न तो कसाव है और न सौष्ठव।[2] इस प्रकार के पदों में भाषा पंडिताऊ और निरलंकार है। गद्य की-सी भाषा है इसके विपरीत कला-गीतों में भाषा संयत है और थोड़े शब्दों में अधिक भाव-प्रकाशन की क्षमता रखती है। शब्दावली सरल होते हुए भी अर्थ-गांभीर्य से युक्त है। अर्थ की दृष्टि से शब्द जितने मार्मिक हैं और विविध व्यापारों से समन्वित चित्र प्रस्तुत करने वाले हैं, उतने ही स्वाभाविक हैं एवं माधुर्य और कान्तिगुण से समुज्ज्वल हैं।[3]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४९७।

२. **दच्छ के उपजी पुत्री सात। तिनमें सती नाम विख्यात।**
महादेव कौं सो तिन दई। पुनि सो दच्छ-यज्ञ में मुई।
तहँ कियौ जज्ञ पुरुष अवतार। सूर कह्यौ भागवत अनुसार।
—सूरसागर (सभा), चतुर्थ स्कन्ध, पद ४

३. **नैना नाहिं न कछु विचारत।**
सनमुख समर करत मोहन सौं, जद्यपि हैं हठि हारत॥
अवलोकत, अलसात, नवल-छवि, अमित तोष अति आरत।
तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों, घूंघट पटहिं विदारत॥

लम्बे-लम्बे शब्दों में अन्त्यानुप्रास का निर्वाह करते हुए भी सूर की भाषा विकृत नहीं होती।[1]

भाषा के समग्र रूप को देखते हुए हम कह सकते हैं कि सूर की भाषा में ब्रज-भाषा का प्रौढ़ और शिष्ट रूप है। प्रसंगानुकूल उसमें भाषा के विविध रूप के दर्शन होते हैं। साधारण बोल-चाल की भाषा से लेकर अलंकृत और नाद-वैभव से सम्पन्न भाषा सूरसागर में मिलती है। रास में जहाँ नृत्य की रुनझुन सुन पड़ती है वहाँ दावानल में भीषणता भी साकार हो जाती है। संक्षेप में भाषा सूर के हाथ की पुत्तलिका रही है जैसा कवि ने चाहा है वैसा रंग उसने दिखाया है।

बुधिबल, कुल-अभिमान, रोष-रस, जोवत भँवहिं निवारत।
निदरे व्यूह समूह स्याम अँग, पेखि पलक नहिं मारत॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २३८३

१. हँसत-हँसत स्याम प्रबल कुवलया संहार्यौ।
तुरत दंत लिए उपारि, कंधन पर चले धारि निरखत नर नारि, मुदित चक्रित गज मार्यौ॥
अतिहिं कोमल अजान, सुनत नृपति जिय सकान, तनु बिन जनु भयौ प्रान, मल्लनि पै आए।
देखत ही संकि गए, काल गुनि बिहाल भए, कंस डरनि घेरि लए, दोउ मन मुसुकाए॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३०६४

प्रकरण ५

सूर की पद्-रचना

संगीत-परम्परा और सूरदास—१३वीं शताब्दी से पूर्व संगीतशास्त्र का कोई उल्लेखनीय प्रामाणिक ग्रंथ नहीं मिलता, केवल आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में तीन अध्याय संगीत सम्बन्धी हैं। १२वीं शताब्दी में महाकवि जयदेव रचित काव्य-ग्रंथ गीत-गोविन्द मिलता है। इस ग्रंथ का मुख्य वर्ण्य-विषय गीतों (अष्टपदियों) में है। इन गीतों में रागों और तालों का उल्लेख है। गीत-गोविन्द में जिन रागों का उल्लेख है, वे हैं—मालव, गुर्जर, गुर्जरी, वसन्त, रामकली, कर्णाट, देशाख्य, देशवराटि, गुणकरी, देशांक, भैरव और विभास। गीत-रचना के सभी अंग—उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग इसमें मिलते हैं। १३वीं शताब्दी में संगीतशास्त्र का प्रामाणिक ग्रंथ शारंगदेव रचित संगीत-रत्नाकर मिलता है। इसमें गीत-रचना के उपर्युक्त, उद्ग्रह, मेलापक आदि का विवेचन है और गीत-गोविन्द में प्राप्त रागों का विवेचन भी है। रत्नाकर में प्राप्त गायन-पद्धति आगे चलकर परिवर्तित हो गयी इसीलिए परवर्ती संगीतज्ञों के लिए वह दुर्बोध हो गयी।

१५वीं शताब्दी में संगीत का मान्य-ग्रंथ लोचन-कृत राग-तरंगिणी है। लोचन ने अपने ग्रंथ में छन्दशास्त्र के साथ संगीत का विवेचन किया है। इसमें १२ जनक और ७५ जन्य रागों का उल्लेख है। सूरसागर में ६८ रागों[1] में पद-रचना मिलती है। इसके कई पदों में संगीत के सप्त स्वर, तीन ग्राम, २१ मूर्छना, ४९ तान तथा

१—१. विलावल, २. कान्हरा, ३. मारू, ४. रामकली, ५. धनाश्री, ६. केदारा, ७. परज, ८. विहागरा, ९. सारंग, १०. गांधार, ११. देवगांधार, १२. नायकी, १३. जैतश्री, १४. गूजरी, १५. आसावरी, १६. गौरी, १७. कल्यान, १८. काफी, १९. जैजैवन्ती, २०. सूहो विलावल, २१. ललित, २२. नटनारायन, २३. भैरव, २४. अहीरी, २५. मलार, २६. सारंग, २७. टोड़ी, २८. भैरवी, २९. गोंड, ३०. गुंड, ३१. विहाग, ३२. नट, ३३. पूर्वी, ३३. श्री, ३५. सुघरई, ३६. मेघ, ३७. अड़ाना, ३८. हमीर, ३९. पूरिया, ४०. गुनकली, ४१. अल्हैया बिलावल, ४२. विभास, ४३ सोरठ, ४४. देवसाख, ४५. ईमन, ४६. गंधारी, ४७. शंकरा भरण, ४८. कुरंग, ४९. संकीर्ण, ५०. कर्नाटी, ५१. वैराटी, ५२. मालकोंस, ५३. भूपाली, ५४. नटनारायनी, ५५. वसन्त, ५६. होली, ५७. श्रीमलार, ५८. श्रीहठी, ५९. वसन्ती, ६०. भोपाल, ६१. धमार, ६२. सानुत, ६३. देवगिरि, ६४. झिंझोटी, ६५. खंबावती, ६६. मुलतानी, ६७. रामगिरि, ६८. देसकार।

६ राग और ३६ रागिनी का भी उल्लेख मिलता है ।[1] तरंगिणी और सूरसागर के राग-में भी विशेष अन्तर नहीं हैं फिर भी रागतरंगिणी की गायन-पद्धति का अनुसरण ही सूर के संगीत में नहीं मिलता। उनके काल में संगीत पर दरबारी प्रभाव बहुत हो गया था। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर की दरबारी कला ने उस काल के संगीत पर बड़ा प्रभाव डाला था, सूरदास जी पर भी वह प्रभाव पर्याप्त मात्रा में अवश्य था।

उत्तर भारत की राग-रागिनी पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ--

राग और उनके विषय--भारत की राग-रागिनी पद्धति अपनी विशिष्ट परम्परा रखती है। इस परम्परा में राग-रागिनियों का निर्माण उनके स्वरों की प्रकृति के अनुसार हुआ है। स्वरों का विधि-विधान विभिन्न भावों को मूर्त्तिमान कर देता है। राग के आरम्भ होते ही स्वर और लय के सामंजस्य से एक हृदयग्राही वातावरण बन जाता है और श्रोता का मन उस वातावरण की प्रभविष्णुता में मुग्ध हो जाता है। विभिन्न स्वर-समुदायों के संयोग से किसी राग का स्वरूप गंभीर तो किसी का चपल है। मेघ, हिंडोल, श्री, मालकोंस, भैरव आदि राग पुरुष-प्रकृति के परिचायक हैं तो भैरवी, जैजैवन्ती, आसावरी, धनाश्री, रामकली, जैतश्री जैसे राग अपनी कोमलता, माधुर्य और लालित्य से नारी-प्रकृति की सुकुमार सर्जना करते हैं।

इस प्रकार राग-रागिनी पद्धति के अनुसार रागों और गीत के विषयों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विधान के कारण संगीत के शास्त्र-ग्रंथों में राग-रागिनियों का मानवीकरण करके उनके स्वरूप की कल्पना और प्रत्येक के विशिष्ट स्वरूप के ध्यान की उद्भावना हुई है। उदाहरण के लिए मालकोंस के ध्यान में उसे रक्त वर्ण वाला, लाल छड़ी धारण किये हुए, वीरों में महावीर बताया गया है।[2] भैरवी के ध्यान में वह कैलाश पर्वत पर स्फटिक के आसन पर बैठकर खिले हुए कमल के फूलों से भगवान शंकर

---

१. **सरगम सुनि कै साधि सप्त सुरन गाई।**

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११५१

तीनि ग्राम, इकईस मूर्छना, कोटि उनंचास तान...

वही, पद १३५३

छहों राग छत्तीस रागिनी, इक-इक नीकें गावेरी। —वही, १२३८

२. संगीत दर्पण मालकोंस का ध्यान—

(दामोदर पंडित) **आरक्त वर्णो धृतरक्त यष्टिः,**
वीरः सुवीरेषु कृतप्रवीर्य्यः।
वीरेर्धृतो वैरि कपालमाला,
मालोमतो मालक कोशिकोऽयम्॥

—रागाध्याय, श्लोक ५२

की अर्चना करती हुई बतायी गयी है।[1] तात्पर्य यह कि संगीत में शास्त्रीय रागों के स्वरों का घनिष्ठ सम्बन्ध गायक के उन भावों और विचारों से है जिनकी अभिव्यक्ति वह राग विशेष के स्वरों से करता है।

राग और रस—संगीत की अभिव्यक्ति का रूप नादात्मक है। संगीत में नाद से ही सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि की प्रतीति होती है। नादात्मक अभिव्यंजना अपनी प्रकृति में इतनी सूक्ष्म और तरल होती है कि उसका निकट सम्बन्ध हृदय के हर्ष और विषाद के तरलीकृत रूप गान और रुदन से हो जाता है। इसीलिए शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों का नित्य-सम्बन्ध संगीत से होता आया है। (भक्ति) देवादिविषयक-रति संगीत के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि उसमें प्रभु की शक्ति, शील और सौंदर्य विभूतियों का गान तथा भव-सागर की विडम्बनाओं की प्रतिक्रिया में भक्त के आत्म-निवेदनमय रुदन की स्वाभाविकता प्राप्त होती है। संगीत के नाद अपनी व्यापकता के कारण एक प्रकार के ही स्वरों से शृंगारपरक और अध्यात्मपरक गीतों के माध्यम बन जाते हैं और भिन्न-भिन्न श्रोताओं की पृथक्-पृथक् मनस्थितियों के अनुसार भक्ति तथा शृंगार और करुण या विप्रलम्भ की अभिव्यंजना करते हैं। वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, यह उल्लास में अन्तर्भूत होकर संगीत में सम्यक् स्थान प्राप्त कर लेता है। रौद्र, भयानक और वीभत्स, वीर रस के अंगीरस होकर वीर रस की ही परिधि में रहकर उसकी रोचकता बढ़ाते हैं। फिर भी संगीत का प्रसार जितना आह्लादकारी, मनोरम और कोमल प्रसंगों में है उतना परुष प्रकृति के भयानक, रौद्र और वीभत्स आदि में नहीं।

परम्परा से संगीत को भक्ति के साधनों में स्थान प्राप्त है। संसार के माया-मोह से विरक्ति, भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है, इसीलिए निर्वेद-प्रधान शान्त रस की स्थिति संगीत में बनी रही है। करुण, रुदन का आधार है किन्तु संगीत के स्वरों की दृष्टि से करुण और विप्रलम्भ में कोई भेद नहीं है। एक ही स्वर एक व्यक्ति में करुण तो दूसरे में विप्रलम्भ का भाव उत्पन्न कर सकता है। संगीत की दृष्टि से अद्भुत का भी पृथक् अस्तित्व नहीं है। शिव-ताण्डव के रौद्र, वीर और भयानक में अद्भुत भी होता है। स्वरों के उत्कर्ष और चमत्कारिता में अद्भुत की प्रतीति सरलता से हो जाती है। इस प्रकार नव रसों में से केवल शृंगार, वीर और शान्त ही संगीत की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, अन्य रसों का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है।

---

१. संगीत दर्पण भैरवी—

स्फटिक रचित पीठे रम्य कैलाशशृंगे,
विकच कमल पत्रैरर्चयन्ती महेशम्।
करधृत घनवाद्या पीतवर्णायताक्षी,
सुकविभिरयमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री।

—रागाध्याय, श्लोक ४८

संगीत की गायन-परम्परा में श्रृंगार रस को ही अत्यधिक लोकप्रियता मिली। एक तो रस-राज स्वयं अपनी व्यापकता के कारण भक्ति, वात्सल्य, सख्य, माधुर्य और शान्त को आत्मसात कर लेता है दूसरे राज-दरबारों का आश्रय प्राप्त होने के कारण संगीत में श्रृंगार की प्रधानता हो गयी। परिणाम यह हुआ कि गायक राग-रागिनियों की शास्त्रीय प्रकृति को छोड़कर किसी भी राग को श्रृंगारिक पदों में गाने लगे। हिंडोल, हमीर, मालकोंस जैसे वीररसात्मक राग श्रृंगार रस के पदों में गाये जाने लगे। सूरदास जी पर दरबारी गायन का विशेष प्रभाव नहीं था इसीलिए उन्होंने प्रायः विषयानुरूप रागों का प्रयोग किया है, फिर भी राग और रस का दृढ़ विधान उनके पदों में नहीं प्राप्त होता। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

राग-रागिनियों का समय-सिद्धान्त—राग-रागिनी की शास्त्रीय परम्परा, रागों के सहज नादात्मक रूप तक ही सीमित नहीं है, उसके अनुकूल प्राकृतिक वातावरण की भी अनिवार्य अपेक्षा रखती है। इसीलिए संगीत में दिन-रात के आठ प्रहरों के अनुकूल राग के स्वरों की सम्यक् योजना परम्परागत है। जिस प्रकार दिन के प्रातः, मध्याह्न और सायं में विविधता होती है, वातावरण क्रमशः परिवर्तित होता रहता है, इसी प्रकार रागों के विधान में भी विविधता और परिवर्तन होता है। उषाकालीन रागों में कोमल **रे ध** तथा तीव्र **ग नि** का प्रयोग किया जाता है इसीलिए इस काल में रामकली, ललित, भैरव, विभास और भैरवी सन्धि-प्रकाश राग गाये जाते हैं। इन रागों के स्वरों में शान्ति और माधुर्य का जो स्वर-संगम होता है उससे अर्द्ध-जाग्रत मनुष्य की खुमारी भरी पलकों को एक सहारा मिलता है और स्नेह भरे करतलों के स्निग्ध स्पर्श की भाँति ये राग सुप्त मानव को एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति प्रदान करते हैं। सूर्योदय होते ही रागों की प्रकृति में किंचित् गम्भीरता आती है इसीलिए कोमल **रे ध** को तीव्र कर दिया जाता है। इस प्रकार उन्हीं स्वरों में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। जैसे उषा की लाली प्रातःकालीन उज्ज्वल ज्योति में परिवर्तित हो जाती है उसी प्रकार उसी भाव के पद तीव्र स्वरों में बिलावल, अल्हैया बिलावल और देसकार में गाये जाते हैं। प्रभाती के भजन लीला-भाव के रूप में चलते रहते हैं। दिन के प्रथम प्रहर के समाप्त होने पर ऐसे राग गाये जाते हैं जिनमें **ग नि** कोमल स्वरों की प्रधानता होती है। ऐसे राग आसावरी, देवगांधार और टोड़ी आदि हैं। मध्यान्ह के रागों की प्रकृति विशेष गम्भीर होती है। उसमें भी **ग नि** स्वरों का प्राधान्य होता है। इस काल में सारंग और उसके विविध प्रकार अधिक गाये जाते हैं। सायंकाल होते-होते वायुमंडल में शान्ति और कोमलता छाने लगती है। इसीलिए पुनः **रे ध** कोमल स्वर रागों में आ विराजते हैं। फिर भी प्रातःकालीन दृश्य की भाँति माधुर्य न होने के कारण **रे ध** के साथ तीव्र मध्यम स्वर लगे रहते हैं। इस काल के सन्धि-प्रकाश रागों में गौरी, पूर्वी, श्री, पूरिया आदि की प्रतिष्ठा है। रात्रि के पहरों में दिन के रागों के स्वर ही पुनः उसी क्रम से आते हैं। दिन और रात का अन्तर रखने के लिए दिन में **म** कोमल और रात्रि में **म** तीव्र होता है। रात्रि के प्रथम प्रहर के राग हैं कल्यान, हमीर, केदारा, ईमन और भूपाली आदि, द्वितीय प्रहर के विहागरा, सोर

और जैजैवन्ती तथा तृतीय प्रहर के कान्हरा, अड़ाना और मालकोंस आदि। चौथे प्रहर के आरम्भ होते-होते प्रातःकालीन संधि-प्रकाश रागों का समय आ जाता है।

दिन-रात के चौबीस घंटों में रागों के इस समयानुकूल वर्गीकरण के अतिरिक्त ऋतु-परिवर्तन की दृष्टि से भी रागों के गाये जाने का नियम है। मेघ राग वर्षा ऋतु में, राग भैरव शरद ऋतु में, श्री हेमन्त ऋतु में, राग मालकोंस शिशिर में, वसन्त राग वसन्त ऋतु में और राग दीपक ग्रीष्म ऋतु में गाये जाने का विधान है। वर्षा और वसन्त ऋतुओं का उद्दीपनकारी प्रभाव सर्वाधिक है इसीलिए जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में ये ऋतुएँ सबसे प्रमुख हैं उसी प्रकार संगीत में भी। वसन्त में वसन्त और वर्षा में मलार के विभिन्न प्रकारों को प्राथमिकता मिलती है। इन रागों के स्वरों में शृंगारिक उल्लास और वियोगजन्य विषाद की अभिव्यंजना अतीव तीव्र है। काफी सर्वकालिक राग है किन्तु इस राग का प्रयोग होली के उल्लास में परम्परित हो गया है।

राग-रागिनियों का उपर्युक्त समय-सिद्धान्त संगीतशास्त्रीय परम्परा में इतना रूढ़िबद्ध हो गया है कि गायक, रागों और उनके गाये जाने वाले समय के नियम के निर्वाह का यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करते हैं।

संक्षेप में उत्तर भारतीय राग-रागिनी-पद्धति की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—

१—संगीत के विभिन्न स्वर विभिन्न भावों के द्योतक हैं। इस प्रकार राग और वर्ण्य-विषय का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

२—संगीत में रस-राज शृंगार का प्राधान्य है, वीर और शान्त गौण रूप से आते हैं तथा अन्य रस इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

३—रागों का समय-सिद्धान्त परम्परा में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके पालन से संगीत की अभिव्यक्ति भी विशेष कलात्मक हो जाती है।

महात्मा सूरदास जी ऐसे कवि हैं जो कवि बनने से पूर्व श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। फलतः सूरसागर की काव्य-साधना पर स्वभावतया संगीत की विशिष्टताओं की छाप पड़ी है। अतएव सूर की पद-रचना पर संगीत की उपर्युक्त विशेषताओं का प्रभाव देख लेना आवश्यक होगा।

सूर की संगीतात्मक मनोवृत्ति का उनकी पद-रचना पर प्रभाव—

सूरदासजी प्रतिभासम्पन्न संगीतकार थे। संगीतज्ञ कवि स्वरों के चमत्कार द्वारा भाव-प्रकाशन को पुष्ट करता है। उसकी मनोवृत्ति स्वरों की प्रकृति में रमती है। अपने अन्तस्थल की भावना के शब्दीकरण के पूर्व वह संगीत के स्वरों में गुनगुनाता है। शब्दों द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त करने से पूर्व केवल स्वरों में वह सम्पूर्ण भाव प्रस्तुत करता है। उसकी स्वर-साधना में वह शक्ति होती है कि शब्दों का प्रयोग किये बिना ही वह अपनी आत्मानुभूति का परिज्ञान अपने श्रोता को करा सकता है। श्रोता उसे सुनकर उस रस में मग्न हो जाता है। इसीलिए वह अपने भावों का व्यक्तीकरण गान द्वारा करता है। उसका यह अभ्यास जब उसका स्वभाव बन जाता है तब न केवल हृदय के शुद्ध भावोद्गार गीत के रूप में निकलते हैं वरन् साधारण विचार भी गेय रूप में

ही निकलते हैं। उसके लिए गीत का निर्माण सम्भवतः गद्य के निर्माण से भी अधिक सुगम हो जाता है। संगीतज्ञ कवि सूर ने, इसीलिए, जो कुछ लिखा है वह गीतों में है, आत्माभिव्यक्ति तो गीतों में है ही, साधारण वर्णन, कथा, उपदेश, दृष्टकूट सभी गीत के स्वरों में बँधे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके संगीत के स्वर आगे-आगे चलकर उनकी अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करते गये हैं और उनके कथानक, छन्द-विधान, शब्द-योजना और आत्माभिव्यक्ति आदि उन्हीं के अनुसार आकार धारण करते गये हैं।

संगीतज्ञ की मनोवृत्ति के सम्मुख जिस प्रकार स्वरों की प्रकृति के अनुसार भावों और विचारों का व्यक्तीकरण होता है उसी प्रकार भावों और विचारों के अनुरूप संगीत के स्वर भी होते हैं। संगीत के सात स्वरों का क्षेत्र वह इतना व्यापक मानता है कि उससे परे और कुछ मानों है ही नहीं। हृदय में एक भाव उत्पन्न हुआ कि तदनुकूल स्वर उसकी वीणा पर बज उठे। न केवल रागात्मक भाव वरन् निर्वेद, व्रीड़ा, घृणा, जुगुप्सा, भय, क्रोध और विस्मय आदि के लिए भी विभिन्न कण्ठ-स्वर निकल पड़ते हैं। एक-एक शब्द और एक-एक वर्ण उन्हीं स्वरों में सजा होता है। संगीत को ही माध्यम मानने के कारण शास्त्रीय संगीतज्ञ अपने भाव के अनुरूप राग या रागिनी का विधान कर लेने के पश्चात् ही अपने भाव को मूर्त्त रूप देता है। भक्तिकालीन सन्त-परम्परा में शास्त्रीय संगीत का प्रचार व्यापक था। भजन-कीर्तन का आधार संगीत की राग-रागिनियाँ थीं। स्पष्ट है कि सूरदास जैसे संगीतज्ञ के मनोनुकूल भावों के वहन करने के एकमात्र माध्यम राग और रागिनी ही हो सकते थे।

सूरदास जी की सहज संगीतप्रियता के अतिरिक्त उनके जीवन की वृत्ति भगवान कृष्ण के मन्दिर में कीर्तन गाने की थी। वे श्रीनाथ जी के प्रमुख कीर्तनिया थे। पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि के तीन अंग हैं—शृंगार, भोग और राग। राग में रागों के शास्त्रीय क्रम से कीर्तन का विधान आवश्यक है। सहज आत्माभिव्यक्ति के रूप में गीतों का प्रस्तुत करना उन्हें जितना अभीष्ट था उससे भी अधिक उनका यह नैत्यिक और नैमित्तिक कर्तव्य था कि कीर्तन के लिये नये-नये पदों की रचना करें, उपयुक्त अवसर पर उसे शास्त्रीय रीति से गायें और मन्दिर के भक्त-जनों में भक्ति या लीला का भाव आविर्भूत करें। तात्पर्य यह कि पुष्ट संगीत-ज्ञान, पुष्टिमार्गीय सेवा में राग-विधान की आवश्यकता और वृन्दावन के संगीतात्मक वातावरण के कारण सूर की पद-रचना में शास्त्रीय संगीत का सम्यक सन्निवेश हो गया था।

सूर का विषय-विभाजन और राग-रागिनियाँ—

सूरसागर के प्रत्येक पद के ऊपर राग का नाम मिलता है। आज के गायक, पदों को अनिवार्यतः उन्हीं रागों में नहीं गाते, स्वेच्छानुसार अन्य रागों के स्वरों में गा लिया करते हैं। फिर भी जब हम सूर के वर्ण्य-विषयों को राग-रागिनी के क्रम से देखते हैं तो पता चलता है कि रागों तथा पदों के विषयों में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। पद का विषय और उसका रस रागों की प्रकृति के अनुकूल है।

विनय के पद सूरसागर में सर्वप्रथम संकलित हैं। यह विषय इतना व्यापक है

कि इसमें सभी प्रकार के भाव अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसीलिए इसमें विविध राग मिलते हैं। विनय के पदों के विषय और रागों का सम्बन्ध जानने के लिए विनय का सर्वप्रथम पद ही द्रष्टव्य है—

राग बिलावल

चरण कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाई॥

यह ग्रंथ का मंगलाचरण है। विलावल प्रातःकालीन राग है। इसके शुद्ध स्वर ईश-प्रार्थना के सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं। इस राग की प्रकृति भी गम्भीर है अतः स्वरों की गम्भीरता पद-गत अर्थ के अनुरूप है।

सूर ने विनय के कई पदों में मारू राग का प्रयोग किया है। मारू परम्परा से वीर-रसात्मक राग माना गया है। उसमें वीर के साथ रौद्र, भयानक, वीभत्स जैसे कठोर प्रकृति के भावों का सन्निवेश होता है। विनय के उद्‌बोधन पक्ष में उत्साह की मात्रा विद्यमान होती है, इसीलिए, मारू राग[1] का भी प्रयोग विनय में सूर करते हैं।

भगवान् की भक्तवत्सलता का आश्रय पाकर भक्त में जो उत्साह है उसी की प्रधानता इस पद में है। 'हठी प्रहलाद चित चरन लायौ' और 'यहै जिय जानि कै अंध भव त्रास तैं सूर कामी कुटिल सरन आयौ' में उत्साह-भाव स्पष्ट है। 'हिरनकस्यप बढ्यौ' का भय उत्साह का प्रेरक है। 'भीर के परे तै धीर सबहिन तजी, खंभ तैं प्रकट भए जन छुड़ायौ'[1] में दयावीर का भाव परिलक्षित होता है। तात्पर्य यह कि विनय के अन्तर्गत कवि ने मारू राग के अनुरूप भावों की योजना कर ली है। पद में प्राप्त द्रुत-लय, दण्डक छन्द की यति और गति, मारू के उत्कर्ष को बढ़ाते और पद-गत भाव से सामंजस्य स्थापित करते हैं।

विनय के एक अन्य पद में कवि खम्बावती राग का प्रयोग करता है। खम्बावती के स्वर अतीव कोमल प्रकृति के होते हैं। उसके स्वर-विन्यास में एक ऐसी मृदुता, कमनीयता और विह्वलता होती है जो शृंगार और भक्ति दोनों ही प्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त है। पद है—

राग खम्बावती तिताला

हमारे प्रभु औगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तुम्हारो सोई पार करौ॥

राग मारू

१. **ऐसो को करी अरु भक्त काजें।**
जैसी जगदीस जिय धरी लाजें॥
हिरनकस्यप बढ्यौ उदय अरु अस्त लौं, हठी प्रहलाद चित चरन लायौ।
भीर के परे तैं धीर सबहिन तजी, खंभ तें प्रकट ह्वै जन छुड़ायौ।

× × ×

यहै जिय जानि कै अंध भव त्रास तैं, सूर कामी कुटिल सरन आयौं॥

—सूरसागर (सभा), विनय पद ५

× × ×

कै इनकौ निरधार कीजिए कै प्रन जात टरौ ।[1]

इस पद में सूर के आत्म-निवेदन की जो विह्वलता है, वह खम्बावती के कोमल स्वरों के सर्वथा अनुकूल है। सूर ने इसे त्रिताल में बाँधा है। त्रिताल की तीव्रता पद के रसावेग के सर्वथा अनुरूप है। इस प्रकार पद के भाव अनुरूप ताल-स्वर का यह विधान हृदय-संवेद्य है।

विनय के पश्चात् प्रथम स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक का सम्पूर्ण कथा-भाग, रामावतार की कथा को छोड़कर, बिलावल राग में गाया गया है। सूर के इस कथा-भाग में धार्मिक और उपदेशात्मक दृष्टिकोण है। प्रत्येक कथा से भक्ति, वैराग्य, साधु-सेवा, पर-नारी-बहिष्कार आदि के उपदेश उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। भक्तिपरक बिलावल राग उनके अनुरूप है। बिलावल के शुद्ध स्वर जिसमें सरगमों का आरोह-अवरोह मात्र होता है, कथा-कथन के सर्वथा अनुरूप है।

रामावतार के पदों में विषयानुकूल रागों का सुन्दर विधान मिलता है। इस प्रसंग में राम-चरित के विभिन्न प्रसंगों पर कम-से-कम पद रचे गये हैं। कृष्णावतार की भाँति विषय की पुनरुक्ति पदों में नहीं हुई है। इसीलिए इन पदों में कवि ने सर्वत्र विषयानुकूल रागों में पद-रचना की है। बिलावल का प्रयोग केवल आरम्भ के तीन पदों में किया है जिसमें राम के ईश्वरत्व का उद्घाटन है। कान्हरो, आसावरी, नट, गूजरी, धनाश्री, रामकली और गौरी, कोमल, सरस और मधुर राग हैं। इनकी स्वर-लहरी, माधुर्य और चपलता श्रृंगार के सर्वथा अनुरूप है। सूर ने उल्लास, हर्ष और विनोद के स्थलों में ही इनका उपयोग किया है। जैसे राग कान्हरो राम जन्म के आनन्द और बधाई के पदों में तथा आसावरी कंकण-मोचन जैसे उल्लासमय प्रसंगों में प्रयुक्त हैं। पुर-वधू प्रश्न शीर्षक पदों में ग्राम-वधूटियाँ सीता से विनोद करती हैं। इसे सूर ने रामकली, गौरी और धनाश्री में लिखा है। वीर रसात्मक राग मारू का प्रयोग शूर्पणखां-नासिकोच्छेदन, बालि-वध, समुद्र-लंघन, अशोक-वन-विध्वंस, लंका-दहन एवं समस्त युद्ध-वर्णन में हुआ है। राम का अवध प्रत्यागमन केवल एक पद में वसन्त राग में गाया गया है। यद्यपि राम का अवध प्रत्यागमन वसन्त ऋतु में नहीं हुआ था, तथापि राम-वनवास रूपी शिशिर से हतप्रभ अवधवासियों के लिए राम-पुनरागमन वसन्त ही था। अतः प्रकृतिजन्य उल्लास को साकार कर देने वाले वसन्त राग में अयोध्यावासियों के हर्ष का वर्णन उचित ही है। रामावतार के अधिकांश करुण-प्रसंग जैसे सीता-हरण, राम-विलाप, गृद्ध-उद्धरण, शबरी-उद्धार, अंगद-सोच,—केदारा राग में हैं। केदारा की प्रकृति करुण के अनुकूल है। उसमें दोनों मध्यमों (म म̱) और मींड़ का प्रयोग होता है। ये करुण की कसक उपस्थित करने के लिए पर्याप्त हैं।

संक्षेप में रामावतार के समस्त पदों में रागों का प्रयोग बड़ी चतुराई से सूर ने किया है। इसमें रागों और विषयों की अनुरूपता का सुन्दर निर्वाह हुआ है।

---

१. सूरसागर (सभा), विनय पद २२०।

दशम स्कन्ध सूर की प्रमुख रचना है। इसमें एक-एक प्रसंग पर बहुत अधिक पदों की रचना कवि ने की है। रामावतार की भाँति विभिन्न विषयों में रागों की अनुरूपता का ध्यान यहाँ भी सूर को था किन्तु एक ही प्रसंग पर अनेक पदों की रचना में विविधता और रोचकता के लिए कवि को रागों का परिवर्तन आवश्यक हो गया है। काव्य में भी एक ही छन्द का प्रयोग उसे नीरस कर देता है। संगीत में तो विविधता, स्वरों का परिवर्तन और शैली-भेद अत्यन्त ही आवश्यक हैं। यही कारण है कि विषयों और रागों का जो सुन्दर विधान रामावतार के पदों में मिलता है, कृष्णावतार के पदों में नहीं मिलता। फिर भी रागों की विविधता में भी सूर ने रागों की मूल प्रकृति का सम्बन्ध वर्ण्य-विषय और उसके रस से जोड़ रखा है। रागों की प्रकृति को दृष्टि में रखते हुए हम सूरसागर के वर्ण्य-विषय को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१—ऐसे वर्णन जिनमें हर्ष, उल्लास और सामूहिक आनन्द की तुमुल ध्वनि विद्यमान है। ये वर्णन हैं—कृष्ण-जन्म, नाल-छेदन, जन्म-बधाई, ब्रजोल्लास, कृष्ण का पालने झूलना, रास-लीला, श्रीकृष्ण-विवाह, झूलन, वसन्त-लीला। इन प्रसंगों में विविध रागों में पद-योजना हुई है। प्रायः रागों में परिवर्तन करना कवि की प्रकृति का अंग प्रतीत होता है। इन रागों में कवि ने यह ध्यान रखा है कि उनकी प्रकृति विषय के अनुरूप हो। इसीलिए इन प्रसंगों में सूर ने बिलावल, आसावरी, रामकली, धनाश्री, कल्यान, काफी, जैतश्री, जैजैवन्ती, कान्हरौ, गौरी, ललित, गुंडमलार, विहागरा, नट, सोरठ, भैरव, भैरवी, नटनारायन, पूरवी, वसन्त और मलार का प्रयोग किया है। ये सभी राग आनन्द-ध्वनि से युक्त हैं और मार्दव, लालित्य तथा सौरस्य की दृष्टि से मनोहारी हैं।

२—ऐसे पद जिनमें क्रीड़ा, विनोद और लीला की प्रधानता है। इस वर्ग के पदों में हर्षावेग का आधिक्य है। ऐसे प्रसंग हैं—कृष्ण के खेल, माखन-चोरी, यमलार्जुन-उद्धार, गोदोहन, गोचारण, छाक, कृष्ण के खेल के क्रम में किये हुए राक्षसों के वध जैसे श्रीधर-अंग-भंग, पूतना-वध, कागासुर, शकटासुर, अघासुर और तृणावर्त आदि के वध तथा काली-दमन, जल-क्रीड़ा, पनघट-लीला, दान-लीला, विहार और संयोग शृंगार के स्थल। इन प्रसंगों के रागों में स्वरों का चापल्य और सौकुमार्य नहीं है, माधुर्य के साथ गाम्भीर्य की मात्रा है। इन क्रमों में सारंग, काफी, धनाश्री, कान्हरौ, गौड़मलार, कल्याण, सोरठ, विहागरा, नट, टोड़ी, मलार, सुघराई, देवगांधार आदि का प्रयोग हुआ है।

३—ऐसे प्रसंग जिनमें शौर्य, दर्प और आतंक का प्राधान्य है। इनमें वीर, रौद्र और भयानक रसों का समावेश है। ये प्रसंग हैं दावानल-पान, गोवर्धन-धारण तथा मथुरा के राक्षसों के साथ कृष्ण के युद्ध। काली-दमन की कथा कृष्ण के लीलात्मक प्रसंगों का अंश है किन्तु काली के जगाने के अवसर पर जब नागराज की पत्नियों को झिड़ककर कृष्ण काली की पूँछ पर लात मारते हैं और काली क्रुद्ध होता हुआ जगता है, उसके फणों से भयंकर फूत्कार निकलती है तब वातावरण उग्र हो जाता है। इस

अवसर पर सूर ने एक ओज-प्रधान पद[1] लिखा है। उपर्युक्त प्रसंगों में सूर ने अधिकतर मारू राग का प्रयोग किया है। जैसा पीछे लिखा जा चुका है मारू के स्वर तीखे और कठोर होते हैं, उसकी गति तीव्र होती है। प्रायः इन पदों में विभिन्न प्रकार के दण्डक छन्द प्रयुक्त हुए भी हैं जो हिन्दी-काव्य-परम्परा में इस प्रकार के विषयों के सर्वथा अनुरूप माने गये हैं। दावानल में राग गौड़ भी मारू के सदृश ही ओज की अभिव्यक्ति में सफल दिखाया गया है।

गोवर्धन-धारण-प्रसंग में मेघ मलार का प्रयोग किया गया है।[2] राग मेघ पुरुष-प्रकृति का राग है। इसके स्वर रौद्र और भयानक के सर्वथा-अनुरूप हैं।

४—ऐसे पदों का वर्ग जिनमें दैन्य, चिन्ता, विवशता और शोक की प्रधानता है। ये पद शास्त्रीय दृष्टि से करुण के अन्तर्गत भले न आवें पर उनमें शोक की मात्रा के आधिक्य से करुण-भाव की ही प्रधानता है। ऐसे प्रसंगों में सूर ने 'केदारा' राग का ही प्रयोग किया है। पीछे लिखा जा चुका है कि केदारा की मींड़ बड़ी दर्द भरी होती है। इसीलिए करुण-प्रधान पदों में इसका प्रयोग भावानुकूल है। ये प्रसंग इस प्रकार हैं—

कृष्ण जन्म के समय देवकी और वसुदेव की चिन्ता[3], ऊखल-बन्धन के समय गोपियों का विषाद[4], रास पंचाध्यायी में कृष्ण के अन्तर्धान होने पर राधा का

राग मारू

१. झिरकि कै नारि, दै गारि गिरधारि तब, पूँछ पर लात दै अहि जगायो।
उठ्यो अकुलाइ डरपाइ खगराइ कौं, देखि बालक गरव अति बढ़ायो।
पूँछ लीन्हीं झपटि, धरनि सौं गहि पटकि, फुंकरच्यो लटकि करि क्रोध फूले।
पूँछ राखी चापि, रिसनि काली काँपि, देखि सब साँपि, अवसान भूले।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५५२

राग मेघ मलार

२. सुनि मेघवर्त सजि सैन आए।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८५३

बादर बहु उमड़ि घुमड़ि,बरषत ब्रज आए चढ़ि,
कारे धौरे धूमरे, धारे अतिहीं जल।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८५७

राग गौंड मलार

गिरि पर बरषन लागे बादर। ...८५८

राग मलार

(गगन) मेघ घहरात थहरात गाता— ...८७०

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ८ और ११।
४. वही ३५० से ३५३।

विषाद[1], गोपियों के विरह में स्वप्न-दर्शन की अवस्था[2], गोपियों का विरह-निवेदन[3], उद्धव द्वारा कृष्ण के प्रति राधा की दीन-दशा-वर्णन[4], ब्रज-जन दशा निवेदन[5]।

इसी क्रम में पावस-प्रसंग है जिसमें गोपियों की विरह-कातरता का वर्णन किया गया है। पावस-प्रसंग आदि से अन्त तक मलार राग में है। पावस की ऋतु-कालीन विशेषता के कारण मलार उपयुक्त है, साथ ही मलार राग के स्वरों में भय, आतंक और उग्रता का समावेश होता है। पावस के उद्दीपनकारी रूप से व्याकुल गोपियाँ भयभीत थीं, मलार के स्वर इस कार्य में और भी योग देते हैं। इसी प्रकार निरन्तर बरसने वाली घटाएँ एक ओर, और निरन्तर अश्रु बरसाने वाली आँखें दूसरी ओर, जब होड़ लगा रही हों तब इसके व्यक्तीकरण में राग मलार उपयुक्त ही होगा।

सारांश यह कि सूरदास जी ने अपने वर्ण्य-विषय तथा रस-निरूपण के लिए जिस प्रकार उपयुक्त वर्ण-योजना और शब्द-योजना की है, वर्ण-मैत्री, अर्थध्वनन और अर्थ-सौरस्य युक्त शब्दों के चयन का कौशल दिखाया है, उसी प्रकार भावानुरूप रागों की योजना भी की है।

सूरसागर के रागों में समय-सिद्धान्त—

संगीत-परम्परा में प्रचलित रागों के गाये जाने के समय-सिद्धान्त का निर्वाह सूर ने यथासम्भव किया है। पुष्टिमार्गीय नित्य-सेवा-विधि में कृष्ण सेवा के आठ समय रखे गये हैं—वे हैं १—मंगला, २—शृंगार, ३—ग्वाल, ४—राज भोग, ५—उत्थापन, ६—भोग, ७—संध्या, आरती और ८—शयन। शास्त्रीय राग-प्रणाली में भी रागों के गाये जाने के आठ वर्ग दिन के आठ प्रहरों के क्रम से किये गये हैं। सूर ने अपनी सेवा-विधि का शास्त्रीय गान-पद्धति से सामंजस्य स्थापित करना चाहा है। काल-क्रम में थोड़ा अन्तर होने से सूर के रागों का क्रम शास्त्रीय क्रम से कुछ भिन्न हो जाता है। प्रातःकालीन संधिप्रकाश-राग विभास, ललित, रामकली, भैरव और भैरवी हैं। सूर ने मंगला (कृष्ण जागरण, कलेवा और आरती) के लिए जिन पदों की रचना की है उनमें इन्हीं रागों का प्रयोग किया है। प्रायः पद की भाषा में गाये जाने वाले समय का उल्लेख भी मिल जाता है। जैसे—

राग ललित

नाहिंनै जगाइ सकति, सुनि सुवात सजनी।
अपनें जान अबहुँ कान्ह, मानत हैं रजनी॥[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११२५।

२. वही, ३२५७।

३. वही, ३९१०।

४. वही, ४१०७ से ४११५।

५. वही, ४१४८।

६. वही, २०१।

राग रामकली

प्रात समय उठि सोवत सुत को बदन उघार्‌यौ नन्द ।
रहि न सके अतिसय अकुलाने, विरह निसा कै द्वन्द ।[१]

राग भैरव

उठौ नन्दलाल भयौ भिनुसार जगावति नन्द की रानी ।[२]

राग भैरवी

इहि अंतर भिनुसार भयौ ।
तारागन सब गगन छपाने, अरुन उदित अन्धकार गयौ ।[३]

संयोग शृंगार और खंडिता प्रकरण में भी उपर्युक्त रागों का प्रयोग हुआ है, उनकी शब्दावली भी समय का निर्देश करती है--

राग ललित

बोले तमचुर, चार्‌यौ जाम कौं गजर मार्‌यौ,
पौन भयौ सीतल, तमि मैं तमता गई ।[४]

राग विभास

चिरई चुहचुहानी, चंद की ज्योति परानी,
रजनी बितानी, प्राची पियरी प्रवान की ।[५]

यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से बिलावल संधिप्रकाश राग नहीं माना जाता, प्रथम प्रहर का राग माना जाता है तथापि सूर ने इसका भी उपर्युक्त रागों के साथ प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि पुष्टिमार्गी मंगला का समय प्रातःकाल ही है। इसी लिए सूर ने बिलावल का प्रयोग जगाने में भी किया है तथा कलेवा आदि में भी। जैसे–

राग बिलावल

जागिये गोपाल लाल, प्रगट भई अंसु माल ।
मिट्यो अंधकाल, उठो जननी सुखदाई ।[६]
जागियै प्रानपति रैनि बीती ।
चंद की दुति गई, यह पीरी भई, सकुच नाहीं दई अतिहिं भीती ।[७]

कलेवा-वर्णन में भैरव और बिलावल का प्रयोग किया है। भैरव इसलिए कि उसमें कृष्ण के जगाने का भी भाव है—

राग भैरव

उठिए स्याम कलेऊ कीजै । मनमोहन मुख निरखत जीजै ।[८]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २०३ ।
२. वही, २०८ ।
३. वही, ५२० ।
४. वही, २०३८ ।
५. वही, २०३९ ।
६. वही, ६१९ ।
७. वही, २०४० ।
८. वही, २११ ।

बिलावल का प्रयोग इसलिए है कि कलेवा का समय सूर्योदय के पश्चात् होता है––

राग बिलावल

कमल नैन हरि करौ कलेवा ।[1]

नित्य-सेवा-विधि में द्वितीय-काल 'शृंगार' का है । इस समय कृष्ण का स्नान और तदुपरान्त उनका शृंगार होता है । शास्त्रीय राग-रागिनी की दृष्टि से यह दिन का द्वितीय प्रहर हो जाता है और इस समय आसावरी गायी जाती है । सूर ने कृष्ण स्नान और शृंगार में बिलावल और आसावरी का प्रयोग किया है । जिन पदों में बिलावल है उनमें कृष्ण से स्नान का अनुरोध किया गया है और आसावरी वाले पद में स्नान और शृंगार का वर्णन है । वास्तव में स्नान से पूर्व दिन का प्रथम प्रहर ही है जब अल्हैया या सूहौ बिलावल के गान का ही समय है—

राग बिलावल

मोहन आउ तुम्हें अन्हवाऊँ ।[2]

राग सूहौ बिलावल

देखि माई हरि जू की लौटनि ।[3]

राग आसावरी

जसुमति जबहिं कह्यौ अन्हवावन, रोइ गए हरि लोटत री ।
तैल उबटनौ लै आगैं धरि, लालहिं चोटत-पोटत री ।।[4]

शृंगार के बाद 'ग्वाल' का समय होता है । ग्वाल में गौ-दोहन होता है और कृष्ण धैया आरोगते हैं। राग-समय-सिद्धान्त के अनुसार यह काल धनाश्री और सारंग का आ जाता है । 'ग्वाल' का वर्णन इन्हीं रागों में किया गया है ।

राग धनाश्री

देरी मैया दोहनी, दुहिहौं मैं गैया ।
माखन खाये बल भयो, करौं नन्द दुहैया ।।
कजरी, धौरी, सेंदुरी, धूमरि मेरी गैया ।
दुहि ल्याऊँ मैं तुरत ही, तू करि दै धैया ।।[5]

राग सारंग

बाबा मोकौं दुहन सिखायौ ।
× × ×
सूर स्याम कौ दुहत देखि तब, जननी मन अति हर्ष बढ़ायौ ।।[6]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१२ ।
२. वही, १८५ ।
३. वही, १८७ ।
४. वही, १८६ ।
५. वही, ६६६ ।
६. वही, ६६७ ।

'ग्वाल' के अन्तर्गत ही कृष्ण का 'गोचारण' भी होता है और वे वृन्दावन के लिए भी प्रस्थान करते हैं। इन लीलाओं में सूर ने अधिकतर सारंग, देवगंधार, नट-नारायन और टोड़ी का प्रयोग किया है। मध्यान्ह से पूर्व दिन के द्वितीय प्रहर में इन्हीं रागों के गाये जाने की परम्परा भी है।

राग सारंग

वृन्दावन देख्यौ नँदनंदन, अतिहिं परम सुख पायौ।
जहँ जहँ गाइ चरति, ग्वालनि संग, तहँ तहँ आपुन धायौ ॥[1]

राग देवगंधार

बछरा चारन चले गोपाल।
सुबल सुदामा अरु श्रीदामा, संग लिए सब ग्वाल ॥[2]

राग टोड़ी

सोई हरि काँधे कामरि, काछ किए नाँगे पाइनि, गाइनि टहल करै।[3]

राग नट नारायन

चरावत वृन्दावन हरि धेनु।
ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चैनु ॥[4]

मध्यान्ह-काल में सेवा-विधि के अनुसार 'राजभोग' होता है। कृष्ण विविध प्रकार के व्यंजन आरोगते हैं, भक्त जन जूठन का प्रसाद पाते हैं। कृष्ण जब गोचारण में होते हैं तो उनकी 'छाक' भेजी जाती है। कृष्ण ग्वाल-बालों के साथ खेलते भी हैं। इन अवसरों पर मध्यान्हकालीन राग सारंग की ही प्रधानता सूर ने रखी है—

राग सारंग

नंद भवन में कान्ह अरोगैं। जसुदा लावै षटरस भोगैं ॥

× × ×

जूठन माँगि सूर जन लीन्हौं। बाँटि प्रसाद सबनि कौं दीन्हौं ॥[5]

राग सारंग

आई छाक, बुलाए स्याम।[6]

सेवा-विधि में दिन के तृतीय और चतुर्थ प्रहर में उत्थान और भोग का विधान है। मंदिरों में दोपहर के बाद भगवान सो जाते हैं, उत्थापन में उन्हें जगाया जाता है और भोग में फल-फूलादि का भोग चढ़ता है। सूरसागर की लीलाओं में इनका उल्लेख नहीं है। इस काल में वृन्दावन की लीला और विहार का ही क्रम चलता प्रतीत होता

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४१५।
२. वही, ४१०।
३. वही, ४५३।
४. वही, ४४८।
५. वही, ३९६।
६. वही, ४६५।

है। यही कारण है कि मध्यान्होत्तर रागों का कोई निश्चित विधान नहीं है। दिन की लीलाओं—मुरली-लीला, जल-विहार, सुख-विलास, रास-लीला, अघासुर आदि के वध, काली-दमन आदि में रागों का विषयानुकूल क्रम ही है।

सायंकाल में पुनः सेवा-विधि की 'सन्ध्या-आरती' में सायंकालीन सन्धि-प्रकाश रागों में सूर वन से लौटते हुए कृष्ण की छवि का वर्णन करते हैं। सायंकालीन संधि-प्रकाश राग गौरी है। सूर ने गौरी राग में ही ब्रज-प्रवेश-शोभा का वर्णन किया है—

राग गौरी

हरि आवत गाइन के पाछे।
मोर मुकुट मकराकृति कुंडल, नैन विसाल कमल तें आछे॥[1]

सायंकाल के पश्चात् रात्रि के प्रथम प्रहर में राग कल्यान और विहागरा गाये जाते हैं। सूर ने भी इन्हीं रागों का प्रयोग सेवाविधि के शयन में किया है।

राग कल्यान

यह कहि जननि दुहुंनि उर लावति।
× × ×
सूर स्याम सुख जननि मुदित मन, सेज्जा पर संग लै पौढ़ावति॥[2]

राग विहागरौ

जागि उठे तब कुंवर कन्हाई।
मैया कहाँ गई मोंढिग तें, संग सोवत बल भाई॥[3]

संगीत को राज-दरबारों में आश्रय मिलता रहा है। दरबारों के प्रभाव से संगीत के समारोह सारी रात्रि चलते रहे हैं। केदार, हमीर, ईमन, भूपाली, सोरठ, जैजैवन्ती रात्रि के द्वितीय प्रहर में और कान्हरा, अड़ाना, मालकोंस आदि तृतीय प्रहर में गाये जाते रहे है। पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि के अनुसार 'शयन' ही अन्तिम सेवा है। इसके पश्चात् कीर्तन का क्रम समाप्त हो जाता है। केदार, हमीर, ईमन, भूपाली, सोरठ, मालकोंस आदि का प्रयोग सूर ने किया अवश्य है किन्तु उनमें समय-सिद्धान्त का पालन नहीं है। विषय के अनुसार शृंगारिक प्रसंगों, विशेषतया संयोग-लीलाओं में इन सब का प्रयोग हुआ है।

जिस प्रकार संगीत-परम्परा में ऋतुकालीन रागों का विशिष्ट विधान है उसी प्रकार पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि में ऋतु-उत्सवों के विधान हैं। ऋतु-उत्सवों के कीर्तनों में सूर ने शास्त्र-विहित रागों का ही प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए सम्पूर्ण पावस-प्रसंग मलार राग में गाया गया है। झूलन भी वर्षाऋतु का ही उत्सव है—इसमें भी मलार की ही प्रधानता है। शरद ऋतु में रास-लीला का बहुत विस्तृत वर्णन है। इसमें विविध रागों का प्रयोग है। वसन्त ऋतु में वसन्त-लीला का बहुत विस्तृत वर्णन है

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ५०७।
२. वही, ५१४।
३. वही, ५१७।

जिसमें वसन्त राग का प्रयोग अधिक है ।

तात्पर्य यह कि सूर ने शास्त्रीय-संगीत की रीतियों का निर्वाह पुष्टिमार्ग की सेवा-विधि में किया है । ऐसा करने से पदों की कलात्मकता में अभिवृद्धि हुई है और कीर्तनों की रसात्मकता चतुर्गुण हो गई है ।

सूर की पद-रचना में छन्द-विधान—

छन्द-विधान का गेयत्व से नित्य-सम्बन्ध है । प्रत्येक छन्द में उसकी यति-गति का सम्बन्ध उसमें प्राप्त लय-विधान से होता है । द्रुत विलम्बित छन्द में द्रुत और विलम्बित लयों के योग होने से उसे द्रुतविलम्बित छन्द कहा गया है ।[1] वर्णिक और मात्रिक वर्गों के सभी छन्द गेय होते हैं । इतना अवश्य है कि छन्द-विधान की यति-गति और मात्राओं में स्वर-लय को उतना प्रसार नहीं मिल पाता जितना राग-रागिनी में । छन्दों की मात्राएँ लघु और दीर्घ एक और दो मात्राओं तक सीमित रहती हैं किन्तु रागों में प्राप्त स्वर स्वेच्छानुसार छः और आठ मात्राओं तक बढ़ सकते हैं और दीर्घ स्वर भी घटकर एक, आधा और चौथाई मात्रा तक आ सकता है । छन्दों की गीतात्मकता भी इसीलिए स्वच्छन्द नहीं होती ।

कविता और छन्द-विधान का ग्रंथि-बन्धन आदि काल से चला आ रहा है । इसीलिए राग-रागनियों में पद-रचना करते हुए भी सूर छन्दों को न छोड़ सके । उन्होंने हिन्दी-काव्य में प्रचलित पूर्व प्रणालियों को अपनी गेय-पद-रचना में इस प्रकार पचा लिया कि सूर के गेय पदों में छन्द-विधान भी है, इसका पता भी नहीं चलता । गायन के आचार्य होने के कारण सूर ने बड़ी चतुराई से छन्दों के बन्धनों को ढीला कर दिया है, "रे" "री" "हो" "ये" "जब" "अब" "बलि" "सखि" "कान्हा" जैसे अधिक पदों के योग से छन्दों की पंक्तियाँ गीत की पंक्तियों के समानान्तर कर दी हैं । अनेक बार छन्दों को तोड़कर गान की पुनरुक्तियों वाली कड़ी को जोड़-जोड़कर उनको बिलकुल नवीन रूप दे दिया है ।

सूरदास जी से पूर्व हिन्दी में छन्द-रचना की निम्नलिखित शैलियाँ प्रचलित थीं—

१—दोहा-पद्धति ।

२—वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति ।

३—भाटों की दण्डक-पद्धति ।

४—पुष्पदन्त आदि कवियों की पद्धरिया बन्ध (चौपाई)-पद्धति ।

दोहा-पद्धति—दोहा और सोरठा का प्रयोग अपभ्रंश काल से ही होने लगा

---

१. मन रमा रमणी रमणीयता ।
द्रुत + विलम्बित
मिल गईं यदि ये विधि योग से ।
द्रुत + विलम्बित

था। दोहा को 'दूहो' और सोरठा को 'सोरठियो दूहो' कहते थे। चन्दबरदायी आदि चारण कवियों ने भी इनका प्रयोग किया है। गोरख और कबीर आदि सन्तों ने उपदेश और नीति सम्बन्धी बानियाँ दोहों में प्रस्तुत कीं। सूर ने दोहे का प्रयोग सबसे विलक्षण किया है। दोहा के निम्न रूप सूरसागर में मिलते हैं—

१—दोहे का सामान्य रूप—

गैल न छाँड़े साँवरो, क्यों करि पनघट जाउँ।
इहि सकुचनि डरपति रहौं, धरे न कोऊ नाउँ।[१]

इस पद में गीत की टेक भी नहीं है कुछ ऐसे पद हैं जिनमें दोहे का शुद्ध रूप तो है पर उसमें पद की टेक और स्थायी की दूसरी पंक्ति लगी है—

डफ बाजन लागे हेली।
चलहु चलहु जैये तहँ री जहँ खेलत स्याम सहेली॥
(दोहा)–जहं घन सुन्दर सांवरो, नहिं मिस देखन दाउँ।
ये गुरुजन बैरी भए, कीजै कोउ उपाउ॥[२]

कुछ पद ऐसे हैं जिनमें केवल टेक ही स्थायी का भी काम करती है और उसके पश्चात् दोहे लिखे गये हैं—

बल्लभ राजकुमार छबीले हो ललना। (टेक)
धनि धनि नंद जसोमती, धनि धनि गोकुल गाउँ।
धन्य कुँवर दोउ लाड़िले, बल मोहन जिन नाउँ॥[3]

२—दोहे का दूसरा रूप वह है जिसमें कवि ने विषम चरणों के अन्त में 'हो' 'री', 'मन' जैसे शब्दों को जोड़कर उसे गीत की पंक्ति बना डाली है। ऐसा करने से उसका दोहा रूप जाता रहा है, कहीं इन पदों में टेक और स्थायी लगी है और कहीं नहीं। जैसे—

राग परज

मन रे माधव सौं कर प्रीति।
काम क्रोध मद लोभ तू छाँड़ि सबै विपरीत॥
भौंरा भोगी बन भ्रमै, (रे) मोद न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, (पै) कमल बँधावै आप॥[४]

प्रथम पंक्ति और स्थायी को मिलाकर कवि ने इसे राग परज में बाँधा है। दोहे के विषम चरणों में (रे) और (पै) को जोड़ देने से दोहे की यति-गति का बन्धन ढीला हो गया है। होरी लीला में भी एक पद ऐसा है।[५]

कुछ पद ऐसे हैं जिनमें टेक नहीं है। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १४४३।
२. वही, २९०४।
३. वही, २९०५।
४. वही, विनय, पद ३२५।
५. वही, २८७४।

छैल छबीलो मोहना (री) घूंघरवारे केस।
मोर मुकुट कुंडल लसैं (री) कीन्हें नटवर वेस ॥[1]

ऐसे पदों की संख्या बहुत है।

३—दोहे का तीसरा रूप वह है जिसमें कवि ने दोहे की प्रत्येक पंक्ति में एक अर्धाली जोड़ दी है। ऐसा करने से दोहे के चरण गीत बन गये हैं। जैसे—

गोकुल सकल गुवालिनी, घर-घर खेलत फाग। मनोरा झूमक रो।
तिनमें राधा लाड़िली, जिनको अधिक सुहाग। मनोरा झूमक रो ॥[2]

४—दोहे का चौथा रूप वह है जिसमें कवि ने दोहे के चार चरणों में से प्रत्येक को एक पंक्ति में रखा है। प्रत्येक पद में अर्धाली जोड़ी है। दोहे के विषम चरणों में १३ और सम चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं। अतएव गीत की पंक्तियों को सम बनाने के लिए विषम चरणों की अर्धाली सम चरणों की अर्धाली से तीन मात्रा अधिक है। ऐसे कई पद होली गान में मिलते हैं। जैसे—

मानो ब्रज तें करिनि चलि, मदमाती हो।
गिरिधर गज पै जाइं, ग्वालि मदमाती हो ॥
कुल अंकुस मानै नहीं, मदमाती हो।
सांकर वेद तुराइ, ग्वालि मदमाती हो ॥[3]

इस पद में 'मदमाती हो' और 'ग्वालि मदमाती हो' को यदि निकाल दिया जाय और प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों को मिला दिया जाय तो दोहे का स्पष्ट रूप निकल आयेगा—

मानौं ब्रज तें करिनि चलि, गिरिधर गज पै जाइं।
कुल अंकुस मानै नहीं, सांकर वेद तुराइ ॥

प्रतीत होता है दोहे का यह चमत्कारिक रूप कवि को बड़ा प्रिय लगा। इसीलिए इसी की कई आवृत्तियाँ[4] होली-प्रसंग में मिलती हैं।

एक स्थल पर सूर ने अपने चमत्कार का उद्घाटन भी कर दिया है क्योंकि एक दोहे वाले पद में, पद का प्रथम दोहा साधारण पद्धति में है और दूसरे पद में उसी का तोड़ा हुआ रूप है—

कछु दिन ब्रज औरौ रहौ, हरि होरी है।
अब जिन मथुरा जाहु, अहो हरि होरी है॥
परब करहु घर आपने, हरि होरी है।
कुसल छेम निरबाहु, अहो हरि होरी है ॥[5]

अगले ही पद में दोहे का सामान्य रूप है—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २८८० ।
२. वही, २८६२ ।
३. वही, २८६२ ।
४. वही, २८६३, २८६६, २८६७, २८६६, २६०० ।
५. वही, २६१४ ।

कछु इक दिन औरौ रहौ, अब जिनि मथुरा जाहु।
परब करहु घर आपनैं, कुसल छेम निरबाहु ॥[1]

५––दोहे का एक प्रयोग वह है जिसमें कवि ने इसे रोला के साथ मिलाकर प्रयोग किया है। दोहे में १३ और ११ पर तथा रोले में ११ और १३ पर यति होती है। मात्राओं, यति और गति में साम्य देखकर इन दोनों को मिलाकर एक नवीन छन्द बना डाला यह नवीन रूप उन्हें इतना प्रिय हुआ कि उन्होंने इसका प्रयोग सूरसागर में बहुत अधिक किया है। इस मिश्र छन्द के भी कई रूप मिलते हैं—

१––टेकयुक्त पद—जैसे––

हरष भए नंदलाल बैठि तरु छाँह के ॥ध्रुव ॥
बंसीवट अति सुखद, और द्रुम पास चहूँ हैं। } रोला
सखा लिए तहँ गए, धेनु बन चरति कहूँ हैं ॥
स्याम कह्यो बन चलत ही, माता सौं समुझाइ। } दोहा
उत तें वे आये सबै, देखत ही सुख पाइ ॥[2]

२––टेक रहित पद—

नंदराइ सुत लाड़िले, सब ब्रज-जीवन-प्रान। } दोहा
बार-बार माता कहै, जागहु स्याम-सुजान ॥
जसुमति लेति बुलाइ, भोर भयौ उठो कन्हाई। } रोला
संग लिए सब सखा, द्वार ठाढ़े बल भाई ॥[3]

३––रोला और दोहा के संयुक्त छन्द के ऊपर चन्द्रायण छन्द (२१ मात्रा) की दो पंक्तियों की टेक और अन्त में १८ मात्राओं की एक अर्धाली जोड़कर एक रमणीय छन्द बना डाला है—

सुनि तमचुर कौ सौर घोष की बागरी। } टेक
नवसत साजि सिंगार चली नव नागरी ॥
नवसत साजि सिंगार, अंग पाटंबर सोहैं। } दोहा
इक तें एक अनूप, रूप त्रिभुवन मन मोहैं ॥
इन्दा बिन्दा राधिका, स्यामा कामा नारि।
ललिता अरु चन्द्रावली, सखिनि मध्य सुकुमारि ॥ सबै ब्रजनागरी।[4]

सारांश यह कि सूरदास जी ने पूर्व-प्रचलित लोकप्रिय दोहा का प्रयोग किया किन्तु अपनी प्रतिभा और संगीत-कला के बल से उन्होंने उसमें बड़ी नवीनताएँ प्रस्तुत कर दीं। गीतों और रागों में घुल-मिलकर उनके दोहा के नवीन रूपों की पहिचान सर्व-साधारण को न हो सकी इसीलिए इन रूपों के प्रचार न हो सके। किन्तु दोहा और

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २९१५।
२. वही, ४३७।
३. वही, ४३१।
४. वही, विनय, पद १६१८।

रोला का मिश्रित प्रयोग लोकप्रिय हो गया और परवर्ती कवियों ने उसको ग्रहण किया।

वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति—सूर को वीरगाथा काल की ओजपूर्ण छप्पय पद्धति का अधिक अवसर उनके वर्ण्य-विषय में न मिला। फिर भी विनय के पदों में एक पद छप्पय-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है—

राग जैतश्री

तब विलम्ब नहिं कियौ, जबै हिरनाकुस मार्यौ।
तब विलम्ब नहिं कियौ, केस गहि कंस पछार्यौ॥
तब विलम्ब नहिं कियौ, सीस दस रावन कट्टे।
तब विलम्ब नहिं कियौ, सबै दानव दह पट्टे॥
कर जोरि सूर विनती करै, सुनहु न हो रुकुमिनि-रवन।
काटौ न फंद मो अंध के, अब विलम्ब कारन कवन॥[1]

विनय का पद होते हुए भी पद ओज से ओत-प्रोत है। चरणों की उत्साहवर्धक शैली, '**कट्टे**' और 'दहपट्टे' के परुष वर्णों के संयुक्ताक्षर, छप्पय-पद्धति के अवशिष्ट गुणों के द्योतक हैं। इस पद्धति का यही एक पद सूरसागर में है।

भाटों की कवित्त पद्धति—घनाक्षरी, झूलना और चंचरी दंडकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में सूर ने किया है। इन छन्दों में भी कहीं तो टेक है और कहीं नहीं। इन छन्दों का भी रागों के स्वर में बाँधने के कारण प्रायः यति-भंग दोष आ गया है। मात्राओं और वर्णों की संख्या में भी कुछ व्यतिक्रम है। किन्तु रागों के स्वरों में बँधने से उनकी स्वर-संयति बढ़ गयी है। छन्दों की रूपरेखा इस प्रकार परिवर्तित हो गयी है कि साधारण दृष्टि में उनकी पहचान नहीं होती।

घनाक्षरी—घनाक्षरियों में कहीं भी टेक नहीं है। घनाक्षरी में सम्भवतः टेक का निर्वाह सूर ने न देखा। कुछ घनाक्षरियाँ शुद्ध हैं इनमें १६, १५ की यति से ३१ वर्ण हैं और कुछ में वर्णों की संख्या कम या अधिक है।

शुद्ध घनाक्षरी का रूप

बोले तमचुर, चार्यौ जाम को गजर मार्यौ,
पौन भयौ सीतल तमि में तमता गई।
प्राची अरुनानी भानु किरनि उज्जयारी,
नभ छाई, उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई। (यति-भंग)
मुकुले कमल, बच्छ बन्धन विमोह्यो ग्वाल,
चरे चली गाइ किज पैंती करकौं दई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कह्यौ,
जागो प्रान प्यारे जू सवारे को समै भई॥[2]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८०।
२. वही, २०३८।

इसी पद के पश्चात् एक और घनाक्षरी है जिसमें चार के स्थान पर छः चरण हैं ।[1]

अष्टम स्कंध के गज-मोचन-अवतार में एक शुद्ध घनाक्षरी है—

झाईं न मिटन पाई, आए हरि आतुर ह्वै,
जान्यौ जब गज-ग्राह लिए जात जल मैं ।
जादोपति जदुनाथ, छाँडि खगपति साथ,
जानि जन विह्वल, छुड़ाइ लीन्हौं पल मैं ।
नीर हू तें न्यारो कीन्हौं, चक्र नक्र सीस छीनौ,
देवकी के प्यारे लाल, ऐंचि लाए थल मैं ।
कहै सूरदास देखि, नैननि की मिटी प्यास,
कृपा कीन्हीं गोपीनाथ, आए भुव तल मैं ।।[2]

कुछ घनाक्षरियाँ ऐसी है जिनमें १६, १५ के स्थान पर १६, १४ वर्ण हैं । जैसे—

वारौं हौं वे कर जिन हरि कौ बदन छुऔ, (१६)
वारौं रसना सो जिहिं बौल्यो है तुकारि ।[3] (१४)

ऐसे पद भी हैं जिनके वर्णों की संख्या अधिक है किन्तु ह्रस्व मात्राओं के कारण पढ़ने में गति ठीक आ जाती है । सूर ने प्रायः छन्दों की रचना गान के माध्यम से की थी, इसीलिए वर्ण-गणना का व्यतिक्रम यत्र-तत्र होता गया है । छन्द है—

फिरत बननि वृन्दावन, बंसीवट सँकेत बट, (१९)
नागर कटि काछे खौरी केसर की किये । (१५)
पीत बसन चंदन तिलक, मोर मुकुट कुंडल झलक, (२२)
स्याम घन सुरंग-छलक, यह छवि तन लिए ।। (१८)

---

१. चिरई चुहचुहानी, चंद की ज्योति परानी,
रजनी बिहानी प्राची प्रिय की प्रवान की ।
तारिका दुरानी, तम घट्यौ तमचुर बोले,
स्रवन भनक परी ललिता के तान की ।
भृंग मिले भारजा, बिछुरि जोरी कोक मिले,
उतरी पनच अब काम के कमान की ।
अथवत आए गृह, बहुरि उवत भानु,
उठौ प्राननाथ महा जान मनि जान की ।
ब्रज घर घर यहै कहत चबाउ लोग,
बार बार कहनि पगनि पग आन की ।
सूरदास प्रभु नन्द सुवन सिधारौ धाम,
सुनत उठनि छवि कृपा के निधान की ।।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २०३९

२. सूरसागर (सभा), अष्टम स्कन्ध, पद ५ ।

३. वही, दशम स्कन्ध, पद ३६२ ।

तनु त्रिभंग, सुभग अंग, निरखि लजत अति अनंग, (२१)
ग्वाल बाल लिए संग, प्रमुदित सब हिए। (१६)
सूर स्याम अति सुजान, मुरली धुनि करत गान, (१६)
ब्रज-जन-मन को महान, सन्तन सुख दिये ।।[1] (१७)

स्पष्ट है उपर्युक्त कवित्त चरणों में वर्णों की संख्या समान नहीं है। यह व्यतिक्रम संगीत के कारण उपस्थित हुआ है। जिस चरण में लघु मात्राएँ अधिक हैं, उनके वर्णों की संख्या अधिक है।

मात्रा-दण्डक—मात्रिक दण्डकों के दो प्रकार सूरसागर में मिलते हैं—झूलना और चंचरी। इन छंदों का उपयोग अधिकतर ओज-प्रधान छंदों में किया गया है। स्थल-स्थल पर संकेत किये जा चुके हैं कि इन दण्डक छंदों की तीव्रगति रसोत्कर्ष में सहायक हुई है।

झूलना-दण्डक—इस छंद में १०, १०, १०, ७ के विराम से ३७ मात्राएँ होती हैं। अन्त में यगण होता है। सूर ने विरामों का उक्त क्रम नहीं रखा है, उनका क्रम है ८, १०, १०, ६। प्रत्येक विराम शब्दों के अन्त्यानुप्रास से जाने जाते हैं। जैसे—

जयति नंदलाल, जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल, आनंदकारी।[2]

कुछ पदों में टेक है और चरणों में विरामों के सम्बन्ध में किंचित् व्यतिक्रम है। जैसे—

देखि री नंद कुल कै उघारी।
मातु पितु-दुरित उद्धरन, ब्रज उद्धरन, धरनि उद्धरन, सिर मुकुट धारी।
पतित उद्धरन, निज भक्त उद्धरन, जनदीन उद्धरन, कुंडलनि धारी ।।
× × ×
सूर उद्धरन, सुरलोक उद्धरन, हरि, कंस उद्धरन, येई मुरारी।[3]

इस पद में टेक है और टेक की स्थायी वाली पंक्ति में पहली यति ठीक स्थल पर नहीं लगी है। शेष छंद में सूर का क्रम चलता गया है। इस छंद का प्रयोग दण्डकों में सबसे अधिक हुआ है।

चंचरी दण्डक—इस छंद में १२, १२, १२, १० के विराम से ४६ मात्राएँ होती हैं, अन्त में दो गुरु का भी विधान होता है। इस छंद का उतना प्रयोग नहीं है जितना झूलना का। इसमें भी कहीं टेक है और कहीं नहीं है। जैसे—

राग कल्यान

टेक युक्त—

ग्वालिनी घर गए जानि साँझ की अँधेरी। (टेक)
मंदिर में गए समाइ, श्यामल तनु लखि न जाइ,
वे सजे हैं रूप कहौ, को सकै निवेरी ?[4]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४६०।
२. वही, ६८०।
३. वही, ३०८१।
४. वही, २७५।

राग ललित

बिना टेक वाला पद—

विहरत गोपाल राइ, मनिमय रचे अंग नाइ,
लरकत परिरंगनाइ घूटुरूनि डोलै।

× × ×

सूरदास छवि निहारि, थकित रहीं घोष-नारि,
तन-मन-धन देत वारि, बार बार ओलै ॥[1]

इसी छंद को कहीं-कहीं उन्होंने छोटा करके १३, १२, १२, ८ के विराम से ४५ मात्राओं का ही कर दिया है। जैसे—

अरी मेरे लालन की, आज बरष गाँठि सबै,
सखिन को बुलाइ मंगल, गान करावो।[2]

कहीं पर १०, १०, १०, १० के क्रम से ४० मात्राओं का है। जैसे—

ललित आँगन खेलै, ठुमुकि ठुमुकि डोलै,
झुनुक झुनुक बोलै, पैजनी मृदु मुखर।[3]

ऐसे भी छंद हैं जिनमें ८, ८, ८, ८ के क्रम से ३२ मात्राएँ हैं—

तनक चरन अरु, तनक तनक भुज,
तनक बचन बोले, तनक सौ बोल।[4]

तात्पर्य यह कि गायक सूर, गान के वजन पर छंदों की रचना करते थे, इसीलिए मात्राओं, विरामों और गति में मनमाना हेर-फेर कर लेते थे।

४—**चौपाई-पद्धति**—आख्यान-काव्य के लिये चौपाई-दोहे की पद्धति पहले से चली आ रही थी। जैन प्रबन्ध-काव्यों और सूफी-काव्यों में इसका प्रयोग हो चुका था। कबीर ने भी रमैनी नाम से इसका प्रयोग किया था। सूर ने भी अपने कथा-भाग में चौपाई का ही प्रयोग किया। सूर ने दोहे का चौपाई के साथ प्रयोग नहीं किया। आठ या सात चौपाइयों के बाद दोहा रखने से रोचकता बढ़ती है। सूर के ऐसा न करने से उनके चौपाइयों में वर्णित आख्यान नीरस हो गये हैं। प्रथम स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक के सभी आख्यान चौपाई में हैं। दशम स्कन्ध में भी अधिकाश भागवत प्रसंग चौपाई में हैं। चौपाई के प्रयोग में कवि ने बड़ी असावधानी की है। चौपाई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, अन्त में दो गुरु रखने से गति सुन्दर रहती है किन्तु सूर की चौपाइयों के बीच १४, १५ और १७ मात्राओं की चौपाई भी मिल जाती हैं साथ ही पादाकुलक, चौबोला जैसे मिलते-जुलते छंद भी मिलते जाते हैं। सच तो

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कंध, पद १०१।
२. वही, ९५।
३. वही, १५१।
४. वही, १५२।

यह है कि सूर ने केवल चौपाई लिखने पर दृष्टि रखी थी। गान के स्वरों के अनुसार उसमें स्वत: परिवर्तन होता रहा। चौपाई के अनुकरण पर उन्होंने कुछ नवीन छंदों की रचना भी की है। जैसे—

१—१४ मात्रा का छंद—

पिय देखौ बन छवि निहारि। बार-बार यह कहत नारि ।।[१]

२—पन्द्रह मात्रा का छंद—

ब्रजवासी सब उठे पुकारि। जल भीतर कह करत मुरारि ।।[२]

३—१६ मात्रा का छंद—

सूर अति भए व्याकुल मुरारी। नैन भरि लेत, जल देत डारी ।।[३]

४—१७ मात्रा का छंद—

काम तनु दहत नहिं धीर धारै। कबहुँ बैठत उठत बार-बारै ।।[४]

चौपाई का हरिगीतिका और गीतिका आदि छंदों के साथ जब प्रयोग किया गया है तब छंद में रोचकता आ गई है—

चौपाई

मनमथ सैनिक भए बराती। द्रुम फूले बन अनुपम भाँती ।।
सुर बंदीजन मिलि जस गाए। मघवा बाजन अनंद बजाए ।।

हरिगीतिका

बाजहिं जुबाजन सकल सुर, नभ पुहुप अंजलि बरसहीं।
थकि रहे व्योम विमान, मुनि जन जय सबद करि हरषहीं ।।
सुनि सूरदासहिं भयौ आनंद, पुजी मन की साधिका।
श्रीलाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्रीराधिका ।।[५]

कहीं दो चौपाई और एक हरिगीतिका के स्थान पर तीन चौपाई और एक हरिगीतिका जोड़ी है।[६]

दूसरी गुरुमान लीला में १२ चौपाइयों के साथ एक दोहा और एक सोरठे[७] का प्रयोग किया है।

रुक्मिणी-विवाह-प्रसंग में चौपाई के साथ गीतिका (१४+१२) का प्रयोग भी किया गया है—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २८५०।

२. वही, ५४९।

३. वही, २४२१।

४. वही, २४२१।

५. वही, १०७२।

६. वही, १७९४।

७. वही, २८८२।

श्री जादवपति ब्याहन आयौ ।
धनि-धनि रुकमिनि हरि वर पायौ ।। (चौपाई)

स्याम घन हरि परम सुन्दर, तड़ित बसन बिराजई ।
अंग भूषन सूर ससि, पूरन कला मनु राजई ।।[1] (गीतिका)

इस प्रकार सूर ने चौपाई छंद के भी विविध रूप प्रस्तुत किए हैं । वास्तव में इस छंद का प्रयोग ऐसे स्थलों पर हुआ है जो विषय की दृष्टि से अधिक सरस नहीं हैं, इसीलिए सूरसागर में इस छंद की छटा छिटक नहीं सकी ।

अन्य छंद – छंदात्मक पदों में चौपाई के अतिरिक्त कई छंद मिलते हैं जिनमें प्रमुख हैं—सार, सरसी, विष्णुपद, लावनी, समान सवैया, उपमान और कुण्डल ।

सार—इस छंद में १६, १२ के विराम से २८ मात्राएँ होती है, चरणान्त में दो गुरु होते हैं । जैसे—

पाई-पाई है रे भैया, कुंज पुंज में टाली ।
अबकैं अपनी हटकि चरावहु, जै हैं भटकी घाली ।।[2]

सरसी अथवा कबीर छंद में १६, ११ के विराम से २७ मात्राएँ होती हैं। चरणान्त में गुरु लघु होते हे । जैसे—

आवहु आवहु इतै कान्ह जू, पाई हैं सब धैनु ।
कुंज-पुंज में देखि हरे तृन, चरित परम सुख चैनु ।।[3]

विष्णुपद– इस छंद में १६, १० के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं । इसका प्रयोग बहुत अधिक है । जैसे—

ब्रज बनिता सत जूथ मंडली, मिलि-कर परस करैं ।
भुज मृनाल-भूषन तोरन जुत, कंचन-खंभ खरैं ।।[4]

लावनी—लोक-गीतों का प्रिय छंद लावनी अपनी द्रुत लय के कारण सूर को प्रिय हुई है । इसमें १६, १४ के विराम से ३० मात्राएँ होती हें । सरस प्रसंगों में ही इसका प्रयोग है । जैसे—

ब्रज घर-घर आनन्द बढ़्यौ अति, प्रेम पुलक न समात हिए ।
जाकौं नेति-नेति स्रुति गावत, ध्यावत सुर मुनि ध्यान धरे ।।[5]

समान सवैया—इस छंद में १६, १६ के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं । वर्णनात्मक प्रसंगों में इस छंद का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है । जैसे—

भावी नहीं मिटै काहू की, करता की गति जाति न जानी ।
कहौं कहाँ तैं स्याम न उबर्‌यो, किहि राख्यो तिहिं औसर आनी ।।[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४१८६ ।
२. वही, ५०३ ।
३. वही, ५०२ ।
४. वही, ११३६ ।
५. वही, ८८ ।
६. वही, १३९८ ।

उपमान—इस छंद में १३, १० के विराम से २३ मात्राएँ होती हैं अन्त में दो गुरु हैं। जैसे—

सुता महर वृषभानु की, नन्द सदनहिं आई।
गृह द्वारें ही अजिर मैं, गौ दुहत कन्हाई ॥[1]

कुंडल—इस छंद में १२, १० के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं अन्त में दो गुरु होते हैं। इस छंद का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है। जैसे—

ऐसो गोपाल निरख, तन-मन-धन वारौं।
नव किशोर मधुर मूरति, सोभा उर धारौं ॥[2]

नवीन छंद—सूरदास जी के नवीन छंदों के कलेवर प्रायः तेरह और ग्यारह मात्राओं के आधार पर बने हैं। उन्हें १३ और ११ मात्राओं से योग से बनने वाले दोहा और रोला अधिक प्रिय थे। इन्हीं की सहायता से उन्होंने नवीन छंदों की रचना की है। ये नवीन प्रयोग इस प्रकार हैं—

१—१३ मात्राओं का प्रथम चरण ही प्रत्येक पंक्ति में चलता जाता है, गीत की पंक्तियों की पूर्ति किसी अर्धाली की पुनरुक्तियों से होती है। जैसे—

ऋतु बसन्त के आगमहिं, मिलि झूमक हो।
सुख सदन मदन को जोर, मिलि झूमक हो ॥[3] (१३+८)

१३ मात्राओं की पंक्तियाँ 'मिलि झूमक हो' जैसी आठ मात्राओं की अर्धालियों से संयुक्त होकर सम्पूर्ण पद में चलती हैं।

इसी का दूसरा रूप कुछ छंदात्मक पदों के टेक में मिलता है—

आजु हो बधाई बाजे, मंदिर महर के।
फूलें फिरें गोपी ग्वाल, ठहर ठहर के ॥[4] (१३+८)

यही टेक किसी पद में १३ और ११ मात्राओं की है—

आजु हो बधायौ बाजे, नंद गोपराइ के।
जदुकुल जादौ राइ, जनमे हैं आइ के ॥[5] (१३+११)

२—कहीं १३ मात्राओं के साथ १० मात्रा की अर्धाली लगाकर एक नया छंद बना लिया है—

ब्रज भयो महर के पूत, जब यह बात सुनी।
सुनि आनन्दे सब लोग, गोकुल गनक गुनी ॥[6] (१३+१०)

३–१३ मात्राओं की भाँति ११ मात्राओं को लेकर भी नये छंद बनाए गये हैं। जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७१४।
२. वही, ६६२।
३ वही, २९०३।
४. वही, ३४।
५. वही, ३१।
६. वही, २४।

धनि धनि नंद जसोमति, धनि जग पावन रे ।
धनि हरि लियो अवतार, सुधनि दिन आवन रे ।।[1] (११+१०)

पद का चरण ११ मात्राओं तक ही है, शेष १० मात्राओं की अर्धाली है जो प्रत्येक पंक्ति से जुड़ती जाती है ।

४—फूलडोल के लिए १२ मात्राओं का आधार बनाकर एक नया छंद सूर ने रचा है । उसमें १२, १२ के विराम की पंक्ति में १० मात्रा की शीर्षक सम्बन्धी अर्धाली लगी है—

(माई) फूले फूले फूलत, श्री राधा-कृष्ण हैं झूलत, सरस रसहिं फूलडोल ।
फूल फूलनि जोरत, फूले निमिष न मोरत, संतन हित फूलडोल ।।[2]

इस पद में 'सरस रसहिं फूलडोल' और 'संतन हित फूलडोल' के योग से १२, १२ मात्राओं की पंक्ति चलती गयी है । अन्त्यानुप्रास १२ मात्राओं के बाद है ।

५—शरद-लीला में एक नवीन छंद है, उसमें १५, १५ मात्राओं की पंक्तियों के साथ १६ मात्रा की एक अतिरिक्त पंक्ति है—

सरद सुहाई आई राति । दहूँ दिसि फूलि रही बन जाति ।।
देखि स्याम मन सुख भयौ ।।[3] (१५+१५+१३)

रास लीला के वर्णन में यह छंद बड़ा ही रोचक है । नीचे वाली पंक्तियों में 'रास रसिक गुन गाइ हों, की अनेक आवृत्तियाँ भी पद में है ।

६—चंचरी दण्डक के आधार पर भी एक नया छंद सूर ने बनाया है जिसमें १२, १२, १२ के विरामों के पश्चात् १० मात्रा की एक अर्धाली लगी है जो टेक से स्वर-मेल कराने के लिए रची गयी है—

पालनौ अति सुन्दर, गढि ल्याउ रे बढैया । (टेक)
सीतल चंदन कटाउ, धरि खराद रंग लाउ,
विविध चौकरी बनाउ, धाउ रे बनैया ।।[4]

इसमें १२+१० मात्राओं की टेक है। इसके पश्चात् १२।१२।१२ मात्राओं की पंक्तियों में ऊपर वाली टेक के उत्तरार्द्ध की १० मात्रा की पंक्ति के वजन पर अर्धाली जोड़ी गयी है ।

निष्कर्ष यह कि सूर ने केवल गीतों में पद-रचना नहीं की है वरन् अनेक मात्रिक और वर्णिक छंदों का भी प्रयोग किया है । छंदों में किंचित् संशोधन करके उन्हें भी रागों के स्वरों में बाँधा है । विशेषता यह है कि रागों में बाँधने पर भी छंदों का रूप विकृत नहीं हुआ है । छंदों के चरणों के तोड़ने तथा गान के अनुरूप अर्धालियों के जोड़ने में उनकी मौलिक उद्भावना का पता चलता है । प्राचीन छंदों के सहारे नये

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६ ।
२. वही, २९१७ ।
३. वही, ११८० ।
४. वही, ४१ ।

छंदों की जो रचना सूर ने की है स्तुत्य है। रागों में बाँधने से प्रायः यति-भंग और गति-भंग दोष छंद की दृष्टि से प्रतीत होते हैं किन्तु गान की दृष्टि से वे दोष ही गुण हैं क्योंकि बिना उनके रागों का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होता। कवि को शब्दों के तोड़-मरोड़ की जितनी स्वतन्त्रता है उससे कहीं अधिक गायक को है। प्रायः गायक अपने स्वरों के अनुरूप शब्दों, मात्राओं आदि को बड़ा विकृत कर लेता है, बिना ऐसा किए वह स्वरादि का वैभव प्रस्तुत नहीं कर सकता। सूरदास जी संगीतप्रधान कवि थे। इसीलिए उनके हाथों में पड़कर छंदों में विकृति भी आई है और उनका सर्वथा चमत्कृत रूप भी निखर उठा है। इतना निश्चय है कि छंदों के क्षेत्र में भी सूर ने परवर्ती कवियों के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया है इसीलिए रोला-दोहा के संयुक्त रूप, जैसे सूर के प्रयोग आगे चलकर बड़े लोकप्रिय भी हुए हैं।

सूर की गीत-रचना—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की धारणा थी कि सूर की पद-रचना जयदेव और विद्यापति की गीत-रचना के अनुसरण पर हुई है।[1] यह कथन आंशिक रूप में ही सत्य है। जयदेव की गीत-रचना की परम्परा ही न चल सकी। गीतगोविन्द के गीतों में संगीत-रचना के तत्त्व अधिक हैं। जयदेव ने गीत-रचना और छंद-रचना को एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न समझा था। इसीलिए उनके द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित आदि छंदों का राग और ताल से कोई सम्बन्ध नहीं है और उनकी अष्टपदियों में राग और ताल का विशिष्ट विधान है। जयदेव के प्रबन्ध गीतों की रचना के अंग थे—उदग्रह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा और आभोग। पद की प्रथम पंक्ति में उदग्रह, द्वितीय में मेलापक और तृतीय में ध्रुव होता था। ध्रुव के पश्चात् अन्तरा के पद आते थे और उनके अन्त में ध्रुव की पंक्ति अनुपद के रूप में गायी जाती थी। ध्रुव तक एक चरण होता था, इस प्रकार एक अष्टपदी के भीतर छः अन्तरा के चरण होते थे और अन्तिम चरण जिसमें कवि गीत में अपने मन्तव्य को प्रकाशित करता है तथा अपने नाम का उल्लेख भी करता है, आभोग होता था। गीत-रचना की यह पद्धति जयदेव के पश्चात् नहीं प्राप्त होती। विद्यापति ने जयदेव की कला-कोमल-कान्त पदावली और गीतों की गति को ही अपनाया है। उनकी गीत-रचना में जयदेव के पदों की भाँति शास्त्रीय संगीत की स्वर-योजना का सन्निवेश नहीं है। कुछ संगीतज्ञ भले ही विद्यापति के गीतों में भी राग-रागिनी का अनुसंधान कर लें और उन्हें तदनुसार गा लें किन्तु विद्यापति के गीत संगीतशास्त्र के विधि-विधान से मुक्त हैं। इसीलिए जयदेव के अनुवर्ती होते हुए भी उन्होंने अपने गीतों के ऊपर किसी राग या ताल का उल्लेख नहीं किया है।

सूर की पद-रचना का रूप सर्वथा विशिष्ट है। सूर की पद-रचना संगीत के स्वर-तालों की अपेक्षा रखती है। लोक-धुनों को भी उन्होंने शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुरूप बना लिया है। विद्यापति में जो लोक-धुनें मिलती हैं वे बिहार या बंगाल की लोक-धुनें हैं। लोक-धुनें प्रत्येक प्रान्त में भिन्न हैं। सूर के पदों में ब्रज प्रान्त की लोक-

---

१. सूरदास, पृष्ठ २००।

धुनों का परिष्कृत रूप है। इस प्रकार सूर की पद-रचना विद्यापति की पद-रचना का भी विकसित रूप नहीं है। उधर जयदेव की संगीत-रचना से सूर की संगीत-रचना का संबंध जोड़ना सर्वथा अनुचित है क्योंकि जयदेव-काल की संगीत-पद्धति कालान्तर में आमूल परिवर्तित हो गयी थी। तात्पर्य यह है कि सूर की पद-रचना अपने में मौलिक है।

संक्षेप में सूर की पद-रचना सर्वथा मौलिक है। सूरदास जी में संगीत, छंद और लोक-गीतों के गुणों को ऐसा संगठित किया है कि उसका एक निराला स्वरूप बन गया है। संगीत के पद-बन्द, छंद-विधान की गरिमा से साहित्यिक साँचे में ढल गए हैं और छंदों का नाद-सौंदर्य बढ़कर विशेष प्रभावशाली हो गया है।

प्रकरण ६

प्रभाव

सूर की कला पर पूर्ववर्ती कवियों की कला का प्रभाव--

कला का सम्बन्ध व्यक्तिगत प्रतिभा और निजी अभिरुचि से है। फिर भी पूर्ववर्ती और समसामयिक कलाकारों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव कवि की कला के निर्माण में योग अवश्य देता है। सूर होने के कारण अधिक स्वाध्याय का अवसर हमारे कवि को न था, उनका अधिकांश ज्ञान श्रुति पर आश्रित था, इसीलिए प्रत्यक्ष प्रभाव उन पर अधिक नहीं था।

काव्य के भाव और उसकी अभिव्यक्ति एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं और ये इतने अभिन्न हैं कि इनका पार्थक्य नहीं हो सकता। जब एक कवि का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है तब उसमें भाव और शैली दोनों की ही छाया विद्यमान रहती है। सूर की काव्य-कला के आदान-प्रदान सम्बन्धी अनुसन्धान में भाव-पक्ष की सर्वथा अवहेलना नहीं हो सकती। फिर भी हमारे प्रबन्ध का विषय भाव-पक्ष को स्पर्श नहीं करता इसलिए यथासम्भव अपने क्षेत्र की सीमा में रहकर सूर के आदान-प्रदान को हम निम्नलिखित दो बातों में देखेंगे--

१--पद-शैली का स्वरूप--सूर की पद-शैली उनकी कला का माध्यम है। इसके विकास में सूर ने कहाँ-कहाँ से प्रभाव ग्रहण किया और परवर्ती साहित्य में इसका अनुसरण कहाँ तक हुआ।

२--अभिव्यंजना-कौशल--मौलिक होते हुए भी सूर की अभिव्यंजना पर पूर्व-वर्ती कवियों का कितना आभार है और परवर्ती अभिव्यंजना को सूर ने कहाँ तक प्रभा-वित किया। इसके अन्तर्गत शब्द-योजना (पदावली), अप्रस्तुत-विधान आदि का विवे-चन किया जायगा।

श्रीमद्भागवत--सूर ने अपने विषय का मूल आधार भागवत को ही बनाया है। भागवत एक प्रबन्ध काव्य है। दशम स्कन्ध की सरस-लीलाओं के भावात्मक स्वरूप ने सूर को मुक्त पद रचने की सहज प्रेरणा दी। भागवत की विवरणात्मक शैली ने सूर के गीति-काव्य को वर्णनात्मक बना दिया है। सूर के गीतिकाव्य का विवेचन करते हुए हम विस्तार से कह चुके हैं कि सूरसागर शुद्ध गीतिकाव्य न रहकर प्रगीत वर्णन हो गया है।[1] इसका कारण यह है कि सूर की शैली पर भी भागवत का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा ही है। साथ ही भागवत के कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो

---

१. इसी प्रबन्ध का प्रकरण १, पृष्ठ ८६।

गीत की आत्मा की दृष्टि से शुद्ध गीत हैं। भागवतकार ने भी उन्हें गीत-संज्ञा दी है क्योंकि भागवत के अन्य स्थलों की भाँति उपदेश, तथ्य-निरूपण आदि के स्थान पर इनमें अनुभूति का सहज समुच्छ्वसित रूप मिलता है। प्रेम करने की इच्छा से, प्रेम से, विरह की सम्भावना से अथवा संसार के कटु अनुभव से भिन्न-भिन्न लोगों के हृदयोद्गार स्वतः फूट पड़े हैं। इस प्रकार के गीत हैं– १. वेणु गीत, २. गोपिका गीत, ३. युगल गीत, ४. भ्रमर गीत, ५. द्वारका की श्रीकृष्ण-पत्नियों के गीत, ६. पिंगला गीत, ७. भिक्षु गीत, ८. ऐल गीत और ९. भूमि गीत। सूर ने सूर-सागर में इन सभी गीतों को नहीं रखा है किन्तु ये गीत ही सूर के समग्र गीतों के प्रेरक माने जा सकते हैं। प्रथम चार गीत शृंगार के और अन्तिम चार निर्वेद-गीत हैं। शृंगार-गीतों की छाया सूर के लीला-पदों पर और निर्वेद गीतों का आभास विनय के कुछ गीतों पर पड़ता है। हम विचार की दृष्टि से भागवत के गीतों की समता सूर के गीतों से नहीं कर रहे हैं। हम तो भागवत के गीतों में पात्रों की उस मन-स्थिति को देख रहे हैं जिसने इन गीतों का सृजन किया। उदाहरण के लिए भागवत के वेणु गीत में गोपियाँ कृष्ण के वंशीवादन को सुनकर अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं, रति-भाव के आवेश में कृष्ण उन्हें प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं और उनकी वाणी से गीत स्फुरित हो उठता है।[१] इसी प्रकार गोपिका-गीत में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर विरह-कातर गोपियों की अन्तर्वेदना बरबस फूट पड़ती है।[२] भागवत का भ्रमरगीत, गीत का वह स्वरूप है जिसमें व्यक्ति भावातिरेक में भूल जाता है कि उसे किसके समक्ष क्या कहना चाहिये।[3] तात्पर्य यह कि भागवत के गीतों में जो भावप्रवणता और सहज अन्तःप्रेरणा है वही सूर के गीतों का प्रधान गुण है। भागवत प्रबन्ध-काव्य है किन्तु उस प्रबन्ध के भीतर उपर्युक्त गीतों को देखकर सूर ने गीतों में ही इन सरस प्रसंगों को लिखने की प्रेरणा प्राप्त की होगी। भागवत के प्रबन्ध में सरस-प्रसंगों का उतना सुन्दर निर्वाह नहीं हो पाया है जितना कि मुक्तक गीतों में हो सकता था। इस तथ्य

१. **अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।**
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वानिपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥
—श्रीमद्भागवत् १०।२१।७

[हे सखी हम तो आँख वालों के जीवन की और उनकी आँखों की यही सार्थकता समझती हैं कि जब श्यामसुन्दर और बलराम ग्वाल-बालों के साथ गौओं को बन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज आ रहे हों तो उन्होंने अधरों पर मुरली धर रखी हो और हमारी ओर प्रेमभरी चितवन से देख रहे हों।]

२. **जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजःश्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।**
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयिधृतासवस्त्वां विचिन्वते॥
—श्रीमद्भागवत १०।३१।१

३. **मधुप कितवबन्धोमा स्पृशाङ्‌घ्रि सपत्न्यः कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः।**

की प्रतीति भी सूर को भागवत के गीतों से हुई होगी, और कदाचित् यह प्रतीति भी कि कृष्ण-चरित का मधुर-पक्ष प्रबन्ध-काव्य के अधिक उपयुक्त नहीं है। तात्पर्य यह कि सूर ने अपनी कथाश्रित प्रगीत-शैली का बीज भागवत से ही प्राप्त किया है।

सूर की अभिव्यंजना पर भी भागवत का कुछ प्रभाव है। भागवत के वर्णन सरस और अलंकृत हैं, उनमें वचन-चातुरी का वैभव भी विद्यमान है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर कृष्ण-रूप के वर्णन में कृष्ण के दर्शनीय मेघ के समान सुकुमार शरीर, पीत वसन और मन्द मुसकान का कथन है[1] और दूसरे स्थल पर गोपियाँ बाँसुरी को कृष्ण के अधरों पर देखकर कहती हैं कि वह हमारी सम्पति पर इस प्रकार क्यों अधिकार जमाए है, देखो तो वह सबका सब अधरामृत पी जाती है, हम लोगों के लिए तनिक भी नहीं छोड़ती।[2]

इस प्रकार गीत की अन्तरात्मा की दृष्टि से सूर पर भागवत का प्रभाव सर्वथा मान्य है। भागवत के गीतों में पद-रचना का वह विधान नहीं है जो सूर के पदों में है। भागवत के सभी गीत संस्कृत के वर्णवृत्तों—शिखरिणी, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा आदि में रचे गये हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ ये गीत भागवत में हैं वहाँ-वहाँ वे वर्णनात्मक श्लोकों से अलग ही दिखाई पड़ते हैं। शिखरिणी आदि वृत्तों में गेयत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है उनकी लय मार्मिक गीतों की भावधारा के सर्वथा अनुकूल होती है। सारांश यह कि यद्यपि भागवत के गीतों में सूर के गीतों का शिल्प-विधान नहीं मिलता तथापि गीत के मूल तत्वों से समन्वित होने के कारण ये ही सूर के गीतों के स्रोत स्थल हैं।

स्तोत्र-साहित्य—संस्कृत के स्तोत्र मुक्तक हैं। प्रभु की कृपा-प्राप्ति के लिए भक्त-कवियों ने प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन प्रस्तुत किये हैं। उनमें प्रभु के ऐश्वर्य की महिमा, देव विशेष के स्वरूप का वर्णन, प्रभु की उदारता और अपनी विपन्नता का

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥

—श्रीमद्भागवत १०।४७।१२

[मधुकर तू हमारे पैरों को मत छू। हम देखती हैं कि श्रीकृष्ण की जो वनमाला हमारी सौतों के वक्षस्थल से मसली हुई है उसका पीला कुंकुम तेरी मूछों पर लगा हुआ है। उनका यह कुंकुम रूप कृपा-प्रसाद, जो यदुवंशियों की सभा में उपहास के योग्य है, वे अपने पास ही रखें।]

१. **तं प्रेक्षणीय सुकुमार धनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।**

—श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, १६।९

[कृष्ण का शरीर मेघ के समान सुकुमार है, वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह है, पीतवसन धारण किये हैं और मुख पर मन्द मुसकान है।]

२. **गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।**
भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥

—श्री मद्भागवत, दशम स्कंध, २१।९

निरूपण मिलता है। इन स्तोत्रों में साहित्यिक छटा भी मिलती है क्योंकि इनके रचयिता पुष्पदन्त, बाणभट्ट और पंडितराज जगन्नाथ जैसे महाकवि हैं। इनकी शब्दावली प्रायः अलंकारिक और ओजगुण प्रधान होती है। स्तोत्रों में गेयत्व अनिवार्य रूप से है क्योंकि स्तोत्र गाकर पढ़ने के निमित्त ही रचे गये थे। कथा का पुट इनमें अति अल्प मात्रा में होता है। स्तोत्रों के स्वरूप की रचना शिखरिणी आदि वर्णिक वृत्तों या दण्डकों में मिलती है। राग-रागिनी का समावेश स्तोत्र-परम्परा में नहीं मिलता सम्भवतः इसीलिए कि राग-रागिनी का समुचित विकास १२वीं शताब्दी में हुआ और स्तोत्रों की परम्परा प्राचीन है। परवर्ती स्तोत्रकारों ने भी छंद-प्रधान-परम्परा को अक्षुण्ण रखा। फिर भी स्तोत्रों पर संगीत का प्रभाव पड़ा। स्वामी शंकराचार्य के नाम से एक प्रसिद्ध स्तोत्र[1] है। उसकी प्रथम पंक्ति "भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज मूढ मते" हिन्दी-पद-रचना की टेक का पूर्वाभास लिये हुए है। यह पंक्ति पद के अन्य चरणों में मिलाकर गायी भी जाती है। शंकराचार्य के स्तोत्रों तथा लीलांशुक रचित "श्रीकृष्णकर्णामृत" से प्रतीत होता है कि परवर्ती स्तोत्रों में शब्दार्थ के चमत्कार क्रमशः अल्प होते गये और उनके स्थान में भावुकता, रसात्मकता और भाव-प्रवणता का आविर्भाव होता गया। अन्त में संस्कृत की स्तोत्र-परम्परा सन्तों के तुकान्त पदों में परिवर्तित हो गयी। सन्तों के विनय-पद स्तोत्रों के समस्त संस्कारों से युक्त हो गये। सूरदास जी हिन्दी मे वैष्णव कवि-परम्परा के प्रथम श्रेष्ठ कवि थे अतः इनके पदों में अनेक ऐसे पद प्राप्त होते हैं जिनमें संस्कृत स्तोत्रों का अवशेष झलक रहा है। गिरि-धारण लीला के पश्चात् इन्द्रादिक सुरगण भगवान कृष्ण की स्तुति करते हैं, इसमें स्तोत्र-पद्धति स्पष्ट है—

जयति नंदलाल, जय जयति गोपाल, जय जयति ब्रजबाल, आनन्दकारी।
कृष्न कमनीय, मुख कमल राजित सुरभि, मुरलिका मधुर धुनि, ब्रजबिहारी॥

× × ×

देव किन्नर सिद्ध, सेस, सुक, सनक, सिव, रिखि सिधि व्यास मुनि, सुजस गायौ।
सूर कौ गोपाल सोइ सुखनिधि नाथ, आपुनौ जानि कै, सरन आयौ॥[2]

यह पद झूलना दंडक में रचा गया है। अन्त्यानुप्रास युत पद-गति और ओज प्रधान शब्दावली स्तोत्रों का आभास प्रस्तुत करती है। सूरसागर में अनेक पद[3] स्तोत्र-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूर के विनय पदों में भी कुछ पद ऐसे हैं जिन पर

---

१. भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज मूढ मते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे, नहिं नहिं रक्षति डुकृञ् करणे।
बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः, तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः पारब्रह्मसि कोऽपि नलग्नः॥
भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्......

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ९८०।

३. वही, १७१, ५७१, ५७२, ९८१, ३०८१।

स्तोत्रों का प्रभाव है। स्तोत्रों की भाँति विशेषण-पदों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष मिलता जाता है--

> **बन्दौं चरन-सरोज तुम्हारे।**
> **सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान पियारे ॥**
> **जे पद पदुम सदाशिव के धन, सिंधु सुता उर तें नहिं टारे।**
> **जे पद पदुम ....**
> × × ×
> **सूरदास तेई पद पंकज, त्रिविध-ताप दुख हरन हमारे ॥**[१]

जयदेवकृत गीत-गोविन्द--सूर जैसे गीत-रचयिता का गीत-गोविन्द की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। गीत-गोविन्द संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक ही ग्रंथ है। कला सम्बन्धी उसके तीन प्रमुख गुण हैं जिनका प्रभाव सूर की कला पर आभासित होता है। ये गुण है--१. संगीत-प्रधान पद-रचना, २. कोमलकान्त पदावली, ३. भक्ति पदों में अभिधा द्वारा शृंगार की अतिरंजना।

संगीत-प्रधान पद-रचना--जयदेव ने पद-रचना में एक प्रयोग प्रस्तुत किया था जिसमें छंदशास्त्र के विधि-विधानों के स्थान पर संगीत के स्वर-तालों की अपेक्षा थी। यही मनोवृत्ति सूर की पद-रचना में दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि हम पद-रचना प्रकरण में लिख चुके हे कि संगीत-कला के विकास के कारण सूर की संगीत-प्रधान पद-रचना जयदेव की पद-रचना से सर्वथा भिन्न है। जयदेव के प्रबन्ध-गीतों और सूर के स्फुट गीतों में कोई साम्य नहीं है। इस प्रकार सूर के शिल्प पर जयदेव का प्रभाव केवल इतना ही माना जा सकता है कि सूर ने जयदेव के अनुकरण पर राग-ताल संयुक्त गीतों में श्रीकृष्ण की सरस लीलाओं का गान किया।

कोमल-कान्त-पदावली--गीत-गोविन्द की पदावली में अनुप्रासिकता का आग्रह अत्यधिक है। सूर की वर्ण-योजना का विवेचन करते हुए हम स्पष्ट कर चुके हैं कि सूर की रुचि अनुप्रासिकता की ओर विशेष न थी किन्तु जयदेव की कोमल-कान्त पदावली में जो शब्द-संगीत और वर्ण-संगती का सौन्दर्य मिलता है, वही सूर के कतिपय पदों में उपलब्ध है। इतना तो निश्चय है कि पद-रचना करते समय सूर की दृष्टि जयदेव का अनुकरण करने की ओर न थी। वे भाषा के सहज प्रकाशन के अधिक पक्षपाती थे, इसीलिए जयदेव का पद-लालित्य उनकी कला का केन्द्र-बिन्दु न बन सका। विषय के अनुरूप स्थलों पर ध्वन्यात्मक पदावली का प्रयोग उनकी अपनी विशेषता थी। इस ध्वन्यात्मक पदावली के प्रयोग में भी वे अर्थ-ध्वननयुक्त वाले बोलचाल के शब्दों का संचयन करते थे, संस्कृत की ललित पदावली उनके लिए उतनी ग्राह्य न थी। इसीलिए सूर की पदावली का लालित्य जयदेव की पदावली के लालित्य से भिन्न है। सूर के पद-लालित्य में सहज माधुर्य की गुनगुनाहट है तो जयदेव के पद-लालित्य में साज-बाज की झंकार से समन्वित सर्वांग संगीत का जयघोष है। सूर की विशेष

---

३. सूरसागर (सभा), विनय पद ६४।

ललित पंक्तियों में से एक पंक्ति को जयदेव की एक पंक्ति के साथ रख देने से उपर्युक्त कथन की यथार्थता स्पष्ट हो जायगी—

सूर—मानौ माई घन घन अन्तर दामिनि ।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि ब्रज भामिनि ।।[1]

जयदेव—चन्दन चर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली ।
केलि चलन्मणि कुंडल मंडित गंड युगस्मित शाली ।।[2]

जयदेव के समवेत गान में सूर की बाँसुरी स्वतः विलीन हो जाती है । तात्पर्य यह कि अप्रत्यक्ष रीति से जयदेव की कोमल-कान्त पदावली का कुछ प्रभाव तो सूर पर पड़ा है पर उसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है ।

भक्ति-पदों में अभिधा द्वारा संयोग श्रृंगार की अतिरंजना—सूर ने 'सुख-विलास', 'सुरति-वर्णन', 'बहुनायकत्व', 'खंडिता-प्रकरण' आदि में संयोग श्रृंगार की अतिरंजना अभिधा से प्रस्तुत की है । साथ ही इन्हीं वर्णनों के द्वारा उन्होंने सहृदयों में भक्ति-मंदाकिनी को प्रवाहित करने का सफल प्रयास किया है । जयदेव का संयोग-श्रृंगार-वर्णन आदि से अन्त तक अभिधा से ही प्रस्तुत किया गया है । उन्होंने आरम्भ में ही अपनी पदावली के दो गुण—हरि-स्मरण और विलास-कला-कुतूहल —बताए हैं ।[3] इसीलिए कृष्ण-राधा की संयोग-लीला का नग्न रूप प्रस्तुत करने के पश्चात् वे अपने भक्तिविषयक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करते हैं । जैसे—

संचरदधरसुधामधुरध्वनि मुखरित मोहन वंशम् ।
चलित दृगंचल चंचल मौलि कपोल विलोलवतंसम् ।
रासे हरिमिह विहित विलासं स्मरति मनोमम कृत परिहासम् ।।ध्रु०।।

× × ×

गोपकदम्बनितम्बवती मुख चुम्बन लम्बित लोभम् ।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लसितास्मित शोभम् ।।रासे०।।

× × ×

जलद पटल चलदिन्दु विनिन्दक चंदन तिलक ललाटम् ।
पीन पयोधर परिसर मर्दन निर्दय हृदय कपाटम् ।।रासे०।।

× × ×

श्री जयदेव भणित मति सुन्दर मोहन मधुरिपु रूपम् ।
हरि चरण स्मरणम् प्रति संप्रति पुण्यवतामनुरूपम् ।[4]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४८ ।
२. गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग, चतुर्थ प्रबन्ध, पद १ ।
३. यदि हरि स्मरणे सरसं मनो, यदिविलास कलासु कुतूहलम् ।
मधुर कोमलकान्त पदावलिं, श्रुणतदा जयदेव सरस्वतीम् ।।
—गीतगोविन्द, प्रथम सर्ग, श्लोक ३
४. गीतगोविन्द, द्वितीय सर्ग, पंचम प्रबन्ध ।

सूरदास जी ने संयोग लीलाओं में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। उदाहरण के लिए रास और जलक्रीड़ा-विलास का वर्णन[1] अभिधा से करके अन्तिम पद में भक्ति के दृष्टि-कोण को इसी प्रकार प्रकट किया है। जैसे—

मैं कैसे रस रासहि गाऊँ।

× × ×

भजन-प्रताप चरन-महिमा तें, गुरु की कृपा दिखाऊँ॥
नव निकुंज बन धाम निकट इक, आनँद कुटी रचाऊँ।
सूर कहा विनती करि विनवैं, जनम-जनम यह ध्याऊँ॥[2]

संक्षेप में सूर के काव्य-शिल्प पर जयदेव का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता किन्तु गीत गोविन्द को जो लोक-प्रियता भक्त-समाज में मिली थी उसके अप्रत्यक्ष प्रभाव से सूर बच नहीं सकते थे।

विद्यापति—विद्यापति-पदावली का व्यापक प्रचार उत्तर भारत में मध्ययुग में हो चुका था। चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों के द्वारा विद्यापति के पद सूरकाल में वृन्दावन अवश्य पहुँचे होंगे। सूर की काव्य-कला, नखशिख, अलंकार-योजना, दृष्टकूट आदि पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ पदों में भाव-साम्य भी मिल जाता है।

पद-रचना—हम दिखा चुके हैं कि सूर की पद-रचना विद्यापति की पद-रचना के अनुसरण पर नहीं हुई। विद्यापति के पद मैथिल-लोक-गीतों के संस्कृत रूप हैं। विद्यापति के पदों में दो-दो पंक्तियाँ तुकान्त मिलती हैं। सूर की भाँति सारे पद में तुक नहीं है। संगीत का विधि-विधान भी उसमें नहीं है। विद्यापति की पद-रचना का अनुसरण विहार और बंगाल में हुआ। सूर की पद-रचना इससे सर्वथा स्वतन्त्र हुई। उसमें संगीत और साहित्य के तत्त्व अधिक हैं। ब्रज की लोक-धुनों को सूर ने लिया अवश्य पर उन्हें इस प्रकार परिमार्जित किया कि उनका लोक-रूप प्रायः लुप्त हो गया, विद्यापति के पदों की भाँति लोकगीतों की मूल-धुन अपरिवर्तित नहीं रह सकी।

---

१. रैनि रस-रास-सुख करत बीती।

× × ×

एक इक दुरति इक अंक भरि कै चलति, एक
सुख करति अति नेह बाढ़ी॥
काहु नहिं डरत, जल-थलहु क्रीड़ा करति, हरति मन,
निडर ज्यों कंत नारी।
सूर-प्रभु स्याम-स्यामा, संग गोपिका, मिटी तनु-साध,
भई मगन भारी॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११५७

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११७४।

अलंकार-योजना—सूर की अलंकार-योजना पर विद्यापति का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। अनेक अलंकारों में विशेष अन्तर नहीं मिलता। यह तो नहीं माना जा सकता कि विद्यापति की पदावली का पारायण सूर ने किया था, किन्तु कुछ प्रसिद्ध पदों को सूर ने सुना होगा और उन्हीं का अप्रत्यक्ष प्रभाव उन पर पड़ गया होगा।

रूपकातिशयोक्ति—

विद्यापति— **पल्लवराज चरन जुग शोभित, गति गजराज क भाने।**
कनक कदलि पर सिंह समारल, ता पर मेरु समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फुलायल, नाल बिना रुचि पाई।[1]

सूर— **अद्‌भुत एक अनूपम बाग।**
युगल कमल पर गज वर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग॥[2]

सूर की रूपकातिशयोक्ति विद्यापति की अपेक्षा अधिक संयत और शास्त्र विहित है। रूपकातिशयोक्ति के रूप में 'अद्‌भुत बाग' की कल्पना मौलिक है। किन्तु विद्यापति के उपमानों—पल्लव, गज, सिंह, मेरु और कमल का अति सुन्दर उपयोग सूर ने किया है। विद्यापति के उपमान सूर के 'बाग' में अनुकूल पृष्ठभूमि पाकर अधिक सज उठे हैं। विद्यापति के उपर्युक्त पद के निम्न चरणों में 'सारंग' का यमक है—

सारँग नयन बयन पुनि सारँग, सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग, केलि करथि मधुपाने॥

इसी को लेकर सूर का दृष्टकूट पद इस प्रकार है—

सारँग नैन, बैन वर सारँग, सारँग बदन कहै, छवि कोरी।
सारँग अधर, सुघर कर सारँग, सारँग जति, सारंग मति भोरी॥
सारँग वरन, पीठि पर सारँग, सारँग गति, सारँग कटि थोरी।
सारँग पुलिन, रजनि रुचि-सारँग सारँग अंग सुभग भुज जोरी॥[3]

सूर ने 'सारँग' शब्द का उपयोग स्वतन्त्र रूप में अवश्य किया है किन्तु विद्यापति का प्रभाव भी स्पष्ट है।

उत्प्रेक्षा—उत्प्रेक्षा सूर का सर्वप्रिय अलंकार है। सूर की उत्प्रेक्षाएँ अधिकतर मौलिक हैं। किन्तु रोमावली के सौन्दर्य वर्णन में एक स्थल पर विद्यापति की छाया प्रतीत होती है।

विद्यापति— **नाभि विवर सयं रोम लतावलि, भुजगि निसाँस पियासा।**
नासा खगपति चंचु भरम भय, कुच गिरि संधि निवासा॥[4]

---

१. विद्यापति पदावली (पुस्तक भण्डार, लहरियासराय), पद १२।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११०।
३. वही, २१७३।
४. विद्यापति पदावली (पु० म० ल०) पद १५।

सूर— **नाभि परस रोमावलि राजत, कुच जुग बीच चली।**
मनहुँ विवर तें उरग रिग्यौ तकि, गिरि की संधि थली ॥[१]

सूर की उत्प्रेक्षा विद्यापति की उत्प्रेक्षा से साधारण है। प्रतीत होता है रचना करते हुए सूर के समक्ष विद्यापति का पद नहीं था, सुनी हुई पंक्ति का एक प्रभाव मात्र अवशिष्ट रह गया था, इसीलिए उन्होंने मौलिक रूप में इसकी रचना की।

विद्यापति की निम्न उत्प्रेक्षाओं का प्रभाव भी सूर पर परिलक्षित होता है—

विद्यापति— **नयन नलिन दवौ अंजन रंजई, भौंह विभंग विलासा।**
चकित चकोर जोर विधि बाँधल, केवल काजर पासा ॥[२]

सूर— **चलि चलि जात निकट स्रवननि के, सकि ताटंक फँदाते।**
सूरदास अंजन गुन अंटके, नतरु अवसि उड़ि जाते ॥[3]

सूर के 'अंजन गुन' और 'नन-खंजन' तथा विद्यापति के 'काजर-पास' और नैन-चकोर' में साम्य है। सूर की उपमाएँ स्वतन्त्र हैं, केवल साम्य मात्र ही इनमें है। सूर की उपमा मौलिक है और विद्यापति से अधिक युक्तियुक्त भी। विद्यापति की उत्प्रेक्षा में मुख-चन्द्रमा के सम्मुख काजर-पाश में चकोर का बाँधा जाना निष्प्रयोजन है, चकोर तो स्वतः चन्द्रमा के लिए बँधा होता है। सूर के खंजन-नैन, तन-पिंजरा में जबरदस्ती बँधे हैं, उनके लिए अंजन गुन से बाँधा जाना सर्वथा उपयुक्त लगता है। यदि ये इस प्रकार न बँधते तो कब के कृष्ण-छवि तक उड़ गए होते। ये तो उड़ने का प्रयत्न भी करते हैं और कान के समीप तक जाते हैं किन्तु ताटंक से भय खाकर लौट आते हैं। निश्चय ही सूर की उत्प्रेक्षा विद्यापति से बढ़-चढ़कर है। चाहे सूर ने विद्यापति के काजर-पाश से प्रेरणा ली हो पर उसे नवीन और अधिक कमनीय कर दिया है।

विद्यापति के उपर्युक्त पद में पयोधरों पर के मुक्ताहार की उपमा को भी सूर ने ग्रहण किया है—

विद्यापति—**गिरिवर गरुअ पयोधर-परसित, गिम गज-मोति क हारा।**
काम कम्बु भरि कनक-सम्भु परि, ढारत सुरसरि धारा ॥[४]

सूर— **देख सखी उरोज कंचन, संभु धरे बनाइ।**
बीच मुक्ता-हार जनु, सुरसरी उतरी धाइ ॥[५]

विद्यापति की उत्प्रेक्षा कमनीय अवश्य है पर उसमें वह स्वाभाविक सौंदर्य नहीं है जो सूर में है। विद्यापति में कामदेव शंख में भरकर सुरसरी की धारा कनक-शंभु पर डाल रहा है। कल्पना क्लिष्ट है। सूर में इसका स्वाभाविक रूप है—सुरसरी (मुक्तामाल)

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६१६।
२. विद्यापति पदावली (पु० भ० ल०), पद १८।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६६७।
४. विद्यापति पदावली, पद १८।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २८३१।

स्वत: दौड़कर शंभु (उरोज) पर आ रही है। उरोजों के लिए शिव की उपमा[1] सूर ने कई स्थलों पर दी है, प्रतीत होता है यह उपमा उन्हें विद्यापति से ही मिली थी जिसका प्रयोग उन्होंने अपने ढंग से किया।

प्रतीप—विद्यापति जी के निम्न पद का प्रभाव सूर के कई पदों में प्राप्त होता है, शब्दावली में भी साम्य है—

विद्यापति—**कबरी भय चामरि गिरि कन्दर, मुख भय चाँद अकासे।**
हरिन नयन भय, सर भय कोकिल, गति भय गज बनवासे॥

× × ×

भुज भय पंक मृनाल नुकायल, कर भय किसलय काँपे।
कवि सेखर मन कत कत ऐसन, कहब मदन परतापे॥[2]

सूर— **उपमा हरि तनु देखि लजानी।**
कोउ जल, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ-कोउ गगन समानी॥
मुख निरखत ससि गयौ अंबर को, तड़ित दसन छवि हेरि।
मीन कमल, कर चरन, नयन डर, जल में कियो बसेरि॥
भुजा देखि अहि राज लजाने, विवरनि पैठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन बन रहे दुराइ॥[3]

कृष्ण-अंगों के वर्णन में उपमानों की योजना ठीक वैसी ही है जैसी विद्यापति के राधा नख-शिख में। राधा के वर्णन में उपर्युक्त उपमान-योजना का दूसरा रूप अप्रस्तुत प्रशंसा के रूप में है—

तब तैं इन सबहिन सचु पायौ।
जब तैं हरि संदेस तिहारौ, सुनत तांवरौ आयौ॥
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायौ।
खोले मृगनि चौंक चरननि के, हुतौ जु जिय बिसरायौ॥
ऊँचे बैठि विहंग सभा में, सुक बनराइ कहायौ।
किलकि किलकि कुल सहित आपने, कोकिल मंगल गायौ॥
निकसि कन्दरा हू तें केहरि, पूँछ मूँड़ भरि ल्यायौ।
गहवर तैं गजराज आइ के, अंगहिं गर्व बढ़ायौ॥[4]

कई दृष्टकूटों में भी कृष्ण और राधा के अंगों के भय से उपमानों का आकाश, वन और ज़ंगल में भागना सूर ने प्रस्तुत किया है। तात्पर्य यह कि विद्यापति की

---

१. **लाल माल कुच बीच विराजति, सखियनि गुही सँवारि।**
मनहुँ धुईं निर्धूम अग्नि पर, तप बैठे त्रिपुरारि।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११९।

२. विद्यापति पदावली, पद २०।

३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७५७।

४. वही, ४१४१।

उपमान-योजना सूर को रुची पर उसका प्रयोग उन्होंने अपने नये दृष्टिकोण से किया। विद्यापति के उपमानों के भागने का कारण उपमेय नायिका के अंगों की कामोद्दीपक शक्ति (मदन-परिताप) है जबकि सूर के उपमान, कृष्ण के सौंदर्य की अलौकिकता तथा राधा की विरह-वेदना के व्यक्तीकरण के प्रसाधन बनकर आए हैं।

अपह्नुति—

विद्यापति—

कत न वेदन मोहि देसि मदना।
हर नहिं बला मोहि जुवति जना॥
विभुति-भूषन नहिं चानन क रेनू।
बघ छाल नहिं मोरा नेतक वसनू॥
नहिं मोरा जटा भार चिकुर क बेनी।
सुरसरि नहिं मोरा कुसुम क स्रेनी॥
चाँद क बिन्दु मोरा नहिं इन्दु छोटा।
ललाट पावक नहिं सिन्दुर क फोटा॥
नहिं मोरा कालकूट मृगमद चारु।
फनपति नहिं मोरा मुक्ता हारु॥[1]

सूर—

सिव न, अवध सुन्दरी बधौ जनि।
मुक्ता माँग अनंग, गंग नहिं, नवसत साजे अर्थ स्याम घन।
भाल तिलक उडपति न होइ, यह कँवरि ग्रथित, अहिपति न सहस फन।
नहिं विभूति, दधिसुत न कंठ जड़, यह मृग मद चंदन, चर्चित तन।
नहिं गज-चर्म, सु असित कंचुकी, देखि विचारि कहाँ नन्दी गन॥[2]

स्पष्ट है न केवल उपमान वरन् भाव भी विद्यापति से मिलते हैं।

दृष्टकूट—विद्यापति के पदों में तीन[3] दृष्टकूट भी मिलते हैं। विद्यापति के दृष्टकूटों और सूर के दृष्टकूटों में विशेष साम्य नहीं है। विद्यापति के दृष्टकूटों में चमत्कार अधिक नहीं है। संस्कृत दृष्टकूटों से प्रभाव ग्रहण कर उन्होंने तीन पद लिखे थे, उनमें उतनी गहराई और उक्ति-वैचित्र्य की अतिरंजना न आ सकी। सूर के दृष्टकूट संस्कृत सिद्ध कवियों के दृष्टकूटों के आधार पर रचे गये हैं। विद्यापति के दृष्टकूट उतने प्रचलित भी नहीं हैं, सम्भव है इनको सूर ने सुना भी न हो। तात्पर्य यह कि दृष्टकूट-पद-रचना में सूर पर विद्यापति का कोई प्रभाव नहीं है।

सन्त परम्परा के कवि—पद-रचना की दृष्टि से निर्गुण सन्त परम्परा का प्रभाव सूर पर अवश्य है। प्राकृत और अपभ्रंश में लोक-गीतों की एक परम्परा थी।

---

१. विद्यापति पदावली, पद ४२।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २११७।
३. विद्यापति पदावली, पद संख्या २६१, २६२, २६३।

वज्रयानी सिद्धों और जैन साधुओं ने पूर्व-परम्परा का किंचित् विकास आदिम हिन्दी के गीतों में प्रस्तुत किया है। ये बौद्ध और जैन साधु समस्त भारत में विचरण किया करते थे। इसीलिए भारत की प्रत्येक बोली में इनके रचे हुए पदों का उल्लेख मिलता है। दक्षिण भारत के तमिल साहित्य में इनका प्राचीनतम रूप मिलता है। मलयालम में भी प्राचीन गेय-साहित्य प्रचुर मात्रा में है। तमिल-तेलगू के वैष्णव कवियों का गीति-काव्य तो बड़ा ही सम्पन्न है। विचरणशील सन्तों के पारस्परिक आदान-प्रदान से सन्तों में एक मौलिक गीति-परम्परा चल रही थी जिसका लिखित रूप सर्वप्रथम सरहपा[1] के पदों में मिलता है। सरहपा के गीतों की परम्परा अन्य सिद्धों शवरपा, लुइपा, विरूपा, कन्हपा आदि में मिलती है। सिद्धों की गीत-परम्परा का विकास गोरखनाथ आदि नाथपंथी साधुओं ने किया। हिन्दी-पद-रचना की दृष्टि से गोरखनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने गीतों में टेक की व्यवस्था प्रस्तुत की। हिन्दी-सन्तों की बानियों में जो पद-रचना मिलती है वह गोरखबानी का ही रूपान्तर है। कबीरदास के पदों में इसी का परिवर्द्धित रूप प्राप्त होता है। कबीर के पदों में गोरख के पदों की अपेक्षा गेयत्व अधिक है। पद के प्रत्येक चरण की स्वर-योजना नियन्त्रित है। गोरख के पदों में टेक दो पंक्तियों की होती थी।[2] कबीर ने उसे तोड़कर प्रथम पंक्ति को कुछ छोटी करके 'टेक' बनाया और दूसरी पंक्ति में स्थायी की स्थिति की।[3] स्थायी पंक्ति के

---

१. सरहपा का रचना-काल ७६० ई० है—राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य-धारा, पृष्ठ २।

राग पालिशी

सुण्णे हो बिदारिअ रे निज अण तोहोर दीसे।
गुरु बअण बिहारे रे थाकिब तुइं पुत कइसे।
एकट हु भवई गअणा।

× × ×

सरह भणइ वा सूर गोहाली की मरे इठ बलन्दे।
एक्केले जग नाशिव रे विहरहु छन्दे।

—हिन्दी काव्यधारा, पद ३९

२. अवधू जाप जपो जपमाली चीन्हों जाप जप्यां फल होई।
आगम जाप जपीला गोरख चीन्हत बिरला कोई॥ टेक

—गोरखबानी (डा० बड़थ्वाल), पद संख्या १३

३. झूठी लोग कहै घर मेरा।
जा घर माँहें बोले डोले, सोई नहीं तन तेरा॥

× × ×

नौ मन सूत उरझि नहिं सुरझै जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक राम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा॥

—कबीर ग्रन्थावली (सभा), पद २३८

समान पद में अन्य तुकान्त पंक्तियाँ जोड़कर पद को पूर्ण किया। गोरख के पदों की भाँति कबीर के पदों की अन्तिम पंक्ति में 'कहे कबीर सुनो भाई साधो' तथा आदि में 'सन्तों', 'अवधू', 'भाई रे', 'पंडित' आदि सम्बोधन मिलते हैं। कबीर के कुछ पदों[1] में राग रामकली, बिलावल, ललित, सोरठ, मारू, धनाश्री और सारंग आदि का उल्लेख मिलता है यद्यपि उनमें रागों का सम्यक् स्वर-विधान नहीं मिलता। कबीर-प्रणीत पद-रचना ही उत्तर भारत के सन्तों की पद-रचना का आदर्श बनी। सूर की पद-रचना का स्वरूप वही है जो कबीर के पदों का स्वरूप है। अन्तर केवल इतना है कि संगीत-शास्त्र और छंदशास्त्र के परिज्ञान के कारण सूर ने सन्त-परम्परा से प्राप्त पद-रचना में पर्याप्त परिवर्धन कर लिया है।

पदों (सबद) के अतिरिक्त दोहा (साखी) और चौपाई (रमैनी) भी कबीर की रचना में मिलती है। कबीर की साखियों में दोहे का सामान्य रूप है। कबीर की पदावली में कुछ पद ऐसे मिलते हैं जिनमें उन्होंने दोहे को ही पद रूप में परिवर्तित किया है। जैसे—

मन के मोहन बीठुला, यह मन लागो तोहि रे।
चरन कमल मन मानियाँ और न पावै मोंहि रे॥ टेक॥
षट दल कंवल निवासिया, चहुँ को घेरि मिलाइ रे।
दहुँ के बीच समाधिया, तहाँ काल न पासै आइ रे॥

× × ×

गुरु गमि तें पाइये, झंषि मरै जनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या, सहज समाधी सोइ रे॥[2]

उपर्युक्त पद में दोहा ही पद के रूप में परिवर्तित है। चरणान्त में 'रे' के योग से दोहे की धुन बदली गयी है। सूरदास जी ने भी ऐसा अनेक पदों में किया है। सूरपचीसी वाला पद इसका उदाहरण है। अन्तर केवल यह है कि सूर के इस प्रकार के पदों में स्वर-विधान का सम्यक् नियोजन होने से पद अधिक संयत और सुव्यवस्थित है।

कबीर की रमैनी चौपाई का ही नया नाम है। जिस प्रकार कबीर ने दोहे को साखी नाम से पुकारा उसी प्रकार स्वयंभू के रामायण में प्रयुक्त इस प्रसिद्ध छंद को रमैनी नाम से पुकारा। कबीर के हाथ में पड़कर चौपाई की बड़ी दुर्दशा हुई है। स्वयंभू ने चौपाई के साथ अपभ्रंश के घत्ता छंद का प्रयोग किया था। कबीर ने रमैनी में चौपाई के साथ दोहों को मिलाया और रमैनी के अनेक रूप—एकपदी, दुपदी, चौपदी, सतपदी, अष्टपदी, बारहपदी और चौदहपदी—बना डाले। पदों का कोई नियम नहीं है। चार चौपाइयाँ और एक दोहा मिलकर भी एक पद बना है और ८० चौपाइयों और एक दोहे का पद भी है। एक पद वाली रमैनी के ऊपर राग सूहो का उल्लेख भी है।[3]

१. कबीर-ग्रन्थावली (ना. प्र. सभा), पद १, १५३, २६२, ३००, ३२०, ३२३, ३२५, ३६२, ३७४, ३७७, ३६०, ३६३, ३६६, ३६८।
२. वही, पद ४।
३. कबीर ग्रंथावली (सभा), पद रमैनी।

इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि सन्तों में रमैनी का एक विशिष्ट प्रकार का गेय-पद बन गया। इसमें चौपाई के चरणों में मात्राओं की संख्या यति-गति और लघु-गुरु आदि का कोई निश्चित विधान न रह गया। खंजरी के अनियन्त्रित ताल के साथ रमैनी भी स्वच्छन्द स्वरों में गायी जाने लगी। सूर पर इन रमैनियों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा क्योंकि भागवत-प्रसंगों तथा कथा की पूर्ति के लिए लिखे हुए भरती वाले पदों में चौपाई का जो रूप मिलता है उस पर सन्तों की रमैनी की प्रतिच्छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। सन्तों की रमैनी ने चौपाई के सौंदर्य का नाश कर रखा था। संयोग से सूर ने इसका प्रयोग वहाँ किया जहाँ कलात्मक-पद-योजना की ओर कवि का ध्यान न था। इसीलिए सूर के हाथों में पड़कर भी चौपाइयों का विशेष परिष्कार न हो सका। सूर ने भी बिलावल के स्वरों में लम्बे-लम्बे पदों की रचना कर डाली जिनमें विकृत चौपाइयों की मनमानी संख्या है।

सारांश यह कि कबीर आदि सन्तों की पद-रचना का प्रभाव सूर पर मानना असंगत न होगा। सूर के गीत सन्तों के अनगढ पदों के परिष्कृत रूप हैं। सूर के दोहे वाले श्रेष्ठ पद साखियों के संशोधित संस्करण हैं और सूर के चौपाई के पद रमैनी के अनुकृत रूप हैं। पद-रचना के अतिरिक्त कबीर आदि का और कोई भी प्रभाव सूर की कला पर नहीं माना जा सकता। सूर का अभिव्यंजना-कौशल, सूर की भाषा और सूर का संगीत उनका अपना है। विचार की दृष्टि से विनय के कुछ पद कबीर के पदों से अवश्य मिलते हैं किन्तु उनमें भी रचना-कौशल सूर का ही है।

मीरांबाई––मीरां और सूर समकालीन थे।[1] मीरा की पद-रचना उनकी निजी प्रतिभा के प्रकाशन के रूप में हुई थी। उन्हें बाल्यावस्था से ही संगीत और भजन कीर्तन में रुचि थी। पद-रचना की दृष्टि से मीरां और सूर के पदों में इतना साम्य है कि प्रतीत होता है कि दोनों एक ही स्रोत की दो शाखाएँ हैं। दोनों के पद संगीत के

---

१. मीरांबाई के काल के सम्बन्ध में मतभेद है। एक मत के अनुसार वे महाराणा कुंभा की महारानी समझी जाती हैं। महाराणा कुंभा की मृत्यु सं० १५२५ विक्रमी में हुई थी। इस मत के मानने वाले मीरां का जन्म स० १४६० और मृत्यु स० १५२७ में मानते हैं। यह मत कर्नल टाड के अप्रामाणिक सम्मति पर आधारित है। दूसरे मत के अनुसार उनका विवाह महाराणा सांगा के पुत्र राजकुमार भोजराज से स० १५७३ में हुआ था। इस मत के अनुसार इनका जन्म सं० १५५५ है और इनकी मृत्यु सं० १६०३ में हुई। इस मत को जोधपुर के मुन्सिफ स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद जी और महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे पुरातत्ववेत्ता का समर्थन प्राप्त है। इस प्रकार मीरांबाई का रचना-काल १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही हो सकता है। सूरसागर का रचना-काल हम १५६७ से १६०० के आस-पास लिख चुके हैं। १६०३ में सारावली की और १६०७ में साहित्य-लहरी की भी रचना हो चुकी थी। इस प्रकार मीरां और सूर के रचना-काल में अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता।

स्वर-ताल में सर्वथा निर्दोष हैं। दोनों के पदों में तुकान्त का आग्रह मिलता है। मीरां के अधिकांश पद सूर के पदों की अपेक्षा छोटे होने के कारण गायन के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि सूर के पद कृष्ण-लीला के विवरण प्रस्तुत करते हैं किन्तु मीरां के पदों में उनकी अल्पकालीन मर्मानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए मीरां के पदों में वस्तु-संकोच स्वाभाविक है।

मीरां की कृष्ण-भक्ति अत्यन्त उत्कट थी किन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय से उनका कोई सम्बन्ध न था। सन्तों की बानियों का प्रचुर प्रभाव उनकी शब्दावली और अप्रस्तुत विधान पर प्राप्त होता है। 'शूली-सेज','शून्य-महल', 'त्रिकुटी-झरोखा', 'षटकमल', 'इड़ा-पिंगला' आदि का उल्लेख उनके पदों में मिलता है। फिर भी सूर की गोपियाँ और मीरां की भावना में इतनी अभिन्नता है कि सूर के पदों को सुनकर मीरां का प्रभावित होना सम्भव है। इसी प्रकार मीरां की पदावली में संगीतात्मकता, सरसता और भाव-प्रवणता इतनी अधिक है कि उन्हें सुनकर सूर का भी प्रभावित होना कठिन नहीं है। इतना होने पर भी यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक का प्रभाव दूसरे पर था भी या नहीं। दोनों की प्रणालियाँ मौलिक थीं, इसलिए दोनों में साम्य ही देखा जा सकता है। मीरां निश्चित रूप से सूर से कुछ पहले हुई थीं, उनकी अभिव्यंजना का भी एक निश्चित विधान है अतः मीरां का प्रभाव सूर की कतिपय उक्तियों पर मानना बहुत असंगत नहीं होगा।

मीरां के पद उनकी अनुभूतियों के सूत्र रूप हैं। मीरां की अखण्ड अभिव्यंजना में उनका मर्म झलकता रहता है। दो-चार पंक्तियों में ही उन्होंने अपना सारा हृदय छलका दिया है। उनकी इस प्रकार की पंक्तियाँ सूर की प्रेरक बन सकती हैं। इसीलिए मीरां की पंक्तियों के कुछ शब्द, सूर के अनेक पदों में प्रतिध्वनित हैं। सूर के नयन-समय के सैकड़ों पद इस तथ्य के प्रमाण हैं। मीरां की पंक्ति है—

नैणा लोभी रे बहुरि सक्यो न आइ।
रूम-रूम नखसिख सब निरखत, ललकि रहे ललचाइ॥

× × ×

बदन-चंद परकासत हेली, मन्द मन्द मुसकाइ।
लोग कुटुंबी बरजि बरजहीं, बतियाँ कहत बनाइ॥
चंचल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाइ।

× × ×

मीरां कहे प्रभु गिरिधर के बिन पल भर रह्यौ न जाइ।[1]

उक्त पद की अभिव्यक्ति सूर की निम्नांकित पंक्तियों में आभासित होती है—

नैना कह्यौ न मानें मेरौ।
मों बरजत-बरजत उठि धाये, बहुरि कियौ न फेरौ।[2]

---

१. मीरां की पदावली (हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन), पद १०।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २२४५।

नैनां हरि अंग-रूप लुब्धे री माई ।
लोक लाज कुल की मरजादा बिसराई ।।[१]
लोचन भए स्यामहिं बस, कहा करों माई ।
जितहीं वे चलत तितहीं, आपु जात धाई ।।
मुसुकनि दै मोल लिए, किए प्रकट चेरे ।
जोइ जोइ वै कहत, करत, रहत सदा नेरे ।।[२]
नैना भए बजाइ गुलाम ।

× × ×

बेंचि दिये निधरक हरि लीन्हें, मृदु मुसुकनि दै दाम ।।[३]
लोचन भए स्याम के चेरे ।
ललित त्रिभंगी छवि पर अंटके, फटके मोसों तोरि ।।[४]

मीरां की अभिव्यंजना की विशेषता उसकी ऋजुता है। स्वभावोक्ति के सरलपन में निरलंकार होती हुई भी वह सीधे मर्मस्थल को स्पर्श करती है। सूर की उपर्युक्त पंक्तियाँ न केवल भाव-साम्य रखती हैं वरन् अभिव्यक्ति में भी वैसी ही तीव्र और सरल हैं।

सूर के कुछ पदों में मीरां की उक्तियों का ही युक्तियुक्त समर्थन है, ऐसा करने में सूर ने उसका विस्तार करके उसमें विशेष सौन्दर्य भर दिया है। जैसे—

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आनि अड़ी ।[५]

मीरां की इस पंक्ति का रूप सूर में इस प्रकार है—

इहिं उर बिच माखन चोर गड़े ।
अब कैसेहुँ निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े ।।[६]

मीरां के 'उर बिच अड़ी' हुई 'माधुरी मूरत' सूर में आकर त्रिभंगी हो गई है। सूर का निम्नलिखित पद मीरां की अभिव्यंजना से ओत-प्रोत है—

हरि बिनु पलक न लागै मेरी ।
पात-पात वृन्दावन ढूँढ़ा, कुंज गली सब हेरी ।।
हम दुखिया दुख ही को सिरजी, जनम जनम की चेरी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को, भई भसम की ढेरी ।।[७]

यह पद मीरां के पदों के समान ही होता है, मीरां की भाँति ही इसमें वृन्दावन की कुंज-गलियों में खोजने का कथन है। सूर के पदों में वृन्दावन की कुंज-गलियों का

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २२३७।
२. वही, २२३८ ।
३. वही, २२३९ ।
४. वही, २२४७ ।
५. मीरां पदावली (हि० सा० सम्मेलन), पद ११ ।
६. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३७३१ ।
७. वही, ३५६८ ।

उल्लेख नहीं मिलता जबकि मीरां के अनेक पदों में ऐसा उल्लेख है।[1] 'हम दुखिया दुख ही को सिरजी' में भी दरद-दिवानी दुखिया[2] मीरां की आवाज सुनाई पड़ती है। मीरां के अनेक पदों में प्राप्त 'मीरां दासी जनम-जनम की' पंक्ति की स्पष्ट झलक 'जनम-जनम की चेरी' में मिलती है। अन्तिम पंक्ति की 'भई भसम की ढेरी' भी सूर की उक्ति न होकर मीरां की ही उक्ति है—

जल जल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगाजा।[3]

सूर का एक पद और है जिस पर मीरां की शब्दावली का प्रभाव प्रतीत होता है—

अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यौ चाहत कमल नयन कों निस दिन रहत उदासी॥
आये ऊधो फिरि गये आँगन, डारि गये गर फाँसी।
केसर तिलक मोतिन की माला, वृन्दाबन के वासी॥
काहू के मन की कोउ जानत, लोगन के मन हाँसी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन कौं, लैहौं करवत कासी॥[4]

इससे मिलता-जुलता एक पद सुश्री पद्मावती शबनम द्वारा संग्रहीत मीरां बृहत् पद-संग्रह में इस प्रकार मिलता है—

अँखियाँ कृष्ण मिलन की प्यासी।
आप तो जाय द्वारका छाये, लोग करत मेरी हाँसी॥
आम की डार कोयलिया बोले, बोलत सब्द उदासी।
मेरे तो मन ऐसी आवै करवत लैहौं कासी।
मीरां के प्रभु गिरधर लाल, चरण कंवल की दासी।[5]

१. **आली म्हानै लागो वृन्दावनि नीको।**

× × ×

कुंज कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरली को।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीकौ।

—मीरां पदावली पद १६३

विन्द्रावन की कुंज गलिन में, तेरी लीला गासूं। ...१५३
विन्द्रावन की कुंज गलिन में नाचत नंद किशोर। ...१६७
वृन्दावन की कुंज गलिन में, रीति छोड़ अनरीति करो ना। ...१७३

२. **भूख गई निदरा गई पापी जीव न जावे हो।**
दुखिया को सुखिया करो, मोहि दरसण दीजो हो।

—मीरां पदावली, पद ९६

३. मीरां पदावली, पद ५०।

४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५५८।

५. मीरां बृहत् संग्रह—वियोगाभिव्यक्ति-ब्रजभाषा, पद १३१।

मीरां के इस पद के मिल जाने से इतना तो स्पष्ट है कि सूर का पद प्रामाणिक है। 'अँखियाँ हरि दरसन की भूखी'[१] की रचना के पश्चात् सूर का 'अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी' की रचना करना स्वाभाविक है किन्तु पद पर मीरां के पद का प्रभाव अवश्य है। 'उदासी', 'डारि गये गर फाँसी', 'केसर तिलक मोतिन की माला', 'वृन्दाबन के वासी', 'लोगन के मन हाँसी', 'लैहों करवत कासी' आदि मीरां की प्रसिद्ध शब्दावलियाँ इसमें हैं।

संक्षेप में मीरां की अभिव्यक्ति सीधी है, निरलंकार ऋजु, पदावली मर्मस्थल पर चोट करती है। मीरां के पदों में 'नैन' सम्बन्धी कथन सूर के 'नैन समर्थ' के सैकड़ों पदों के प्रेरक हैं। मीरां की शब्दावली और उक्तियाँ प्रायः अपरिवर्तित रूप में सूर के पदों में प्राप्त हो जाती हैं। मीरा के कुछ कथनो पर तो उनकी इतनी छाप है कि उनकी पहचान सहज ही हो जाती है। सूर के पदों में इनकी प्राप्ति मीरां के प्रभाव को घोषित कर देती है। मीरां का सूर से पूर्व होना निश्चित है। सूर-सागर की रचना से पूर्व ही उनकी पदावली के अधिकाश पद रचे गये थे। इसलिए सूर पर मीरां का उपर्युक्त प्रभाव मानना समीचीन है।

अभिव्यंजना में साम्य—मीरां की कतिपय पंक्तियो में भी सूर की प्रतिनिधि शैली की विशेषता मिलती है। जिन पदों में इस प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं उनकी प्रामाणिकता में भी कोई सन्देह नहीं है क्योंकि उन्ही में मीरां की विशिष्ट अभिव्यंजना भी मिल जाती है। इन्हें देखकर सन्देह होने लगता है कि सूर के पदों का कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव तो मीरां पर नहीं पड़ा ? कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

जब से मोंहि नंद नंदन दृष्टि परचौ माई।
तब से परलोक लोक कछू न सुहाई॥
मोरन की चन्द्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर कौ तिलक भाल, तीन लोक मोहै॥
कुंडल की अलक-झलक, कपोलन पर धाई।
मनौ मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई॥

कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग छौना॥

सुंदर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विशेषा॥
अधर बिंब अरुन नैन, मधुर मंद हाँसी।
दसन-दमक दाड़िम-दुति, चमके चपलासी॥

छुद्र घंट किंकिनी, अनूप धुनि सुहाई।
गिरधर के अंग-अंग मीरां बलि जाई॥[२]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३५५७।
२. मीरां पदावली (हि० सा० स०), पद ६।

पद की प्रथम चार पंक्तियाँ मीरां की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं किन्तु कुंडल की छवि के वर्णन में सूर का प्रभाव प्रतीत होता है। कपोलों पर कुंडल की झलक के लिए मीन का मकर से मिलने के लिए सरोवर का त्यागना, सूर का काल्पनिक साम्य उपस्थित कर रहा है। सूर के पदों में यह उपमा मिलती भी है।[१] 'खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृग छौना' पंक्ति पर भी सूर का प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। उपमान प्रायः सूर के पदों में उपमेयों से लज्जित होकर भागते हैं। 'दसन-दमक दाड़िम-दुति' और 'चमके चपला' के अनुप्रास तथा दाड़िम और चपला की उपमाएँ सूर का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती हैं। इस पद की प्रथम पंक्ति का 'माई' सम्बोधन सूर के पदों में प्रायः मिलता है। मीरां पदावली भर में यह कथन केवल दो बार मिलता है। सूर के एक पद की टेक इससे बहुत कुछ मिलती है—

जा दिन तें हरि दृष्टि परे री।
ता दिन तें मेरे इन नैननि, सुख दुख सब बिसरे री॥[२]

सूर-पचीसी की कतिपय पंक्तियाँ और मीरां के एक पद में अद्भुत साम्य है, शब्दावली और अप्रस्तुत योजना समान है—

मीरां—पारधि ज्यूं चूके नहीं, मृगी बेधि दई जाय।
पानी पीर न जाणई, मीन तलफि मरि जाइ।
रसिक मधुप के मरम कौ, नहिं समुझत कमल सुभाइ॥
× × ×
दीपक को जु दया नहीं, उड़ि उड़ि मरत पतंग।
मीरां प्रभु गिरधर मिले (जैसे) पाणी मिलयौ रंग॥[३]

सूर—सुमिरि सनेह कुरंग कौ (रे) स्रवननि राच्यौ राग।
धरि न सकत पग पछमनौ, सर सम्मुख उर लाग।
× × ×
मीन वियोग न सहि सकै (रे) नीर न पूछें बात।
× × ×
दीपक पीर न जानई (रे) पावक परत पतंग।[४]

मीरां के पद का 'पारधि' शब्द सूर के अनेक पदों में प्राप्त होता है जैसे—

हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया पारधि साधै बान।[५]

---

१. ललित चारु कपोल दुहुं बिच, सजल लोचन चारु।
मुख सुधा-सर मीन मानों, मकर संग विहारु॥
सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८७२

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८६४।
३. मीरां पदावली (हि० सा० स०), पद १०५।
४. सूरसागर (सभा), प्रथम स्कन्ध, पद ३२५।
५. सूरसागर (सभा) विनय, पद ९७।

सूर की पंक्ति 'दीपक पीर न जानई' की झलक मीरां की पंक्ति 'पानी पीर न जाणई' पर प्रतीत होती है। 'रसिक मधुप' पर भी सूर की अभिव्यंजना का ही अप्रत्यक्ष प्रभाव हो सकता है।

सूरसागर का एक पद मीरां पदावली में ज्यों का त्यों मिलता है। पद की भाषा, शैली और शिल्प-विधान सूर के हैं, केवल विचार-साम्य ही मीरां से माना जा सकता है। या तो संकलनकर्त्ताओं के भ्रम से सूर का यह पद मीरां पदावली में संकलित हो गया या बहुत सम्भव है कि सूर के प्रसिद्ध पद की अमिट छाप मीरां के अन्तस्तल पर पड़ गई हो और उसी की अनुकृति मीरां की शब्दावली में निकल पड़ी हो। सूर का पद है–

राग सारंग

नैना निपट विकट छवि अटके।
टेढ़ी कटि, टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके॥
देखि रूप रस सोभा रीझे, घेरे घिरत न घटके।
पारत वचन कमल-दल-लोचन, लाल के मोदनि अटके॥
मंद मंद मुसुकात सखनि में, रहत न काहू हटके।
सूरदास-प्रभु रूप लुभाने, ये गुन-नागर-नटके।[1]

पद में सूर की कला के दर्शन होते हैं। 'निपट, विकट और अटके' में सूर की वर्ण-योजना है। 'टेढ़ी' शब्द का पुनरुक्त-प्रकाश सूर का प्रिय अलंकार है। 'अटके, लटके, घटके, हटके, नटके' तुक सूर की तुकप्रियता का स्मरण दिलाता है। तात्पर्य यह कि काव्य-शिल्प की कसौटी पर खरा उतरने के कारण इसके सूरकृत होने में कोई सन्देह नहीं है। मीरां पदावली में पद इस प्रकार है—

राग त्रिवेनी

निपट वंकट छवि अटके
मेरे नैन, निपट० ॥ टेक ॥
देखत रूप मदन मोहन को पियत पियूख न मटके।
वारिज भवां जलज टेढ़ी मानों अलि सुगंध रस अटके॥
टेढी कटि टेढी करि मुरली, टेढी पाग लर लटके।
मीरां प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नटके॥[2]

पद की प्रथम तथा अन्तिम दो पंक्तियाँ सूर के पद में ज्यों की त्यों मिलती हैं। वैसे इस पद की अभिव्यक्ति मीरां के भी सर्वथा अनुकूल है। पद की शेष दो पंक्तियाँ सूर की पंक्तियों में किसी प्रकार नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार मीरां के इस पद को अप्रमाणिक न मानकर इस पर सूर के पद का प्रभाव ही मानना समीचीन होगा।

निष्कर्ष—मीरां और सूर समकालीन थे। मीरां का रचना-काल सूर से कुछ

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, २३२२।

२. मीरां पदावली, पद ७

ही पूर्व हो सकता है। दोनों की काव्य-साधना स्वतन्त्र और मौलिक रूप में हुई। दोनों की अभिव्यक्ति भिन्न होते हुए भी कहीं-कहीं मिल जाती है। मीरां की अभिव्यंजना तो अपने में इतनी सीमित है कि उसका प्रभाव जहाँ कहीं पड़ता है परख में आ जाता है किन्तु जहाँ सूर का गुण भी मीरां में झलकता है, बहुत स्पष्ट नहीं होता।

हित हरिवंश—गोस्वामी हित हरिवंश जी सूरदास जी से अवस्था में छोटे थे किन्तु रचना-काल की दृष्टि से वे सूर के समकालीन ही थे।[1] गोस्वामी जी के चौरासी पद ही हित चौरासी के नाम से उपलब्ध हैं। ये चौरासी पद राधावल्लभीय संप्रदाय की मान्यताओं से पुष्ट और साम्प्रदायिक विचारधारा से संयुक्त हैं। यद्यपि सूर के संयोग लीला और निकुंज-लीला के पदों से इनका भाव-साम्य बहुत है फिर भी हितचौरासी के पदों में हितहरिवंश जी की मौलिक रचना के प्रबल प्रमाण मिलते हैं। सूरदास जी हित हरिवंश जी से बड़े थे और वृन्दावन में उनके पदों की प्रसिद्धि हो चुकी थी, इसलिए उनका प्रभाव तत्कालीन सभी भक्त-कवियों पर पड़ा था। हित हरिवंश और सूर के पदों में पर्याप्त भाव-साम्य है तथापि हित हरिवंश जी के पदों पर भाव की दृष्टि से सूर का प्रभाव मानना अधिक समीचीन नहीं होगा क्योंकि विचारधारा की दृष्टि से उनके और सूर के भक्ति-सिद्धान्तों में बहुत अन्तर नहीं है। हित हरिवंश की रचना-शैली पर सूर का प्रभाव अवश्य है।

रचना-शैली के दो अंग हैं—पद-रचना का स्वरूप और भाषा-शैली। पद-रचना के स्वरूप में हित हरिवंश पर सूर का प्रभाव निश्चित है किन्तु भाषा-शैली पर अधिक प्रभाव नहीं प्रतीत होता।

पद-रचना का स्वरूप—हित चौरासी के पद सूर के पदों की भाँति अपने में पूर्ण प्रगीत मुक्तक हैं जो राग-विधान में बँधे हैं। अपने चौरासी पदों को गोस्वामी जी ने निम्नलिखित १४ रागों में गाया है—१. विभास २. विलावल ३. टोड़ी ४. आसावरी ५. धनाश्री ६. वसन्त ७. देवगंधार ८. सारंग ९. मलार १०. गौड़ ११. गौरी १२. कल्यान १३. कान्हरा १४. केदारा।[2] ये सभी राग सूरसागर में प्राप्त हैं। पदों की रूप-रचना, यति-गति, तुक आदि भी सूर के पदों के अनुकूल ही हैं। रागों का

---

१. गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म सम्वत् १५५९ विक्रमी है जबकि सूर का जन्म सम्वत् १५३५ है। गोस्वामी हित हरिवंश का गोलोक वास सम्वत् १६१० में हुआ जब कि सूरदास का लगभग १६४० विक्रमी में। सूरसागर का रचना-काल १६०० के आस-पास है। इस प्रकार रचना-काल की दृष्टि से दोनों ही महात्मा समकालीन हुए।

२. **छेपद विभास मांझ सात हैं विलावल में, टोड़ी में चतुर आसावरी में द्वै बने।**
सप्त हैं धनाश्री में जुगल वसन्त केलि, देवगंधार पंच दोय रस सौं सने।
सारंग में षोड़स हैं चार ही मलार एक गौड़ में सुहायो नव गौरी रस में भने।
षट कल्यान निधि कान्हरे केदारे बेद बानी हित जू की सब चौदह राग में गने।
—श्री चतुराशी सेवक वाणी फलस्तुति कवित्त, पृष्ठ ३९

शास्त्रीय विधान भी सूर के अनुसरण पर प्रतीत होता है क्योंकि जिस सरस लीला का वर्णन हित चौरासी में है उसके लिए प्रयुक्त राग भी शास्त्रानुकूल है। सूर के पद-रचना प्रकरण में हम सूर की शास्त्रीय-राग समन्वित पद-रचना की अपूर्वता दिखा चुके हैं। हित हरिवंश की पद-रचना का स्वरूप परवर्ती होने के कारण सूर से प्रभावित मानना उचित है। वास्तव में हित हरिवंश की पद-रचना में कोई भी नयी विशेषता नहीं है। पद-रचना की दृष्टि से सूर के पदों के साथ ये इतने मिल जाते हैं कि कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता।

रचना-शैली—भाषा की दृष्टि से हित हरिवंश की भाषा सूर की भाषा से भिन्न है। विषय दोनों के एक ही हैं फिर भी अपनी-अपनी विशेषता के कारण दोनों के पद एक दूसरे से पृथक् प्रतीत होते हैं। सूर और हित हरिवंश की भाषा के दो प्रधान अन्तर हैं। प्रथम तो यह कि जहाँ सूर की भाषा में ब्रज-शब्दों की प्रधानता है वहाँ हित हरिवंश की भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्दों की बहुलता है। नख-शिख वर्णन में सूर ने भी संस्कृत तत्सम शब्दावली को अधिक ग्रहण किया है किन्तु यहाँ भी ६० प्रतिशत से अधिक तत्सम शब्द उसमें नहीं हैं, इन तत्सम शब्दों को भी सूर ने ब्रज-भाषा की प्रकृति के अनुसार ऐसा ढाला है कि वे ब्रज-माधुरी में पग गये हैं। हित चौरासी के पदों में तत्सम शब्द ८० प्रतिशत हैं और उनकी तत्समता ही पदावली को अभिभूत किये रहती है, ब्रजभाषा का स्वरूप उभर ही नहीं पाता। द्वितीय बात यह है कि सूर के वर्णनों में उपमान-योजना हित चौरासी के पदों से अधिक है। हित चौरासी के पदों में शिख से नख तक के अंगों के नाम ही गिनाए गए हैं, कुछ के लिए उपमान भी हैं जबकि सूर के वर्णनों में प्रायः प्रत्येक अंग के लिए उपमान हैं। उपमान-योजना में भी हित हरिवंश के पदों में संस्कृत उपमान-योजना का ही अनुसरण अधिक है। तात्पर्य यह कि रचना-शैली हित हरिवंश की अपनी है।

हित-चौरासी और सूरसागर के अनेक पदों में इतना अधिक साम्य है कि यह सन्देह होने लगता है कि पद सूर के हैं या हित हरिवंश के। किन्तु उपर्युक्त भाषा-शैली के मापदण्ड से देखें तो प्रतीत होगा कि इन समान पदों में भी दोनों कवियों की अपनी-अपनी पृथक् अभिव्यंजनाएँ विद्यमान हैं। इस प्रकार के पद कई हैं। जैसे——

राग-कान्हरौ

सूरदास—— **आजु अति राधा नारि बनी।**
प्रति प्रति अंग अनंग जीति, रस-बस त्रैलोक्य धनी॥
सोभित केस विचित्र भाँति दुति, सिखि-सिषंड हरनी।
रची माँग सम-भाग रागनिधि, काम-धाम-सरनी॥
अलक तिलक राजत अकलंकित, मृग-मद-अंक बनी।
खुभिनि जराव-फूल दुति यौं मनु, द्वै ध्रुव-गति रजनी॥
भौंह कमान-समान बान मनु, हैं जुग नैन अनी।
नासा तिल-प्रसून बिंबाधर, अमल कमल-वदनी॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१८४

राग देवगंधार

हित हरिवंश—ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मरिण श्यामा आजु बनी।
नख शिख लौं अंग अंग माधुरी, मोहै श्याम धनी॥
यों राजत कबरी ग्रन्थित कच कनक कंज बदनी।
चिकुर चंद्रिकनि बीच अरध विधु मानों ग्रसित फनी॥
सौभग रस शिर श्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भृकुटि काम कोदंड नैन सर कज्जल रेख अनी॥

—हित चौरासी, पद २६

उपर्युक्त दोनों पदों में भाव-साम्य स्पष्ट है। सूर के पद की भाषा में हित हरिवंश की अपेक्षा ब्रज के शब्दों का बाहुल्य अधिक है। हित हरिवंश के पद में 'आजु', 'बनी', 'लौं', 'यों', 'बीच' और 'मानों' को छोड़कर सारे शब्द संस्कृत के हैं। सूर के पद में इसके विपरीत तत्सम शब्दों में भी ब्रजभाषा का ऐसा गहरा पुट लगा है कि उसी के शब्द प्रतीत होते हैं। 'अनंग', 'त्रैलोक्य', 'सोभित', 'केस', सिषि-सिषंड', 'काम-धाम-सरनी', अलक तिलक अकलंकित', 'मृग-मद' आदि भी सरल किये गये हैं। सूर की 'भौंह कमान-समान बान मनु, हैं जुग नैन अनी' पंक्ति हित हरिवंश की अभिव्यंजना में 'भृकुटि काम कोदंड नैन सर कज्जल रेख अनी' बनी हुई है। तात्पर्य यह कि दोनों ही पद मौलिक भी हैं और एक दूसरे पर आधारित भी। सम-सामयिक होने के कारण यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से किसने दूसरे से प्रेरणा ली।

२—

सूरदास— आजु वन राजत जुगल किसोर।
दसन वसन खंडित मुख मंडित, गंड तिलक कछु थोर॥
डगमगात पग धरत सिथिल गति, उठे कामरस भोर।
रति-पति सारंग अरुन महा छवि, उमँगि पलक लगे भोर॥
स्रुति अवतंस विराजत हरिसुत, सिद्ध दरस सुत ओर।
सूरदास प्रभु रसबस कीन्हीं, परी महारन जोर॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११६६

हित हरिवंश— आजु वन राजत जुगल किशोर।
नंद नंदन वृषभान नंदिनी उठे उनींदे भोर॥
डगमगात पग परस शिथिल गति परसत नख शशि छोर।
दसन वसन खंडित मषि मंडित गंड तिलक कछु थोर॥
दुरत न कच करजनि के रोके, अरुन नैन अलि चोर।
जै श्री हित हरिवंश संभारन, तन मन सुरत समुद्र झकोर॥

—हित चौरासी, पद ३३

सूर का पद उनके दृष्टकूटों का पद है। सूर के पद की दो पंक्तियाँ—

दसन-वसन खंडित.................और डगमगात पग..................

हित चौरासी वाले पद में ज्यों-की-त्यों हैं। दसन-वसन=होंठ (दसन का वस्त्र

अर्थात् छिपाने वाला) दृष्टकूट पद होने से सूर की छाप रखता है। सूर के इस पद की तृतीय चतुर्थ पंक्तियाँ भी दृष्टकूट पदावली में हैं। हित हरिवंश के पद के किसी और चरण में वह शब्दावली नहीं है। इस प्रकार ये दोनों पद रचना-शैली में भिन्न होते हुए भी एक दूसरे पर आधृत अवश्य हैं।

चार[1] पद ऐसे हैं जो सूरसागर और हित चौरासी में कुछ पाठभेद से ज्यों-के-त्यों मिल जाते हैं। इन पदों की भाषा और अलंकरण आदि सूर के शिल्प-विधान के सर्वथा अनुरूप हैं। इनमें से एक पद में 'नव' शब्द का 'पुनरुक्ति-प्रकाश' प्राप्त होता है। सूर के कला-विवेचन में उनकी 'पुनरुक्ति-प्रकाश' की रुचि हम दिखा चुके हैं। चारों पदों में संस्कृत-तत्समता की बहुलता नहीं है, ब्रजभाषा के सहज माधुर्य की प्रधानता है। इस प्रकार इन पदों में सूर की अभिव्यंजना विद्यमान है। फिर भी

---

(१) नंद के लाल हर्‌यौ मन मोर।
हौं अपने मोतिन लर पोवति, काँकर डारि गयो सखि भोर॥
बंक बिलोकनि, चाल छबीली, रसिक सिरोमनि नवलकिसोर।
कहि काको मन रहत स्रवन सुनि, सरस मधुर मुरली की घोर॥
वदन गुविंद इंदु के कारन, तरसत नैन विहंग चकोर।
सूरदास प्रभु के मिलिवे को, कुच श्रीफल हौं करति अँकोर॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८७१

हित चौरासी में भी पद ज्यों-का-त्यों है केवल अन्तिम चरण इस प्रकार है—

जै श्री हित हरिवंश रसिक रस जुवती तूलै मिलि सखी प्राण अकोर।

—हित चौरासी, पद १३

(२) चलो किन मानिनि कुंज कुटीर।
तुव बिन कुँवर कोटि वनिता तजि, सहत मदन की पीर॥
गदगद स्वर संभ्रम अति आतुर, स्रवत सुलोचन नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानु नंदिनी, विलपत विपिन अधीर॥
वंसी विसिष व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत, साखा-मृग रिपु-चीर॥

यहाँ तक दोनों ग्रंथों में कोई अन्तर नहीं है। अन्तिम दो चरणों में पाठान्तर है—

सूर— हिय में हरषि प्रेम अति आतुर, चतुर चली पिय-तीर।
सुनि भयभीत वज्र के पिंजर, सूर सुरति रनधीर॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४५२

हित हरिवंश—जै श्री हित हरिवंश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत वज्र के पंजर सूरत सूर रणधीर॥

—हित चौरासी, पद ३७

(नोट—भाषा की दृष्टि से यह पद हित हरिवंश की विशेषताओं से युक्त अधिक है।)

निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये पद मूलतः किसके हैं। इन दोनों कवियों में से कोई भी किसी दूसरे के पद को बिना किसी परिवर्तन के ग्रहण नहीं कर सकता। अतः सम्पादन की भूल से ही ये पद दोनों ग्रंथों में प्रविष्ट हुए होंगे।

संक्षेप में हित हरिवंश जी की पद-रचना के स्वरूप में तो सूर का प्रभाव स्पष्ट ही है किन्तु रचना-शैली हित हरिवंश की सूर से बहुत कुछ भिन्न है। सूर की शैली में ब्रजभाषा का माधुर्य और मौलिक अलंकारिता है तो हित हरिवंश में संस्कृत-शब्दावली की झंकार है।

परवर्ती कवियों पर सूर का प्रभाव—

तुलसीदास—गोस्वामी तुलसीदास का रचना-काल सूर से लगभग ५० वर्ष पश्चात् है। सूरसागर की रचना संवत् १६०० के आस-पास हो चुकी थी और गोसाई जी ने

---

(३) **नयौ नेह नव रंग नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभान किशोरी।**
नयो पिताम्बर, नई चूनरी, नई नई बूँदन भीजति गोरी॥
यहाँ तक दोनों ग्रन्थों में पाठ एक ही है। इसके बाद दोनों में पाठ-भेद है—
सूर— **नये कुंज अति पुंज नये द्रुम, सुभग जमुन-जल पवन हिलोरी।**
सूरदास प्रभु नवरस विलसत, नवल राधिका जोवन-भोरी॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, ६८५

हित हरिवंश—**नव वृन्दावन हरित मनोहर, नव चातिक बोलत मोर मोरी।**
नव मुरली जु मलार नई गति, श्रवन सुनत आए घन घोरी॥
नव भूषन नव मुकुट विराजत, नई नई उर पर लेत थोरी थोरी।
जै श्री हित हरिवंश असीस देत, मुख, चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥
—हित चौरासी, पद ५४

(नोट—शिल्प-विधान की दृष्टि से यह पद सूर के पदों से अधिक मिलता है।)

(४) **नागरता की रासि किसोरी।**
नव-नागर-कुल मौलि सांवरौ, बरबस कियौ चितै मुख मोरी॥
रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी, बिनु भूषन भूषित ब्रज-गोरी।
छिन-छिन कुसल सुगंध अंग मैं, कोक-रभस रस-सिंधु झकोरी॥
चंचल रसिक मधुप मोहन मन, राखे कनक कमल कुच कोरी।
प्रीतम नैन जुगल खंजन खग, बाँधे विविध निबंधन डोरी॥
अवनी उदर नाभि सरसी मैं, मानहुँ कछुक मोदक मधुरौरी।
सूरदास पीवत सुन्दर वर, सींव सुदृढ़ निगमन की तोरी॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १२०१

हित चौरासी में पद अविकल है केवल अन्तिम चरण में सूरदास के स्थान पर "जै श्री हित हरिवंश" मिलता है।

—हित चौरासी पद ८२

(रचना-शैली सूर के अनुरूप अधिक है।)

रामायण की रचना सम्वत् १६३१ में आरम्भ की थी।[1] तुलसीदास जी के पद-ग्रन्थ—गीतावली, कृष्ण गीतावली और विनयपत्रिका—मानस से बाद की रचनाएँ हैं। इन तीनों ग्रंथों की रचना गोस्वामी जी ने सूरसागर से प्रेरणा लेकर की थी। सूरसागर के दशम स्कन्ध के पदों की लोक-प्रियता से तुलसीदास जी का प्रभावित होना नितान्त स्वाभाविक है। जिस प्रकार सूर ने पदों में कृष्ण-लीला और राम-लीला का गान किया था उसी प्रकार तुलसी ने भी पदों में राम-लीला और कृष्ण-लीला का गान किया। गीतावली और कृष्ण गीतावली में कई पद[2] ऐसे हैं जो सूरसागर में मिलते हैं। उन

---

१. संवत सौरह सौ इकतीसा। करहुँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥

—रामायण बालकाण्ड

२. (१) सूरसागर—आँगन खेलत घुटुरुवन धाए।

नील-जलद-अभिराम स्याम तनु, निरखि जननि दोउ निकट बुलाए ॥
बंधुक-सुमन-अरुन-पद, पंकज-अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
× × ×
सूरदास सो क्यों करि बरने जो छवि निगम नेति करि गाए ॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४

तुलसी गीतावली—

आँगन फिरत घुटुरुवन धाये।
नील-जलज-तन-स्याम राम सिसु, जननि निरख मुख निकट बुलाए ॥
बंधुक-सुमन-अरुन-पद-पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
× × ×
तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन, तो कहौं जो विधि होंहि बनाए।

—पद संख्या २३

(२) सूरसागर—हरि जू की बाल छबि कहै हौं वरनि।

सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा हरनि ॥
× × ×
सूर प्रभु की उर वसी, किलकनि ललित लरखरनि ॥

—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०९

तुलसी गीतावली—रघुवर बाल छवि कहौं वरनि।

सकल सुख की सींव, कोटि मनोज सोभा हरनि ॥
× × ×
वसति तुलसी हृदय प्रभु किलकनि ललित लरखरनि ॥

—पद संख्या २४

(३) सूरसागर—आँगन खेलैं नन्द के नन्दा।

जदुकुल कुमुद सुखद चारु चन्दा ॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसु भूषन भुव को मन मोहैं ॥

पदों में सूर का शिल्प-विधान प्रकट है, हम पिछले प्रकरणों में इनके उद्धरण प्रस्तुत करते रहे हैं। प्रतीत होता है सम्पादन की भूल से सूर के पद तुलसी के पदों में मिल गये हैं। गीतावली के पदों के देखने से पता चलता है कि तुलसी ने सूरसागर के अनुकरण पर ही पदों की रचना की है। गीतावली के बाल-वर्णन के पदों की टेक पर सूरसागर के पदों की प्रथम पंक्तियों का प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है।

सूरसागर—आजु बधाई नन्द के माई।
गीतावली—आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई।
सूरसागर—गौरि गनेश्वर बीनऊं हो देवी सारद तोहि।
गावों हरि को सोहिलो हो, मन आखर दे मोहि॥
गीतावली—सहेली सुनु सोहिलौ रे।
सोहिलौ-सोहिलौ-सोहिलौ, सोहिलौ सब जग आज।
पूत सपूत कौसिला जायो, अचल भयौ कुल राज॥

ब्रज जन निरखत हिय हुलसाने। सूर स्याम महिमा को जाने॥
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११७।

तुलसी-गीतावली—आंगन खेलत आनन्द कन्द।
रघुकुल कुमुद सुखद चारु चन्द।
सानुज भरत लखन संग सोहैं।
सिसु भूषन भूषित मन मोहैं।
× × ×
सुमिरत सुषमा हिय हुलसी है।
गावत प्रेम पुलकि तुलसी है। —पद संख्या २८

(४) सूरसागर—छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छवीली छोटी,
नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर॥
× × ×
सूरदास मन बसै तोतरे वचन वर।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५१

तुलसी-गीतावली—छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी।
नख जोति मोती मानों कमल दलनि पर।
× × ×
किलकि किलकि हँसे, द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं,
तुलसी के मन बसैं, तोतरे वचन पर॥ (पद संख्या ३०)

(५) सूरसागर—आदर सहित विलोकि स्याम मुख, नन्द अनन्द सूर लिए लिए कनियाँ।
× × ×
सूरदास प्रभु निरखि मगन भए, प्रेम-विवस कछु सुधि न अपनियाँ।
—सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०६

तुलसी गीतावली—सादर सुमुखि विलोकि राम सिसु, रूप अनूप भूप लिए कनियाँ।

सूरसागर--जसोदा हरि पालनें झुलावै।
गीतावली--पालने रघुपतिहिं झुलावै।
सूरसागर--जसुमति मन अभिलाख करै।
गीतावली--ह्वै हौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया।
सूरसागर--प्रात भयौ जागौ गोपाल।
गीतावली--भोर भयो जागहु रघुनन्दन।

तुलसिदास प्रभु देखि मगन भई, प्रेम बिबस कछु सुधि न अपनियाँ ।।
--पद संख्या ३१

(६) सूरसागर--बिछुरत श्री ब्रजराज आज, इन नैननि की परतीति गई।

× × ×

सूरदास याही तें जड़ भए, पलकनि हू हठि दगा दई ।।
--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २९९६

कृष्ण गीतावली--बिछुरत श्री ब्रजराज आज इन नैननि की परतीति गई।

× × ×

तुलसिदास तब अपहुँ से भए जड़ जब पलकनि हठि दगा दई ।।
--पद संख्या २४

(७) सूरसागर--सखि कोउ नई बात सुनि आई।

× × ×

सूरदास गिरधर बिनु गोकल को करिहैं ठकुराई ।।
--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३२४

कृष्ण गीतावली--कोउ सखी नई चाह सुनि आई।

× × ×

अब तुलसी गिरधर बिनु गोकुल कौन करहिं ठकुराई ।।
--पद संख्या ३२

(८) सूरसागर--ऊधौ तुम ब्रज की दसा विचारौ।

× × ×

सूरदास सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावो।।
--सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६२१

कृष्ण गीतावली--ऊधौ या ब्रज की दसा विचारो।

× × ×

तुलसिदास सो भजन बहाओ जाहि दूसरो भावो ।।

(९) सूरसागर--याकी सीख सुने ब्रज कोई रे।
सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६००

कृष्ण गीतावली--ताकी सिख ब्रज न सुनै कोउ कोउ मोरे।
--पद संख्या ४४

सूर के एक पद का उपयोग करके तुलसीदास जी ने उसका विस्तार किया है। पद की आदि की चार पंक्तियाँ सूर की हैं--

कनक रतन मय पालनौ, रच्यौ मार सुतहार।
विविध खिलौना किंकिनी, लागे मंजुल हार,
रघुकुल मंडल राम लला।[१]

इसमें अन्तिम अर्धाली मात्र ही तुलसी की है। शेष सूर के दशम स्कन्ध पद संख्या ४२ में ज्यों की त्यों है। अर्धाली भी सूर के अनुकरण पर लगी है। सूर के अनेक पदों में इस प्रकार की अर्धालियाँ चरणों के पश्चात् मिलती हैं।

विषय-साम्य के अतिरिक्त अभिव्यंजना-कौशल में भी गीतावली और कृष्ण-गीतावली में सूर का साहाय्य तुलसीदास जी ने लिया है। पद-रचना तो निश्चय ही सूर के अनुकरण पर तुलसी ने की है। तुलसीदास जी का साहित्यिक ज्ञान जितना सम्पन्न था उतना संगीत-ज्ञान नहीं। सूर के अनुकरण पर उन्होंने भी अपने पदों के ऊपर रागों का उल्लेख किया है किन्तु जिस प्रकार सूर के पदों में राग और रस का सम्बन्ध है तथा शास्त्रीय समय-सिद्धान्त-पालन है, तुलसी में नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के पदों में गीतिकाव्य की प्रत्यक्ष आत्मानुभूति, भाव-प्रवणता और अन्विति आदि भी नहीं मिलते। गीतावली के पदों में रामचरित प्रस्तुत किया है और कृष्ण गीतावली में कृष्ण-लीला सम्बन्धी स्फुट पद हैं। प्रतीत होता है सूर की पद-शैली की लोकप्रियता ने ही तुलसीदास जी को इन ग्रंथों के लिखने की प्रेरणा दी थी।

सूर के मौलिक अप्रस्तुत विधान का भी प्रभाव तुलसीदास जी पर प्रचुर मात्रा में मिलता है। तुलसीदास जी ने भी सूर की भाँति नख-शिख प्रस्तुत किया है और सूर की उपमाओं को दूसरी शब्दावली में रखना चाहा है। जैसे—

लोचन नील सरोज से भ्रू पर मसि बिन्दु विराज।
जनु विधु-मुख-छवि अमिय को रच्छक राखे रस राज।।[२]

इसके साथ ही सूर की यही उपमा द्रष्टव्य है—

वदन-सुधा सर सीरहु लोचन, भृकुटी दोउ रखवारी।
मानो मधुप मधुपानहिं आवत, देखि डरत जिय भारी।।[३]

स्पष्ट है 'विधु मुख अमिय', 'लोचन नील सरोज' और 'अमिय' की रक्षा के हेतु 'भ्रू' की कल्पना सूर की उपमा का ही द्वितीय रूप है। 'भ्रू' पर मसि बिन्दु की नयी अवतारणा अनावश्यक है, रक्षा के हेतु तो धनु उपमान ही उपयुक्त था। सूर की उपमान-योजना तुलसी में पहुँचकर विकृत हो गयी है। अलकावली के लिए तुलसी द्वारा प्रस्तुत उपमान पर भी सूर का प्रभाव है—

---

१. गीतावली, पद १६।
२. गीतावली, पद १६।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४२७।

तुलसी—गभुआरी अलकावली लसैं, लटकन ललित ललाट।
जनु उडुगन विधु मिलन को, चले तम विदारि करि वाट ॥[१]

सूर—भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल दसा के चिकुर सुहाए।
मानो गुरु सनि कुज आगें करि, ससिहिं मिलन तम के गन आए ॥[२]

दोनों पदों में उपमेय वदन पर अनेक रंगों की मणियों के लटकनों से युक्त अलकें हैं। सूर की उपमा में तम के गन गुरु, शनि, मंगल आदि के साथ चन्द्रमा से मिलने के लिए आते हैं तो तुलसी की उपमा में उडुगण तम को चीर कर चन्द्रमा से मिलने आ रहे हैं। भाव की दृष्टि से तुलसी जी ने सूर की उपमा को संशोधित कर लिया है क्योंकि तम को विदारकर उडुगणों का चन्द्र-मिलन के हेतु आना तम-गण के आने से अधिक युक्तियुक्त है।

अन्य अंगों के लिए प्रस्तुत उपमानों पर भी सूर का प्रभाव है। जैसे—

सिसु सुभाय सोहत जब कर गहि, बदन निकट पद-पल्लव लाए।
मनहुँ सुभग जुग भुजग जलज भरि, लेत सुधाससि सों सचुपाए ॥[3]

यहाँ दो भुजंग (बाहु) कमल पुट (हथेली) में चन्द्रमा (मुख) से सुधा ले रहे हैं। चन्द्रमा में भुजंग का सुधा लेना सूर की, कल्पना है—

मनौ रह्यौ पन्नग पीवन को ससि मुख सुधा निहारि।[४]

कमल का शशि से सुधा लेना भी सूर की कल्पना है—

मनु वारिज ससि वैर जानि जिय, गह्यौ सुधा ससि धोटी।[५]

तुलसी की उपमान योजना सादृश्य विधान के लिए उतनी उपयुक्त नहीं है क्योंकि सूर के कर-कमल कृष्ण के वदन-विधु से निकलते हुए माखन-सुधा को लेते हैं किन्तु तुलसी के उपमान में सुधा के लिए कोई उपमेय नहीं है। इसी प्रकार सूर की उपमान योजना में जब पन्नग चन्द्र से सुधा लेता है तो उपमेय वेणी सादृश्य के अनुरूप है किन्तु तुलसी के भुज-भुजंग का शशि-मुख से सुधा लेने की उपमा कल्पना का खेलवाड़ मात्र है। इससे अर्थ सौरम्य में कोई योग नहीं मिलता। इस प्रकार खिलौने को ऊपर लटकते हुए शिशु राम का हाथ फैलाने के लिए दो अंभोजों (हाथ) का विधु के भय से अरुण (खेलौने) से विनय करना[६] केवल काल्पनिक साम्य का चमत्कार प्रदर्शन करना है।

---

१. गीतावली, पद १६।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७२२।
३. गीतावली, पद संख्या २०।
४. वही, २११४।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६४।
६. उपर अनूप विलोकि खिलौना, किलकत पुनि-पुनि पानि पसारत।
मनहुँ उभय अंभोज अरुन सों, विधु-भय विनय करत अति आरत ॥
—गीतावली, पद २१

कृष्ण-गीतावली में कवि का कवित्व उतना श्रेष्ठ नहीं है जितना गीतावली में। गीतावली में अपने आराध्य के वर्णन में तुलसी की कल्पना सजग है किन्तु कृष्ण गीतावली में वह सुप्त-सी है। अलंकृत पंक्तियाँ बहुत कम हैं। पदावली में सहज गेयत्व का अभाव है तथा उक्तियाँ लचर हैं जैसे—

राग ललित

छोटी-मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि के तू दे री मैया।
'ले कन्हैया' 'सो कब' 'अबहिं' 'तात'।
'सिगरिये हौं ही लैहों', बलिदाऊ को न दैहौं।
सो क्यों भटू तेरौ कहा कहि इत उत जात।
बाल बोलि डहकि विरावत, चरित लखि,
गोपीगन महरि मुदित पुलकित गात।
नूपुर की धुनि किंकनि कलरव सुनि,
कूदि-कूदि किलकि-किलकि ठाढे-ठाढे खात।
तनियाँ ललित बढ़ि विचित्र टेपारी सीस
मुनि-मन हरत वचन कहै तोतारात।
तुलसी निरखि हरषत फल भूरि भारी,
ब्रजवासी विबुध सिद्ध सिहात।[1]

ललित राग की कैसी दुर्दशा है। प्रत्येक पंक्ति साहित्यिक सौन्दर्य से रहित है। स्वभावोक्ति का सौरस्य किसी शब्द में नहीं है। 'भटू' शब्द का प्रयोग चिन्त्य है।

कृष्ण गीतावली के केवल एक पद में सूर की अप्रस्तुत योजना का अनुसरण प्रतीत होता है किन्तु यहाँ भी कवि को पूरी सफलता नहीं मिली—

आलसवंत सुभग लोचन सखि छिन मूँदति छिन देत उघारी।
मनहुँ इंदु पर खंजरीट दोउ कछुक अरुन विधि रचे सँवारी॥
कुटिल अलक जनु मार फंद कर गहे सजग ह्वै रह्यौ संभारी।
मनहुँ उड़न चाहत अति चंचल पलक पंख छिन देत पसारी॥
नासिक कीर वचन पिक रुचि करि संगति मनु गुनि रहत विचारी।
रुचिर कपोलचारु कुंडल वर भुकुटि सरासन की अनुहारी॥
परम चपल तेहि भास मनहुँ खग प्रगटत दुरत न मानत हारी।[2]

इंदु के ऊपर खंजन की कल्पना सूर के काल्पनिक साम्य के अनुकरण का कुपरिणाम है। कुटिल अलकों के लिए मार-फंद की उपमा सूर की है—

कुटिल अलक सुभाइ हरि कैं, भुवनि पर रहे आइ।
मनौ मनमथ फाँदे फंदनि, मीन विवि तट ल्याइ॥[3]

---

१. कृष्ण गीतावली, पद २।
२. गीतावली पद संख्या २२।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८२७।

इसी प्रकार खंजन-नेत्रों का पलक-पंख पसारना भी सूर की उपमाओं में प्राप्त है। सूर के पद में यह उपमा रसोत्कर्ष उत्पन्न करने की सामर्थ्य अधिक रखती है—

खंजन मनहुँ उड़न को आतुर, सकत न पंख पसारि।
देखि सरूप स्याम सुंदर कौ, रही न पलक सम्हारि।
देखहु सूरज अधिक सूर तन, अजहुं न मानी हारि॥[1]

भृकुटि-सरासन से नैन खग का डरना भी सूर की उपमान-योजना में मिलता है--

भृकुटि वंकट, चारु लोचन, रही जुवति देखि।
मनों खंजन चाप डर डरि, उड़त नहिं तिहिं पेखि॥[2]

सूर की उपमा भाव को सबल करती है, नेत्र खंजन भृकुटि-चाप को देखकर उड़ते नहीं। तुलसी की उपमा में नैन खग डरते भी हैं तथा छिपते और फिर प्रकट होते हैं और हार नहीं मानते। एक ओर पक्षी डरता है दूसरी ओर फिर-फिर प्रकट होता है और हार नहीं मानता। भाव की दृष्टि से यह संयत नहीं है। सूरदास की पंक्ति में भी 'नेत्र-खंजन' हार नहीं मानते किन्तु वहाँ रूपासक्ति है नेत्र अपने पलक पंख पसारते नहीं, एकटक कृष्ण सौंदर्य का रस-पान करते हैं और हार नहीं मानते।

सारांश यह कि सूर के कल्पना-मूलक साम्य से तुलसीदास जी आकर्षित हुए और उन्होंने गीतावली में सूर की अनेक उपमाओं को ग्रहण भी किया किन्तु सूर में जो उपमाएँ भाव-सौंदर्य को वृद्धि देने वाली थीं, तुलसी की पंक्ति में वे केवल चमत्कार-विधायक बन सकीं। तुलसीदास, वास्तव में, प्रबन्ध-रचना के सिद्ध कवि थे। स्फुट गीत-रचना में भी उनकी प्रबन्धात्मकता आड़े लग जाती थी। इसीलिए उनमें न वे उतना पूर्ण आत्माभिव्यंजन कर सके और न वैसी रससिक्त वक्रोक्तियाँ प्रस्तुत कर सके।

तुलसी की विनय-पत्रिका उनकी कवि-कीर्ति का अचल-स्तम्भ है। विनय-पत्रिका में राम दरबार की कल्पना सम्पूर्ण ग्रंथ की वर्ण्य-वस्तु का मूल है। महाराज राम के दरबार में दास तुलसी का पत्रिका भेजना[3] सूर का ही मूल मंत्र है जो उन्होंने सूरसागर (नवम स्कन्ध) के राम अवतार के अंतिम पद में प्रस्तुत किया है। दास्य भक्ति के आलम्बन राम के दरबार में एक दीन हीन दास का पहुँचना और प्रत्यक्ष अपने दुख-सुख का निवेदन करना सम्भव नहीं है। सूर भी वहाँ पहुँचे थे। सारे दिन प्रवेश पाने का अवसर देखते रहे, पर जब वह नसीब न हुआ तो 'रुक्का' भेजकर लौट

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८१६।

२. वही, १८२३।

३. **विनयपत्रिका दीन की आपु आपु ही बांचो।**
हिये हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछिए पांचो।
—विनयपत्रिका पद, २७७

आये ।[1] गोस्वामी तुलसीदास जी ने कदाचित् सूर के इस पद से प्रेरणा ली है। इस एक पद का ही विकास उन्होंने सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप-विधान में कर डाला है। जिन सभासदों के कारण सूर को अवसर न मिला, तुलसी ने उनकी पहले ही अभ्यर्थना कर ली और वे सब तुलसी के रुक्के (विनयपत्रिका) के प्रस्तुत होने पर तुलसी के पक्ष में बोल उठे और तुलसी का काम बन गया।[2] तात्पर्य यह कि विनयपत्रिका के रूप-विधान का स्रोत कदाचित् सूर की कल्पना ही है।

विनय-पत्रिका का काव्य-शिल्प तुलसी की काव्य-कला का सर्वोत्कृष्ट रूप है। भाषा का जो सुसंस्कृत और सुगठित रूप उसमें है उसके कारण वह साहित्य की अन्यतम कृति बन गयी है। पद रचना की दृष्टि से विनयपत्रिका के पदों पर सूर का प्रभाव अवश्य है। आदि के पद जिनमें गणेश, सूर्य और शंकर की स्तुतियाँ हैं, चौपाई या चौपई छंदों के पद रूप में हैं। सूर ने बिलावल राग में इन छंदों को बाँधकर पद बताया है। तुलसीदास जी ने भी वैसा ही किया है—

राग बिलावल

गाइए गनपति जगवंदन। शंकर सुवन भवानी नंदन।

× × ×

---

१. विनती किहि विधि प्रभुहिं सुनाऊँ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहूँ पाऊँ॥
जाम रहत जामिनि के बीतैं, तिहि औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद में, कैसे प्रभुहिं जगाऊँ॥
दिनकर किरनि उदित, ब्रह्मादिक रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर मुनिगन की, तिहिं तैं ठौर न पाऊँ॥
उठत सभा दिन मधि सेनापति, भीर देखि फिरि आऊँ।
न्हात खात सुख करत साहिबी, कैसे करि अनखाऊँ॥
रजनी मुख आवत गुन गावत, नारद तुंबर नाऊँ।
तुमही कहौ कृपानिधि रघुपति, किहि गिनती में आऊँ॥
एक उपाउ करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समझाऊँ।
पतित-उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ॥
—सूरसागर (सभा), नवम स्कन्ध, पद १७२।

२. मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलि कालहु नाथ नाम सौं प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।
सकल सभा सुनि ले उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है।
विहँसि राम कह्यौ सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है।
—विनयपत्रिका, पद २७९

माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे।।[1]

स्तोत्र की रचना भी सूर के स्तोत्र पदों जैसी है। रागों के भीतर दण्डकों की योजना यहाँ भी है—

राग रामकली

जय जय जग जननि देवि, सुर नर मुनि असुर सेवि।
भक्ति मुक्ति दायिनि, भय हरनि कालिका।।[2]

सूर की 'विनती' का स्वरूप-विधान भी विनयपत्रिका में मिलता है—

बन्दौं चरन सरोज तिहारे।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन ललित त्रिभंगी प्रान पियारे।।
जे पद पदुम सदा सिव के धन सिंधु सुता उर तें नहिं टारे।
जे पद पदुम.................................

× × ×

सूरदास तेई पद-पंकज त्रिविध-ताप दुख हरन हमारे।।[3]

अर्थात् पद की विभिन्न पंक्तियों में विशेषण उपवाक्य चलते रहते हैं और अन्तिम वाक्य में उनकी पूर्ति होती है। इसी पद्धति पर तुलसीदास जी का भी पद इस प्रकार है—

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत बारत बिवस नाम टेरे।।
जेहि कर कमल कठोर संभु धनु भंजि जनक संसय मेट्यौ।
जेहि कर कमल.................................

× × ×

निसि वासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसीदास छाया।।[4]

विनय पत्रिका के अन्य पदों की रचना भी सूर के पदों जैसी ही है। तात्पर्य यह है कि विनयपत्रिका की वर्ण्य-वस्तु का स्रोत तुलसीदास को सूरसागर में प्राप्त हुआ। पद-रचना का स्वरूप सूर की पद-रचना के अनुसरण पर तुलसी ने निर्मित किया। किन्तु अभिव्यंजना-कौशल विनयपत्रिका में तुलसी का अपना है।

बरवै रामायण—बरवै रामायण में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रवृत्ति अलंकार-निरूपण की ओर विशेष है। उसकी अनेक अप्रस्तुत-योजनाओं तथा अलंकार-विधानों पर सूर का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे—

(प्रतीप)सूर—**राजिवदल इंदीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।**
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसित, ये विकसित दिन राति।।[5]

---

१. विनयपत्रिका, पद १।
२. वही, १६।
३. सूरसागर (सभा), विनय, पद ६४।
४. विनयपत्रिका, पद १३८।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८१३।

तुलसी— सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह विकसाइ ॥[१]

सूर की निचली पंक्ति का बरवै-रूप तुलसी के बरवै की निम्न पंक्ति में है ।

(विषम) सूर—सीतल चंद अगिनि सम लागत, कहिए धीर कौन विधि धरियै ।[२]

तुलसी—सीतलता ससि, की रहि सब जग छाइ ।
अगिनि ताप ह्वै, तन कह सँचरत वाइ ॥[३]

(अत्युक्ति) सूर—कर कंकन तें भुज टाड़ भई ।[४]

तुलसी—अब जीवन कै, है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया की, मुँदरी कंकन होइ ॥[५]

सूर के दृष्टकूटों का प्रभाव भी एक बरवै पर है—

वेद नाम कहि, अंगुरिन खंडि अकास ।
पठयौ सूपनखहिं, लखन के पास ॥[६]

(वेद=श्रुति=कान, आकास=नाक) वेद का अर्थ कान और आकाश का अर्थ नाक लगाना दृष्टकूट पद्धति है ।

अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव—

अष्टछाप के कवियों पर सूर का प्रभाव निश्चित है । सूर ही अष्ट कवियों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय थे । कुम्भनदास को छोड़कर सभी उनसे छोटे थे । सभी श्रीनाथ जी के कीर्तनिया थे और स्वरचित पदों से प्रभु का कीर्तन करते थे । सूरदास जी ने अपने पदों से जगतवंद्य महाप्रभु वल्लभाचार्य जी को परम सन्तोष दिया था । ऐसी अवस्था में अपने कीर्तनों की रचना में सभी कवियों का सूर का अनुकरण करना स्वाभाविक है ।

कुम्भनदास—कुम्भनदास जी सं० १५५० में ही श्रीनाथ जी के प्रथम कीर्तनकार नियुक्त हुए थे । इनके १७ वर्ष पश्चात् सूरदास जी श्रीनाथ जी की सेवा में आये । इसके पश्चात् कुंभन और सूर जीवन पर्यन्त साथ-साथ कीर्तन करते रहे । सूर छोटे थे फिर भी उनकी प्रसिद्धि और अष्टछाप के कवियों में उनकी प्रतिष्ठा ने यदि कुम्भनदास को भी प्रभावित किया हो तो कठिन नहीं । ९० वर्षों तक (१५५० से १६४० तक) कीर्तन करते रहने पर भी कुम्भनदास के पदों की संख्या २०० से अधिक नहीं है । कुम्भनदास जी भक्त हृदय तो थे किन्तु कवि अथवा संगीतज्ञ साधारण कोटि के थे ।

---

१. बरवै रामायण, छन्द ३ ।
२. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद ३९७५ ।
३. बरवै रामायण, छन्द ४ ।
४. सूरसागर (सभा) दशम स्कन्ध, पद ४०९० ।
५. बरवै रामायण, छन्द ३८ ।
६. वही, २८ ।

इनके प्राप्त पदों में सूर के पदों से साम्य मिलता है। कुम्भनदास जी प्रतिभाशाली कवि न थे इसीलिए सूर की कलात्मक पद-शैली उनके पदों में नहीं प्राप्त होती। फिर भी सूर की शब्दावली और उपमान-योजना का प्रभाव उन पर कहीं-कहीं प्राप्त होता है। जैसे—

तुम नीके दुहि जानति गैया।
चलिए कुंवर रसिक मन मोहन लगौं तिहारे पैया॥
तुमहिं जानि करि कनक-दोहनी घर ते पठई मैया।
निकटहिं है यह खरिक हमारो नागर लेहुँ बलैया॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यौ सुन्दरैया।
कुँभनदास प्रभु मान लई रति गिरि गोवरधन रैया॥[1]

पद में सूर की पद-रचना की झलक स्पष्ट है। 'कुंवर रसिक मन मोहन', 'कनक दोहनी', 'नागर', 'खरिक' सूर के शब्द हैं। अन्तर केवल यह है कि 'कुंवर रसिक मन-मोहन' और 'नागर' आदि शब्दों का प्रयोग सूर के विशिष्ट प्रणय प्रसंगों, सुख विलास, मान-लीला—आदि में ही किया है। कुम्भनदास जी ने इनका प्रयोग सामान्य अर्थ में कर डाला है। सूर की पर्याप्त ध्वनि का मर्म वे न समझ सके।

सूर की उपमान-योजना का प्रभाव भी कुम्भनदास के पदों में प्राप्त होता है।

तेरे नैन चंचल बदन कमल पर मनो जुग खंजन करत कलोल।
कुंचित अलक मनौं रस लंपट चलि आए मधुपनि के टोल॥[2]

नैनो की उपमा खंजन से और कुंचित अलकों की रस-लंपट मधुपों से देना सूर का ही प्रभाव है।

सूर ने राधा-कृष्ण मिलन को गंगा और सागर के मिलने से उपमा दी है—

मानौं गिरवर तें आवति गंगा।
राजति अति रमनीक राधिका इहिं विधि अधिक अनूपम अंगा।
× × ×
सूरदास मनु चली सुरसरी, श्रीगुपाल-सागर सुख संगा॥[3]

कुम्भनदास में भी यही उपमा है—

यह अद्भुत सरि रच्यौ विधाता, सरस रूप अवगाहि।
कुम्भनदास प्रभु गिरधर सागर, देखत उमगत ताहि॥[4]

इसी प्रकार निम्न उपमानों पर भी सूर का प्रभाव प्रतीत होता है।

स्याम अलक छुटि रही री बदन पर,
चन्द्र छिप्यौ मानों बादर कारे।

---

१. अष्टछाप परिचय (प्रभुदयाल मीतल), कुम्भनदास-पद संग्रह, पद ६, पृष्ठ ६७।
२. वही, पद ५।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २४५४।
१. अष्टछाप परिचय-कुम्भनदास के पद, संख्या २८।

मुक्तामाल मानों मान सरोवर,
कुच चकवा दोऊ न्यारे न्यारे ॥[1]

सूर की उपमान-योजना में अलक से ढके हुए मुख के लिए घटाओं से घिरे चन्द्र तथा कुचों के लिए चक्रवाक उपमान प्राप्त होते हैं।

परमानन्ददास—अष्टछाप में कुम्भनदास और सूरदास जी के पश्चात् परमानन्ददास जी का नाम आता है। परमानन्ददास जी भी महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। महाप्रभु की शरण आने से पूर्व ये भी कवि और गायक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। परमानन्ददास जी की रचना स्फुट पदों में है। इनके काव्य के विषय सूरसागर दशम स्कन्ध के सरस-प्रसंग हैं। बाल-लीला, माखन-चोरी, गोदोहन, गोचारण, दान-लीला, पनघट-लीला, गोपियों की रूपासक्ति, निकुंज-लीला, विहार, खंडिता, वसन्त-लीला, गोपी-विरह और भ्रमर गीत इनके मुख्य विषय हैं। सूर की भी मूल रचना इन्हीं विषयों पर स्फुट पदों के रूप में थी और ये ही सूर की कला के आधार हैं। परमानन्ददास जी के पदों और सूर के पदों में न केवल विषय-साम्य है वरन् पद-रचना और अभिव्यंजना-कौशल में भी दोनों एक ही पथ के पथिक हैं।

पद-रचना—परमानन्ददास जी संगीतशास्त्र के ज्ञाता थे। उनके पदों से ज्ञात होता है कि उन्होंने सूर की भाँति ही रागों का विधान विषय और समय के अनुसार किया है। सूर की भाँति ही परमानन्ददास ने भी प्रातःकालीन वर्णनों में भैरव, विभास और बिलावल आदि का प्रयोग किया है। जैसे—

राग भैरव

ललित लाल श्रीगोपाल सोइए न प्रातकाल, यशोदा मैया लेत बलैया, भोर भयो बारे।

× × ×

नंद कुमार उठे विहँसि कृपादृष्टि सबपै हरषि जुगल चरण कमल पर परमानन्द वारे।[2]

पनघट पर मोहित गोपी की रूपासक्ति कवि ने राग आसावरी में प्रस्तुत की है—

राग आसावरी

साँवरौ वदन देखि लुभानी।
चले जात फिरि चितयौ मो तन तब ते संग लगानी ॥
वे उहि घाट चरावत गैया हौं इतते गई पानी।
कमल नैन उपरैनो फेर्‌यौ परमानन्दहिं जानी ॥[3]

केदारौ राग का प्रयोग परमानन्ददास ने भी सूर की भाँति चिन्ता, विषाद आदि भावों के चित्रण में किया है। जैसे—

राग केदारौ

रैंनि पपीहा बोल्यो री माई।
नींद गई चिन्ता चित बाढ़ी, सुरति स्याम की आई।

× × ×

१. अष्टछाप परिचय—कुम्भनदास के पद, संख्या ८।
२. परमानन्द पद-संग्रह (डा० दी० द० गु०), पद ३६३।
३. वही, ९६।

विरहित विकल दास परमानन्द धरनि परी मुरझाई ।[१]

उन्होंने कृष्ण की क्रीड़ाओं और विनोद आदि का वर्णन सारंग राग में किया है । सारंग के स्वर इन भावों के भावों के सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं ।

राग सारंग

भावै मोहि माधौ की आवनि ।
वरहा पीड़ राग गुंजामनि बेनु मधुर धुनि गावनि ।
स्याम सुभग तन गौरज मंडित भेष विचित्र बनावनि ।।[२]

परमानन्ददास के पदों में उतने अधिक राग नहीं मिलते जितने सूरसागर में हैं, किन्तु जो राग उनमें हैं उनका स्वरूप सूर जैसा ही है । वर्षा-वर्णन में मलार और वसन्त-वर्णन में होली का प्रयोग भी परमानन्ददास जी ने सूर के अनुकरण पर किया है । सूर ने भ्रमरगीत की दूसरी लीला चौपाई छन्द में गायी है । परमानन्ददास ने भी भ्रमर गीत का एक लम्बा[३] पद चौपाई और दोहे में लिखा है और पद के ऊपर सूर की भाँति ही 'सारंग' राग का नाम लिखा है । वसन्त लीला में कई पद सार छन्द के अन्तर्गत भी लिखे गये हैं । तात्पर्य यह कि पद-रचना में परमानन्ददास की रचना सूरदास के चरण-चिह्नों पर ही हुई है ।

भाषा--परमानन्ददास जी की भाषा सूर की भाषा से इतनी मिलती है कि उनके पद सूर के पदों में मिल जाते हैं--

सूर-- **मानौ माई घन-घन अन्तर दामिनि ।**[४]
परमानन्द-- **घन में छिपिरही ज्यौं दामिनि ।**[५]
सूर-- **ऊधौ अब कछु कही न जाइ ।**[६]
परमानन्द--**ऊधौ कछु नाहिन परत कही ।**[७]
सूर-- **बहुरि पपीहा बौल्यौ री माई ।**[८]
परमानन्द--**रैनि पपीहा बोल्यौ री माई ।**[९]
सूर-- **माई मोकौ चन्द लग्यौ दुख दैन ।**[१०]
परमानन्द--**माई री चन्द्र लग्यौ दुख दैन ।**[११]

---

१. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० दी० द० गु०), पद ३२३ ।
२. वही, ८५ ।
३. वही, ३३५ ।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६६६ ।
५. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद १३९ ।
६. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४६१७ ।
७. परमानन्ददास पद-संग्रह पद, २३१ ।
८. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९५० ।
९. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), ३२३ ।
१०. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद संख्या ३९७८ ।
११. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद ३२४ ।

स्पष्ट है सूर और परमानन्द की पंक्तियों में कोई अन्तर नहीं है।

परमानन्ददास जी ने सूर की शब्दावली ज्यों-की-त्यों ग्रहण की है। भाषा ब्रज-माधुरी से ओत-प्रोत है। संस्कृत, अरबी, फारसी तथा अन्य बोलियों के शब्दों का प्रयोग इनमें भी है पर सर्वत्र ब्रजभाषा की छाप है। परमानन्ददास में विदेशी शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत कम है, प्रचलित ब्रज के शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ आदि सभी सूर के साँचे में ढली हैं।

अलंकारिता—परमानन्ददास में भाषा का अलंकरण भी सूर जैसा ही है। अनुप्रास का मोह इन्हें भी अधिक नहीं है। वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति की ओर झुकाव अधिक है। जैसे—

नृत्तत हँसत हँसावत किलकत संग मुदित ब्रज बाल।[1]
गरजत गगन दामिनी दमकत तामें जीउ उड़ाई।[2]
चितवन चारु चतुर चिंतामनि बिन गुन चाप मदन सर मोचन।[3]

इन उदाहरणों में वर्णों का अनुप्रासिक सौंदर्य उतना चमत्कृत नहीं है जितना कि वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति। वर्णावृत्ति का नाद-सौंदर्य उतना प्रमुख नहीं है जितना पंक्ति गत-नाद की समवेत ध्वनि। सूरदास जी की भाँति परमानन्ददास ने भी पुनरुक्ति-प्रकाश के सौंदर्य से अपने पदों को सजाया है।

सहज प्रीति गोपालहिं भावै।
मुख देखे सुख होत सखी री, प्रीतम नैन सौं नैन मिलावै॥
सहज प्रीति कमलनि अरुभाने, सहज प्रीति कुमुदिन अरु चन्दें।
सहज प्रीति कोकिला बसन्तैं, सहज प्रीति राधानन्द नन्दें॥
सहज प्रीति चातक अरु स्वातें, सहज प्रीति धरती जलधारें।
मन क्रम वचन दास परमानंद, सहज प्रीति कृष्ण अवतारें॥[4]

साम्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में सूर का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जैसे—

रूपकातिशयोक्ति—

सूर— **कनक बेलि तमाल अरुभी, सुभुज बंध अखोल।**[5]
परमानन्द—**अद्भुत रूप तमाल सौ लपटी, कनक बेलि सुकुमारी।**[6]

उत्प्रेक्षा—

सूर— **कोमल स्याम कुटिल अलकावली, ललित कपोलनि गोर।**
मनहुँ सुभग इन्दीवर ऊपर, मधुपनि की अति भीर॥[7]

---

१. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद ६७।
२. वही, ३२३।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १२६।
४. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद ३६७।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१३२।
६. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद १५३।
७. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८२१।

परमानन्द—तिन पर बनी कुटिल अलकावलि मानहुँ मधुप झकोरे ।[1]

सूर— मोहन वदन बिलोकत अँखियन, उपजत है अनुराग ।
तरनि ताप तलफति चकोर गति, पिवत पियूष पराग ।।[2]

परमानन्द—असित अरुन उज्ज्वल दीसत हैं, दोऊ नैन के कोर ।
मानो रस्मि पान के कारन, बैठे निकट चकोर ।।[3]

सूर— देखि री देखि कुण्डल झलक ।
लसति चारु कपोल दुहुँ विच, सजल लोचन चारु ।
मुख-सुधा-सर मीन मानों, मकर संग विहारु ।।[4]

परमानन्द—अद्भुत मनि कुण्डल कपोल मुख, अद्भुत उठत परस्पर झाईं ।
मनु विधु मीन विहार करत दोउ, जल-तरंग में चलि-चलि जाई ।।[5]

प्रतीप—

सूर— नंद नंदन मुख देखो माई ।
अंग-अंग छवि मनहुँ उये रवि, ससि अरु समर लजाई ।।[6]

परमानन्द—विमल जस वृन्दावन के चन्द्र को ।
कहा प्रकास सोम सूरज को जैसो मरो गोविन्द को ।।[7]

सूर की भाँति परमानन्ददास ने भी साम्य में प्रतियोग के द्वारा उत्कर्ष प्रदान किया है ।

सूर— उत घन उदित सहित सौदामिनि इतहिं मुदित राधिका हरी री ।[8]

परमानन्द—श्री राधा संग लीए विरहत, सघन कुंज वन खोर ।
तैसिय घटा घुमड़ि चहुँ दिसि ते, गरजति हैं घनघोर ।
तैसिय लहलहात सौदामिनि, पवन चलत अति जोर ।[9]

संक्षेप में परमानन्ददास जी ने अपने पदों के विषय, पद-रचना, भाषा और अलंकारिता सभी के लिए सूर के पदों को ही अपना आदर्श बनाया । उनके अधिकांश पद सूर के पदों के अनुसरण में रचे गये हैं । सूर की काव्य-प्रतिभा और परमानन्ददास की प्रतिभा का कोई साम्य नहीं है । इसीलिए सूर के पदों के अनुसरण पर रचना करने पर भी उनके पदों में वह सरसता और कलात्मकता न आ सकी जो सूर में थी ।

कृष्णदास—अष्टछाप में चतुर्थ स्थान कृष्णदास जी का था । ये कलाप्रिय

१. परमानन्ददास पद-संग्रह, (डा० गुप्त), पद १३० ।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७७७ ।
३. परमानन्ददास पद-संग्रह (डा० गुप्त), पद ३० ।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८२७ ।
५. परमानन्ददास पद-संग्रह, (डा० गुप्त), पद १६७ ।
६. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६२६ ।
७. परमानन्ददास पद-संग्रह, (डा० गुप्त), पद ४६० ।
८. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११८६ ।
९. परमानन्ददास पद-संग्रह (अष्टछाप परिचय), पद २० ।

और रसिक थे। काव्य-प्रतिभा उनमें अधिक न थी। डा० दीनदयाल गुप्त जी ने काव्य-कला और भावानुभूति की दृष्टि से इनका स्थान अष्टछाप के कवियों में छठा निर्धारित किया है।[1] कृष्णदास जी स्वभावतया उग्र और हठधर्मी थे, गोस्वामी विट्ठलनाथ तक का घोर अपमान उन्होंने कर दिया था। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वे सूरदास जी की प्रतियोगिता में पद-रचना करते थे। परिणाम यह हुआ कि उनकी कविता पर सूर की छाया तो पड़ती गयी है किन्तु श्रद्धा भाव के अभाव के कारण छाया का सुप्रभाव कविता पर नहीं मिलता। जहाँ परमानन्ददास में सूर की छाया कविता में सौन्दर्य की वृद्धि करती है, वहाँ वह कृष्णदास में विकृति उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिये कृष्णदास का निम्न पद द्रष्टव्य है—

देखौ माई मानौ कसौटी कसी।
कनक बेलि वृषभानुनंदिनी, गिरिवर उर जु बसी॥
मानौ स्याम तमाल कलेवर सुंदर, अंग अंग मालती घुसी।
चंचलता तजि कै सौदामिनि, जलंधर अंग लसी॥
तेरौ वदन सुधार सुधानिधि, विधि कौने भाँति हँसी।
कृष्णदास सुमेरि सिंधु तें, सुरसरि धरनि धँसी॥[2]

कृष्णदास जी ने सूर के भिन्न-भिन्न स्थलों की उपमाओं को लेकर नया चमत्कार दिखाना चाहा है। कृष्ण-कलेवर पर कनक रेखा सी राधा की उपमा कसौटी से देना कृष्णदास जी की नवीन उद्भावना नहीं है किन्तु वे इसका निर्वाह न कर सके। कनक बेलि और तमाल के साथ मिला देने से कसौटी की उपमा अपूर्ण रह गयी। कनक बेलि और तमाल के अन्तर्गत भी "मालती घुसी" कहकर उन्होंने उसे भी विकृत कर दिया है। चंचलता त्यागकर सौदामिनी का जलधर में सुशोभित होना भी सूर की ही कल्पना है।[3] सुमेरु से गंगा का आना भी सूर ने राधा-प्रणय प्रसंग में अभिसार की पुनीतता के अर्थ किया है।[4] किन्तु कृष्णदास जी ने सुमेरु-सिन्धु से सुरसरी के धँसने की निष्प्रयोजन योजना से सारे अर्थ का अनर्थ कर डाला है। तात्पर्य यह कि उपमानों की प्रदर्शिनी प्रस्तुत करने के लोभ से कृष्णदास जी ने कवित्व पर कुठाराघात कर दिया है।

इस प्रकार विषय, पद-रचना, अलंकार-योजना और भाषा, प्रत्येक में सूर का असफल अनुकरण ही कृष्णदास में मिलता है, इनका विशेष विवरण अनावश्यक है।

गोविन्द स्वामी—अष्टछाप के पाँचवें कवि गोविन्द स्वामी गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। ये श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे, संगीत के आधार पर ही सम्भवतः उन्हें अष्टछाप में स्थान मिला था। डा० दीनदयाल गुप्त जी ने काव्य-कला और भावानुभूति की

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ६६६।
२. कृष्णदास पद-संग्रह (अष्टछाप परिचय), पद संख्या १२।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०४।
४. वही, २४५४।

दृष्टि से अष्टछाप में इन्हें निम्नतम स्थान दिया है, यद्यपि इनके पदों की संख्या सबसे कम नहीं है। इन्होंने स्फुट पदों की रचना की थी जिनका २५२ पदों का एक संग्रह बताया जाता है।[1] श्रीनाथ जी की सेवा में पद-रचना करने के क्रम में संगीतज्ञ कवि गोविन्द स्वामी का सूर से प्रभावित होना स्वाभाविक है। सूर की पद-रचना, भाषा और अलंकार-विधान का अनुसरण इनकी कविता में भी प्राप्त होता है। जैसे—

वदन कमल ऊपर बैठे री, मानौ जुगल खंजरी।
ता ऊपर मानों मीन चपल अरु ता पर अलिकावलि गुंजरी॥
अरु ऐसी छवि लागे मानों उदित रवि की, निकट फूली किरन कदंब मंजरी।
गोविन्द बलि बलि सोभा कहाँ लौं वरनौं, सु मदन कोटि दल लंजरी॥[2]

वदन-कमल पर युगल-खंजनों (नेत्रों) की सृष्टि के ऊपर चपल मीन का बिठाना अर्थ की दृष्टि से पिष्टपेषण है, क्योंकि नेत्रों के उपमान खंजन भी हैं और मीन भी। अलिकावली की (लटूरियाँ) गूँज में भ्रमरावली की ध्वनि है। सूर ने उपमानों की योजना में अद्भुतता का संचार किया है। उसी का अपूर्ण अनुकरण गोविन्द स्वामी ने भी इस पद में किया है। उपमान योजना की अव्यवस्थितता और भाषा की निर्बलता स्पष्ट है।

नंददास—अष्टछाप के षष्ठ कवि नन्ददास हैं। काव्य-कला की दृष्टि से सूर के पश्चात् इनको ही स्थान मिलता है। रचना-परिमाण भी सूर के पश्चात् इन्ही का सबसे अधिक है। पद-लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि से तो डा० दीनदयालु जी इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं।[3]

नन्ददास जी में काव्य-यश प्राप्त करने की आकांक्षा थी। सूर की भाँति वृहत् परिमाण में काव्य-रचना करना उनका उद्देश्य था। सूरसागर में से कृष्ण-लीला सम्बन्धी अनेक संग्रह बन चुके थे, उन्हीं लीलाओं को लेकर नंददास जी ने छोटे-छोटे ग्रंथ बना डाले। नंददास जी पर सूर का प्रभाव व्यापक था। विषय-निर्वाचन, पद-रचना और अभिव्यंजना-कौशल सब में उन्होंने सूर का आधार ग्रहण किया है। कलात्मकता में तो उनका अनुकरण सफल हुआ किन्तु भावानुभूति की कमी के कारण वे काव्यात्मा का उतना उत्कर्ष न प्रस्तुत कर सके।

विषय-निर्वाचन—काव्य-रचना में नन्ददास जी ने सूर का अनुसरण किया है। तुलसीदास जी की भाँति नंददास जी ने प्रबन्ध-रचना में विशेष अभिरुचि दिखाई किन्तु उनके ग्रंथों और अनेक विषयों को देखने से प्रतीत होता है कि उन्होने काव्य-सर्जना में सूर से ही प्रेरणा ली। सूरदास जी ने भागवत को आधार बनाकर द्वादश स्कंधों में सूरसागर की रचना की है। नन्ददास जी भागवत का ही अनुवाद करना

---

१. अष्टछाप परिचय (प्र० द० मीतल), पद १७७।

२. वही, २०।

३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ५६५।

चाहते थे। भागवत के दशम स्कन्ध के १ से २६ अध्यायों को दशम स्कन्ध भाषा के नाम से उन्होंने दोहा और चौपाइयों में अनुवाद भी किया। सम्भवतः भागवत-अनुवाद-कार्य को दुस्साध्य मानकर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। नंददास जी जानते थे कि सूरसागर भागवत का पूर्ण अनुवाद नहीं है, पूर्ण अनुवाद की लोकप्रियता के लोभ से उन्होंने दशम स्कन्ध का अनुवाद करना चाहा, किन्तु उन्हें अपनी भूल तब ज्ञात हुई जब वे २६ अध्याय लिख चुके।

रास पंचाध्यायी भी भागवत के रास पंचाध्यायी का भावानुवाद है। इस ग्रंथ की रचना-शैली में सूर के रास-सम्बन्धी पदों की कलात्मकता विद्यमान है। दशम स्कन्ध के अनुवाद की प्रतिक्रिया में यद्यपि रास-पंचाध्यायी की पदावली सूर के रास सम्बन्धी पदों की अपेक्षा अधिक ललित और कलात्मक है तथापि उस पर सूर का प्रभाव स्पष्ट है।

नंददास-कृत भँवरगीत तो सूर के तृतीय भँवरगीत—"ऊधो का उपदेस सुनो किन कान दै"—का परिवर्धित रूप है। सारे ग्रंथ में सूर के उक्त पद के भाव विस्तार से रखे गये हैं। विषय का विस्तार अवश्य ही कवि ने अपने ढंग से किया है।

नंददास-कृत अनेकार्थ मंजरी, नाम माला और रस मंजरी में साहित्य-लहरी का दृष्टिकोण मिलता है। सूरदास जी ने दृष्टकूटों में अलंकार, नायिका-भेद और रस का विवेचन प्रस्तुत किया है। दृष्टकूटों में साहित्यिक क्रीड़ा है उसी का दूसरा रूप अनेकार्थ मंजरी और नाम माला में है। अनेकार्थ मंजरी में पर्यायवाची कोश है। पर्यायवाची शब्दों के आधार पर सूर ने दृष्टकूट लिखा है तो नंददास जी ने अनेकार्थ ध्वनि-मंजरी। अनेकार्थ मंजरी कोश, शब्द-कोश ही नहीं है, उसमें शब्द-क्रीड़ा भी है और हरि-सुमिरन का बहाना भी। उदाहरण के लिए निम्न दोहा द्रष्टव्य है—

गरुड़ तुरंग, तुरंग मन, बहुरि तुरंग तुरंग।
हरिण कुरंग, कुरंग सों, रंग्यो न हरिहर रंग॥[1]

इसमें न केवल तुरंग और कुरंग के पर्यायवाची हैं वरन् यमक का चमत्कार और भक्ति का दृष्टिकोण भी है।

मान-मंजरी-नाम-माला में पर्यायवाची शब्दों के द्वारा राधा की मान-लीला का वर्णन है। प्रत्येक छंद की प्रथम पंक्ति में एक शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं, दूसरी पंक्ति उस शब्द से मान-लीला की कहानी गढ़ी गयी है। इस प्रकार दृष्टकूट की भाँति यहाँ भी शब्द-क्रीड़ा की गयी है। दृष्टकूटों की भाँति मान मंजरी भी काव्य-कौतुकी जनों का मनरंजन करने के हेतु रची गयी हैं।

नंददास जी के स्फुट पद तो सूर के पदों के अनुकरण पर ही बने हैं। पदों की शब्दावली में बड़ा साम्य है। कुछ पद उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

---

१. नंददास ग्रंथावली, अनेकार्थ मंजरी, छन्द ३७।

सूरदास—

राग जैजैवन्ती

आजु तौ बधाइ बाजै मंदिर महर के।
फूले फिरें गोपी ग्वाल ठहर-ठहर के।।
फूली फिरें धेनु धाम, फूली गोपी अंग-अंग।
फूले फले तरवर आनन्द लहर के।।
फूले बन्दीजन द्वारे, फूले फले बन्दवारे।
फूले जहाँ जोइ सोइ गोकुल सहर के।।[1]

इत्यादि···

नंददास—

राग जैजैवन्ती

माई आजु तो गोकुल गाँव कैसो रह्यो फूलि कै।
घर फूले दीखें सब जैसे संपति भूलि कै।।
फूली-फूली घटा आईं, घहरि-घहरि घूमि कै।
फूली-फूली बरखा होति, झर लावति भूमि कै।।
कमल कुमोदिनी फूली, जमुना के कूल कै।
द्रुम बेलि फूलि-फूलि, झुकि आईं भूमि कै।।[2]

इत्यादि···

दोनों ही पदों में एक ही राग जैजैवन्ती है। दोनों पदों की गति और अर्थध्वनन-युक्त शब्दावली एक जैसी है। 'फूली' शब्द की पुनरुक्ति दोनों पदों के काव्य-सौष्ठव का केन्द्र-बिन्दु है।

सूरदास—

राग विभास

चिरई चुह चुहानी, चंद की ज्योति परानी,
रजनी विहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका दुरानी, तम पट्यो तमचुर बोल्यौ,
स्रवन भनक परी ललिता के तान की।।[3]

नंददास—

राग भैरव

चिरैया चुहचुहानी, सुन चकई की बानी,
कहत जसोदा रानी, जागो मेरे लाला।
रवि की किरनि जानी, कुमुदुनी सकुचानी,
कमल विकसे मथत दधि बाला।।[4]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४।
२. नंददास ग्रंथावली (ना० प्रा० सभा), पद २८।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २०३९।
४. नंददास ग्रंथावली (ना० प्र० सभा), पद ३२।

पद-रचना—अष्टछाप के अन्य कवियों की भाँति नंददास जी भी संगीतज्ञ थे। उनके रचे हुए पद राग भैरव, विभास, रामकली, सारंग, देवगंधार, बिलावल, काफी, हमीर, धनाश्री, मारू आदि रागों में हैं। नंददास की पदावली में सूर के रागों से भिन्न राग नहीं मिलते। पदों की संख्या के साथ ही रागों की संख्या भी कम है। यद्यपि सूर का अनुकरण पद-रचना में दिखाई पड़ता है तथापि राग-विधान का शास्त्रीय रूप इतना पुष्ट इनमें नहीं है जो सूर के पदों में है। न राग और रस का वैसा सुन्दर सम्बन्ध है और न पदों की पंक्तियाँ उतनी गेय हैं। सूर की भाँति नंददास ने भी रागों के भीतर छन्दों की योजना की है। छन्द-योजना सूर की अपेक्षा अधिक निर्दोष है। सूर में राग-विधान की प्रधानता है इसलिए उनके छन्द पिंगल के नियमानुसार विकृत हैं। नंददास के पद पिंगल की दृष्टि से निर्दोष हैं। पदों की शब्दावली भी ध्वनि की दृष्टि से अधिक संगीतात्मक है। शब्दों का नाद-सौंदर्य सूर का भी सुंदर है किन्तु नंददास जी की अनुप्रास-छटा उसमें और मनोहारिता उत्पन्न कर देती है। जैसे—

राग मल्हार

जहँतहँ बोलत मोर सुहाए।
सावन रमन भवन वृंदावन, घुमड़ि-घुमड़ि घन छाए।
नैन्हीं-नैन्हीं बूँदन बरखन लागे, ब्रज मंडल पै धाए।
नंददास प्रभु सखा संग लिए, मुरली कुंज बजाए॥[1]

नंददास की पदावली में नाद-सौंदर्य, ललित पदावली, पुनरुक्ति प्रकाश, यमक और वीप्सा आदि का ही सौंदर्य प्रधान है। प्रतीत होता है नंददास जी संगीत के बहाव में पदावली के बाह्य सौंदर्य में ही बह गये, काव्यात्मा की ओर सचेष्ट न हो सके।

नंददास द्वारा प्रयुक्त छंद हैं चौपाई, दोहा और रोला। चौपाई का प्रयोग 'सुदामा चरित' और 'गोवर्धन-लीला' में है। चौपाई और दोहा में 'विरह-मंजरी' 'रस-मंजरी', 'रूप-मंजरी' और दशम स्कन्ध भागवत-भाषा' ग्रंथ हैं। इन प्रबन्धात्मक ग्रंथों में चौपाई का प्रयोग सूर की शैली में है। नंददास जी से पूर्व तुलसी-रामचरितमानस की रचना हो चुकी थी किन्तु नंददास जी के इन ग्रंथों में चौपाई और दोहे का स्वरूप तुलसी के दोहे और चौपाई से नहीं मिलता। रामचरितमानस में चौपाई की प्रति आठ अर्धालियों के पश्चात् एक दोहा मिलता है। नंददास के सुदामा चरित और 'गोवर्धन लीला' में दोहा है ही नहीं, दशम स्कन्ध-भाषा में प्रायः एक स्कन्ध के अन्त में एक दोहा है, 'रस-मंजरी' में कुल ११ दोहे और ३२८ चौपाइयाँ हैं। 'रूप-मंजरी' में कोई निश्चित विधान नहीं है। इन ग्रंथों में चौपाई छंद भी निर्दोष नहीं हैं। सूर की चौपाइयों की भाँति ही नंददास की चौपाइयाँ पिंगल के विधि-विधान में नहीं हैं। कहीं मात्रा १६ हैं तो कहीं १५। चौपाई के पदान्त में दो गुरु होने चाहिएँ, किन्तु यहाँ कहीं गुरु-लघु, कहीं लघु-गुरु और कहीं लघु-लघु भी हैं; गति-भंग और यति-भंग बहुत हैं। जैसे—

परम विचित्र मित्र इक रहे। कृष्ण चरित सुन्यो सो चहै।
तिन कही दशम स्कंध जु आहि। भाषा करि कछु बरनौ वाहि॥

---

१. नंददास ग्रंथावली, पद १४६।
२. नंददास ग्रंथावली, दशम स्कन्ध भाषा, पृष्ठ २१६।

यदि नंददास जी ने तुलसी रामचरितमानस का प्रभाव ग्रहण किया होता तो चौपाई छंद की ये शिथिलताएँ न हुई होतीं ।

'भँवरगीत' और 'श्याम सगाई' में नन्ददास जी ने रोला और दोहे का संयुक्त रूप लिया है, अन्त में १० मात्रा की एक टेक लगाई है । यह छंद सूरदास का है । सूर ने पनघट-लीला में इसी का प्रयोग किया है—

सुनि तमचुर कौ सोर घोष कौ वागरी ।
नवसत साजि सिंगार चली नव नागरी ।।
नवसत साजि सिंगार अंग पाटंबर सोहैं ।
इक तैं एक अनूप रूप त्रिभुवन मन मोहैं ।।
इंदा विन्दा राधिका स्यामा वामा नारि ।
ललिता अरु चन्द्रावली, सखिन मध्य सुकुमारि ।। सबै ब्रज नागरी ।[1]

सूर के इस छंद में प्रथम दो पंक्तियाँ २१ मात्राओं की हैं; तीसरी और चौथी पंक्ति रोला की; और पाँचवीं-छठी पंक्ति दोहे की हैं; अन्तिम टेक १० मात्रा की है । नंददास ने इसमें बहुत थोड़ा परिवर्तन किया है । उन्होंने 'भँवर-गीत' के प्रथम पद में प्रथम दो पंक्तियाँ २१ मात्राओं की तथा तीसरी और चौथी पंक्ति दोहे की रखी हैं ।[2] रोला और दोहे का संयुक्त रूप साथ में १० मात्रा की टेक 'भँवर गीत' के अन्य छंदों और 'स्याम सगाई' के सभी छंदो में रखा है । सूरदास जी ने भी प्रथम छंद के अतिरिक्त पद के अन्य छंदों में रोला और दोहे के संयुक्त रूप में १० मात्रा की टेक जोड़ी है । २१ मात्रा की ऊपर की पंक्ति, वास्तव में गीत की टेक के लिए प्रयुक्त है । नंददास जी ने भी भँवरगीत में वैसा ही किया किन्तु पदों की एकरूपता के लिए प्रथम छंद से रोले को निकाल दिया । सूरदास के पद में राग-विधान का आग्रह होने के कारण प्रथम २ पंक्तियों की टेक आवश्यक थी । नंददास का भँवरगीत छंद में है अतः यहाँ २१ मात्राओं वाली दो पंक्तियों की आवश्यकता न थी । प्रतीत होता है अनुकरण की प्रवृत्ति के दोष से नंददास जी ने उसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया ।

अभिव्यंजना-कौशल—

कोमलकान्त पदावली—नंददास के अभिव्यंजना-कौशल का मुख्य गुण है उनकी कोमलकान्त पदावली । रास पंचाध्यायी में उनकी ललित पदावली और अनुप्रासिकता जयदेव के गीतगोविन्द से होड़ लेने लगती है । नंददास का यह नाद-वैभव, सूर की पद-योजना का ही परिवर्धित रूप है । सूर ने भी रास के प्रसंग में ध्वन्यात्मक पदावली

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १६१८ ।

२. **ऊधो को उपदेस सुनो ब्रज नागरी ।**
रूप सील लावण्य सबै गुन आगरी ।।
प्रेम-धुजा रस-रूपिनी, उपजावनि सुख-पुंज ।
सुन्दर स्याम-विलासिनी, नव वृंदावन-कुंज ।।

— नंददास ग्रंथावली (सभा), भ्रमरगीत, पद १

का प्रयोग किया था—

नृत्यत स्याम स्यामा संग ।
मुकुट लटकनि, भृकुटि मटकनि, धरै नटवर अंग ।।
चलत गति कटि कुनित किंकिनि घूँघरू झनकार ।
मनहुँ हंस रसाल वानी, अरस परस विहार ।।[1]

उसी का विशेष चमत्कारिक रूप रास पंचाध्यायी में इस प्रकार है—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली ।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ।।
× × ×
तैसिय मधु पद पटकनि चटकनि कटतारन की ।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की ।[2]

जिस प्रकार सूर ने मधुर वर्णों के साथ परुष वर्णों की योजना करने पर भी पंक्ति की सरसता की ही वृद्धि दी थी, उसी प्रकार नंददास ने भी वर्णों के अद्भुत विधान से संगीतात्मक ध्वनि की सृष्टि की है । नंददास की कोमलकान्त पदावली में भी अनुप्रास का वह योग नही है जो आगे चलकर रीतिकालीन कवियों में प्राप्त हुआ। नंददास के छंदों में भी पूरी पंक्ति में एक ही वर्ण की आवृत्ति का निर्वाह नहीं मिलता। सारे सौंदर्य का मूल वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति है । सूर की वर्ण-योजना में हम इसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं । सूर की वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति का चरम विकास ही नंददास की पदावली में है। जैसे—

कुंजनि कुंजनि डोलनि मनु घन ते घन आवनि ।[3]
रूप भरीं गुन भरीं भरीं पुनि परम प्रेम रस ।[4]
रुचिर दृगंचल चंचल अंचल में झलकत अस ।[5]

कान्तिगुण—सूर की पदावली में उनकी संगीतात्मकता का प्रवाह प्राप्त होता है किन्तु नंददास की पदावली का यह प्रमुख गुण है । ऊपर के उदाहरणों में 'दृगंचल, चंचल, अंचल' तथा 'कुंजनि-कुंजनि डोलनि मनु घन ते घन' आदि में जो औज्ज्वल्य है, कान्ति-गुण का द्योतक है । नंददास की शब्द-योजना में ऐसे ही शब्दों का बाहुल्य है जो शब्दों की मधुर गूँज से अलंकृत है । नंद की पदावली इसीलिए अर्थ-गौरव से उतनी रसात्मक नहीं है जितनी कान्ति-गुण और नागर भाव से रमणीय है ।

अलंकार—नंददास जी में अलंकारों की वह अद्भुत योजना नहीं मिलती जो सूर में मिलती है। सच तो यह है कि नंददास जी का ध्यान जितना शब्दों के बाह्य-सौंदर्य

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १०५६ ।
२. नंददास ग्रंथावली, रास पंचाध्यायी, पाँचवाँ अध्याय, छंद ६ और ८।
३. वही, प्रथम अध्याय, छंद ८९ ।
४. वही, १०२ ।
५. वही, पंचम अध्याय, छंद १०३ ।

पर था उतना अर्थ के चमत्कार पर नहीं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, प्रतीप, अतिशयोक्ति, विभावना आदि अलंकारों के उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं किन्तु उसमें विशेष चमत्कार नहीं है। इसीलिए उनकी अलंकार-योजना पर सूर का अधिक प्रभाव भी नहीं है, कुछ[1] अलंकृत पंक्तियों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव चाहे हो पर स्पष्ट प्रभाव प्रतीत नहीं होता।

छीतस्वामी और चतुर्भुजदास—अष्टछाप के सातवें और आठवें कवि छीतस्वामी और चतुर्भुजदास हैं। इन्होंने कोई काव्य-ग्रंथ नहीं रचे, इन लोगों के कुछ स्फुट पद ही मिलते हैं। काव्य-कला की दृष्टि से भी इनके पदों का विशेष महत्त्व नहीं है। गायक होने के कारण कहीं-कहीं ध्वन्यात्मक शब्द-योजना का सौंदर्य मात्र इसमें है। जैसे—

रतन जटित कनक थाल, मध्य सोहैं दीप माल,
अगरादिक चन्दन अति बहु सुगंध भाई।
घननन घन घटा घोर, झननन झालर झकोर,
तननन तन थेई थेई, करत हैं एक दाई॥

---

१. उत्प्रेक्षा—

कुंज कुंज प्रति पुंज अलि, गुंजति इमि परभात।
जनु रवि उर तम त्यज गयो, रोवत ताके तात॥
—नंददास ग्रंथावली, रूप-मंजरी, छंद ५३

साँवरे पिय संग निरतत चंचल ब्रज की बाला।
मनु घन मंडल खेलत मंजुल चपला माला॥
—नंददास ग्रंथावली, रास पंचाध्यायी, पंचम अध्याय, छंद ५३

रूपक—

उमग्यौ ज्यौं तँह सलिल सिंधु लै तनकी धारन।
भीजत अंबुज नीर कंचुकी भूषन हारन॥
ताही प्रेम प्रवाह में, ऊधौ चले बहाय।
भले ग्यान की मेंड़ हों, ब्रज में प्रगट्यौ आय॥ कूल के तृन भए॥
—नंददास ग्रंथावली, भ्रमरगीत, छंद ६१

प्रतीप—

मृगन लजे खंजन लजे, कंज लजे छवि हीन।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भए जललीन॥
—नंददास ग्रंथावली, रूप मंजरी, छंद ११६

दृष्टान्त—

नैन, बैन, मन प्रान में, मोहन गुन भरपूरि।
प्रेम-पियूषें छाड़ि कै, कौन समेटै धूरि॥
—नंददास ग्रंथावली, भ्रमरगीत, छंद १२

तननन तन तान पान, राग रंग स्वर बंधान,
गोपी जन गावें गीत मंगल बधाई ।
चतुर्भुज गिरधर लाल आरती बनी विसाल,
वारत तन मन प्रान जसोदा नँदराई ।[१]

रसखान—भक्तवर रसखान के सवैयों, कवित्तों और दोहों के भाव-पक्ष से प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति-भावना सूर जैसी थी। सूर की पद-रचना के स्वरूप का प्रभाव उन पर न पड़ सका। सम्भवतः इसलिए कि सूर की पद-रचना राग-रागिनी पद्धति में हुई है और रसखान को भारतीय राग-रागिनी पद्धति का ज्ञान न था। राग-रागिनी के अभाव में उन्होंने दोहा, सवैया और कवित्तों को अपनाया क्योंकि बिना संगीत-ज्ञान के भी इन छंदों में कवि स्वात्मानुभूति का गेय रूप प्रस्तुत कर सकता है।

रसखान सूर की भावानुभूति से बड़े प्रभावित थे। सूर ने जिस प्रकार अपनी आत्मपरक भावभूमि को कृष्ण-लीला के माध्यम से प्रस्तुत किया है उसी प्रकार रसखान ने कृष्ण-लीलाओं का संकेत मात्र करके स्वानुभूतिमय रसधारा प्रवाहित की है। जो रसावेग सूर के पदों का मूल तत्त्व है वही रसखान के स्फुट छंदों में भी प्राप्त होता है।

सूर की भाषा का प्रभाव रसखान पर स्पष्ट है। सूर की ब्रज-माधुरी का अनुकरण करने का सफल प्रयास रसखान ने किया है। सूर की भाँति ही रसखान ने भी वर्ण-संगति, अनुप्रास और शब्दों की सहज माधुरी पर विशेष दृष्टि रखी है।

सुन्दर स्याम सिरोमनि मोहन जोहन में चित्त चोरत है।
बाँके विलोकनि की अवलोकनि लोकनि के दृग जोरत हैं ॥[२]

यहाँ 'सुन्दर स्याम सिरोमनि', 'मोहन, जोहन, चित्त चोरत, बाँके विलोकनि, विलोकनि अवलोकनि' और 'लोकनि' के अनुप्रास और वर्ण-मैत्री सूर के पदों जैसी है। सूर की भाँति रसखान ने भी 'श्याम' और 'शिरोमणि' को 'स्याम' और 'सिरोमनि' करके ब्रज माधुरी से युक्त कर दिया है।

जिस प्रकार सूर ने अपनी वर्ण-योजना में परुष वर्णों के प्रयोग से कहीं-कहीं भाषा में अपूर्व चटपटापन प्रस्तुत किया है उसी प्रकार रसखान ने भी कहीं-कहीं कठोर वर्णों से भाषा में चटक उत्पन्न की है। जैसे—

सूर— **नैंना निपट विकट छवि अटके।**

× × ×

मंद मंद मुसकात सखनि में रहत न काहू हटके।[३]

रसखान— **अलि कोटि कियो हटकी न रही अँटकी अखियाँ लटकी लट सों।**[४]

अन्त्यानुप्रास युत शब्दावली का प्रयोग भी भाषा का सौष्ठव बढ़ाने के लिए

---

१. अष्टछाप परिचय (प्र० द० मी०), चतुर्भुजदास पद-संग्रह, पद ६।
२. रसखान और घनानन्द, छंद २९।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २३२२।
४. रसखान और घनानन्द, छंद ३६।

रसखान ने सूर की भाँति ही किया है। जैसे—

सूर— **चले अकुलाइ, बन धाइ ब्याई गाइ, देखिहौं जाइ मन हरष कीन्हौं।**[1]

रसखान—**अधर लगाय रस प्याय बाँसुरी बजाय,**

मेरौ नाम गाय हाय जादू कियौ मन में।[2]

सूर ने वीप्सा को सौष्ठव का साधन बनाया है। रसखान की वीप्सा भी बड़ी कमनीय है—

मोहनी तानन सों रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहैं तो गैहैं।

× × ×

माइरी वा मुख की मुसुकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै।[3]

रसखान के ब्रजभाषा के रूप प्रायः वे ही हैं जो सूर के थे। संज्ञा, सर्वनाम, परसर्ग-क्रियापद सब में सूर की भाषा का रूप ही रसखान ने ग्रहण किया है। रसखान की शब्दावली भी लचीली है। तद्भव शब्दों का ही प्रयोग रसखान ने भी अधिक किया है और तत्सम शब्दों को ब्रज-माधुरी के अनुरूप परिवर्तित कर लिया है। ब्रज के प्रचलित सुन्दर शब्दों का प्रयोग उनमें भी प्रचुर मात्रा में मिलता है।

सारांश यह कि रसखान ने सूर से रसावेगमय आत्मपरक भावुकता विशेष रूप से ग्रहण की है। ब्रजभाषा की रूप-रचना और भाषा-सौष्ठव भी उन्होंने सूर के अनुसरण पर ही प्रस्तुत किया है। किन्तु काव्य-रूप और अभिव्यंजना-कौशल उनके भिन्न थे। इसीलिए रसखान की रचना भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता के बीच की कड़ी है।

रीतिकालीन कवि—हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य की मूल प्रेरणा संस्कृत के रीति ग्रंथों से ली है। रीति ग्रंथकारों ने संस्कृत लक्षण-ग्रंथों से प्राप्त किए हैं किन्तु उदाहरण उनके अपने हैं। इन उदाहरणों में रीतिकालीन कवियों पर सूर का गहरा प्रभाव है। कारण यह है कि भक्त कवि होते हुए भी सूर ने नायिका-भेद, हाव-भाव, संयोग और वियोग की विविध दशाओं आदि का वर्णन राधा-कृष्ण की लीलाओं के अन्तर्गत किया है। इसी से रीतिकालीन काव्य के भाव-पक्ष और उसके परिणामस्वरूप कला-पक्ष पर सूर का प्रभाव विद्यमान है।

रीतिबद्ध कवि—केशव, बिहारी, मतिराम, देव आदि ने दोहा, सवैया, कवित्त आदि छंदों में रचना की है। ये कवि संस्कृत के काव्यशास्त्र से अधिक प्रभावित थे, संस्कृत काव्य में गीत-रचना का प्रायः अभाव होने से इन कवियों की दृष्टि उस ओर न गयी। इसीलिए काव्य के रूप-विधान के विचार से रीतिबद्ध कवियों की रचना पर सूर का अधिक प्रभाव नहीं है। रीतिकालीन कवियों ने घनाक्षरी और सवैया का प्रयोग अधिक किया है। घनाक्षरी और सवैया का आरम्भिक प्रयोग नरोत्तम, गंग, बलभद्र, रहीम और तुलसी आदि की रचनाओं में माना जाता है।[4] किन्तु वास्तव में

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १९८४।
२. रसखान और घनानन्द, रसखान पद ५५।
३. वही, ५६।
४. देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र), पृष्ठ २४३।

सूर ने इन सबसे भी पहले इनका प्रयोग अपनी पद-रचना में किया था। पिछले पद-रचना प्रकरण में स्पष्ट किया गया है कि सूर ने घनाक्षरी और दंडकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। इन छन्दों की मध्यवर्ती तुक कवित्त और सवैया का आवश्यक अंग है। गीत की गति के साथ सूर ने इनका प्रयोग किया था।[1] कदाचित् यह प्रयोग चारणों की मौलिक परम्परा में प्रचलित था, उसी की झलक सूर के पदों में मिली। सारांश यह कि रीतिकालीन कवियों ने पद-रचना में सूर के गीतों का प्रयोग न किया किन्तु घनाक्षरी और सवैया का प्रयोग भी सर्वप्रथम सूर में ही प्राप्त होता है। इस प्रकार पद-रचना में भी रीतिकालीन कवियों पर सूर का प्रभाव मानना असंगत न होगा।

रीतिकालीन कवियों की काव्य-कला सूर से अप्रभावित नहीं है। इनकी भाषा का आधार सूर की ब्रजभाषा ही है। सूर की पदावली, अलंकार-विधान, उक्ति-वैचित्र्य आदि का प्रभाव इन कवियों पर स्पष्ट है।

केशवदास—केशव पर सूर का प्रभाव अपेक्षाकृत कम है। केशवदास जी संस्कृत काव्य-शास्त्र और साहित्य से विशेष प्रभावित थे। इसीलिए सूर की शब्द-क्रीड़ा का जो आभास भी उनमें मिलता है, वह भी सूर से प्रभावित नहीं कहा जा सकता। केशव के रूपक आदि अलंकारों पर कदाचित् सूर के रूपकों का प्रभाव हो, यद्यपि वे भी संस्कृत पर ही आधृत हैं। वास्तव में सूर और केशव की काव्य-कलाओं में मौलिक भेद है—सूर की काव्य-कला का उद्देश्य रसानुभूति को उत्कर्ष देना है जबकि केशव की काव्य-कला रसानुभूति से विशेष सम्बन्ध नहीं रखती। इसी मौलिक अन्तर के कारण केशव पर सूर प्रभाव भी स्वल्प ही है।

बिहारीलाल—बिहारी के काव्य का प्रमुख गुण है कला-शिल्प। बिहारी ने भावानुरूप शब्दों में सौन्दर्य प्रस्तुत किया है। सूर की कलात्मक वर्ण-योजना, शाब्दिक ध्वनि-चमत्कार और अलंकार-योजना तीनों की छाप बिहारी पर मिलती है।

वर्ण-योजना—

जिस प्रकार सूर ने वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगति और अन्त्यानुप्रास के द्वारा भाषा को सजाया है और ध्वननशील व्यंजनों के सुप्रयोग से भाव को उत्कर्ष दिया है उसी प्रकार बिहारी की वर्ण-योजना भी कलात्मक है। प्रायः सूर के प्रत्येक गुण को बिहारी ने विकसित किया है।

वर्ण-संगति—

सूर— **मुकुट लटकनि, भृकुटि मटकनि नारि मन सुख देत।**[3]

---

१. **अंग अंग सुभग अति, चलति गजराज गति, कृष्ण सों एक मति जमुन जाहीं।** (सूर)
रंगराति हरी लहराति लता झुकजाति समीर के झोंकनि सों। (देव)

२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ११४८।

बिहारी—

भृकुटी मटकनि पीत पट, चटक लटकती चाल।
चल चख चितवनि चोरि चितु, लियो बिहारीलाल॥[1]
तथा
लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुट की छाँह।
चटक भरचो मनु मिलि गयो, अटक भटक वट माँह॥[2]

जिस वर्ण-संगति को सूर ने केवल दो शब्दों में प्रस्तुत किया था उसी का आद्यन्त निर्वाह बिहारी ने करके भाषा को चमत्कृत किया है।

एक मात्रा वाले वर्णों का कलात्मक रूप—

सूर—

तनक चरन अरु तनक चरन भुज, तनक बदन बोले तनक सों बोल।[3]

बिहारी—

कहत नटत रीझत खिजत, मिलत खिलत लजियात।[4]

ध्वननशील व्यंजन—

सूर— ललित आँगन खेलै, ठुमुकि ठुमुकि डोलै,
झुनुकि झुनुकि बोलै, पैजनी मृदु मुखर॥[5]

बिहारी— रनित भृंग घंटावली, झरित दान मधुनीर।
मंद-मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥[6]

जिस प्रकार सूर के "ठुमुकि ठुमुकि" और "झुनुकि झुनुकि" शब्दों के व्यंजन ध्वन्यात्मक हैं उसी प्रकार "रनित घंटावली" के व्यंजन ध्वननशील है।

मध्यवर्ती अन्त्यानुप्रास—

सूर— मध्य ब्रज नागरी, रूप रस आगरी, घोष उज्जागरी, स्याम प्यारी।[7]

बिहारी—

जमकरि मुँह तरहरि परचो, इहिं धरहरि चित लाउ।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥[8]

अलंकार-योजना—

सूर की कुछ अलंकृत पंक्तियों की किंचित् झलक भी बिहारी में मिलती है—

१. बिहारी रत्नाकर, ३०२।
२. वही, १६२।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १५२।
४. बिहारी रत्नाकर ३२।
५. सूरसागर (सभा,) दशम स्कन्ध, पद १५१।
६. बिहारी रत्नाकर, ३८८।
७. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७५१।
८. बिहारी रत्नाकर, २१।

उत्प्रेक्षा—

सूर— बेसरि की मुक्ता की झांई, वरन विराजति चारि ।
मानौं सुरगुरु सुक्र भौम सनि, चमकत चंद मंझारि ।।[१]

बिहारी— मंगल विन्दु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु ।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ।।[२]

सूर— भौंह धनुष, दृग पनच सखोरी, भाल तिलक जनु बान ।[3]

बिहारी— खौरि पनच, भृकुटी धनुष, बधिक समरु तजि कानि ।
हनतु तरुनि-मृग तिलक सर, सुरक भाल भरि तानि ।।[४]

सूर— तें जु नील पट ओट दिये री ।
जलसुत बिंब मनहुँ जल राजत, मनहुँ सरद ससि राहु लियो री ।।[५]

बिहारी— चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट छीन ।
मानहुँ सुर सरिता विमल, जल उछरत जुग मीन ।।[६]
भाल लाल बेंदी दिये, छुटे वार छवि देत ।
गह्यो राहु अति आह करि, मनु ससि सूर समेत ।।[७]

दृष्टान्त—

सूर— दाख छोड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै ।[८]

बिहारी— जीभ निबौरी क्यों लगे, बौरी चाखि अंगूर ।[९]

मुद्रालंकार—

सूर— कत मो सुमन सों लपटात ।
समुझ मधुकर परत नाहीं मोहि तोरी बात ।।
हेम जूहा है न जा संग रहे दिन पस्यात ।
कुमुदिनी संग जाहु वाके केसरी को गात ।।[१०]

बिहारी— कत लपटैयत मोगरे, सो न जुही निसि सैन ।
जिहिं चम्पक वरनी किए, गुल्लाला रंग नैन ।।[११]

मतिराम—अनुप्रास-युक्त मृदुल पदावली मतिराम की विशेषता है । उनकी

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २७३६ ।
२. बिहारी रत्नाकर, ४१ ।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १८२२ ।
४. बिहारी रत्नाकर, १०४ ।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३८८ ।
६. बिहारी रत्नाकर, ५७६ ।
७. वही, ३५५ ।
८. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४२८२ ।
९. बिहारी रत्नाकर, १९७ ।
१०. साहित्य-लहरी, पद ७१ ।
११. बिहारी रत्नाकर, ४९९ ।

वर्ण-योजना, पदावली और उपमान-योजना पर सूर का प्रभाव है। मतिराम की सरस-पदावली सूर की पदावली का ही विकसित रूप है।

सूर—— मुक्तावली मनहुँ जग पंगति, सुभग अंग चरचित छवि चंदन।
सूरदास प्रभु नीप तरोवर तर, ठाढ़े सुर, नर, मुनि-वन्दन ॥[1]

मतिराम—— किंकिनी कलित कल नूपुर ललित रव,
गौन तेरी देखि कै सकति करि गौन को।
मृदु मुसकानि मुखचन्द चारु चाँदनी सौं,
राख्यौ के उज्यारौ अभिराम द्वार मौन को ॥[2]

सूर की वर्ण-योजना और पदावली सरसता का संचार करती है, किन्तु सूर ने भाषा की स्वाभाविकता की रचना का ध्यान विशेष रखा है। मतिराम का मुख्य ध्यान भाषा की कमनीयता पर रहा है इसीलिए उनकी भाषा-मिठास और कोमलकान्तता में सूर से भी बढ़ी हुई है। सूर ने अन्त्यानुप्रास के द्वारा पदावली की गति में लचक उत्पन्न की है। 'उठे मुसुकाइ, अकुलाइ, अतुराइ के'[3] जैसी पद-योजना सूर में कहीं-कहीं मिलती है किन्तु मतिराम के पदों में यह गुण प्राय: मिलता है। जैसे——

आलस वलित कोरे काजर कलित,
मतिराम वे बलित, बहु पानिप धरत हैं।
सारस सरस सोहै सलज सहास सगरव,
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं ॥[4]

अलंकार-योजना——

रूपक——

सूर——रूपे संग्राम रति खेत नीके।
एक तें एक रनवीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नैकु अति सबल जीके।
भौंह कोदण्ड, सर नैन, धानुषि काम छुटनि मानौं कटाच्छनि निहारैं ॥[5]

मतिराम——भौंह कमान कटाच्छ सर, समर भूमि विचलैन।
लाज तजेहू दुहुँन के, सलज सूर से नैन ॥[6]

उपमा——

सूर——हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन बच क्रम नंद नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह-कान्ह जकरी।
× × ×
यह तो सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी।[7]

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २३६८।
२. मतिराम रत्नावली, पद ८६।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६५८।
४. मतिराम रत्नावली, ८५।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २१२६।
६. मतिराम रत्नावली, दोहा ५८।
७. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६८८।

मतिराम—आयौ है सयानप, गयौ है अजान मन,
तोहू उठि मान करिवे की टेक पकरी।
घर घर मानिनी हैं, मानती मनाए ते वै,
तेरी ऐसी रीति और काहू में न जकरी।
कवि मतिराम काम-रूप घनश्याम लाल,
तेरो नैन-कोर और चाहे इक टकरी।
हाहा के निहोरे हू न हेरति हरिन नैनी,
काहे को करति हठ, हारिल की लकरी॥[१]

मतिराम के पद में सूर के उपमान 'हारिल की लकरी' का ही प्रयोग नहीं है वरन् 'पकरी' 'जकरी' शब्दों का भी उपयोग चतुराई से किया गया है।

तद्गुण—

सूर— गुंजा की सी छवि लई, मुक्ता अति बड़ भाग।
नैननि की लई श्यामता, अधरन को बड़ भाग॥[२]

मतिराम—तरुनि अरुनि एंड़ीन कौ किरिन समूह उदौत।
वैनी मंडल मुकुत के, पुँज गुँज रुचि होत॥[3]

सूर ने नाक की मोती को गुँजा बना डाला है क्योंकि आँखों की कालिमा और होठों की लालिमा मोती पर पड़ रही है। मतिराम ने भी मोती को गुँजा ही बनाया है, अन्तर केवल यह है कि सूर में मोती नाक के बेसर में है और मतिराम में मोती नायिका की वेणी में गुँथे हैं जो कि पाँव की एड़ी को छू रही है। यहाँ बालों की कालिमा और पाँव की लालिमा ने मोती को प्रभावित किया है। इस प्रकार सूर का अलंकार ही कुछ परिवर्तन के साथ मतिराम में विराजमान है।

देव—कविवर देव पर सूर का प्रभाव प्रचुर मात्रा में है। इनके अनेक प्रसंग-खंडिता, रासलीला, संयोग-वर्णन और उद्धव-प्रसंग आदि—में सूर के पदों की छाया मिलती है। देव के अभिव्यंजना-कौशल पर भी सूर का प्रभाव परिलक्षित होता है।

वर्ण-योजना—अनुप्रासिक मधुर वर्णों की योजना देव की कला की एक विशेषता है। सूर की वर्ण-योजना देव की कलात्मक वर्ण-योजना का पूर्व रूप है। जैसे—

सूर— राधे छिरकति छींट छबीली।
कुच कुंकुम कंचुकि बँद छूटे, लटकि रही लट गीली॥[४]

१. मतिराम रत्नावली, पद ७०।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२३१।
३. मतिराम रत्नावली, पद १४३।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७७८।

देव—वारि के बुंद चुवैं चिलकैं अलकैं छवि की छलकैं उछलीसी।
अंचल झीने झुके झलकैं, पुलकैं कुच-कंद कदंब-कली सी ॥[1]

पदावली—देव ने समासहीन छोटे-छोटे मधुर शब्दों की लड़ी प्रस्तुत कर पद-बंधों का कलात्मक गुंफन किया है। अनुप्रास, वीप्सा आदि के द्वारा भाषा की कमनीयता और प्रवाह में सौरस्य उत्पन्न किया है। यही गुण सूर का भी था। जैसे—

सूर— अंग-अंग अनंग सत-सत वरनि नहिं जाई।
कोउ निरखि सिर मुकुट की छवि, सुरति बिसराई ॥[2]

देव— तजि-तजि कुंज पुंज, ऊपर मधुप गुंज,
गुंजरत मंजु रव, बोले बाल पिकसी।[3]

अलंकार-योजना—अलंकार-योजना पर भी सूर का प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे—

सादृश्य-मूलक अलंकार विधान—

रूपक—

ऊधौ करि रहीं हम जोग।

× × ×

सीस सैली केस मुद्रा कनक वीरी वीर।
विरह भस्म चढाइ बैठीं, सहज कंथा चीर ॥
हृदय सिंगी, टेर मुरली, नैन खप्पर हाथ।
चाहते हरि दरस भिक्षा, दई दीनानाथ ॥
जोग की गति जुगति हम पै सूर देखो जोइ।
कहत हम सों करन जोग सु जोग कैसो होइ ॥[4]

इन्हीं शब्दावलियों को लेकर देव ने बड़ा चमत्कारिक रूपक दिखाया है—

बरुनी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते वसन भगोहें भेष रखियाँ ॥
बूड़ी जलही में दिन जामिनि हू जागें,
भौंहें सिर छायौ बिरहानल बिलखियाँ।
अँसुवा फटिक माल, लाल डोरी सैली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए संजोगिनी,
ए, जोगिनी ह्वै बैठी हैं वियोगिनी की अँखियाँ ॥[5]

---

१. देव और उनकी कविता, पृष्ठ २३१।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, १८०२।
३. देव और उनकी कविता, २२१।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४३१२।
५. देव रत्नावली, पृष्ठ ४७।

सूर का 'शोभा-सिन्धु' रूपक भी देव ने ग्रहण किया है—

सूर—सोभा सिन्धु न अंत लही री ।
नंद भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की वीथिनु फिरत बही री ।।
× × ×
जसुमति-उदर-अगाध-उदधि लै उपजी ऐसी सबनि कही री ।
सूर स्याम प्रभु इंदु नीलमनि, ब्रज बनिता उर लाइ गही री ।।[1]

देव—सूनो के परम पद, ऊनो के आनन्द मद,
दूनौ कै नदीस नद इंदरा फुरै परी ।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसनि की सिद्धि ब्रज वीथी विथुरै परी ।
भादों की अंधेरी अधराति मथुरा के पथ,
पायकै संजोग देव, देवकी दुरै परी ।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे इक बार ही कुरै परी ।।[2]

सूर की 'अनंत शोभा-सिंधु' देव में 'पारावार पूरन अपार परब्रह्म राशि' बन गयी है, दोनों ही 'ब्रज बीथिन' में फैली हुई हैं—सूर में सिंधु होने के कारण 'बह रही है' तो देव में 'राशि' होने के कारण 'बिथुरी पड़ी' है। सूर में यह शोभा 'जसुमति उदर अगाधि उदधि' में 'उपजी' है तो देव में वही 'जसुदा के कोरे (अंक में)' एकाएक ढेर हो गयी है।

उपमा—

सूर—देखियत चहुँ दिसि तें घन घोरे ।
× × ×
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु गरत गात जैसे ओरे ।।[3]

देव—बड़े बड़े नैननि सौं आँसू भरि भरि ढरि,
गोरौ गोरौ मुख आजु ओरौ सौ विलानौ जात ।[4]

उत्प्रेक्षा—

सूर—भृकुटी विकट निकट नैननि के, राजति अति वर नारि ।
मनौ मदन जग जीति जेर करि, राख्यौ धनुष उतारि ।।[5]

देव—नारि हिए त्रिपुरारि बँधे सुनि, हारि कै मैन उतारि धर्यो धनु ।[6]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ६४७ ।
२. देव रत्नावली, पृष्ठ ४८ ।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३९२१ ।
४. देव और उनकी कविता, पृष्ठ १८३ ।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २७३२ ।
६. देव और उनकी कविता, पृष्ठ १९१ ।

यहाँ ढीली भौंहों के लिए उतरे हुए धनुष की उपमा देव ने सूर से ही ली है ।

रूपासक्ति की रसमग्नता के लिए मधुमक्खी की उपमा भी सूर से ही देव ने ली होगी—

सूर—**हरि दरसन को तरसति अँखियाँ ।**
झाँकति झखति झरोखा बैठी, कर मीड़ति ज्यों मखियाँ ।
बिछुरी वदन सुधानिधि रस तें, लगति नहीं पल पंखियाँ ।।[1]

देव—**देव कछू अपनौ बस ना रस लालच लाल चितैं भईं चेरी ।**
वेगि ही बूड़ि गईं पंखियाँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ।।[2]

यहाँ अलंकार भेद होने पर भी अप्रस्तुत-विधान का साम्य है ।

रीतिमुक्त कवि—

शेख—कवयित्री शेख की अति प्रसिद्ध निम्नलिखित पंक्ति साहित्य-लहरी में ज्यों-की-त्यों प्राप्त होती है । प्रतीत होता है अपने आप में कमनीय होने के कारण सूर की उक्ति उस काल में प्रचलित थी जिसे 'शेख' ने आलम के साथ विनोद में उपयोग किया है—

(कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन ?)
कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन ।

साहित्य-लहरी के द्वितीय पद में ही इसका रूप इस प्रकार है—

भूमि सुत अरिमित्र रिपु पुरते निकासत आय ।
सुद्ध आषर भरत ग्रीषम रिपुन मद्धे साय ।।[3]

भूमि सुत अरि मित्र रिपु पुर—

भूमिसुति=तरु, उसका अरि बानर, बानर का मित्र राम, राम का रिपु रावण, रावण का पुर लंक=कटि ।

सुद्ध आषर—

सुद्ध=सु, आषर=अक्षर=वर्ण अर्थात् सुवर्ण=कंचन ।

ग्रीषम रिपुन=ग्रीष्म का रिपु=बादल=पयोधर=कुच ।

समष्टि में अर्थ यह हुआ—कटि से कंचन निकालकर कुचों में डाल दिया गया । इसी प्रकार रसलीन का प्रसिद्ध दोहा—

अमिय हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार ।
जियत भरत झुकि, झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ।।

भी साहत्य-लहरी में प्राप्त है ।

नीकन अद्भुत बान लई ।

× × ×

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८५८ ।

२. देव और उनकी कविता, पृ० १८४ ।

३. साहित्य लहरी (लहेरिया सराय), पद २ ।

पैं झष कनक रुद्र रंग तंत्रीसुन्न ग्राद भर भोग ।
याही तें सबकों उपजावत सुष मद महा वियोग ।।[1]

पै झष कनक रुद्र रंग तंत्री सुन्न के ग्रादि ग्रक्षरों के योग से बने हुए शब्द—**पै = पय =** ग्रमृत, झख = **मीन**, कनक = हाटक, रुद्र रंग = लाल , तंत्री = **वीणा**, सुन्न = ख । इन सब शब्दों के ग्रादि वर्णों के जोड़ने पर (ग्र + मी + हा + ला + वी + ख) ग्रमी, हाला ग्रौर विष बने । ये क्रमशः सुख, मद ग्रौर महा वियोग (मृत्यु) उत्पन्न करते हैं।

घनग्रानंद—रीतिमुक्त कवियों में घनग्रानंद पर सूर का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। घनग्रानंद श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। उनके पदों में सूर से भी ग्रधिक राग ग्रौर रागिनियाँ मिलती हैं। उनके ग्रनेक पद तो केवल शास्त्रीय गान के निमित्त रचे गये हैं क्योंकि उनमें स्थायी ग्रौर ग्रन्तरा के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ है ही नहीं । घनग्रानंद का संगीत शास्त्रीय ज्ञान उनकी पद-रचना में ग्राभासित होता रहता है । सूर की भाँति ही उनके राग ग्रौर पद विषयक भाव में सुन्दर सामंजस्य मिलता है । जैसे—

राग भैरव

गोपाल तुम्हारे गुन गाऊँ ।
करहु निरन्तर कृपा कृपानिधि विनती करि सिर नाऊँ ।।
टरत न मोहन मूरति हिय तें देखि देखि सुख पाऊँ ।
ग्रानंदघन हों बरसौ सरसौ प्रान पपीहा ज्याऊँ ।।[2]

राग भैरव के स्वरों में भक्ति-भाव का उल्लास उसी प्रकार हृदय संवेद्य है जैसा सूर के पद में ।

राग ग्रासावरी

स्याम बलराम को सदा गाऊँ ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कों स्वप्न हू माँहि नहिं हृदय ल्याऊँ ।।
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम व्रत, यहै मम प्रभु फल यहै ध्याऊँ ।
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर प्रभु देहु हौं यहै पाऊँ ।।[3]

ग्रभिव्यंजना में बहुत ग्रन्तर है, किन्तु दोनों पदों की ग्रात्मा एक ही है, दोनों की पद-रचना, संगीतात्मकता तथा रसावेग समान हैं ।

सूर की भाँति घनग्रानंद ने भी विलास, ललित, भैरव ग्रादि रागों का उपयोग प्रातःकालीन वर्णन में किया है । जैसे—

राग विभास

जागौ जागौ हो निसि के मतवारे ।
भोर भयौ लागे बोलन सुक, सारौ है चहचारौ ।।[4]

---

१. साहित्य लहरी (लहरिया सराय), पद ११५ ।
२. ग्रानन्दघन ग्रंथावली, पदावली, संख्या ४।
३. सूरसागर (सभा), विनय, पद १६७।
४. ग्रानंदघन ग्रंथावली, पदावली, संख्या ६ ।

सूर ने अपने रस-वर्णन में नृत्य के ताल आदि का कथन किया है—

होड़ा होड़ी नृत्य करें, रीझि रीझि अंक भरें,
ताता थेई थेई उघटत हैं हरषिमन ।[1]

घनआनंद का रास-पद मृदंग की बोल आदि से समन्वित नृत्य को प्रत्यक्ष कर देता है—

रास मंडल में नाचत दोऊ तकट धिकट धिधिकट, धिलांग थेई थेई तत् थेई ।
आनंदघन रसरंग पपीहा रीझि रीझि आँकौ भरि लेई ।।[2]

तात्पर्य यह कि पद-रचना में संगीत के स्वर-तालों का योग आनंदघन में उसी प्रकार प्राप्त होता है जिस प्रकार सूर में है। संगीत-कला में निपुण होने के कारण घनआनंद ने सूर के अनुकरण पर संगीत-समन्वित पद-रचना की।

घनआनंद की पदावली, वर्ण-योजना और अलंकार-विधान पर भी सूर का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। देव आदि रीतिकालीन कलाकारों के प्रभाव ग्रहण करने पर भी घनआनंद की पदावली में ब्रज-भाषा का जो सहज माधुर्य प्राप्त होना है, उसके प्रेरक सूर ही थे। जैसे—

गोरी बाल थोरी बैस लाल पै गुलाल मूठि,
तानि कै चपल चली आनन्द उठान सों ।[3]

पंक्ति का प्रत्येक शब्द सूर की सहज ब्रज-माधुरी से युक्त है। जिस प्रकार देव और मतिराम की वर्ण-योजना और पदावली पर सूर की अलंकृत पदावली का प्रभाव है उसी प्रकार घनआनंद की पदावली पर सूर की ब्रज-भाषा का।

आधुनिक ब्रज-भाषा कवि—

हरिश्चन्द्र—आधुनिक ब्रजभाषा कवियों में भारतेन्दु जी पर सूर का प्रभाव स्वाभाविक है। ये वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित थे और सूर की भाँति इनकी भक्ति भी सख्य भाव की थी। हरिश्चन्द्र जी सूर और घनआनंद की भाँति संगीतज्ञ थे। उनके संगीत ज्ञान का पूर्ण परिचय मिलता है। परम्परागत राग-रागिनियों से लेकर ठुमरी, दादरा, लावनी, गजल तक उनमें मिलती है। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनमें गान की बंदिश मात्र ही है।[4] सूर का प्रभाव भारतेन्दु की पद-रचना, अलंकार-विधान और उक्ति-वैचित्र्य पर है।

पद-रचना—हरिश्चन्द्र जी ने सूर की भाँति ही रागों का सुव्यवस्थित क्रम रखा है—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १७६७ ।
२. रसखान और घनआनंद, घनआनंद छन्द १९ ।
३. वही, पद ३७९ ।
४. **सैंयाँ तुम हमसे बोलो, ना**
कब के गए कहाँ रैन गँवाई, मत घूँघट पट खोलो ।।
—भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेमतरंग, पद ४२

राग विभास

भोर भए जागे गिरिधारी।
सगरी निसि रसबस करि बितई, कुंज महल सुखकारी।

× × ×

रही लपटाइ जंभाइ पिया उर हरीचंद बलिहारी ।।[१]

न केवल पद की योजना सूर के पदों के क्रम में है वरन् प्रातःकाल का वर्णन भी संधि-प्रकाश राग में विभास में है—

राग मलार

घिरि घिरि घोर घमक घन धाए।
बरसत वारि बड़ी बड़ी बूँदन ब्रज मंडल पर छाए ।।[२]

मलार राग में वर्षा का वर्णन करना सूर का ही अनुसरण है। सम्पूर्ण पावस प्रसंग सूर ने मलार राग में प्रस्तुत किया है।

गीत-रचना के अतिरिक्त हरिश्चन्द्र ने विविध छन्दों में पदों की रचना की है। होली के एक पद में हरिश्चन्द्र ने सूर के अनुसरण पर दोहे के विशिष्ट रूप का प्रयोग किया है—

सूर— **खेलत हैं अति रसमसे रंग भीने हो।**
अति रस केलि विलास, लाल रंग भीने हो।[3]

हरिश्चन्द्र— **आए कहाँ सों आज प्रात, रस भीने हो।**
अति जंभात अलसात, लाल रस भीने हो।[४]

शब्द-योजना—हरिश्चन्द्र की शब्द-योजना पर सूर का प्रचुर प्रभाव है। हरिश्चन्द्र जी ने सूर के अनुकरण पर सभी सरस प्रसंगों पर स्फुट पद रचना की है। रीतिकालीन ब्रज-भाषा की घटाटोप कलात्मकता को यथासम्भव त्याग कर भारतेन्दु बाबू ने सूर की ब्रज-माधुरी को पुनर्जीवित करना चाहा है। उदाहरण—

आजु कछु मंगल घन उनए।
गरजत मंद-मंद सोइ मंगल मनवत कुँज छए।।
बरसत बूँदन मनु अभिसेचत मंगल कलस लए।
चमकि मंगलामुखी दामिनी मंगल करत नए ।।[५]

"आजु", "कछु", "उनए", "मनवत", "छए", "लए" आदि में सूर की शब्द-योजना की झलक विद्यमान है।

बाल-लीला के कुछ स्फुट पदों में सूर के पदों की शब्दावली का प्रत्यक्ष प्रभाव

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली—प्रेम मालिका, पद २३।
२. वही, प्रेमाश्रु वर्णन, पद ३८।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २८६३।
४. भारतेन्दु ग्रंथावली—होली, पद ३२।
५. वही, प्रेमाश्रु वर्णन, पद १२।

भी मिलता है। नीचे दो पद उदाहरण के लिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

राग आसावरी

आजु लख्यौ आँगन में खेलत जसुदा जी को बारौ री।
पीत झंगुलिया तनक चौतनी, मन हरि लेत दुलारौ री ॥[1]

सूरसागर में इसी से मिलता-जुलता पद है--

राग आसावरी

मैं देख्यौ जसुदा को नंदन, केलत आंगन बारौ री।
तत छन प्रान, पलटि गयौ मेरौ, तन मन ह्वै गयौ कारौ री।[2]

स्पष्ट है भारतेन्दु के "आजु", "लख्यो", "बारौरी", "झंगुलिया", "दुलारौ" सूर की शब्दावली के नमूने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर के पद को सम्मुख रखकर ही भारतेन्दु जी ने उक्त पद की रचना की है। इसी प्रकार निम्नलिखित पद भी सूर पर ही आधारित है—

भारतेन्दु— **छोटो सो मोहन लाल छोटे छोटे ग्वाल बाल,**
छोटी छोटी चौतनी सिरन पर सोहै।
छोटे छोटे भँवरा चकई छोटी छोटी लिए,
छोटे छोटे हाथन सों खेलें मन मोहैं॥
छोटे छोटे चरन सों चलत घुटुरुवन,
चढी ब्रजबाल छोटी छोटी छवि जोहैं।
हरीचंद छोटे छोटे कर पै माखन लिए,
उपमा वरनि सकै ऐसौ कवि को है।[3]

सूर— **छोटी छोटी गोड़ियाँ, अंगुरियाँ छबीली छोटी,**
नख ज्योती मोती मानो कमल-दलनि पर।[4]

अलंकार-योजना—भारतेन्दु के अनेक अलंकारों पर सूर की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे--

उत्प्रेक्षा —

सूर— **सुन्दर भाल तिलक गोरोचन, मिलि मसि बिन्दुका लाग्यो री।**
मनु मकरंद अंचे रुचि के, अलि सावक सोइ न जाग्यो री॥[5]

भारतेन्दु— **अति सुकुमार चन्द्र से मुख पै, तनक डिठौना दीनो री।**
मानहुँ श्याम कमल पै इक अलि, बैठो है रंग भीनो री॥[6]

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, राग संग्रह, पद १७।
२. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद १३५।
३. भारतेन्दु ग्रंथावली, राग संग्रह, पद ३०।
४. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७६९।
५. वही, ७५५।
६. भारतेन्दु ग्रंथावली, राग संग्रह, पद १७।

सूर— पीत झंगुलिया की छवि छाजति, विज्जुलता सोहति मनु कंदहिं।[1]

भारतेन्दु— पीत झंगा अति तन पै राजत, उपमा यह बनि आई री।
मनु घन में दामिनि लपटानी, छवि कछु वरनि न जाई री॥[2]

रूपक—

सूर— मानों गिरिवर तें आवति गंगा।
गौर गात दुति विल वारि विधि, कटि-तट त्रिवली तरल तरंगा।
भुजयुग पुलिन पास मिलि बैठे, चार चक्कवै उरज उतंगा॥
× × ×
सूरदास मनु चली सुरसरी श्रीगुपाल सुख सागर संगा॥[3]

भारतेन्दु— प्यारी रूप-नदी छवि देत।
सुखमा-जलभरि नेह-तरंगनि बाढी पिय के हेत॥
नैन मीन कर-पद-पंकज से सोभित केस-सिवार।
जक्रवाक जुग उरज सुहाए लहरु लेत गल-हार॥[4]

उक्ति-वैचित्र्य—हरिश्चन्द्र की उक्तियों में वक्रताएँ भरी पड़ी हैं। उनमें से अनेक सूर की उक्तियों पर आधारित हैं। जैसे—

सूर— कहौ मधुप कैसे समाहिंगे एक म्यान दो खाँडे।[5]

हरि०— रहे क्यों एक म्यान असि दोय।[6]

सूर— इनसे कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खारे कूप को वारी॥[7]

हरि०— चाहे जितनी बात प्रबोधौ, ह्याँ को जो पतियावै।
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।[8]

सूर— काहे को झाला लै मिलवत कौन चोर तुम डाँडे।[9]

हरि०— चोरन छाँडि छाँडि कै डांड़ौ उलटौ धन के स्वामी।[10]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ७२५।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, राग संग्रह, पद १७।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३०७२।
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, प्रेमाश्रु वर्णन, १८।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ४२२२।
६. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी, पद २०
७. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २९६५।
८. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी, पद २०।
९. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६०४।
१०. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी ३।

सूर-- सूरदास सौ भजन बहावौ जाहि दूसरौ भावै।[१]
हरि०-- जो तोहि भजै ताहि नहिं भजनों कीनौ भलौ बनाय।[२]
सूर-- मेरे नैना दोष भरे।
× × ×
ये मेरे अब होंहि नहीं सखि, हरि छवि बिगरि परे।[३]
हरि०-- भईं सखि ये अँखियाँ बिगरैल।
बिगरि परीं मानत नहिं देखे बिना साँवरौ छैल।[४]
सूर-- मोंहि प्रभु तुमसों होड़ परी।
× × ×
मोंकौ मुक्ति विचारत हो प्रभु पचि हौ पहर घरी।
श्रम ते तुम्हें पसीना ऐहै, कत यह टेक करी॥
सूरदास बिनती कह बिनवै दोषनि देह भरी।
अपनौ विरद सम्हारहुगे तौ यामें सब निबरी॥[५]
हरि०-- सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी॥
× × ×
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहिं दीनों तारी।
बानौ जुगओ नीके अब की हरीचन्द की बारी॥[६]

आधुनिक ब्रजभाषा के अन्य कवि—

ब्रजभाषा के आधुनिक कवियों--पं० सत्यनाराण कविरत्न, श्री वियोगी हरि और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर--पर सूर का प्रभाव उल्लेखनीय है। भाव और भाषा दोनों में इन कवियों ने सूर से प्रभाव ग्रहण किया है।

पद-रचना—सूर की पद-रचना की परम्परा 'कविरत्न' और वियोगी हरि में मिलती है। यद्यपि ये कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति राग-रागिनी के शास्त्रीय विधि-विधान से परिचित नहीं हैं तथापि सूर की पद-शैली का अनुसरण इनमें मिलता है। इनके पदों के ऊपर राग-रागिनी का उल्लेख भी नहीं मिलता। पदों में आदि से अन्त तक तुक का भी निर्वाह नहीं प्राप्त होता।

माधव अब न अधिक तरसैयै।
जैसी करत सदा सौ आये वुही दया दरसैयै॥

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६२१।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी, पद ३।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद २६७३।
४. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी, पद २३।
५. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, विनय, पद १३०।
६. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, प्रेम-फुलवारी १०।

मानि लेहु हम कूर कुढंगी कपटी कुटिल गँवार।
कैसे असरन-सरन कहा तुम, जन के तारन हार ।।

× × ×

अजहुँ प्रार्थना यही आप सौं अपनी विरद संभारौ।
'सत्य' दीन दुखियन की विपता, आतुर आइ निबारौ ।।—(सत्यनारायण)

आए नैन पाहुने तेरे।
द्वार खोलिदे प्रेम भौन कौं करि पहुनई सवेरे ।।
सुनि-सुनि तेरे दरस तीर्थ को, पुण्य महातम भारी।
छानत छानत धूरि कहाँ तें, आए हैं ब्रतधारी ।।

× × ×

क्यों नहिं तीरथ सुफल करावत छाँडि गरूर हठीले।
'हरि' ढूँढेहू नाथं मिलैंगे ऐसे नेह रंगीले ।।

(वियोगी हरि)

शब्दावली—इन पदों में सूर का सख्य-भाव भी प्रतिबिम्बित है। सख्य-रचना की दृष्टि से इनका स्वरूप सूर जैसा ही है। भाषा पर भी सूर की छाया है। सत्यनारायण वाले पद में 'तरसैयें', 'दरसैयै', 'कूर', कुढंगी', 'कपटी कुटिल गँवार', 'असरन-सरन', जल के तारन हार', 'विरद संभारौ', 'दीन दुखियनि', 'आतुर आइ निवारौ' आदि पदावली सूर की छाप को स्पष्ट प्रकट करती है। इसी प्रकार 'हरि' जी के पद में 'नैन-पाहुने', 'खोलिदे', 'पहुनई', 'पुन्य-महातम', 'छाँडि', 'नाथ' 'नेह-रंगीले' शब्द सूर की शब्दावली से साम्य रखते हैं।

'रत्नाकर' जी ने पद नहीं रचे हैं, घनाक्षरी, दोहे, सवैया, छप्पय आदि छन्दों में रचना की है। इस प्रकार उनकी पद-रचना पर सूर का प्रभाव नहीं है, किन्तु शब्द-योजना पर तो सूर का बहुत अधिक प्रभाव 'उद्धव-शतक' में है। उद्धव-शतक के अनेक छन्दों में सूर भ्रमरगीत की शब्दावली का उपयोग भी है। जैसे—

सूर— निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती।[1]

रत्नाकर—पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगी।[2]

यहाँ सूर के 'निरखति' और 'लावति लै छाती' शब्दों को 'रत्नाकर' जी ने अनूठे ढंग से अपनाया है।

सूर— सकसकात तन धकधकात उर, अकबकात सब ठाढे।[3]

रत्नाकर—सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भमरे से भकुआने से।[4]

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४८७।
२. उद्धव शतक, पद २६।
३. सूरसगर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३४७९।
४. उद्धव शतक, पद २८।

रेखांकित शब्दों का ही विस्तार 'रत्नाकर' की पंक्ति' में है।

सूर— जिहि छिन करत कलोल संग रति गिरिधर अपनी चाढ़।
काटत हैं परजंक ताहि छिन, कैधौं खोदत खाढ़ ॥[1]

रत्नाकर— सोच है यहै कै संग ताके रंग-भौन माँहि,
कौन धौं अनौखो ढंग रचत निराटी हैं।
छाँटि देत कूबर के आँटि देत डाँट कोऊ,
काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी हैं ॥[2]

सूर के 'काटत हैं परजंक', 'कैधौं खोदत खाढ़' और रत्नाकर के 'काटि देत खाट किधौं' 'पाटि देत माटी है' एक ही शब्दावलियाँ हैं।

सूर— हरि दरसन को तरसति अँखियाँ।
झाँकति झखति झरोखा बैठी, कर मीड़ति ज्यों मखियाँ।
बिछुरी वदन सुधानिधि रस तैं लागति नहिं पल पखियाँ।
× × ×
सूर सरूप मिले तैं जीवहिं काट किनारे नखियाँ।[3]

इस पद के रेखांकित शब्दों का उपयोग 'रत्नाकर' ने बड़े चमत्कारिक ढंग से किया है—

कान्ह हू सों आन ही विधान करिब को ब्रह्म,
मधुपुरियान की चपल कखियाँ चहैं।
कहै रतनाकर हँसै कै कहौ रोवैं अब,
गगन-अथाह-थाह लेन मखियाँ चहैं ॥
अगुन-सगुन-फंद-बंद निरवारन कौं,
धारन कौं न्याय नुकीली नखियाँ चहैं।
मोर-पँखियाँ कौ मोर-वारौ चारु चाहन कौं,
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पंखियाँ चहैं ॥[4]

अलंकार-योजना—

'कविरत्न', 'हरि जी' और 'रत्नाकर' तीनों ही कवि रूपक आदि के लिए परम्परागत शैली का अनुसरण करते हैं। तीनों के पदों में सुन्दर सांग रूपक प्राप्त होते हैं। परम्परागत उपमान-योजना में केवल सूर का ही प्रभाव नहीं माना जा सकता, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि जिस परम्परा में सूर के उपमान हैं उसी में इन कवियों के भी हैं। 'रत्नाकर' की कुछ अलंकृत पंक्तियों में तो 'सूर' की झलक स्पष्ट मिल जाती है जैसे—

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३६४२।
२. उद्धव शतक, पद ७६।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३२४०।
४. उद्धव शतक, पद ६४।

प्रत्युक्ति—

सूर— कागद गरे मेघ मसि खूटी, सर दव लागि जरे ।[1]
रत्नाकर— सूखि जात स्याही लेखनी कैं नेकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात हैं ।[2]

व्याघात—

सूर— जे कच कनक कटोरा भरि-भरि, मेलत तेल फुलेल ।
तिन केसन क्यों भस्म चढ़ावत, होरी कैसे खेल ।।[3]
रत्नाकर— चोप करि चंदन चढ़ायो जिन अंगनि पै,
तिन पै बजाइ करि धूरि दरिबौ कहा ।
रस-रतनाकर स-नेह निरवार्यौ जाहि,
ता कच कौ हाय जटाजूट करिबौ कहा ।[4]

सारांश यह कि आधुनिक ब्रज-भाषा-काव्य पर सूर का प्रभाव पड़ा तो निश्चित रूप से है किन्तु उसकी मात्रा अधिक नहीं है । हरिश्चन्द्र को छोड़कर कोई भी कवि सूर की भाँति संगीत-शास्त्र का ज्ञाता नहीं है, इसीलिए सूर की पद-रचना अब समाप्तप्राय है । खड़ी बोली के कवियों ने मुक्त गीतों की रचना प्रचुर मात्रा में की किन्तु उनके पदों का स्वरूप सूर-प्रणीत-पद-रचना से सर्वथा भिन्न है । ब्रज के गिने चुने कवियों—अनूप शर्मा, हरदयालुसिंह, डा० रसाल और दुलारेलाल आदि छन्द रचना से आगे नहीं बढ़ सके हैं ।

सूर के अभिव्यंजना-कौशल की छाप भी आधुनिक ब्रजभाषा के कवियों पर बहुत अधिक नहीं है । दुलारेलाल, डा० रसाल आदि रीतिकालीन कलात्मकता से विशेष प्रभावित हैं । कला-विषयक रूढ़ियों के मोह को न छोड़ सकने के कारण ही ब्रज भाषा-कविता अधिक पनप न सकी । हरिश्चन्द्र, सत्यनारायण और वियोगी हरि ही वास्तव में, सूर की सहज रसाभिव्यक्ति के अनुकर्ता थे । हरिश्चन्द्र और सत्यनारायण के अकाल दिवंगत होने और 'हरि' जी के काव्य-रचना से सन्यास लेने से सूर की परम्परा भी समाप्तप्राय ही है । फिर भी आज के सभी कवि काव्य-प्रेरणा में सूर का आभार स्वीकार करते हैं ।

निष्कर्ष—कला विषयक आदान और प्रदान सामग्री के संक्षिप्त परिशीलन के पश्चात् कवि की प्रतिभा और मौलिकता का मूल्यांकन करना सरल हो जाता है । सूर की काव्य-कला के दो मुख्य पक्ष हैं—पद-रचना (रूप-विधान) और अभिव्यंजना-कौशल । इन दोनों को सम्मुख रखकर हमने श्रीमद्भागवत और गीतगोविन्द से लेकर रत्नाकर के उद्धव-शतक तक विहंगम दृष्टि डाली है । इसमें हमने देखा कि सूर की पद-रचना पर पूर्ववर्ती कवियों जयदेव, विद्यापति या कबीर आदि का कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं

---

१. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३३०० ।
२. उद्धव शतक, पद ६६ ।
३. सूरसागर (सभा), दशम स्कन्ध, पद ३८१८ ।
४. उद्धव शतक, पद ३८ ।

है। प्रेरणा भले ही सूर ने इन कवियों से अपने गीतों के निर्माण में ले ली हो किन्तु जिस शास्त्रीय संगीत-संयुक्त साहित्यिक विधान में उनकी पद-रचना हुई है वह अभूत-पूर्व वस्तु है। गीतों की एक मौखिक परम्परा आदि काल से सन्तों में चली आ रही थी किन्तु उसका साहित्यीकरण सूर के द्वारा ही सम्पन्न हुआ। परवर्ती साहित्यकारों ने सूर की पद-रचना को इस आग्रह के साथ ग्रहण किया कि आज तक उसका कुछ न कुछ रूप चलता जा रहा है। छन्दशास्त्र में इसका कोई विवेचन कभी नहीं हुआ है किन्तु प्रयोग में इसकी परम्परा अक्षुण्ण रही है। सूर ने पूर्ववर्ती कवियों के छन्दों—दोहा, रोला, सरसी, सार, घनाक्षरी, दण्डक आदि को लेकर उनका नव-निर्माण कर दिया था। इनमें से कुछ ने अपनी अलग परम्परा ही बना ली। सूर का रोला और दोहे के संयुक्त रूप में दस मात्रा की टेक वाला छन्द अलग से चल गया और उसका गेयत्व पदों में होड़ लेने लगा।

अभिव्यंजना-कौशल में भी सूर ने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत कम प्रभाव ग्रहण किया है। सूर की वर्ण-योजना, भाषा-समृद्धि, शब्द-शक्तियाँ, अप्रस्तुत-योजना और उक्ति-वैचित्र्य आदि पर पूर्ववर्ती प्रभाव आंशिक ही है। जो प्रभाव अनजाने में उन पर पड़ा है उसने भी सूर के कृतित्व को पाकर अभिनव स्वरूप धारण कर लिया है। अध्ययन का अवसर तो सूर को था ही नहीं, श्रुति के आधार पर अर्जित उक्तियाँ भी पच-पचाकर ही निकलती थीं। विद्यापति आदि की जिन उक्तियों की छाया सूर पर पड़ी है वे सूर के पुनीत और सरस संस्कार को पाकर बड़ी रसात्मक हो गई हैं। इस प्रकार बाह्य-प्रभाव सूर की कला पर अधिक नहीं है।

परवर्ती कवियों पर सूर की अभिव्यंजना का प्रभाव उतना ही अधिक है जितना कि उन पर बाह्य-प्रभाव कम था। सूर की अभिव्यक्ति ही तत्कालीन ब्रज-कवियों का आदर्श बन गई थी। रीतिकालीन कवियों ने पद-रचना में तो सूर का पथ नहीं ग्रहण किया किन्तु उनके घनाक्षरी के विविध रूपों पर सूर के दण्डकों और भूलनों का प्रभाव निश्चित है। उधर अभिव्यंजना में तो उन्होंने सूर द्वारा प्रशस्त मार्ग का अवलम्बन किया ही है, जो विकास और परिवर्तन भी उन्होंने किया उसमें मूल स्वरूप की आत्मा सुरक्षित रही—सूर की मधुर और ललित पदावली ही उत्तरोत्तर विकास पाती गई। परिणाम यह हुआ कि यही ब्रज-भाषा की अवनति का भी कारण बनी। ब्रज-भाषा की अभिव्यंजना अपने माधुर्य और लालित्य में ही सीमित हो गयी, उसमें विविधता न आ सकी और जब खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्विता करने का समय आया तो इतनी विशाल परम्परागत सम्पत्ति के होते हुए भी उसके सुकुमार चरण कंटकाकीर्ण पथ पर दृढता से आगे न बढ़ सके।

प्रकरण ७

सूर की काव्य-कला का मूल्यांकन

सूर से पूर्व काव्य-कला की स्थिति—सूर से पूर्व हिन्दी-काव्य-कला की स्थिति समृद्ध नहीं कही जा सकती। उस समय तक सिद्धों के पद, चारणों की वीरगाथाएँ तथा वीरगीत और कबीर आदि सन्तों की बानियाँ ही हिन्दी साहित्य में प्राप्त होती हैं। वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी साधुओं की कृतियों में नीतिपरक पद-रचना मिलती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सरहपा, शबरपा, लुइपा और कन्हपा आदि सिद्धों की पद-रचना हिन्दी मुक्त-गीतों का पूर्व रूप अवश्य है किन्तु इन कवियों का दृष्टि-कोण कलात्मक था ही नहीं। इन सिद्धों को तो वैराग्य, उपदेश और नीति आदि के कथन प्रस्तुत करने थे। इसीलिए उनके पदों में सरस पदावली और उक्ति-वैलक्षण्य का प्रायः अभाव ही मिलता है।

चारणों की वीर-गाथाओं में चरित-काव्य की प्रधानता है। कलात्मक दृष्टिकोण पृथ्वीराज रासो के कतिपय छन्दों में अवश्य मिलता है किन्तु रासो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अभी तक सन्देह बना ही हुआ है। कहा नहीं जा सकता, उसके सरस पद सूर से पूर्व रचे गये थे या नहीं। चारण-काल की अन्य गाथाओं तथा वीर गीतों में कला के दर्शन नहीं होते। तत्कालीन अशान्त वातावरण में कला के पोषण के लिए अवकाश ही कहाँ था?

गोरख, नामदेव और कबीर की सन्तबानियों में हठयोग, उपदेश, मत-मतान्तर और नीति-कथन का इतना आधिक्य है कि उनमें काव्य-शिल्प की कल्पना करना ही व्यर्थ है। रमते जोगी अटपटी बानी के व्यवहार में ही अपना चमत्कार दिखाना चाहते थे। रमणीय अभिव्यंजना का उनकी मनोवृत्ति से मेल नहीं मिलता था। इन सन्तों ने प्राकृत और अपभ्रंश में चलती हुई मौलिक गीत-पद्धति में ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इनकी पद-रचना के स्वल्प मात्र को ही सूर ने ग्रहण किया और उसका संस्कार करके हिन्दी को एक अपूर्व काव्य-रूप प्रदान किया। इस प्रकार काव्य-कला के क्षेत्र में पद-रचना के रूप-विधान को छोड़कर सूर को अपने पूर्ववर्ती सन्त कवियों से उत्तराधिकार में और कुछ भी नहीं मिला।

सूर के पूर्व हिन्दी में केवल एक ही कलाकार कवि हुआ था—विद्यापति। विद्यापति की पद-शैली, कोमलकान्त पदावली और अलंकृत उक्तियाँ काव्य-कला की अमूल्य निधियाँ हैं किन्तु सूर-प्रणीत हिन्दी-पद-रचना का स्वरूप विद्यापति की पदावली से सर्वथा भिन्न है। सूर ने सन्तों की जिस पद-रचना का विकास किया उसका विद्यापति की पद-शैली से कोई सम्बन्ध नहीं है। अभिव्यंजना-कौशल में सूर ने विद्यापति से अप्रत्यक्ष प्रभाव कदाचित् ग्रहण किया था किन्तु सूर की काव्यधारा के स्रोत का

विद्यापति से विशेष सम्बन्ध नहीं है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उस काल में विद्यापति का सम्बन्ध बँगला-काव्य से ही अधिक था।

तात्पर्य यह कि सूर से पूर्व हिन्दी-काव्य-कला बड़ी अविकसित अवस्था में थी। भाषा, छन्द, पद-योजना और अभिव्यंजना-कौशल किसी भी दृष्टि से उसका कोई स्थिर स्वरूप नहीं बन पाया था। डिंगल, पिंगल, मैथिली और सधुक्कड़ी भाषा की गलियों में धक्के खाती हुई हिन्दी कविता किसी प्रतिभाशाली युग-प्रवर्तक कवि की बाट जोह रही थी। इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य के कृपा-सूत्र का सहारा लेकर "आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा" सूर हिन्दी काव्य-मंच पर आकर उपस्थित हो गया।

हिन्दी-काव्य-कला को सूर की देन—भाषा के स्थिर रूप के बिना न तो काव्य के भाव-पक्ष की उन्नति होती है और न काव्य-कला का स्वरूप ही निखरता है। सूर की सबसे महान् सिद्धि यह है कि उन्होंने पिंगल साहित्य में प्राप्त अव्यवस्थित ब्रज-भाषा का संस्कार किया। उन्होंने अपने इष्टदेव की क्रीड़ा-भूमि की भाषा को काव्य-भाषा के रूप में परिमार्जित किया। ब्रजभाषा के प्रथम कवि होकर भी उन्होंने प्रभूत मात्रा में काव्य-सृजन किया है। ब्रजभाषा के व्यापक रूपों में से किस प्रकार काव्योपयुक्त रूपों को ही उन्होंने ग्रहण किया है—यह हम भाषा-प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं। सूर ने लोक-प्रचलित ब्रजभाषा के रूपों को इस प्रकार ग्रहण किया है कि उसका ग्राम्यत्व नष्ट हो गया है और भाषा की स्वाभाविकता की रक्षा भी हो सकी है। साथ ही उन्होंने शिष्ट और साहित्यिक भाषाओं के गुणों का भी संचयन कर अपनी भाषा को समृद्ध किया है। ऐसा करने से भाषा की श्रीवृद्धि हुई है और उसकी अर्थ-सम्पत्ति बढ़ गयी है। भाषा की प्रकृति में एक लचीलापन आ गया है और भावी विकास के लिए अनन्त क्षेत्र खुल गया है। भाषा-समृद्धि के साथ ही सूर ने माधुर्य पर भी सम्यक् दृष्टि रखी है। सहजता को यथावत् सुरक्षित रखते हुए उन्होंने उसे मसृण करने का भी सफल प्रयास किया है। इस प्रकार ब्रजभाषा पर खराद और पालिश करने का काम सबसे पहले सूर ने किया है। ब्रजभाषा की सर्व-वन्दित माधुरी इस भाषा का सहजात नहीं है, वह बहुत अंशों में सूर की सर्जना है।

भाषा के स्वरूप-निर्माण के अतिरिक्त सूर ने ब्रजभाषा के अभिव्यंजना-कौशल में भी असीम अभिवृद्धि की है। सूर ने प्रसाद और माधुर्य गुण-युक्त पद-योजना पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है और उसका अप्रतिम रूप उनके पदों में प्राप्त होता है। ओज-प्रधान पद-योजना का अवसर सूर के विषय के अन्तर्गत कम था किन्तु दो-चार प्रसंगों में ही सूर ने ऐसी कलात्मक योजना प्रस्तुत की है कि उसकी समता के पद साहित्य में बहुत ही कम हैं। वर्ण-योजना उनकी कलात्मक रुचि का सुन्दर निदर्शन है। सूर के शब्दों में इतना अधिक अर्थ-चमत्कार है कि सहृदय उसमें रसमग्न हो जाता है। उनके शब्दों में न केवल लक्षणा और व्यंजना का ही अतुल वैभव मिलता है वरन् अभिधा शक्ति का पूर्ण चमत्कार भी प्राप्त होता है। सूर की शब्दावली का अर्थसौरस्य ही उनके अपरिमेय रस-सागर का मूल है। सूर की अप्रस्तुत-योजना संस्कृत-काव्य की उच्छिष्ट अलंकृति का आश्रय मात्र नहीं ग्रहण करती, उसमें उक्ति का

रमणीयार्थ प्रदान करने की शत-शत नव योजनाएँ विद्यमान हैं। सूर की अलंकृत उक्तियों की विविधता कला को संजीवनी प्रदान करती है। काव्यशास्त्रीय अलंकार-योजना के घेरे में सीमित न रहकर सूर ने स्वतन्त्र रूप से भावाभिव्यक्ति को सजाया है। यही उनकी कलात्मक अप्रस्तुत-योजना का मर्म है। सूर की भाव-प्रेरित वक्रताएँ काव्य-कला में विशिष्ट स्थान रखती हैं। सहृदयता और वाग्विदग्धता का जो अनुपम सामंजस्य सूर की वक्रोक्तियों में मिलता है वह कदाचित ही कहीं उपलब्ध हो। कहने का अभिप्राय यह है कि सूर की अभिव्यंजना ब्रजभाषा-काव्य-कला का प्राण है। परवर्ती काव्य में सूर की अभिव्यंजनाएँ तथा उनके सूत्र ही काव्य-कला के आदर्श बने।

हिन्दी-काव्यधारा में गीतिकाव्य-परम्परा काव्य-कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस परम्परा के निर्माण में सूर का योगदान अपूर्व है। सूर ने पद-रचना का साहित्य-संगीत-युक्त स्वरूप प्रस्तुत किया है। उन्होंने संस्कृत काव्य की रमणीय पद-योजना के आन्तरिक संगीत और राग-रागिनियों के बाह्य-संगीत के विधि-विधानों से शास्त्र-सम्मत प्रगीत पद्धति का प्रचलन किया है। संस्कृत के सम्पन्न साहित्य में भी गीतिकाव्य की कोई परम्परा न थी—खण्ड काव्यों स्तोत्रों और मुक्तकों में गीति-काव्य के तत्त्व मात्र बिखरे पड़े थे। सूर ने अपनी प्रतिभा के बल पर एक सर्वथा नवीन और रस-पुष्ट संगीतमय काव्य-रूप का आविष्कार किया।

सूर के गीत लीला का वस्तुगत आधार लिये हुए हैं। लीला के उपादानों से ही कवि ने स्वानुभूति को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सूर का प्रगीत वर्णन न तो शुद्ध प्रगीत काव्य (Lyric) है और न शुद्ध वर्णनात्मक काव्य। वह मुक्तक होते हुए भी कथा की शृंखला में बँधकर प्रबन्ध काव्य के गुणों का अर्जन कर लेता है। यह "प्रगीत वर्णन" या "वर्णनात्मक प्रगीत" भारतीय काव्य-कला का एक नवीन रूप-विधान है।

विविधता सूर की पद-रचना की प्रमुख विशेषता है। सूर के पद संगीत के इतने रागों में बँधे हैं कि शास्त्रीय संगीत के सिद्ध गायक भी इतने अधिक रागों की कल्पना नहीं कर सकते। राग और तालों की विविधता पद-रचना में आकर्षण और मनोरमता उत्पन्न करती है। साथ ही सूर ने पदों में विविध छन्दों का विधान बड़े ही कौशल से रखा है। उनके छन्द दोहा, रोला, गीतिका, विष्णुपद, सरसी, लावनी, घनाक्षरी और दण्डक आदि रागों की स्वर-संपत्ति को पाकर विशेष रूप से गेय हो गये हैं। इसीलिए सूर के पश्चात् पद-रचना की दो सम्पन्न-प्रणालियाँ चल निकलीं। एक तो राग-रागिनी-युक्त पद-पद्धति और दूसरी दोहा, चौपाई, सवैया और घनाक्षरी आदि की मुक्तक छन्द-पद्धति। पदों में तो संगीत का वैभव रहा ही, छन्दों को भी संगीतात्मकता की पूर्वपीठिका का आधार प्राप्त हो गया।

सारांश यह है कि ब्रजभाषा के स्वरूप को स्थिर एवं समृद्ध करने के कारण, कलात्मक अभिव्यंजना का अद्भुत विकास करने के कारण और नवीन काव्य-माध्यम प्रस्तुत करने के कारण हिन्दी काव्य में सूर का स्थान मूर्धन्य है। सूर के पूर्व हिन्दी काव्य-कला की स्थिति सर्वथा उपेक्षणीय थी। अकेले सूर के प्रतिभ स्पर्शों से

वह सहसा जगमगा उठी। अतः हिन्दी काव्य-कला के इतिहास में सूर का स्थान निर्माता कलाकारों की परम्परा में अग्रगण्य रहेगा।

सूर तथा अन्य कवि-कलाकार—

मूल्यांकन के लिए तुलना उपयोगी विधि है। आलोचकगण सूर की तुलना तुलसी और कबीर जैसे कवियों से करते रहे हैं। किन्तु इन कवियों के वर्ण्य-विषय और काव्य-प्रणालियों में इतना भेद है कि इस प्रकार की तुलना न्यायपरक नहीं कही जा सकती। एक प्रबन्ध काव्य के रचयिता की तुलना गीति-काव्य या मुक्तक-काव्य के रचयिता से करना तर्कसम्मत नहीं है। इस प्रकार की तुलना कवि के उचित मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। सूर गीतिकार थे, उन्होंने हिन्दी काव्य-कला के क्षेत्र में विशेष योग दिया है अतः हिन्दी के गीतिकाव्यकारों और काव्य-कला के अग्रणी शिल्पियों से ही उनकी तुलना आवश्यक है।

\ **सूर और विद्यापति**—सूर से पूर्व के कवियों में विद्यापति श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनके गीतों की संगीतात्मकता अपूर्व है। गेयत्व की दृष्टि से हिन्दी गीतिकाव्य-परम्परा में विद्यापति का नाम अग्रगण्य है किन्तु जैसा हम पीछे लिख चुके हैं सूर की पद-रचना सर्वथा मौलिक और विद्यापति से भिन्न है। पूर्वकालीन होते हुए भी विद्यापति से सूर पद-रचना में प्रभावित नहीं हुए। साथ ही सूर की पद-रचना विद्यापति की अपेक्षा अधिक समृद्ध और व्यापक है। विद्यापति की कला में वह विविधता नहीं मिलती जो सूर में उपलब्ध है। सूर का काव्य विशाल है और उसमें अनेक नये और पुराने काव्य-रूपों का प्रयोग हुआ है। विद्यापति में एक ही प्रकार के पद आदि से अन्त तक मिलते जाते हैं। सूर की पद-रचना में संगीत के शास्त्रीय विधान का सुन्दर सामंजस्य है, विद्यापति में सहज गेयत्व और संस्कृत काव्यशास्त्रीय आन्तरिक संगीत तो विद्यमान है पर वाह्य संगीत का पुट बहुत कम है। तात्पर्य यह कि पद-रचना की दृष्टि से सूर के पदों में समृद्धि और स्वरूप की विविधता विद्यापति की अपेक्षा बहुत अधिक है।

विद्यापति का अभिव्यंजना-कौशल बड़ा ही प्रौढ़ है। पदावली की कोमलकान्तता, अलंकार-विधान की रमणीयता और पदों के आंतरिक संगीत की दृष्टि से हिन्दी काव्य-कला में उनका स्थान अन्यतम है। सूर की अपेक्षा विद्यापति की पदावली अधिक संस्कृत और काव्यशास्त्रीय है। सूर में भाषा की सहजता अधिक है, सूर की अभिव्यंजना में लचीलापन भी अधिक है किन्तु कलात्मकता की दृष्टि से विद्यापति की पदावली सूर से बढ़-चढ़कर ही है।

विद्यापति की पदावली भी गीति-काव्य है किन्तु गेयत्व के अतिरिक्त उसमें गीति-काव्य के अन्य तत्त्व अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में हैं। गीति-काव्य का प्राण है—आत्मभिव्यक्ति-विद्यापति की पदावली में आत्माभिव्यंजन अपेक्षाकृत कम है। उनके पद शृंगार रस के सरस मुक्तक पद मात्र कहे जा सकते हैं। शुद्ध आत्माभिव्यंजन के अभाव के कारण उनके पदों में लौकिक शृंगार, उद्दाम वासना और विलास-केलि-कलापों की अतिरंजना प्रधान हो जाती है। इसीलिए काव्य-कला में समृद्ध होते हुए भी गीति-काव्यत्व की दृष्टि से विद्यापति सूर से पीछे हैं। अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से विद्यापति की कला

संस्कृत-शृंगार-काव्य का एक प्रगतिशील चरण अवश्य है किन्तु जो प्रगीत अभिव्यंजना प्रणाली सूर ने हिन्दी-काव्य में विकसित की वह सर्वथा मौलिक है।

सूर और कबीर आदि सन्त कवि—नामदेव, कबीर, नानक, दादू आदि सन्तों ने सूर की भाँति ही स्फुट पदों की रचना की है। पद-रचना के स्वरूप की दृष्टि से नामदेव और कबीर आदि के पद सूर के विनय-पदों से बहुत भिन्न नहीं हैं किन्तु इन सन्तों के पदों में न तो सम्यक् राग-विधान है और न शब्दावली में अभिव्यंजना का वैभव है। भाषा अव्यवस्थित और ऊबड़-खाबड़ है। उलटबासियों, हठयोग आदि के सिद्धान्त-कथन और उपदेशादि की मनोवृत्ति के कारण पदों का आत्माभिव्यंजन गुण भी स्वतः विलीन हो जाता है। इस प्रकार सन्त-ज्ञानियों में पद-रचना के अविकसित स्वरूप को छोड़कर और किसी प्रकार की विशेषता नहीं है। इनकी पद-रचना में कलात्मकता का अभाव है अतएव कला के क्षेत्र में इनकी सूर के साथ क्या तुलना ?

सूर और मीरां—मीरां की पद-रचना उनके भक्ति-भाव के सहजोद्गार के रूप में हुई थी। उनके गायन में हृदय का प्रणय-भाव और मर्म-वेदना तरल होकर बह उठी थी। पद-रचना, संगीतात्मकता, भाव-प्रवणता, अन्विति और भाषा-शैली की दृष्टि से उनके पद गीति-काव्य के श्रेष्ठतम रूप हैं। शुद्ध गीति-तत्वों के विचार से मीरां के पद सूर से भी अधिक उत्कृष्ट हैं किन्तु काव्य-कौशल के अन्य अंगों पर विचार किया जाय तो मीरां के पदों में उनका सर्वथा अभाव है। भाषा-संस्कार, अप्रस्तुत-योजना, चित्रण-कला, कलात्मक-पद-योजना, उक्ति-वैचित्र्य आदि की दृष्टि से मीरां और सूर की कोई समता ही नहीं हो सकती। मीरां की कविता का सौन्दर्य उनकी मर्मानुभूति के सहज प्रकाशन में ही सीमित है। वास्तव में अभिव्यंजना-कौशल या काव्य-कला की दृष्टि से मीरां के पदों की समीक्षा करना आलोच्य के प्रति अन्याय होगा।

सूर और तुलसी—गोस्वामी तुलसीदास जी श्रेष्ठ काव्य-मर्मज्ञ, प्रौढ़ भाषा के सिद्ध कवीश्वर और सफल अभिव्यंजना के मान्य आचार्य थे। रामचरितमानस के महा-काव्यकार तुलसी की तुलना गीतिकाव्यकार सूर से निरर्थक है। सूर और तुलसी की तुलना में हम तुलसीकृत गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनयपत्रिका के काव्य-कौशल को ही सम्मुख रख सकते हैं। सूर और तुलसी की तुलना इस दृष्टि से भी की जा सकती है कि इन महाकवियों ने हिन्दी-काव्य-कला की कहाँ तक उन्नति की।

पद-रचना—गीति-काव्यकार की दृष्टि से सर्वप्रथम पद-रचना का रूप-विधान द्रष्टव्य है। सूर ने हिन्दी में गीत-रचना का सम्यक् परिवर्धन किया और सूर की गीत-रचना ही तुलसी तथा परवर्ती गीतकारों का आदर्श बनी। इस विचार से सूर की महत्ता निर्विवाद है। सूर की गीत-रचना में संगीत-शास्त्रीय विधि-विधान भी तुलसी की अपेक्षा कहीं बढ़-चढ़कर है। पद-रचना प्रकरण में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि तुलसी के पदों में संगीत का वह शास्त्रीय विधान नहीं मिलता जो सूर में है। पद-रचना की विविधता भी सूर में बहुत अधिक है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी की पद-रचना की विशेषता प्रदर्शित करते हुए हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपने से पूर्व-प्रचलित सभी पद्धतियों—दोहा-पद्धति, छप्पय-पद्धति, चौपाई-पद्धति, कवित्त-पद्धति और

पद-पद्धति—में तुलसी ने सफल पद-रचना की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुलसीदास जी ने विभिन्न पद-शैलियों में ग्रंथ रचना की है, किन्तु शैलीकार की महत्ता परम्परा-पालन में उतनी नहीं होती जितनी परम्परा निर्माण में। इस दृष्टि से तुलसीदास जी ने किसी भी शैली का ग्राविष्कार नहीं किया। चौपाई पद्धति में भी पूर्व-परम्परा का परिष्करण ही उन्होंने प्रस्तुत किया है, नवीनता यहाँ भी कोई नहीं दिखाई। इसके ठीक विपरीत सूर ने पद-शैली को उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचाया और दोहा, रोला, दंडक, घनाक्षरी, विष्णुपद, सरसी ग्रादि छन्दों में पद-रचना ही नहीं की वरन् उनमें नवीन छन्दों के चमत्कारिक रूप भी प्रस्तुत किये। सूर के पश्चात् गीत-रचना तथा दोहा-रोला के संयुक्त छन्दों की जो रीति चल निकली और जिसमें सत्यनारायण 'कविरत्न' तक रचना होती रही उसका प्रारम्भ सूर ने ही किया था। किसी और परवर्ती कवि ने उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन भी नहीं किया। इस प्रकार पद-रचना के रूप-विधान की दृष्टि से सूर की उपलब्धि तुलसी की अपेक्षा कहीं अधिक है।

गीति-काव्यत्व—गीति-काव्य की दृष्टि से जब हम सूरसागर और तुलसी-गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनयपत्रिका की तुलना करते है तो प्रतीत होता है कि मानों सागर और नदी की तुलना की जा रही है। सूर ने वस्तुगत ग्राधार ग्रहण करने पर भी प्रत्येक पद में ग्रात्माभिव्यंजन प्रत्यक्ष रीति से प्रस्तुत किया है। तुलसी-गीतावली और कृष्ण-गीतावली में गीत के इस तत्त्व को उचित महत्त्व नहीं मिला; विनयपत्रिका में तुलसीदासजी ने वस्तुगत ग्राधार को सर्वथा त्यागकर सूर के विनय पदों की भाँति शुद्ध गीत प्रस्तुत किये हैं। यहाँ कवि की विचारधारा और भाषा इतनी गम्भीर और जटिल हो गयी है कि थोड़े पद ही गीति-काव्य की कसौटी पर खरे उतरते हैं। भावों का तारल्य और प्रगीत काव्योचित भाषा का सहज सारल्य उनमें नहीं है। शास्त्रनिष्ठ तुलसी की समृद्ध अभिव्यंजना और सिद्ध काव्य-पटुता गीति-काव्यत्व के सहज रूप के विकास में बाधक हैं। तात्पर्य यह कि और दृष्टियों से विनयपत्रिका और गीतावली चाहे उत्कृष्ट हों किन्तु शुद्ध गीति-काव्यत्व की दृष्टि से सूरसागर के समक्ष इनकी दीप्ति मन्द पड़ जाती है।

अभिव्यंजना-कौशल—तुलसी की भाषा बड़ी ही प्रौढ़ एवं व्यवस्थित है। उनका अभिव्यंजना-कौशल अत्यन्त समृद्ध है। इस दृष्टि से तुलसी की गुरुता निर्विवाद है। सूर की सहज अभिव्यक्ति अनेक दोषों से युक्त है, तुलसी जैसी सधी हुई, परिमार्जित और प्रांजल भाषा वे नहीं लिख पाये हैं। लोक, काव्य और शास्त्र की निपुणता तुलसी की काव्य-कला की पृष्ठभूमि के रूप में विद्यमान थी। उनकी उक्तियों में अद्भुत अर्थ-गांभीर्य है। फिर भी अभिव्यंजना की मौलिक प्रणालियों के जनक के रूप में सूर तुलसी से आगे बढ़ जाते हैं। अभिव्यंजना की विविधता और उक्ति की विचित्रता की दृष्टि से सूर हिन्दी के अप्रतिम कलाकार हैं। तुलसी के काव्य में न तो इस प्रकार की कोई उल्लेखनीय मौलिकता प्राप्त होती है और न इतना वैविध्य और वैचित्र्य है। पिछले प्रकरण में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि तुलसीदास सूर की नवीन अभिव्यंजनाओं से प्रभावित हुए थे, उन्होंने सूर की अनेक अलंकृत उक्तियों की अनुकृति अपनी पदावली में प्रस्तुत भी की थी। किन्तु जो अर्थ-सौरस्य और वाक्‌विदग्धता सूर की उक्तियों में है उनको तुलसी

अक्षुण्ण न रख सके ।

संक्षेप में तुलसी और सूर दोनों ही महाकवि हिन्दी साहित्य के सूर्य और चन्द्र हैं। प्रवन्ध काव्य-कला की दृष्टि से तुलसीदास जी अद्वितीय हैं, सूर का उस क्षेत्र में कोई दावा ही नहीं है। किन्तु गीति-काव्य की रचना में सूर की उपलब्धि उनसे कहीं अधिक है। व्रजभाषा के स्वरूप-निर्माण, पद-रचना, गीति-काव्यत्व और अभिव्यंजना की चमत्कारमूलक प्रणालियों के निर्माण और विकास में सूर ने जितना योगदान किया है, उतना तुलसी ने नहीं किया। तुलसी की कला सूर्य का आतप है और सूर की कला चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी ।

सूर और हितहरिवंश—हितहरिवंश के चौरासी पदों का हिन्दी-काव्य-कला के विकास में विशिष्ट स्थान है। इनमें संस्कृत शब्दावली का रत्न-जटित प्रयोग है। हितहरिवंश जी ने ब्रजभाषा के कम-से-कम शब्दों का प्रयोग किया है, केवल क्रियापद, विभक्तियाँ, अव्यय आदि ही व्रज के हैं। इनके बीच संस्कृत के सुन्दर शब्द ऐसे लगते हैं मानों स्वर्ण की सूक्ष्म जरतारियों में मोती, माणिक्य और पुखराज जड़े हुए हैं। सूर की पदावली हितहरिवंश की पदावली की अपेक्षा ऋजु है। सूर की पद्धति ही बिल्कुल भिन्न है। उन्होंने ब्रज-शब्दावली की प्रधानता रखी है, यहाँ तक कि संस्कृत के शब्दों पर भी ब्रज-माधुरी का आरोप कर दिया है। हितहरिवंश के चौरासी पद सूरसागर के पाँच हजार पदों में कहीं विलीन हो जाते हैं और फिर दोनों के चित्र-फलक के विस्तार में कोई साम्य नहीं है। सूर की भाषा-शैली की व्यापकता में हित-हरिवंश की भाषा-शैली की मणिकुट्टिम कला के लिए स्थान नहीं था।

सूर और नंददास—काव्य-कला की दृष्टि से अष्टछाप के अन्य कवियों में नंद-दास जी ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नंददास की कोमलकान्त पदावली विद्यापति और जयदेव की परम्परा में आती है। अपनी मनोरम पद-योजना के कारण वे 'जड़िया' नाम से प्रसिद्ध हैं। नंददास जी ने भाषा का बनाव-सिंगार सूर से अधिक किया है, वे वास्तव में, गीतगोविन्द की ललित पदावली से अधिक प्रभावित थे और उसी की अनुगूंज अपनी पद-योजना में प्रस्तुत करना चाहते थे। इसीलिए ब्रज-भाषा-काव्य-कला के विकास में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। फिर भी जब हम सूर के साथ उनकी रचनाएँ देखते हैं तो प्रतीत होता है कि नंददास का सारा कृतित्व उनकी मनोरम वर्ण-योजना और नाद-वैभव से युक्त पद-योजना में ही सीमित है। सूर की भाँति अभिव्यंजना-कौशल, विदग्ध-उक्ति और सरस काव्य-रूप के नव-निर्माण की क्षमता उनमें न थी। नंददास जी द्वितीय श्रेणी के कवि थे, काव्य के शरीर मात्र का अभूतपूर्व अलंकरण उन्होंने किया किन्तु काव्य के अन्तरंग पक्ष का वैसा शृंगार न कर सके जैसा सूर ने किया है। इस प्रकार उनकी काव्य-कला का स्थूल पक्ष तो निश्चय ही विशेष चमत्कारिक हो गया किन्तु रसोत्कर्ष-विधायिनी अभिव्यंजना का उतना विकास न हो सका जितना सूर के काव्य में हो चुका था। इसके अतिरिक्त मौलिकता की दृष्टि से भी नंददास सूर के अनुवर्ती हैं—उनकी पद-रचना, अभिव्यंजना-कौशल आदि पर जयदेव आदि के साथ-साथ सूर की भी स्पष्ट छाप है ।

सूर और रीतिकालीन कवि—रीतिकालीन कवियों—केशव, बिहारी, मतिराम और देव आदि—ने ब्रजभाषा के अभिव्यंजना-कौशल को अत्यंत विकसित किया है। इन कवियों ने सूर-प्रवर्तित पद-शैली का अनुसरण तो नहीं किया किन्तु ब्रजभाषा के स्वरूप, ब्रज-माधुरी, पद-योजना के आभ्यन्तरिक संगीत और अलंकरण में सूर का प्रभाव ग्रहण किया है, मतिराम, देव और पद्माकर ने पद-लालित्य और अनुप्रासिकता में निश्चय ही अभिवृद्धि की है। इस प्रकार ब्रजभाषा को मसृण और कान्तिमयी बनाने में इन कवियों का विशेष योगदान भी हुआ है। इन कवियों की कला में सूर की कला की अपेक्षा एक गुण विशिष्ट है—औज्ज्वल्य। सूर की कला में वह 'फिनिश' नहीं है जो मतिराम आदि में मिलती है किन्तु मतिराम आदि की कृत्रिमता की अतिरंजना का कुपरिणाम यह हुआ कि सूर की सहज ब्रज-माधुरी का लोप हो गया। कला की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों में बिहारी ही सूर के कुछ निकट पहुँचते हैं। सूक्ष्म भावाभिव्यक्तियाँ बिहारी में वैसी ही हैं जैसी सूर में। पर सब मिलाकर परिमाण की दृष्टि से बिहारी के ७०० दोहों की लघु-लहरियाँ 'सूर-सागर' के समक्ष कैसे ठहर सकती हैं ?

सूर और घनआनंद—पद-रचयिताओं में घनआनंद का भी अपना विशिष्ट स्थान है। घनआनंद श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। इनके पदों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि ये सम्भवतः सूर से भी अधिक संगीत-कला-विशारद होंगे। इनके पदों में संगीत-कला का जो वैभव मिलता है वह अनुपम है। सूर के पदों में संगीत काव्य का सहायक ही है, कहीं भी संगीतात्मकता काव्यत्व को आच्छादित नहीं करती। घनआनंद के अनेक पद ऐसे भी हैं जो कविता की दृष्टि से हीन हैं। उनकी पंक्तियाँ केवल स्वर-ताल को सहारा देने के लिए लगी हैं। तात्पर्य यह कि संगीत की दृष्टि से घनआनंद की पद-रचना सूर की पद-रचना का भी अग्रिम चरण है किन्तु काव्य में संगीत का पुट, वास्तव में, वहीं तक उपयोगी होता है जहाँ तक वह भावानुभूति का उत्कर्ष करता है। जब संगीत ही प्रधान बन जाता है तो पद का साहित्यिक मूल्य समाप्त हो जाता है। इसीलिए काव्य-कला की दृष्टि से घनआनंद के पद साहित्य में विशेष महत्त्व नहीं रखते। सूर के पदों से उनमें केवल एक गुण अधिक है—संगीत-विधान, शेष सभी काव्य-गुण अपेक्षाकृत बहुत कम हैं।

पद-रचना की अपेक्षा मुक्तक काव्य के क्षेत्र में घनआनंद की साहित्यिक उपलब्धि कहीं अधिक है। सूर की भाँति घनआनंद भी ब्रजभाषा के आचार्य थे। शुद्धता की दृष्टि से घनआनंद की ब्रजभाषा सूर की ब्रजभाषा से उत्कृष्ट है। सूर की ब्रजभाषा में जहाँ अनेक भाषाओं का मिश्रण और रूपों की भी अत्यन्त अव्यवस्था मिलती है, वहाँ घनआनंद की भाषा बाहर की शब्दावली से मुक्त, ब्रज के आँचलिक प्रयोगों से अलंकृत, शुद्ध ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा का टकसाली रूप घनआनंद के कवित्तों में ही मिलता है, सूर के पदों में नहीं। परन्तु सूर की भाषा का आधार अत्यधिक व्यापक और उसका प्रसाधन-भण्डार अत्यधिक समृद्ध है, सूर ने आरम्भ से ही ब्रजभाषा को वह व्यापक रूप प्रदान किया जो आगे चलकर उत्तर भारत की शिष्ट जनता

की राष्ट्रभाषा का आधार बना। अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से लक्षणा की शक्ति का चमत्कार घनआनंद के काव्य में अधिक है, भाव-प्रेरित वक्रता के भी वे आचार्य थे। किन्तु यहाँ भी सूर का विपुल कोष अक्षय है--अलंकरण-सामग्री की प्रचुरता और विविधता में तो सूर-सागर वास्तव में रत्नाकर है, भाव-प्रेरित वक्रताओं का आदि स्रोत भी वही है, लक्षणा और व्यंजना का वैभव भी उसमें किसी से कम नहीं है।

सूर और हरिश्चन्द्र—ब्रजभाषा काव्यधारा में भारतेन्दु जी का भी अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। रीतिकालीन कवियों की अत्यधिक साज-सँवार के कारण ब्रज-भाषा कविता रीतिबद्ध होकर अपने सहज गुण को खो रही थी। भारतेन्दु जी ने सूर की ब्रज-माधुरी का पुनरुत्थान किया। रीति के बाह्य प्रसाधनों से ब्रजभाषा की सहज अभिव्यंजना आच्छादित हो गयी थी—भारतेन्दु जी ने अनावश्यक भूषण-भार से मुक्ति देकर उसका स्वच्छ स्वरूप सामने रखा। परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा कविता-धारा को रीति के गहन सरोवर से बाहर मुक्त होकर बहने का अवकाश मिल गया। इसके अतिरिक्त हरिश्चन्द्र जी का काव्य-कला के सम्बन्ध में कोई और उल्लेखनीय योगदान नहीं है।

सूर की पद-रचना-कला में अवश्य ही हरिश्चन्द्र ने अभिवृद्धि की है। घनआनंद की पद-रचना विशेष शास्त्रीय हो गयी थी, हरिश्चन्द्र भी अच्छे गायक थे। इसीलिए उनकी पद-रचना के स्वरूप में बड़ी विविधता है। सूर-काल में ध्रुपद और ख्याल ही शास्त्रीय संगीत में प्रचलित थे। घनआनंद के समय में मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से ठुमरी तथा उसके प्रयोगों से रागों की वृद्धि हो चुकी थी। हरिश्चन्द्र-काल तक तो ठुमरी, दादरा, कव्वाली और गजलों का युग आ गया था। भारतेन्दु जी की पद-रचना में इसीलिए राग-रागिनियाँ, ठुमरी, दादरा, खेमटा, गजलें सभी मिलती हैं। हरिश्चन्द्र ने ऐसे भी पद लिखे हैं जिनमें टेक मात्र जोड़कर दोहे जोड़े जाते हैं। न केवल स्वरचित दोहे वरन् तुलसी, सूर और बिहारी के दोहों का प्रयोग भी ठुमरी की टेक के साथ उन्होंने किया है। लोक-गीत---लावनी, कजली, होली, धमार भी प्रचुर मात्रा में हैं और उधर सभी प्रकार के छन्दों---दोहा, सोरठा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय, कुंडलिया आदि---में भी पद-रचना हुई है। सूर के नये छंदों का भी प्रयोग हरिश्चन्द्र ने किया है। तात्पर्य यह कि पद-रचना की विविधता में हरिश्चन्द्र सूर से भी बढ़े-चढ़े हैं। हरिश्चन्द्र जी बड़े ही रसिक और मस्त जीव थे। उन्होंने सभी प्रकार की शैलियों में पद-रचना की हैं। संस्कृत के स्तोत्र भी हैं। जयदेव के गीतगोविन्द का अनुवाद उन्हीं छन्दों और वैसी ही शब्दावली में उन्होंने किया है। इतना होने पर भी हरिश्चन्द्र सूर की समता कदापि नहीं कर सकते। सूर के सरस पदों की मार्मिकता का अंश मात्र भी हरिश्चन्द्र में नहीं प्राप्त होता हरिश्चद्र तो अनुकर्त्ता थे। पूर्व प्रचलित सभी प्रणालियों का अनुकरण मात्र उन्होंने किया है। सूर की भाँति मौलिक पद-रचना और मौलिक-अभिव्यंजना का विधान करने की क्षमता उनमें नहीं थी।

सूर तथा अन्य आधुनिक ब्रज-कवि---आधुनिक कवियों में पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने अपनी कविता में सूरदास और नंददास का अनुकरण किया है। उनके

स्फुट पदों में सूर के पदों की छाप और 'भ्रमरदूत' में नंददास के भँवरगीत की कोमल-कान्त पदावली मिलती है। अनुकरण में 'कविरत्न' जी सबसे अधिक सफल कहे जा सकते हैं। 'कविरत्न' का रचना-परिमाण भी बहुत कम है। इनकी और सूर की तुलना ही क्या हो सकती है। ये तो उनके चरण-चिह्नों पर चलने वाले पथिक ही हैं। यही दशा वियोगी हरि, 'रत्नाकर' आदि अन्य कवियों की भी है। इन लोगों के साथ सूर की काव्य-कला की चर्चा ही अनावश्यक है।

निष्कर्ष—ब्रजभाषा-काव्य-कला के विकास में सूर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। सूर से पूर्व हिन्दी-काव्य-कला की स्थिति नगण्य थी। सूर ने अपनी मौलिक प्रतिभा से काव्यगत ब्रजभाषा और उसकी अभिव्यंजना-कला को पूर्ण समृद्धि प्रदान की। सूर के समकालीन और परवर्ती कवियों ने सूर के ही अनुसरण पर काव्य-कला का पोषण किया। तुलसी जैसा महाकवि भी प्रगीत या मुक्तक काव्य-कला के क्षेत्र में सूर की समता नहीं कर सकता—अन्य कवियों की तो बात ही क्या ?

परिशिष्ट

गीति-काव्य की परम्परा

[सूर-काल शास्त्रीय-संगीत-संपृक्त गीति-काव्य का स्वर्ण-युग माना जा सकता है क्योंकि इसी काल में शास्त्रीय संगीत और काव्य की चरम परिणति और अपूर्व समन्विति मिलती है। वृन्दावन केन्द्र था जहाँ तानसेन जैसे दरबारी गायक के भी गुरु स्वामी हरिदास जैसे सन्त का निवास था और यहीं अष्टछाप के श्रेष्ठ कवियों की काव्य-साधना भी हो रही थी। इस काल के सभी कवियों पर शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक कवि अपनी भक्तिपरक आत्मानुभूति का प्रकाशन संगीत के स्वरों में बँधी हुई पद-योजना में उपस्थित करने का प्रयास करता था। यही कारण है कि इस काल के गीति-काव्य का शिल्प-विधान अपूर्व है। इसमें उत्तराधिकार में प्राप्त समृद्ध संस्कृत साहित्य का काव्य-कौशल एवं शब्द-संगीत, प्राकृत और अपभ्रंश की पद-शैली, लोक-गीतों की सहज धुन और शास्त्रीय-संगीत की राग-रागिनी का विधि विधान प्राप्त होता है। इस शिल्प का इतिहास और भी अधिक मनोरंजक है। संगीत और काव्य दोनों का विकास तो स्वतन्त्र रूप से हुआ किन्तु प्रयोजन सदृश होने के कारण दोनों स्वतः सन्निकट आते-आते सूर के आविर्भाव के पूर्व आपस में मिल गये। अतः यहाँ यह आवश्यक है कि सूरकालीन गीतों की पूर्व परम्परा के अनुसंधान के लिए प्राप्त साहित्य और लोक-गीतों का संक्षिप्त अनुशीलन किया जाय।]

वैदिक साहित्य—भारतीय वाङ्मय में प्राचीनतम ग्रंथ वेद हैं। [सम्पूर्ण सामवेद गीतात्मक कहा गया है। वैदिक युग की अभिव्यक्ति सामूहिक थी जिसमें गेयत्व की प्रधानता थी। वैदिक ऋचाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वर प्राप्त होते हैं। प्राचीनतम वेद ऋक्वेद के अनेक मन्त्रों में स्तुतियाँ मिलती हैं।] इनमें अभीष्ट अर्थ को सीधे-सादे शब्दों में प्रकट करने की अद्भुत क्षमता होती थी। हार्दिक भावों की कुशल अभिव्यंजना इनमें प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए महर्षि वशिष्ठ का एक नितान्त भाव-प्रवण सूक्त है जिसमें उन्होंने वरुण देवता के प्रति अपने मनोरम हृदयोद्गार प्रकट किये हैं, इसमें व्यक्तित्व की प्रधानता और सहज अभिव्यंजना के दर्शन होते हैं—

> **"उत स्वया तन्वा संवेदतत्**
> **कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।**
> **किं मे हव्यमहृणतो जुषेत**
> **कदामृडीकं सुमना अभिख्यम्।**[1]

[मैं स्वयं पूछ रहा हूँ कि कब वरुण के साथ मैत्री रूप में बँध जाऊँगा? मेरे

---

1. ऋ० ७।८६।२।

द्वारा की गई हवि को क्या क्रोध-रहित होकर वे ग्रहण करेंगे ? कब मैं प्रसन्नतापूर्वक उनकी दया को देखूंगा ?]

उक्त पद में परवर्ती गीत का स्वरूप (शिल्प) तो नहीं प्राप्त होता फिर भी गीत के मूल—आत्माभिव्यंजन—का सहजोद्रेक अवश्य मिलता है। वेदों में गीत का यही मूल भाव ही देखा जा सकता है।

संस्कृत महाकाव्य—आदिकाव्य रामायण में भी संगीतात्मकता स्पष्ट है। रामायण के अनुष्टुप वृत्त गेय हैं। क्रौंचमिथुन के दुःख से कातर सहसा कवि की वाणी से निकला हुआ पद समस्त गीति-तत्त्वों से युक्त है। इसका विवेचन महर्षि वाल्मीकि जी ने स्वयं किया है कि मेरे मुख से जो वाणी निकली है वह पद-बद्ध है, उसमें समान अक्षर हैं, लय-युक्त है। शोक की दशा में मेरे मुँह से इस प्रकार की जो वाणी सहसा निकली है वह श्लोक हो।[1] इस कथन में गीत के सभी उपादानों—सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था का सहजोद्‌गार, पाद-पद्धता समान अक्षर और लय (गेयत्व)—का स्पष्ट उल्लेख है। किन्तु इस प्रकार से आरम्भ होकर कवि की वाणी रामचरित के इतिवृत्त में रत हो गयी। उसके श्लोकों में संगीतात्मकता का पुट मात्र ही रह गया। प्रबन्ध में बँधकर विवरणात्मकता की इतनी प्रधानता हो गयी कि कवि की अन्तर्वेदना के सहजोद्‌गार को अवसर फिर न मिला।

महाभारत शुद्ध विवरणात्मक है। इसमें रचयिता (व्यास) की प्रवृत्ति नितान्त विषय-प्रधान है। इसीलिए महाभारत में भी गीति-तत्त्वों का सर्वथा अभाव ही है। महाभारत में गीता है, गीता शब्द गीत से सम्बन्धित माना जा सकता है। किन्तु गीता और गीत के व्यावहारिक अर्थ में बड़ा अन्तर है। गीता भगवान कृष्ण के द्वारा जगत् के कल्याण-हेतु अर्जुन को दिये गयें उपदेश[2] का नाम है किन्तु गीत उस पद-रचना को कहा जाता रहा है जो किसी के सुनाने या उपदेश के निमित्त नहीं होती वरन् तब सहजोद्‌गार के रूप में फूट पड़ती है जब अन्तरात्मा अपनी अन्तर्वेदना और आत्मानुभूति को अपने भीतर संवरण नहीं कर पाती। इसीलिए श्रीमद्‌भगवद्‌गीता को गीति-काव्य की परम्परा में परिगणित करना समीचीन नहीं।

पुराण-साहित्य—पुराण भी महाभारत की भाँति ही विवरणात्मक हैं, गीत कहीं भी नहीं मिलते। केवल श्रीमद्भागवत में अवश्य ही कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनमें प्रेम से, प्रेम करने की इच्छा से, विरह की सम्भावना से अथवा संसार की कटुता की अनुभूति से हृदयोद्‌गार गीत रूप में स्वतः निकल पड़े हैं। भागवतकार ने इनका गीत नाम ठीक ही लिखा है। ये गीत हैं—वेणु-गीत, गोपिका-गीत, युगल-गीत, भ्रमर गीत, द्वारका

---

१. **पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलय समन्वितः।**
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोकोभवतुनान्यथा॥
—वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड्म् द्वितीय सर्गः श्लोक १८

२. अन्यत्र गीताएँ अनेक मिलती हैं—जैसे हंस-गीता, कपिल-गीता आदि—सर्वत्र ही गीता में उपदेश मिलते हैं।

की श्रीकृष्ण-पत्नियों का गीत, पिंगला-गीत, भिक्षु-गीत, ऐल-गीत और भूमि-गीत। इन गीतों के स्थल, भाव, और शैली गीत के लिए सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं। वेणुगीत में गोपियाँ कृष्ण के वंशी-वादन को सुनकर अपनी सुध-बुध भूल जाती हैं, भावावेश के कारण कृष्ण को अपने समक्ष कल्पित करते हुए वे आपस में गा उठती हैं।[१] गोपिका गीत गोपियों की विरह-कातर वाणी का वह समुच्छ्वसित रूप है जो रास-लीला के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर बरबस निकल पड़ा था। सबकी सब गोपियाँ एक साथ रुदन के रूप में गा उठी थीं—उनके उस गान में उनकी अन्तर्वेदना साकार हो उठी थी।[२] युगल-गीत—जब कृष्णजी वन में गायें चराने चले जाते थे तब गोपियों का मन उन्हीं के चिन्तन में रत रहता था। वे कृष्ण-लीला का गान करते हुए अपने दिन को किसी प्रकार बिताया करतीं थीं।[3] इन्हीं गीतों को भागवत में युगल गीत कहा गया है।

भ्रमरगीत में गीत का वह स्वरूप है जिसमें अन्तर्वेदना की चरमावस्था की अभिव्यक्ति होती है, व्यक्ति भूल जाता है कि उसे किसके सामने क्या कहना चाहिए। उद्धव से बातें करते-करते गोपियाँ सब कुछ भूल गयीं। एकाएक वे रो पड़ीं। भौंरे को कृष्ण का दूत समझकर एक गोपी भौंरे को ही संबोधन करके गा उठी।[४]

---

१. **अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।**
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वानिपीतमनुरक्त कटाक्षमोक्षम्॥
—श्रीमद्भागवत १०।२१।७

[हे सखी, हम तो आँख वालों के जीवन की और उनकी आँखों की यही सार्थकता समझती हैं कि जब श्यामसुन्दर और बलराम ग्वाल-बालों के साथ गौओं को वन में ले जा रहे हों या लौटकर जब आ रहे हों तो उन्होंने अधरों पर मुरली धर रखी हो और हमारी ओर प्रेमभरी चितवन से देख रहे हों।]

२. **जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज श्रयत इन्दिरा शश्वदत्रहि।**
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयिधृतासवस्त्वां विचिन्वते।
—श्रीमद्भागवत १०।३१।१

[प्यारे ! तुम्हारे जन्म के कारण (वैकुंठ आदि लोकों से भी) ब्रज की भक्ति बढ़ गयी है, तो लक्ष्मी जी यहीं निरन्तर निवास करने लगी हैं। परन्तु प्रियतम; देखो तुम्हारी गोपियाँ जिन्होंने तुम्हारे प्राणों में ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं सभी दिशाओं में भटककर तुम्हें ढूंढ़ रही हैं।]

३. **गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।**
कृष्णलीला प्रगायन्त्योनिन्युर्दुःखेन वासरम्॥
—श्रीमद्भागवत १०।३५।१

४. **मधुपकित वबन्धोमा स्पृशाङ्घ्रिं कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।**
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनां प्रसादं यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्।
—श्रीमद्भागवत १०।४७।१२

[हे मधुप तू हमारे पैरों को मत छू। हम देख रही हैं कि श्रीकृष्ण की वनमाला हमारी सौतों के वक्षस्थल के स्पर्श से मसली हुई है, उसका पीला-पीला कुंकुम तेरी मूँछों पर भी लगा है। मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी नायिकाओं को मनाया करें, उनका वह कुंकुम रूप कृपा-प्रसाद, जो यदुवंशियों की सभा में उपहास करने योग्य है, अपने ही पास रक्खें।]

द्वारका की श्रीकृष्ण-पत्नियों का गीत-प्रेमोन्माद केवल वियोग में ही नहीं होता, कभी-कभी संयोग में भी होता है। द्वारका स्थित श्रीकृष्ण की रानियाँ संयोग सुख में इतना विह्वल हो जाती थीं कि उन्हें स्मरण ही न रहता था कि वे कृष्ण के समीप हैं। उन्माद के कारण विरह का अनुभव करती हुई वे प्रलाप करने लग जाती हैं। कल्पना से कुररी, चकवी, सागर, चन्द्र, मलयानिल, मेघ, कोयल, नदियों और हंस को सम्बोधन करती हुई, उन्हें श्रीकृष्ण का दूत समझती हुई उनसे उपालम्भ करने लगती हैं।[1] पिंगलागीत[2], भिक्षुगीत[3], ऐल-गीत[4] और भूमि-गीत[5] निर्वेद गीत हैं। संसार की कटुता के अनुभव से हृदय में जो व्यथा उत्पन्न होती है उसका सहजोद्गार निर्वेद-गीत होता है। पिंगला और पुरुरवा में विलास की अतृप्ति की प्रतिक्रिया में विराग उत्पन्न हुआ था उन्होंने अपने उद्गार गीतों में गाये। भिक्षुगीत में दीन ब्राह्मण लोगों से अपमानित होकर आत्मोद्धार करता है। भूमि-गीत में पृथ्वी राजाओं की विजयेच्छा पर व्यंग्य करती हुई गाती है कि राजा लोग जो मृत्यु के खिलौने हैं, मुझे जीतना चाहते हैं, पानी के बुलबुले के समान अपने जीवन का विश्वास करते और धोखा खाते हैं।

इस प्रकार अन्तरात्मा की दृष्टि से भागवत की उपर्युक्त पदावली का गीत नाम सर्वथा उपयुक्त है। शिल्प की दृष्टि से इनमें स्वर और लय का विधान गीतों जैसा नहीं है। सभी गीत संस्कृत के वर्णवृत्तों—शिखरिणी, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा आदि में रचे गये हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ ये गीत भागवत में हैं वहाँ वे वर्णनात्मक श्लोकों से अलग ही दिखाई पड़ते हैं। शिखरिणी आदि वृत्तों में गेयत्व पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, उनकी लय मार्मिक गीतों की भाव-धारा के सर्वथा अनुरूप है। सारांश यह कि यद्यपि भागवत के गीतों में हिन्दी-गीतों का शिल्प-विधान नहीं मिलता तथापि गीत के सभी तत्त्वों से समन्वित होने के कारण ये ही साहित्यिक गीत-परम्परा के स्रोत-स्थल हैं।

संस्कृत काव्य—

संस्कृत-काव्य और काव्यशास्त्र में गीति-काव्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[6] काव्य प्रबन्धात्मक और मुक्तक रूपों में प्राप्त है। शास्त्रीय दृष्टि से गीतिकाव्य प्रबन्ध के उतना निकट नहीं है जितना मुक्तक के। मुक्तकों में गीति के कुछ तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं किन्तु संस्कृत के साहित्यिक मुक्तकों में गीति-तत्त्व न्यूनातिन्यून मात्रा में ही मिलता है। जिन मुक्तक ग्रंथों में गीति तत्त्व कुछ अंशों में प्राप्त हो सकते हैं वे हैं—कालिदास विरचित ऋतुसंहार, भर्तृहरि-शतक और गोवर्धनाचार्य रचित

१. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय ९०, श्लोक १५-२५।

२. श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय ८, श्लोक ३१-३३।

३. वही, एकादश स्कन्ध, अध्याय २३, श्लोक ४३-५८।

४. वही, अध्याय २६, श्लोक ७-२४।

५. वही, द्वादश स्कन्ध, अध्याय ३, श्लोक २-१३।

६. काव्य के दो भेद कहे गये हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। गीति-काव्य का कोई उल्लेख काव्य के किसी भेद-प्रभेद में नहीं प्राप्त होता।

आर्यासप्तशती। कालिदास के ऋतुसंहार के अन्तर्गत ऋतुवर्णन शुद्ध वर्णनात्मक नहीं है, उसमें व्यक्तित्व के पुट पर्याप्त हैं। उद्दीपन के रूप में प्रस्तु ऋतु-वर्णन कवि की शृंगार-परक स्वानुभूति के व्यक्तीकरण का साधन है। छंदों में संगीतात्मकता है, शब्दावली नाद-सौंदर्य से युक्त है। ऋतु सम्बन्धी वर्णनों के कलेवर के पीछे प्रेमी जन के सहज शृङ्गारिक उद्‌गारों के छींटे हैं।[१] इतना होने पर भी ऋतुसंहार के छन्दों का शिल्प-विधान शुद्ध साहित्यिक मुक्तकों का है, इसलिए इसे गीति-काव्य की परिधि के भीतर नहीं रखा जा सकता। भर्तृहरिशतक, अमरुकशतक और आर्यासप्तशती के अनेक छंदों में मानव-हृदय के सहजोद्‌गार मिल जाते हैं किन्तु उनमें वह प्रवाह नहीं है जो गीतों में अपेक्षित है। इन मुक्तकों का छंद-बन्धन, कल्पना की समाहार शक्ति इतनी ग्रथित है कि उनमें गीत की रसधारा प्रवहमान नहीं हो पाती। इन ग्रंथों के पद 'गागर में सागर' या 'रस-स्निग्ध फव्वारे' तो कहे जा सकते हैं, यत्र-तत्र गीतिकाव्यानुरूप आत्माभिव्यंजन, सरस लय और नाद-सौन्दर्य भी मिल सकते हैं फिर भी इनमें न तो गीति का शिल्प-विधान मिलता है और न उसकी आत्मा के ही दर्शन होते हैं।

स्तोत्र-साहित्य—संस्कृत-मुक्तकों का दूसरा रूप धार्मिक स्तोत्र-साहित्य है। प्रभु की कृपा-प्राप्ति के लिए आदि काल से भक्तों ने आत्मनिवेदन प्रस्तुत किये हैं। इनमें प्रभु के ऐश्वर्य की महिमा, देवविशेष के स्वरूप का विवरण, उनकी उदारता तथा अपनी दीन-हीनता का वर्णन होता है। इन स्तोत्रों में केवल धार्मिक भाव ही नहीं मिलते वरन् साहित्यिक-छटा भी मिलती है। कारण यह है कि अनेक स्तोत्र श्रेष्ठ कवियों की रचनाएँ हैं। इनकी शब्दावली प्रायः अलंकारिक और ओज-गुण प्रधान होती हैं। भक्त का शुद्ध आत्म-भाव ही इनमें मुख्य होता है। गेयत्व तो अनिवार्य है क्योंकि समस्त स्तोत्र गाकर पढ़ने के निमित्त ही रचे जाते थे। कथा का पुट इनमें अत्यल्प मात्रा में होता है। स्तोत्रों की स्वरूप-रचना वर्णिक वृत्तों और दण्डकों में मिलती है। राग-रागिनी का समावेश स्तोत्र-परम्परा में नहीं मिलता इसका कारण यही प्रतीत होता है कि राग-रागिनी का समुचित विकास बारहवीं शताब्दी में हुआ किन्तु स्तोत्रों की परम्परा पुरानी है। परवर्ती साहित्यकारों ने भी छन्द-प्रधान-स्तोत्र-परम्परा अक्षुण्ण रखा।

प्राचीनतम उपलब्ध प्रसिद्ध स्तोत्र शिवमहिम्न स्तोत्र है। इसकी रचना करने

---

१. निशाः शशाङ्कक्षत् नीलराजयः क्वचिद्विचित्रं जलयन्त्र मन्दिरम्।
मणिप्रकाराः सरसं च चन्दनं शुचौ प्रिये यान्ति जनस्य सेव्यताम्।
सुवासितं हर्म्य तलं मनोहरं प्रिया मुखोच्छ्वास विकम्पितं मधु।
सुतन्त्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥

देखो प्रिये, आजकल लोग यह चाहते हैं कि चारों ओर खिले हुए चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हुई हो, रंग-विरंगे फव्वारों के तले हम लोग बैठे हुए हों, इधर-उधर ढंग-ढंग के रत्न बिखरे पड़े हों और सुगन्धित चन्दन चारों ओर छिड़का हुआ हो। प्रेमी लोग भी इन दिनों मन बहलाने के लिए काम को उभारने वाली ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करते हैं जैसे सुवासित जल में धुला हुआ भवन का तल, प्यारी के मुँह की भाफ़ से उफनाती हुई मदिरा और सुन्दर बीणा के साथ गाए हुए गीत।

—ग्रीष्म वर्णन, श्लोक २-३

वाला अपभ्रंश का प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्त कहा जाता है। पुष्पदन्त का रचना-काल ९५२ से ९७२ ई० माना गया है।[1] शिवमहिम्न स्तोत्र शिखरिणी वृत्त में है। आत्मानुभूति की तीव्रता, भाव-प्रवणता, नाद-सौंदर्य और अलंकारिक छटा की दृष्टि से इसके पद अपूर्व हैं।[2] श्रीहर्ष की राजसभा के दो कवि मयूरभट्ट और बाणभट्ट के दो स्तोत्र ग्रंथ—सूर्य-शतक और चण्डी-शतक मिलते हैं। इनके छंद स्रग्धरा हैं। शब्द-क्रीड़ा, सामासिक अलंकृत-पदावली, क्लिष्ट-कल्पनाएँ और मनोहारी उत्प्रेक्षाएँ इनमें मिलती हैं।

स्वामी शंकराचार्य के नाम से जो बहुसंख्यक स्तोत्र प्राप्त होते हैं उनमें से कुछ ही स्वामी शंकराचार्य की रचनाएँ हैं शेष उनकी गद्दी पर आसीन होनेवाले परवर्ती शंकराचार्यों की रचनाएँ हैं। शंकराचार्य जी ने शिल्प की दृष्टि से अपने स्तोत्रों में प्रशंसनीय विकास किया। उनका प्रति प्रसिद्ध स्तोत्र है—

भजगोविन्दं भजगोविन्दं भजगोविन्दं मूढ़मते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे
बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः।
भज गोविन्दं भजगोविन्दं···

स्तोत्र की स्वरलहरी अपूर्व है। पद-रचना गीत की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। प्रथम पंक्ति गीत की टेक बन जाती है और पद के प्रत्येक चरण में जुड़कर गायी जाती है। बाणभट्ट आदि की भाँति पद में शब्द-जाल कम है। रसात्मकता से प्रत्येक पंक्ति ओत-प्रोत है। स्पष्ट है इस स्तोत्र में प्राचीन स्तोत्रों की अपेक्षा गीति-तत्त्व का समावेश अधिक है।

स्तोत्रों की परम्परा बहुत लम्बी है। दक्षिण के भी बहुत से भक्तों ने स्तोत्रों की रचना की थी। लीलाशुक-रचित 'कृष्ण कर्णामृत' महाप्रभु चैतन्य को बहुत प्रिय था। पंडितराज जगन्नाथ ने करुणा-लहरी, गंगा-लहरी, अमृत-लहरी, लक्ष्मी-लहरी और सुधा-लहरी स्तोत्र रचे। शैव-स्तोत्रों की तो बहुत लम्बी सूची है। जैनियों में भी स्तोत्र साहित्य बहुत है, उधर बौद्धों में नागार्जुन के स्तोत्र उल्लेखनीय हैं।

स्तोत्रों की इस परम्परा का संतों के हिन्दी गीतों पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। सन्तों के विनय-पदों में प्रभु के ऐश्वर्य, उदारता, भक्तवत्सलता आदि की लम्बी सूची

---

१. राहुल सांकृत्यायन—हिन्दी-काव्यधारा, पृ० १७६।

२. **कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं,**
क्व च तव गुणसीमोल्लंघिनी शश्वदृद्धिः।
इति चकित ममन्दीकृत्य मां भक्ति राधा-
द्वरदचरणयोस्ते वाक्य पुष्पोपहारम्॥ पदसंख्या ३१

[हे वरद, कहाँ अत्यन्त मंद और क्लेशयुक्त मेरा मन और कहाँ गुणों की सीमा उल्लंघन करने वाली आपकी ऋद्धि? इस प्रकार मैं चकित हूँ, फिर भी आप ी भक्ति ने उत्साहित करके ये वाक्य-पुष्पोपहार मेरे द्वारा अर्पित कराए हैं।]

तथा दीनता, मानमर्षणता, आश्वासन और मनोराज्य आदि की जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उस पर संस्कृत स्तोत्र-साहित्य का प्रभाव अवश्य है। पद-रचना पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि जैसे-जैसे संगीत का विकास होता गया गाये जाने वाले स्तोत्रों पर उसका प्रभाव पड़ता गया। स्वामी शंकराचार्य का उक्त स्तोत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है। इस प्रकार स्तुति-साहित्य क्रमशः छन्द-विधान से संगीत-विधान की ओर जाता हुआ दिखाई पड़ता है। स्तुतियों में शब्दार्थ के चमत्कार क्रमशः अल्प हो गये, भावुकता, रसात्मकता और भावप्रवणता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। परिणाम यह हुआ कि अंत में संस्कृत की स्तोत्र-परम्परा संतों के तुकान्त पदों में परिवर्तित हो गयी। स्तोत्रों का बृहत् रूप सरलीकृत होकर संतों के विनय पदों में अवशिष्ट रह गया।

संस्कृत प्रबन्ध-काव्य—संस्कृत प्रबन्ध-काव्य में गीति-काव्य की एक ललित झलक दूत-काव्यों में दिखाई पड़ती है। विरह-कातर मानव अपने प्रेमी तक अपना संदेश पहुँचाने को इतना आतुर हो उठता है कि उसे इस बात की सुध-बुध नहीं रह जाती कि कौनसा व्यक्ति संदेशवाहक होने का पात्र है। लोक गीतों में 'विरहा' का सुन्दरतम रूप वही है जिनमें कौए, भौंरे, तोते या बादल आदि के द्वारा ग्राम-वधू अपने प्रियतम तक संदेशा भेजती है।[1] गीत की प्रकृति के लिए यह वृत्त बड़ा ही उप-

---

१. गोरिया काग उड़ावै हाथन से
छल छल नीर बहै नैनन से
कागा उड़िजा ओहीं देसवाँ, जहाँ बसैं हरि हमार।
कागा कहियो बात समुझाई,
अब तौ लग्यो सवनवाँ ना।
कागा विरहिनि के समुझावैं,
पिय क कहइं संदेसवा ना।
ऐहैं लगतइ हो भदवना, कि हो उतरत कुआर।
एक दिन ऐहै तोर विदेसिया, देखे नैना लगाइ॥ —अवधी-लोक-गीत।
हवना में उड़ले बिखरले बदरवा
हमरउ सनेस लिहे जाइ हो बदरवा।
तनि एक निचवा उतरत बदरवा
त पियवा के पतवा बतउती बदरवा॥
साँवर अंग रंगीले छबीले
त कइसे क नवना बताउँ हो बदरवा।
जउनी नगरिया बलम मोर बेलम्हें
त घुमरि क पतवा लगइह बदरवा।
उहीं हो घरियवा में तुहूँ सुख पइब
जब तिरिया क बिगरी बनउब बदरवा॥—भोजपुरी-लोक-गीत।

युक्त है क्योंकि इसमें हृदयानुभूति के सहजोद्‌गार का अन्यतम अवसर सुलभ है। इसी का साहित्यिक रूप संस्कृत के दूत-काव्यों में प्राप्त है। इस पद्धति का आदि और सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है। यद्यपि मेघदूत खण्डकाव्य है, उसमें कथा आद्योपान्त चलती है तथापि कथानक विरही की भावाभिव्यक्ति का आधार मात्र है; कथा की रंगशाला में विरह-विदग्ध-हृदय का मनोरम अभिनय प्रस्तुत किया गया है। भाव-प्रवणता के मनोहारी प्रसंग प्रबन्ध में गुँथे हैं। संपूर्ण काव्य एक विरह-कातर हृदय का सहजोच्छ्वास है। कवि कालिदास जी ने इसमें शृंगार की भिन्न-भिन्न दशाओं और प्रकृति का अभिराम वर्णन प्रस्तुत किया है। इतने पर भी ग्रन्थ में कवि हृदय की शृंगारिक मनोवृत्ति और काव्यशास्त्रीय शिल्प-विधान इतने प्रमुख हो गये हैं कि आत्मा गीतिकाव्यीय होते हुए भी अपने स्वरूप को खो बैठी है। मेघदूत की लोकप्रियता के फलस्वरूप संस्कृत-साहित्य में संदेश-काव्यों की एक परम्परा ही बन गयी। पवन-दूत, चातक-दूत, हंस-दूत, कोकिल-दूत आदि अनेक लिखे गये। इन सबमें कवि धोयी का पवन-दूत, रूप गोस्वामी का हंस-दूत और विक्रम का नेमि-दूत विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन कवि जितसेन ने मेघदूत के समस्त पदों पर एक प्रकार से समस्या-पूर्ति ही कर डाली। कुछ हंसदूतों में आध्यात्मिक रूपक भी प्रस्तुत किये गये जिनमें हंस रूपी मन भक्ति रूपी नायिका के पास जाता है और शिवलोक के शाश्वत आनंद का संदेश देता है। गीत के शिल्प की दृष्टि से इन दूत-काव्यों में गेयत्व नहीं मिलता। इनमें गीत की सस्वर-रचना नहीं है शृंखलाबद्ध छन्द-विधान है। अल्प-कालीन भावानुभूति के वहन करने वाले गीत की रूपरेखा यहाँ बन नहीं पाती क्योंकि उसमें कथात्मकता का नैरन्तर्य विद्यमान रहता है। यदि सम्पूर्ण काव्य को एक ही लम्बा गीत माना जाय तो भी विषय-प्रधान वर्णनात्मकता और शृंखलाबद्ध कथा उसे विकृत कर देती है। सारांश यह कि यद्यपि कीथ जैसे पाश्चात्य आलोचकों ने मेघदूत आदि संदेश काव्यों को गीति-काव्य (Lyrical poetry) के अन्तर्गत परिगणित किया है तथापि उन्हें 'गीत' नहीं माना जा सकता।

संस्कृत नाटक——संस्कृत नाटक-साहित्य में अवश्य ही गीत प्राप्त होते हैं। भरतमुनि ने नाटक में नृत्य और संगीत की अनिवार्य स्थिति मानी थी।[1] इसीलिए नाटकों में संगीत तथा पुरुषों और स्त्रियों द्वारा गाये हुए गीतों के उल्लेख मिलते हैं।[2]

---

१. **मृदुललित पदाढ्यं गूढ़ शब्दार्थ हीनं,**
जनपद सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्॥
बहुकृत रस मार्गं सन्धिसन्धान युक्तं
सभवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥ ——नाट्यशास्त्र १०-६-१८

२. अभिज्ञान शाकुंतलम् पञ्चमोऽअङ्क——
विदूषकः (कर्णदत्वा) भो वअस्स संगीतसालन्तरे अवधारणं देहि। कलवि-सुद्धाएगीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदित्ति।

फिर भी संस्कृत भाषा में लिखे हुए गीत नाटकों में भी नहीं मिलते। प्राकृत के कुछ गीत अवश्य मिलते हैं। कालिदास के शकुंतला और मालविकाग्निमित्र में प्राकृत के गीत मिलते हैं। ये गीत गीतिकाव्य की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। भाव की दृष्टि से दोनों के गीतों के प्रसंग द्रष्टव्य हैं। शकुंतला नाटक में राजा ने हंसपदिका से प्रेम किया था, बाद में जब वह बसुमती से प्रेम करने लगा तब हंसपदिका की मर्मवेदना गीत के रूप में सहसा व्यक्त हो उठी।[1] यह गीत द्विपदी गीत है। इसमें रागात्मकता का वैभव पूर्णरूप से विद्यमान है। गीत के अन्त में उसके रागतत्त्व की प्रशंसा करता हुआ राजा कहता है "अहो! राग परिवाहिनी गीतिः" कवि कुल कालिदास ने भी इस पद को 'गीति' नाम से ही अभिहित किया है। मालविकाग्निमित्र का गीत मालविका का गाया हुआ है। मालविका राजा को चाहती थी किन्तु महारानी की उपस्थिति में वह अपना भाव-प्रकाशन न कर सकती थी। अतएव संगीतशाला में सुअवसर पाकर

[विदूषक--(कानलगाकर) सुनो वयस्य, संगीत-शाला की ओर कान लगाकर तो सुनो। कोई बड़े लय-ताल से अत्यन्त मीठे स्वरों में गीत गा रहा है, जान पड़ता है महारानी हंसपदिका स्वर साध रही हैं।

—कालिदास ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७६

मृच्छकटिक-तृतीयोऽङ्कः श्लोक ५.--

तं तस्य स्वर संक्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं।
वर्णानामपि मूर्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदु।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं।
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव॥

[चारुदत्त रेभिल के गीत की प्रशंसा में कहता है कि मैं उसके स्वर-संक्रम, मृदु गिरा, तंभी के स्वर-राग से संश्लिष्ट ध्वनि, वर्णों की मूर्छना के अन्तर्गत उत्पन्न होने के बीच में लीलायुक्त स्वरों का बढ़ना-रुकना, द्विगुण होने वाले उच्चस्वर, आदि जो मैं सुनता हुआ जा रहा हूँ, वह सत्य है।]

१. अभिज्ञान शाकुंतलम् पञ्चम अङ्क—

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुम्बिअ चूअमञ्जरि।
कमलवसइ मेत्तणिव्वु दोमहुअर विह्मरिओ सि णं कहं॥

पं० सीताराम चतुर्वेदी का अनुवाद—

नये नये मधु के लोभी ओ मधुकर!
एक बार ही इस रसाल की मधुर मंजरी चूम गए तुम।
क्यों निवास कर कमल-कोश में मुझे भूलकर घूम गये तुम॥
नये नये मधु के लोभी ओ मधुकर।

--कालिदास ग्रंथावली, द्वितीय खंड, द्वितीय संस्करण, पृ० ७६

उसने भी अपने भावोद्गार[1] व्यक्त किये। यह गीत चतुष्पदी में अलाप के साथ गाया गया।[2] इस प्रकार दोनों ही गीतों में गेयत्व, स्वर-योजना की शास्त्रीय पद्धति के अनुकूल है और भाव की दृष्टि से तो इनसे अच्छे गीत हो ही क्या सकते हैं?

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत नाटकों में प्राकृत के गीत उपलब्ध हैं। संस्कृत के गीतों के अभाव का एक कारण यह भी हो सकता है कि संस्कृत विद्वानों और पंडितों की साहित्य-भाषा थी, जनसाधारण की भाषा प्राकृत थी। गीत जनसाधारण के सहजोद्गार होते हैं अतएव इनका स्वरूप प्राकृत में रहा होगा। साहित्यिक लोग तो अपने भाव छन्दात्मक पदों में प्रस्तुत करते थे। नाटक में साधारण पात्रों की भाषा प्राकृत है इसीलिए प्राकृत के साथ ही उसके गीतों को भी संस्कृत नाटकों में स्थान प्राप्त हो गया। नाटक में संगीत की अनिवार्यता भी वाञ्छित थी, गीत-वाद्य और नृत्य के आधार गीत ही बन सकते थे इसलिए प्राकृत लोक-गीतों को परिष्कृत करके कालिदास आदि ने नाटक में स्थान दिया।

गीत-गोविन्द——संस्कृत साहित्य में जिस ग्रंथ में गीत संस्कृत में मिलते हैं वह है गीत-गोविन्द। इस ग्रंथ का रचना-काल १२वीं शताब्दी माना जाता है। इस काल तक संगीतशास्त्र की सम्यक् उन्नति हो चुकी थी। कहा जाता है कि नारद-रचित संगीत-मकरन्द जैसे शास्त्र-ग्रंथ की रचना ९वीं शताब्दी में हो चुकी थी। १३वीं शताब्दी में शार्ङ्गदेव रचित संगीत-रत्नाकर से भी सिद्ध होता है कि १२वीं शताब्दी में संगीतशास्त्र की पर्याप्त उन्नति हो चुकी होगी क्योंकि शास्त्र-ग्रंथों का निर्माण तो बाद में होता है। जयदेव से पूर्व यात्रा-नाटकों और रास-नाटकों में गीतों का विशेष प्रयोग होता था। संगीत और काव्य दोनों की शास्त्रीय पद्धति का पूर्ण परिज्ञान जयदेव को था इसीलिए उनका गीतगोविन्द-काव्य अभूतपूर्व रूप में प्रस्तुत हुआ। गीतिगोविन्द की कथावस्तु गीत काव्य के अनुरूप है फिर भी कवि ने प्रबन्ध-काव्य की रचना की है। ग्रंथ का मुख्य भाग

---

१. मालविकाग्नि मित्र—द्वितीय अङ्क—

मालविका—**दुल्लहो पिओ मे तस्सिं भव हिअअ णिरासं।**
अम्हो अपङ्गवो मे परिप्फुरइ किं वि वामओ॥
एसो सो चिरदिट्ठो कहं उणउवणइदव्वो।
णाह मं पराहीणं तुई परिगणअ सतिण्हम्॥

पं० सीताराम चतुर्वेदी का अनुवाद—

दुर्लभ प्रिय है, हृदय! छोड़ दे तू मिलने की आशा।
पर क्यों बाँया नैन फड़कता, कुछ कुछ लेकर आशा?
बहुत दिनों पर देख रही हूँ, पर कैसे अपनाऊँ।
नाथ! विवश हूँ, पर अपनी ही समझो, मैं बलि जाऊँ॥

कालिदास ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २८२-८३

२. **उपगानं कृत्वा चतुष्पदवस्तु गायति।**
[पहले आलाप भरकर चार पदों वाला गीत गाती है।]

—वही, पृ० २८२

गीतों में है। प्रबन्ध-शृंखला को जोड़ने का काम उन्होंने संस्कृत वृत्तों—वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित आदि से लिया है। गीतों के ऊपर राग और ताल का भी उल्लेख है। पद रचना में छन्द-विधान नहीं है। स्वर-योजना-युक्त गीत-रचना है। गीत-रचना के सभी अंग प्राप्त होते हैं। गीतगोविन्द के प्रबन्ध-गीतों की रचना के अंग हैं—उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग। उद्ग्रह और मेलापक के बाद ध्रुव होता है जो कि संपूर्ण प्रबन्ध-गान का मूल-आधार है स्वर-योजना की दृष्टि से भी और भाव की दृष्टि से भी। ध्रुव के पश्चात् उद्ग्रह और मेलापक की भाँति ही अंतरा के पद आते हैं और उनके अन्त में ध्रुव की पंक्ति अनुपद के रूप में गायी जाती है। सम्पूर्ण गीत के अन्तिम चरण में आभोग होता है जिसमें कवि गीत के अन्तर्गत रखे हुए अपने मन्तव्य को भी प्रकाशित करता है और अपने नाम का भी उल्लेख करता है। एक उदाहरण आवश्यक है—

राम कली रागेण रूपकताले अष्टपदी—

चन्दन चर्चित नील कलेवर पीत वसन बनमाली। उद्ग्रह
केलि चलन्मणि कुण्डल मण्डित गण्डयुगस्मितशाली॥ मेलापक
हरिरिह मुग्ध वधूनि करे विलासिनि विलसति केलि परे। ध्रुव
पीन पयोधर भार भरेण हरिं परिरभ्य सरागम्। अंतरा
गोपवधूरनुगायति काचिदुदंचित पंचमरागम्॥ हरिरिह० ॥

× × ×

श्री जयदेव कवेरिदमद्भुत केशव कलित रहस्यम्। आभोग
वृन्दावन विपिनं ललितं वितनोतु शुभानियशस्वम्॥ हरिरिह० ॥

इस प्रकार गीत-गोविन्द शिल्प की दृष्टि से सर्वथा नवीन ग्रंथ है। प्रबन्ध-काव्य के स्थान पर यदि गीत-गोविन्द मुक्त-गीतों में रचा गया होता तो निश्चय ही गीति-काव्य का प्रथम प्रतिनिधि ग्रन्थ होता। इतने पर भी यह तो निश्चय है कि यही प्रथम ग्रंथ है जिसमें साहित्य और संगीत का समन्वित रूप मिलता है, और यहीं से उन गीतों के शिल्प का जन्म होता है जिनमें पद-रचना छन्द-शास्त्र के विधि-विधानों की उपेक्षा करके संगीत के स्वर-ताल और रागों की अपेक्षा रखती है।

प्राकृत-साहित्य - प्राकृत-साहित्य में गीतों का स्थान निश्चय रूप से मिलता है। न केवल गीतों की परम्परा मिलती है वरन् शास्त्रों के वर्गीकरण में भी गेयपदों को स्थान मिला है। बुद्ध-वचनों का एक वर्गीकरण स्वरूप की दृष्टि से नव अंगों में किया गया है। ये अंग हैं—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल।[1] उनमें गेय्य गद्य-पद्य मिश्रित अंश को और गाथा केवल पद्य (पालिश्लोक) को कहा गया है। यद्यपि धर्मप्रधान होने के कारण पालिसाहित्य के पद्यों में भावुकता को प्रश्रय कम मिला है तथापि खुद्दक निकाय के कुछ ग्रंथों में लोक-भावनाओं का सुन्दर प्रतिफलन प्राप्त होता है। इसके धनिय-सुत्त में धनियगोप धन-धान्य, पुत्र-कलत्रादि से समृद्ध है,

---

१. पालि साहित्य का इतिहास; पृ० १०२।

वर्षाकाल में उसके उद्गार गीत रूप में व्यक्त हो उठते हैं।[1] इन गाथाओं में गीत के सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं कृषक का सहजोद्गार इनमें मिलता है। गीत की टेक भी है और उधर लोक-गीतों की सहज धुन की पद-रचना में प्रधानता मिलती है।

खुद्दक निकाय में दो और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं थेरगाथा और थेरी-गाथा। इनमें गीत के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्राप्त होते हैं। थेरगाथा में २५५ भिक्षुओं के और थेरी-गाथा में ७३ भिक्षुणियों के सहजोद्गार हैं। भिक्षुओं ने संसार की अनित्यता को देखकर जीवन से वैराग्य लिया था। जीवन के प्रति उनमें किसी प्रकार का राग शेष न था, उनका तो सबसे बड़ा सुख चित्त की शान्ति में ही था। इन्हीं साधकों के अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति थेरगाथा में हुई है। इन गीतों में गेयत्व पूर्ण रूप से विद्यमान है जैसे—

वस्सति देवो यथा सुगीतं,
छन्ना में कुटिका सुखा निवाता।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो,
अथ चे पत्थयसि पवस्स देव॥

—वस्सति देवो

वीतरागो···वीतदोसो······वीतमोहो,
अथ ये पत्थयसि पवस्स देवा'ति॥

—वस्सति देवो यथा...[2]

[सुन्दर गीत के समान देव बरसता है।
मेरी कुटिया छाई हुई है,
(ठंडी) हवा अन्दर न आ सकने के कारण सुखकारी है!
उसमें शान्त चित्त मै ध्यान कर रहा हूँ।
बीत राग, बीत-द्वेष, बीत-मोह,
बरसो देव, जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो।]

---

१. एक गीत का अनुवाद इस प्रकार है—
भात मेरा पक चुका दूध दुह लिया,
मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ निवास करता हूँ,
कुटी छाली है, आग सुलगाली है।
अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो॥ [टेक]
× × ×
मेरी ग्वालिनि आज्ञाकारिणी और अचंचला है।
वह चिरकाल से प्रिय-संगिनी है।
उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता।
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो॥
मैं आप अपनी मजदूरी करता हूँ,
मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है।
उसके विषय में कोई पाप नहीं सुनता।
अब हे देव चाहो तो खूब बरसो॥
—पालि साहित्य का इतिहास (हि० सा० स०), पृ० २३७

२. पाली साहित्य का इतिहास (हि० सा० स०), पृ० २५६।

पद लयात्मक-विधान से पूर्णरूपेण ग्रथित है। प्रथम पंक्ति की टेक है गीत की सहज धुन, भाव तथा शब्द समभाव से रागात्मक आनन्द का सृजन कर रहे हैं। थेर गाथा में वन्य और पार्वत्य-प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं, इसलिए विंटरनित्ज़ ने थेर-गाथा को 'भारतीय गीतिकाव्य का रत्न' कहा है।[1]

थेरी-गाथा में थेर-गाथा से भी अधिक सुन्दर गीत प्राप्त होते हैं। कारण यह है कि थेरी-गाथा में व्यक्ति-तत्व अधिक है। भिक्षुणियों ने अपने जीवन के शुद्ध और निश्छल अनुभव व्यक्त किये हैं। इनमें भावनाओं की अकृत्रिमता, सादगी और वैयक्तिक ध्वनि की प्रधानता है। इनमें संगीत के साथ ही सच्चा जीवन-दर्शन मिलता है। भिक्षुणियों के प्रव्रज्या ग्रहण करने के कई कारण थे। इनमें से कुछ ने गार्हस्थिक विडम्बनाओं से ऊबकर संन्यास लिया था। कुछ ने प्रियजनों की मृत्यु के कारण तथा कुछ ने भगवान् बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा के कारण भिक्षुणीपन स्वीकार किया था। इन सबने अपने-अपने हृद्गत भावों को व्यक्त किया है, इस प्रकार इनके द्वारा पाँचवीं और छठी शताब्दी ईसा पूर्व के भारतीय नारी-समाज के जीवन की एक झलक देखने को मिल जाती है। भिक्षुणी बनने के पश्चात् पूर्व जीवन के अनुभव सम्बन्धी स्मृतियाँ तथा उनसे मुक्ति पाने में जो स्वाभाविक हर्ष उन्हें हुआ उसे ही उन्होंने गाथाओं में रखा है। थेरी गाथाओं के गीत लोक-गीत ही हैं। इनमें संगीतात्मक पद-योजना नहीं हैं। धुनें सर्वथा स्वतन्त्र हैं, उनकी भावधारा ही गीत का रूप लिये हुए हैं। जिस प्रकार वे भिक्षुणी होने से पूर्व लोक-गीत गाती थीं, उसी शैली में उन्होंने भिक्षुणी बनकर भी अपने दुःख-दर्दों को गाया है।

महा प्रजापति गोतमी के एक गीत का भाव इस प्रकार है—

> **हे बुद्ध ! हे वीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार।**
> **जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा।**
> **मेरे सब दुःख दूर हो गये, उनके मूल कारण वासना का उच्छेदन हो गया !**
> **आज मैंने दुःख निरोध गामी आर्य अष्टांगिक मार्ग में विचरण किया।**
> **माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्वजन्मों में अनेक बार बनती रही।**
> **यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मैं लगातार संसार में घूमती रही।**
> **अब मैंने इस जन्म में उन भगवान (बुद्ध) के दर्शन किये।**
> **मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम शरीर है।**
> **मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है।**[2]

इसके अतिरिक्त पालि-साहित्य में गाथाएँ (पद्य) और भी बहुत मिलती हैं, किंतु उनमें गीति के तत्त्व प्रायः न के बराबर ही मिलते हैं, उनमें उपदेश, धर्म-सिद्धान्त या धार्मिक आख्यान हैं इसीलिए उनका शिल्प-विधान भी गीत के अनुरूप नहीं है।

अपभ्रंश साहित्य—ईसा की छठी शताब्दी के पश्चात् पालि-साहित्य का प्रण-

---

१. 'The real gems of Indian lyrical Poetry.'
—इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० १०६

२. पालि साहित्य का इतिहास, पृ० २६५।

यन बौद्ध धर्म की शिष्ट और पंडित मंडली तक ही सीमित रह गया। जनता अपने व्यवहार में अपभ्रंशों का प्रयोग करने लग गयी थी। बौद्धों की वज्रयानी शाखा के साधु अधिक विद्वान् और शास्त्रज्ञ न थे। उनका सम्पर्क भी जनसाधारण से ही अधिक था। ये साधु सिद्ध कहलाये। इन सिद्धों ने अपने मत-प्रचार के लिए जन-भाषा का उपयोग किया। ये रमते राम सिद्ध समस्त भारत में विचरण करते थे और अपने मत गेय पदों में प्रस्तुत करते थे। इसी काल में जैन साधुओं ने भी लोक-भाषा में अपने विचार व्यक्त किये। जैन-साहित्य में भी गीतों की आरम्भिक रूपरेखा देखने को मिलती है। इस प्रकार अपभ्रंश-काव्य में गीतिकाव्य परम्परा देखने के लिए क्रमशः सिद्ध-साहित्य तथा जैन-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

सिद्ध-साहित्य—सिद्धों की प्राचीनतम उपलब्ध रचना सरहपा (सरहपाद) की है। इसका रचना-काल आठवीं शताब्दी (७६० ई०) महापंडित राहुल साकृत्यायन ने माना है।[1] सरहपा ने अनेक गीतियों की रचना की थी जिनके नाम हैं—कायकोष अमृत वज्रगीति, चित्तकोष-अज-वज्रगीति, डाकिनी-गुह्य-वज्रगीति, चर्यागीति और सरहपाद-गीतिका। सरहपा के गीतों के विषय रहस्यवाद, सहजमार्ग, उपदेश, कायातीर्थ आदि हैं। पद-रचना की दृष्टि से सरह के गीतों में गीत के मूलतत्त्व प्राप्त होते हैं। पद छोटे हैं, वर्णनात्मकता इनमें नहीं है, चिंतन-प्रधान साधु के अनुभवों की सरल और स्पष्ट अभिव्यक्ति है। गीतों में राग देशाख, राग भैरवी, राग मालशी, राग गुंजरी आदि का कथन है। सारे पद में एक ही भाव मिलता है और अंतिम पंक्ति में 'सरह भणइ' की छाप भी मिलती है।

राग मालिशी

सुण्णे हो बिदारिअ रे निअ मण तोहोर दोसे।
गुरु-बअण विहारें रे, थाकिव तइं पुत ! कइसे।
एकट हु भवई गअणा।
बंगे जाया नीलेसि पारे, भागेल तोहोर विणाणा।
अबा-भुअ भव-मोह रे, दीसइ पर अप्पाणा।
ए जग जल-बिम्बाकारे, सहजे सूण अपाणा।
अमिअ अच्छन्ते विस गीलेसिरे, चिअ पर रस अप्पा।
घरें परे का बुज्झीले मारि, खइब मइ दुठ कुंडवा।
सरह भणइ वर सुन गोहाली, की मो दूठ बलन्दे।
एक्केले जग नाशिअ रे, विहरहु छन्दे।[2]

राहुल सांकृत्यायन कृत भाषान्तर—

शून्य हो विदारिउ निज मन तोहरे दोषे।
गुरु-वचन बिहारे रे रहिबे तैं पुत ! कइसे।।
एकट हु होई गगना।

---

१. हिन्दी काव्य-धारा; प्रथम संस्करण; पृ० २।
२ राहुल सांकृत्यायनः काव्यधारा; पद ३९, पृ० १८।

बंके जाइ लीलेसि पारे, भांगल तोहर विज्ञाना।
अद्भुत भव-मोह रे दीसइ पर अपना।
ए जग जल-विंवाकार सहजे शून्य अपना।
अमृत अछतै विष गिलसि रे चित्त पर रस आपा।
घरे परे का बूझीले मारि खाइब में दुष्ट कुटुंबा।
सरह भनै अतै वर शून्य गोहारी की मोर दुष्ट बलछे।
एकले जग नाशेउ रे बिहरहु छन्दें ।।

पद की पंक्तियों में मात्रा आदि का कोई हिसाब नहीं है। धुन ही पद-रचना का मूल आधार है। पद की पंक्तियाँ छोटी-बड़ी हैं, प्रतीत होता है गायक साधु ने स्वर-योजना की प्रमुखता रखी है। कवि का आत्माभिव्यंजन तीव्र है, सम्पूर्ण पद आत्म-परक है। 'हो' 'है' 'अप्यम' 'तुइ' आदि गीति की भावुकता को उत्कृष्ट करते हैं। सरहपा ने इस प्रकार के पदों को ही 'गीति' नाम से अभिहित किया है। उन्होंने गीतियों से भिन्न दोहा-कोष की रचना की है जिसका शिल्प-विधान सर्वथा भिन्न है। दोहों में तथ्य-कथन है आत्म-प्रकाशन नहीं है, उनमें रागों का भी उल्लेख नहीं है। कुछ पदों में चौपाई जैसे छन्द का प्रयोग है किन्तु इसमें गीति के और सभी लक्षण विद्यमान हैं।

सरहपा की परम्परा अन्य सिद्धों ने चलाई। शवरपा (९वीं शताब्दी) ने सरह की भाँति ही गीतियों की रचना की। उसकी गीतियाँ हैं—चित्तगुह्य-गंभीरार्थ गीति और महामुद्रा वज्रगीति। उसने भी गीतियों में रागों का नाम दिया है। पद-रचना में छन्द-योजना का कोई नियम नहीं है। समान अक्षर प्रत्येक पंक्ति में प्राय: मिलते हैं, अंतिम पंक्ति में कवि के नाम की छाप मिलती है। इसी परम्परा में भसुकपा, लुइपा, विरूपा, डोम्बिपा, दारिकपा, मुँडरिपा, कमरिपा और कन्हपा के गीत मिलते हैं। नये-नये राग जैसे राग पट मंजरी, राग कामोद, राग मल्लारी, राग बंगाल, राग गवड़ा, राग धनसी, राग अरुण, राग देवश्री, राग रामश्री और राग शवरी के उल्लेख मिलते हैं। सिद्धों के इन गीतों से पता चलता है कि आठवीं से दसवीं शताब्दी तक कुछ शास्त्रीय रागों का निर्माण हो चुका था। सिद्धों के द्वारा प्रयुक्त उक्त रागों का विवेचन शार्ङ्गदेव-रचित संगीत-रत्नाकर (१३वीं शताब्दी) में हुआ है। तात्पर्य यह कि जिन रागों का शास्त्रीयकरण बाद में हुआ उनकी रूपरेखा भजनानंदी सिद्धों ने ही बनायी। इस प्रकार सिद्धों को शास्त्रीय संगीत-संयुक्त गीतों का प्रणेता अवश्य मानना चाहिए।

नाथ-पंथी साहित्य—सिद्धों से ही सम्बन्धित नाथ पंथी साधु हुए। इनके परम्परा-गुरु मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ माने जाते हैं। गोरखनाथ के काल के सम्बन्ध में मत-भेद है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल विक्रम की ११वीं शताब्दी और राहुल सांकृत्यायन ९वीं शताब्दी स्वीकार करते हैं। जो भी हो गोरखबानी की भाषा के देखने से पता चलता है कि यह रचना सिद्धों के चर्या-गीतों के बाद और कबीर आदि सन्तों के सबद और साखियों से पहले हुई होगी। गोरखवानी के पदों में सन्त-पदों का पूर्व रूप मिलता है। रागों का उल्लेख कम है। एक-दो पदों में रामश्री और असावरी का ही

उल्लेख है। कबीर आदि सन्तों के पदों में भी रागों का उल्लेख नहीं मिलता। कबीर तथा अन्य सन्तों ने पदों को सबद नाम से अभिहित किया है, यह उद्भावना भी गोरखनाथ की ही थी। गोरख की सबदी में लोक-गीतों की धुन है, पद दो-दो पंक्तियों के हैं इन्हें हम अपभ्रंश के दोवई (द्विपदी) का विकसित रूप कह सकते हैं। जैसे—

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिखर महिं बालक बोलै ताका नाम धरहुगे कैसा॥[1]

किसी किसी पद में "कहै कबीर सुनो भाई साधो" के समान उक्ति मिलती है जैसे—

पंथ विन चलिबा अगिन बिन जलिबा अनिल तृषा जहड़िया।
संसवेद श्री (गुर) गोरख कहिया बूझिल्यो पंडित पढ़िया॥[2]

गोरखबानी में सबदी के अतिरिक्त अनेक पद मिलते हैं जो कि सबदी से भिन्न हैं। पद की पंक्तियाँ अधिक हैं, आरम्भ में टेक हैं। इन पदों में सन्तों के सबदों के सभी लक्षण मिल जाते हैं—

अबधू ऐसा ग्याँन विचारी ता मैं झिलमिल जोति उजाली (टेक)
जरा जोग तहाँ रोग न ब्यापै, ऐसा परिस गुर करनां।
तन-मन सूं जे परचा नाहीं, तौ काहे कौ पचिपरंनां।
काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तप करि हूवा न सूरा।
कुल का नास करै मति कोई, जै गुर मिलै न पूरा।
सप्त धात का काया पिंजरा, ता महिं जुगति विन सूवा।
सतगुर मिलै उबरै बाबू, नहीं तौ परलै हूवा।
कंद्रप रूप काया का मंडण अंबिरथा काइ उलीचां।
गोरष कहै सुणौ रे भौंदू अरंड अमी कत सींचा॥[3]

गोरख की उक्त पद-शैली सिद्धों की गीत-शैली से भिन्न है। सिद्धों के गीतों की राग-पद्धति का विकास इसमें नहीं है किन्तु गीत की टेक नयी वस्तु है। शास्त्रीय स्वर-योजना के स्थान पर सन्तों की अपनी निजी धुन इन पदों में मिलती है। शास्त्रीय गीत में आरोह और अवरोह होता है। गोरखबानी के गीतों में टेक के पश्चात् के चरणों में अन्तरा का आरोह विधान नहीं है—मनमानी स्वर-विधान है। इस प्रकार प्रतीत होता है गोरख ने सिद्धों के चर्यागीतों का विकास नये ढंग से किया। और गोरख के पद ही परवर्ती कबीर, दादू, भीखा आदि सन्तों के आदर्श बने।

जैन-साहित्य—हिन्दी की भक्तिकालीन परम्परा पर जैन-अपभ्रंश-काव्य का प्रभाव भी कम नहीं माना जा सकता। जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना और रक्षा में महत्त्वपूर्ण योग दिया था। जैन लोग संस्कृत के भक्त नहीं थे। प्रायः व्यापारी होने के कारण जैन-जनता का परिज्ञान भी देशी-भाषा तक ही सीमित था। इसीलिए जैनियों

---

१. गोरखवानी (पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल); सबदी १, पृ० १।
२. वही, २२ पृ० ८।
३. गोरखवानी, पृ० ३२।

ने अपभ्रंश-काव्य-रचना में विशेष रुचि दिखाई। अपभ्रंश-काव्य-प्रियता ने इनकी संकीर्णता का भी उन्मूलन कर दिया। यही कारण है कि जैन ग्रन्थमाला में स्वयंभू और पुष्पदन्त (जो जैन नहीं थे) तथा अब्दुर्रहमान की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। जैन-अपभ्रंश साहित्य सम्पन्न है उसमें प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक के साथ ही गीति-काव्य भी मिलते हैं। दसवीं शताब्दी में हर्षवर्धन को पराजित करने वाले पुलकेशिन चालुक्य को पराभूत करके राष्ट्रकूटों ने नर्मदा से लेकर कृष्णा नदी तक अपना राज्य बसाया था। ये राष्ट्रकूट राजा जैन धर्मावलम्बी थे। इन्हें देशी भाषा-काव्य से विशेष रुचि थी। इनके संरक्षण में अपभ्रंश के दो महान् कवि स्वयंभू और पुष्पदन्त हुए। दोनों में क्रमशः राम-चरित और कृष्ण-चरित मिलता है। स्वयंभू का काल महापंडित सांकृत्यायन के मत से सन् ७९० ई० है।[1] स्वयंभू ने हरिवंश पुराण और पउमचारिउ (रामायण) की रचना दोहा-चौपाइयों में की। सम्भवतः गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामायण की रचना में स्वयंभू के रामायण से भी प्रेरणा ली और उसका संकेत 'क्वचिदन्यतोऽपि' के द्वारा व्यक्त कर दिया। स्वयंभू की प्रकृति काव्यशास्त्रीय थी, उसने गीति-काव्य की रचना नहीं की।

पुष्पदन्त में गीतिकाव्य और कृष्णचरित सम्बन्धी गीति-काव्य का आरम्भिक स्वरूप मिलता है। पुष्पदन्त का कविता-काल ९५९-९७२ ई० है।[2] राष्ट्रकूट राजा के मंत्री भरत के आश्रय में रहकर इन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना राष्ट्रकूट में की यद्यपि इनकी जन्मभूमि यौधेय (हरियाना प्रदेश, पंजाब-राज्य) थी। पुष्पदन्त भक्त थे, इन्होंने संस्कृत में प्रसिद्ध 'शिव महिम्न स्तोत्र' की रचना की थी। इनकी अपभ्रंश-कृतियाँ हैं—१. जसहर चरिउ (यशोधर चरित), २. महापुराण (तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकार) ३. नायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)। जसहर चरिउ और महापुराण में कृष्ण-चरित सम्बन्धी पद हैं। इन पदों में गीतात्मकता के दर्शन होते हैं। प्रत्येक पद के आरम्भ में दुवइ (द्विपदी) और अन्त में घत्ता प्राकृत के प्रसिद्ध मात्रिक छन्द[3] हैं। कुछ पदों के आदि में दोवइ नहीं मिलती, किसी पद में दोवइ और घत्ता दोनों नहीं मिलते। दोवइ और घत्ता के अतिरिक्त एक पद में १६ मात्राओं के कई चरण मिलते हैं, चरणों की कोई निश्चित संख्या नहीं है, चार पंक्तियाँ भी हैं, १२ भी और १६ भी। प्रत्येक पद स्वतंत्र और पूर्ण है, शब्द-योजना संगीतात्मक है। जैसे—

(दोवई) **धूली धूसरेण वर-मुक्क-सरेण तिणा मुरारिणा।**
कीला-रस-वसेण-गोवालय-गोवी-हियय-हारिणा।
रंगंतेण रमंत-रमंते। मंथउ धरिउ भमंतु अणंते।
मंदीरउ तोडिबि आ-वट्टिउं। अद्ध विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउँ।
कावि गोवि गोविन्दहु लग्गी। एण महारी मंथणि भग्गी।
एयहि मोल्लु देउ आलिंगण। णं तो या मेल्लहु में प्रंगण।[4]

× × ×

१. हिन्दी काव्य-धारा; पृष्ठ १७७।
२. वही, पृ० १७७।
३. प्राकृत पिङ्गलं, पद १५२-१५३; पृ० २५७ और ९९-१०१; पृ० १७०-१७२।
४. हिन्दी काव्य-धारा; पृ० २२०।

(घत्ता) पसरिय-कर-यलेहिंसद्द'तिहिं सुइ-सुहकारिणिहिं ।
भद्दिय णियडिथिए धरयम्मुण लग्गइ णारिहिं ।

श्री राहुल सांकृत्यायन-कृत अनुवाद—

द्विपदी— धूलि-धूसरेहिं वर-मुक्त-शरेहिं तेहिं मुरारि हीं ।
क्रीड़ा-रस वशेहिं गोपालक-गोपी-हृदय-हारिहीं ।।
रेगंतेहिं रमंत रमंते । पंथअ धरिउ भ्रमंत अनंते ।
मंथीरउ तोड़िय आ-वट्टिउ'। अर्ध-विलोनिय दधिय पलौट्टिउ'।
कोइ गोपि गोविंदहिं लागी । इनहिं हमारी मंथनि भाँगी ।
एतहँ मोल देउ आलिंगन । ना तो न आवहु मम आँगन ।

× × ×

(धत्ता) प्रसरित करतलेहिं शब्दंतिहिं शुचिय-सुखकारिणि हीं ।
भव्रिइ निकट स्त्री धरइ न लागै नारिहीं ।।

उत्तरपुराण; पृ० ६४-६५

गान में उक्त पद की द्विपदी टेक का रूप धारण करती है। घत्ता का तुक द्विपदी के तुक से मिलकर संगीतात्मक स्वरैक्य उत्पन्न करता है । पद के शब्द-शब्द में अन्त्यानुप्रास आन्तरिक संगीत भरता है । पद में प्रबन्धात्मकता का सर्वथा अभाव है। गोपियों के आत्मोद्गार—जैसे "कावि गोवि गोविन्दहु लग्गी । एहि मोल्लु देहु आलिंगण । णं तो या मेल्लहु मे अंगण ।" जिसमें गोपी कृष्ण को आलिंगन देने और उसके आँगन में आने की अभ्यर्थना करती है--गीतात्मक अभिव्यक्ति के सुन्दर नमूने हैं ।

पुष्पदन्त के लीला सम्बन्धी पदों से ज्ञात होता है दशवीं शताब्दी में कृष्ण-लीला सम्बन्धी स्फुट गीत भारत में और विशेषतया ब्रज-प्रान्त के आस-पास गाये जाते थे। पुष्पदन्त की जन्म-भूमि ब्रज-प्रान्त के निकट थी अतएव उस पर जो आरम्भिक संस्कार पड़े थे उन्हीं के फलस्वरूप उसने कृष्ण-लीला सम्बन्धी स्फुट पदों की रचना की । इतना अवश्य है कि पुष्पदन्त कवि था, सन्तों की भाँति गायक न था इसीलिए उसकी पद-योजना में काव्य-शैली है, गायन-शैली नहीं है ।

धार्मिक-जैन-गीति-काव्य १२वीं शताब्दी से प्राप्त होने लगते हैं, इनका एक सुन्दर संग्रह ऐतिहासिक-जैन काव्य-संग्रह के नाम से अगरचन्द नाहटा ने प्रकाशित कराया है । इन गीतों का विषय प्रायः भक्ति है। ये गीत जैन-समाज में लोकप्रिय रहे हैं और घरों तथा तीर्थयात्राओं में गाये जाते रहे हैं। इनमें राग-रागिनियाँ भी मिलती हैं। इतना निश्चय है कि राग-रागिनी के उल्लेख के अतिरिक्त इन गीतों में शास्त्रीय राग-विधान नहीं है। कुछ गीत स्तुतियों के रूप में हैं जिन पर स्तोत्रों का प्रभाव प्रतीत होता है जैसे--

धवलगीत

वीर जिणेसर नमइ सुरेसर, तसपह पणमिय पयकमले ।
युगकर जिपति सूरि गुण गइसो, भत्तिभरहरसिह भमिरमले ।।

--ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह; पृ० ६

सारांश यह कि जैन-अपभ्रंश काव्य में एक गीत-परम्परा मिलती है, बहुत प्राचीन काल से जैन-साधु प्राय: उसी पद-शैली में अपने गीत गाते चले आ रहे हैं किन्तु जैनियों की विशिष्ट पद-रचना और सूर आदि हिन्दी कवियों की पद-रचना में कोई विशेष साम्य नहीं है। जैन-पद-शैली में संगीत एवं साहित्य-कला का पुट न्यूनतम मात्रा में मिलता है। जैन-पदों के विषय उपदेश, गुरु-महिमा, धर्म-सिद्धान्त और तथ्य-कथन हैं। गीत की भाव-प्रवग-निर्झरिणी इन विषयों में गति नहीं पाती, गेयत्व प्राणहीन होकर सिसकियाँ मात्र भर सकता है। सूरदास जैसे सिद्ध गायक ने जिन गीतों की रूप रचना की उस पर जैन-गीति-काव्य का आभार हमारी दृष्टि में अत्यल्प है।

दक्षिण भारत की गीत-परम्परा––दक्षिण भारत में गीत-काव्य-परम्परा अपभ्रंश काव्य से भी प्राचीन प्राप्त होती है। लगभग २२०० वर्ष पूर्व व्याकरणाचार्य तोलकाप्पियर ने अपने व्याकरण-ग्रंथ तोलकाप्पियम् की रचना की थी उसमें इन्होंने साहित्य को तीन वर्गों में बाँटा था—१. इयल (पाठ्य-साहित्य), २. इशै (गेय-साहित्य), ३. नाडगम् (दृश्य-काव्य)। गेय-साहित्य नामक वर्ग इस बात का प्रमाण है कि तमिल जनता में गीतों की परम्परा पहले से ही विद्यमान थी। तोलकाप्पियर ने तो उन दिनों में प्रचलित साहित्यिक रूढ़ियाँ और शैलियों को केवल शास्त्रीय रूप एवं वर्गीकरण किया होगा। तमिल साहित्य में प्राप्त प्राचीन साहित्यिक सामग्री के आधार पर ही उक्त तथ्य का अनुमोदन होता है। ईसा की दूसरी शताब्दी में जैन-मुनि इलंगो की श्रेष्ठ रचना शिलप्पदिकारम मिलती है। इलंगो ने अपने काव्य में प्रचलित लोकगीतों एवं लोकवार्ताओं से प्रेरणा ली और प्राय: प्रचलित लोक-गीतों को ज्यों-का-त्यों अथवा किञ्चित परिमार्जन के साथ साहित्य में स्थान दिया; 'वेट्टुव्वरि' (व्याधों के गीत) 'आयचियर कुरवै' (ग्वालिनों के नृत्य-गीत) 'कानल वरि' (विरह-गीत) शिलप्पदिकारम् के प्रमुख गीत हैं। इन गीतों की धुन गीति-काव्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। पद-रचना उत्तर-भारतीय गीतों से भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिए 'आयचियर कुरवै' में भगवान विष्णु की लीलाओं का वर्णन करते हुए ग्वालिनें गातीं हैं जिनका भाव है—

मेरु को मथानी और वासुकी सर्प की रस्सी बनाकर हे माधव तुमने समुद्र का उदर मथ डाला था।

मथने वाले वे ही हाथ (बाद में) यशोदा की मथानी से बँध गये।
हे पद्मनाभ ! यह तुम्हारी कैसी माया है।[1]

---

१. वड वरैयें मत्तक्कि
वाशुकि यैक् कायिर्णक्क,
कडकलिराथ् ! पण्डोरुनाथ
कडल वथिर कलक्कि नैये।
कलक्किय कै यशोदैयार
कडै कयिट्रलि कट्टुण कै
मलर्कमल उन्दियाय्
माययो मरुट्रू कंत्ते। ––शिलप्पदिकारम्।

शिलप्यदिकारम् में नायक कोवलस तथा उसकी प्रेमिका माधवी के अनेक गीत हैं। प्रत्येक गीत, भावुकता, लय-वैभव और प्रभावोत्पादकता से युक्त है। एक स्थल पर माधवी अपनी अभिव्यक्ति कावेरी नदी के माध्यम से व्यक्त करती है--

कुसुमित काननों में मोर नाच रहे हैं।
कोयलें गा रही हैं।
कटि पर मनोहारी पुष्पोपहार धीरे से हिल रहे हैं।
और तुम शान से चल रही हो।
हे कावेरी ! परन्तु यह सब ठाठबाट किस आधार पर ? यह मैं जानती हूँ—
अपने पति (चोल राजा) के भयप्रद भालों के ही बल पर तुम यों झूम रही हो।
जय हो कावेरी। तुम्हारी जय हो ![1]

इन गीतों की गान-शैली में गीत की द्वितीय पंक्ति दुहराई जाती है। यही शैली उत्तर भारत के गीतों ध्रुवक या टेक के रूप में दिखाई पड़ती है। गीतों की सहज धुन भी उत्तर भारतीय लोक-गीतों से बहुत दूर नहीं है।

तमिल-साहित्य में माणिक्कवाचकर का नाम बड़ी प्रतिष्ठा के साथ लिया जाता है। उनका काल कुछ लोग चौथी शताब्दी और कुछ आठवीं शताब्दी मानते हैं। मंत्री पद को त्यागकर वे शिव-स्तुति गाते हुए विचरण किया करते थे। इनके गीतों का संकलन 'तिरुवाचकम्' के नाम से हुआ है। इसके गीत तत्कालीन लोक-गीतों की शैली में रचे गये हैं। आध्यात्मिक विचार के साथ ही इनमें हृदयाकर्षक माधुर्य भी पाया जाता है। इन गीतों की द्रवणशीलता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि "जो तिरुवाचम् से द्रवित नहीं होता वह किसी सुकविता से द्रवित नहीं हो सकता।"[2] मणिक्कवाचकर के पश्चात् तमिल-साहित्य में शिव-स्तुति सम्बन्धी अनेक गीतिकार हुए। शैव-सन्तों में अय्यर और तिरुज्ञानसम्बन्दर विशेष उल्लेखनीय हैं। इन गीतों में अनोखी पीड़ा और विरही की वेदना पाई जाती है।

तमिल साहित्य में वैष्णव आलवारों की रचनाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। ये प्रबन्धम् की रचना करते थे। प्रबन्धम् सन्तों के स्फुट गीतों का ही दूसरा नाम है। बारह आल-

---

१. **पूवार शोलै मयिलाल,**
पूरिन्दु कुयिलगल इशै पाउ,
कामर मालै परुंगशैय
नडन्दाय वालि कावेरि !
कामर मालै भरं, गशैय
नडन्दवे ललाम विनकरणवन
नामवेलिन तिरंगोण्डेन,
इुरिन्देन वालि कावेरि ! —शिलप्यदिकारम्

२. **"तिरुवाचकत्तुक्कुरुगान् ओरु वाचकत्तुक्कुम् उरुगान्"**
—तमिल और उसका साहित्य; पृ० ५१

वारों द्वारा रचित हजारों कविताओं के संग्रह का नाम 'नालियर दिव्य प्रबन्धम्' है। आलवारों में ही सन्त कवि पेरियालवार ईसा की छठी शताब्दी में हुए थे। इन्होंने बाल-कृष्ण को आराध्य मानकर वात्सल्य-रस के अनुपम गीत लिखे। इनकी भक्ति-भावना सूरदास जी से मिलती है। यद्यपि पेरियालवार और सूरदास की भक्ति, कविता के विषय और काव्य-शैली समान थे तथापि दोनों कवियों की वाणी स्वतन्त्र रूप से मौलिक रूप से ही निकली थी। पेरियालवार की यशोदा में भी सूर की यशोदा की भाँति ही मातृ-हृदय का मनोहारी चित्र देखने को मिलता है। एक पद का भाव है—

"माथे पर का आभूषण डोल रहा है।
सोने की किंकणी मधुर नाद कर रही है।
मेरा लाल गोविन्द धूल में घुटने के बल रेंगता हुआ खेल रहा है।
यदि तुम्हारे आँखें हैं, तो हे चन्द्र,
मेरे नन्हें की लीला देखने उतर आवो।"[1]

माखन-चोरी और गोचारण के चित्ताकर्षक चित्र भी पेरियालवार के गीतों में प्राप्त हैं। पेरियालवार ने तमिल-प्रदेश की स्त्रियों में प्रचलित वात्सल्य-गीतों को ही साहित्यिक रूप दिया। पिल्लै तमिल कहलाने वाले इन गीतों की एक परम्परा ही तमिल-साहित्य में चल गयी।

तमिल साहित्य की मीरां आण्डाल भी तमिल-गीत-परम्परा में विशिष्ट स्थान रखती हैं। मीरां की भाँति ही आण्डाल की काव्य-साधना व्यक्तिगत प्रणय की अभिव्यक्ति के रूप में हुई थीं। जिस प्रकार मीरां का समग्र जीवन उनकी प्रेम-साधना ही का काल था और अन्त में कृष्ण-मूर्ति में ही समा गयी थीं उसी प्रकार कुमारी आण्डाल कृष्ण-प्रणय में मतवाली थी और उनके कौमार्य के समाप्त होते ही उनके प्रेमी माधव ने उन्हें वर लिया था।[2] आण्डाल ने भी मीरां की भाँति ही गीत लिखे हैं और उनके गीतों का संग्रह 'नाच्चियार तिरुमोलि' के नाम से प्रसिद्ध है।

आलवारों का रचना-काल नवीं शताब्दी है। गीतों की रचना दसवीं और ग्यारहवीं शतब्दी में भी चलती रही। १४वीं शताब्दी में तमिल क्षेत्र में भी सिद्धों का उदय हुआ। प्रतीत होता है उत्तर-भारत के सिद्ध दक्षिण में पहुँच गये। इन सिद्धों ने योग-साधना तथा अनुभव सम्बन्धी गीत लिखे। इनके गीतों की शब्दावली भी अटपटी और दुरूह होती थी। चौदहवीं शताब्दी में वैरागी कवि पट्टिनत्तार ने 'तिरुप्पुगल' नाम से हजारों गीतों की रचना की जो कि आज तक गाये जाते हैं।

---

१. तमिल और उसका साहित्य; पृ० ६०।

२. **"इकलौती बिटिया मेरी।**
श्री राम पाला था उसे मैंने।
पर मद भरे अरुणिम नैनों वाला
माधव हर ले गया उसे।"

—पेरियालवार : तमिल और उसका साहित्य; पृ० ६५

कन्नड़ भाषा में गीति-परम्परा का वैसा समृद्ध रूप नहीं प्राप्त होता जैसा कि तमिल-साहित्य में मिलता है। कन्नड़ में भी आदि काल में अनेक जैन कवि हुए। कवि पंप, पोन्न और रन्न 'रत्नत्रयी' के नाम से विख्यात हैं। ये तीनों ही जैन-कवि थे। इन सभी कवियों ने लोक-गीतों को साहित्यिक रूप देकर गीत-काव्य रचे थे। कन्नड़ में भी वैष्णव कवियों का ही साहित्य सम्पन्न साहित्य है। नारायणप्पा, कुमारव्यास या कन्नड़व्यास इनमें सर्वश्रेष्ठ थे। इन्होंने गीत-रचना तो नहीं की किन्तु कृष्ण-चरित पर कन्नड़-भारत महाकाव्य लिखा है।

तेलुगू-साहित्य में गीति-काव्य लगभग वैसा ही है जैसा कन्नड़ साहित्य में। केवल ताल्लपाक अन्नमाचार्य ही एक श्रेष्ठ गीतिकार हुए हैं इन्हें तेलगू का सूरदास कहा जा सकता है। इनका रचना-काल १२०८ से १५०६ ई० है। इन्होंने १३,००० स्फुट पदों की रचना की थी। इनके गीत भी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी हैं उनमें शृंगार-परक भावना की प्रधानता है। मध्यकाल में कोई और उल्लेखनीय पद-रचनाकार तेलगू में नहीं हुआ। बेमन्न (१४१२-१४८०) कबीर की भाँति उलटबासियाँ लिखा करते थे। बम्मेर पोतन्न (१४८० ई०) अवश्य ही तेलुगू के श्रेष्ठ कवि हुए हैं। श्रीमद्भागवत को आधार बनाकर इन्होंने 'महाभागवत' की रचना की। 'महाभागवत' भक्तिपूर्ण काव्य-रसायन अवश्य है किन्तु इसमें गीत नहीं हैं, ग्रन्थ की रचना छन्दों में है, उसमें भी भागवत की भाँति ही प्रबन्धात्मकता है।

दक्षिण-भारत-साहित्य के उपर्युक्त संक्षिप्त परिशीलन से स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में जैन, सिद्ध और वैष्णव सन्तों की काव्य-परम्परा उत्तर-भारत से बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी। इसका मूल कारण सम्भवतः यह है कि दक्षिण-भारत अपेक्षाकृत शान्त वातावरण में १४वीं शताब्दी तक रहा। सन्तों की विचारधारा सार्वभौम है, भाषा-भेद मात्र उनमें है अन्यथा काव्य-विषय और शैली प्रायः समान हैं। धर्म और विचारधारा की समानता के कारण एक प्रान्त के सन्त दूसरे प्रान्त में पहुँचा करते थे और इस प्रकार श्रेष्ठ रचनाएँ हस्तान्तरित हुआ करती थीं। प्राचीनतम श्रेष्ठ रचनाएँ तमिल के जैनों और वैष्णवों की है जिनका काल दूसरी से नवीं शताब्दी है। जैन राष्ट्रकूट राजाओं के जैन और वैष्णव कवि दसवीं शताब्दी में हुए जिनकी रचनाएँ अपभ्रंश में हैं। स्फुट गीतों की शैली भी तमिल और अपभ्रंश में समान है। प्रतीत होता है राष्ट्रकूट में दक्षिण और उत्तर की काव्य-शैलियों का संगम हुआ था। आगे चलकर दक्षिण के जैन-परिव्राजक उत्तर को आये इसी प्रकार वैष्णव महात्मा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि भी दक्षिण से उत्तर को आये। सम्प्रदाय-प्रचारक के रूप में दार्शनिकों के साथ भजनानन्दी सन्त भी दक्षिण से उत्तर को आये होंगे। इस प्रकार इनके साथ दक्षिण-भारत की सगुण गीत-परम्परा भी उत्तर भारत में आयी।

उत्तर भारत में गीत-परम्परा—उत्तर भारत के साहित्य में गीतों की परम्परा उतनी प्राचीन नहीं है जितनी कि दक्षिण में। कारण यह है कि भारत से बौद्ध धर्म के लोप होने पर पुनः संस्कृत को साहित्य-भाषा का गौरव प्राप्त हो गया। अपभ्रंश-लोक-भाषाएँ बनीं अवश्य किन्तु उन्हें उत्तर भारत के साहित्य में स्थान न मिला।

लोक-भाषाओं के लोक-गीत मौखिक-परम्परा में ही चलते रहे होंगे। संस्कृत में गीति-काव्य-परम्परा के अभाव की स्थिति पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। दक्षिण भारत की द्रविड़ परिवार की भाषाओं का संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश से सम्बन्ध न था, वे तो स्वतंत्र रूप में विकसित हुई थीं, अतएव उनमें गीति-काव्य की अपनी परम्परा थी। उत्तर भारत की आधुनिक आर्यभाषाएँ बंगाली, गुजराती और हिन्दी आदि का आविर्भाव काल ग्यारहवीं शताब्दी है। प्रत्येक भाषा लोकभाषा से ही साहित्यिक बनी है। इसीलिए लोक-गीतों में प्राप्त शाश्वत गीत-परम्परा प्रत्येक भाषा के आरम्भिक साहित्य में किसी-न-किसी रूप में मिल जाती है। इसी काल में वज्रयानी सिद्ध और नाथपंथीय साधु भी सारे उत्तर भारत में व्याप्त हो रहे थे जिनके मत-प्रचार का साधन लोक-भाषा की गीत पद्धति थी। इनका प्रधान क्षेत्र बंगाल और बिहार में था। बंगाल में सिद्धों के गीतों की परम्परा बहुत पुरानी है। 'मयनामतीरगान', 'गोरख विजय', 'माणिकचाँदेरगान' तथा 'भरथरी और गोपीचन्द' के गीत इन्हीं गीतों की कोटि में रखे जाते हैं। 'श्यामराय' आँधाबधू' और 'घोपारपाठ' आदि कुछ पल्ली गीतिकाएँ लोक-गीतों की शैली में भी वहाँ मिलती हैं। शैव धर्म के प्रचार के साथ शिव के गीत भी चल निकले थे और साधारण काम-काज के साथ भी गाये जाते थे। 'धान मानते शिवेर गीत' वहाँ एक प्रवाद हो चला था। मनसामंगल और चंडीमंगल नाम से अनेक लोक-कवियों के प्राचीन गीत प्रकाशित भी मिलते हैं। इस प्रकार बंगाल में गीतों की मौखिक परम्परा तो प्राचीन मिल जाती है किन्तु लिखित साहित्य की कोई प्रामाणिक प्रति १४वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिलती। जयदेव ने अपने गीतिगोविन्द की रचना बारहवीं शताब्दी में की थी। गीत-गोविन्द से प्रेरणा प्राप्त करके बंगाल में भी गीति-परम्परा निकली किन्तु तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में बंगाल में जो राजनीतिक हलचल और अशान्ति हुई उससे बंगाल का साहित्य-स्रोत शुष्कप्राय हो गया। चौदहवीं सदी के अन्त में विद्यापति ने मिथिला के लोक-गीतों को आधार बनाकर गीतगोविन्द के अनुकरण पर गीतों की रचना की। विद्यापति के गीतों की लोकप्रियता बंगाल में इतनी बढ़ी कि बंगाल में गीतों की एक विशिष्ट परम्परा बन गयी। चण्डीदास ने इसको और पुष्ट किया और आज तक वह चलती जा रही है।

विद्यापति—विद्यापति जी प्रतिभा-सम्पन्न कवि और शैलीकार थे। उन्होंने 'देसिलवअना सब जन मिट्ठा', मानकर जिस प्रकार मैथिली बोली को काव्य की भाषा बनाई उसी प्रकार लोक में प्रचलित धुनों को आधार बनाकर गीतगोविन्द की कोमल-कान्त पदावली के वजन पर गीतों की रचना की।[1] विद्यापति के गीतों में शास्त्रीय संगीत की स्वर-योजना की प्रधानता नहीं है, उन्होंने तो लोक-धुनों मात्रा को परिष्कृत रूप दिया था। कुशल संगीतज्ञ भले ही विद्यापति के गीतों में राग-रागिनी का अनुसंधान

१. ललित लवंगलतापरिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्भित कोकिल कूजित कुंजकुटीरे ॥—जयदेव
सरस वसन्त समय भल पाओल दछिन पवन वहुं धीरे।
सपनहुँ रूप वचन एक भाखिए मुख सों दूरि करु चीरे ॥—विद्यापति

कर ले और उन्हें गाले तथापि उनके गीत संगीतशास्त्र के राग-बन्धन से मुक्त हैं इसी लिए गीतगोविन्द का अनुसरण करते हुए भी विद्यापति जी ने अपने गीतों के ऊपर किसी राग या ताल का वैसा उल्लेख नहीं किया जैसा कि गीतगोविन्द में प्राप्त है। विद्यापति की पद-रचना में जयदेव के प्रबन्ध-गीतों की जटिलताएँ नहीं हैं, उनका सरली-कृत रूप है। तात्पर्य यह कि विद्यापति जी ने अपने गीतों की रचना मौलिक रूप से की। लोक-गीत की धुनों में जयदेव की कोमलकान्त पदावली का माधुर्य भरने का सफल प्रयास किया। उन्होंने अनेक गीतों को शुद्ध लोक-गीत ही रहने दिया। विरह और बारहमासा के गीत इसके उदाहरण हैं।[1] विद्यापति के उपरान्त चण्डीदास आदि जितने प्रमुख गीत लेखक सोलहवीं शताब्दी से पूर्व बंगाल बिहार में मिलते हैं शिल्प की दृष्टि से उनमें कोई परिवर्तन नहीं मिलता। प्रायः प्रत्येक ने विद्यापति प्रणीत-गीत परम्परा का अनुसरण किया है। केवल गोविन्ददास की गोविन्द गीतावली में अवश्य ही राग-रागनियों का उल्लेख प्रत्येक गीत में मिल जाता है। प्रतीत होता है राग-रागिनियों के विकास के कारण उन्होंने अपने पदों को रागों की शास्त्रीय पद्धति में ढाल लिया था।

हिन्दी के निर्गुण सन्तों की गीत-रचना—

नामदेव—उत्तर-भारत की सन्तपरम्परा में श्री परशुराम चतुर्वेदी जी ने कबीर-दास से पूर्व संत जयदेव संत साधना, संत वेणी, संत त्रिलोचन, संत नामदेव, स्वामी रामानन्द और संत सेन नाई का परिचय दिया है। इनमें से नामदेव को छोड़कर कोई भी गीति-परम्परा के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। संत जयदेव और गीत-गोविन्द-कार जयदेव की भिन्नता असंदिग्ध नहीं है। अन्य सन्तों के पदों की संख्या एक-दो ही मिलती हैं। नामदेव जी के पदों की संख्या पर्याप्त है। नामदेव के गीतों का प्रभाव एक ओर तो कबीर पर पड़ा और दूसरी ओर गुजरात में भी उनके गीतों ने एक परम्परा बनाई। नामदेव के पदों की रचना लगभग वैसी है जैसी कि कबीर के अनेक पदों में मिलती है।

---

१. मोरा रे अंगनमा चनन केरि गछिया
(i) ताहि चढ़ि कुररय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देव तोयँ बायस
जओं पिया आओत आज रे॥

—वि० पदावली, पद संख्या २२२

(ii) माघ मास सिरि पंचमी गँजाइलि
नवम मास पंचम हरु आई।
अतिघन पीड़ा दुख बड़ पाओल
वनसपति भेलि धाई हे॥

—वि० पदावली, पद १७४

कबीरदास—सन्तों के गिने-चुने गीत इस बात के प्रमाण हैं कि कबीर से पहले संतों में गीत लिखने का प्रचलन हो चुका था। इन सन्तों के गीतों की पद्धति गोरख-पंथी साधुओं के गीतों की पद्धति थी। कबीरदास जी निश्चय ही इन सन्त गीत-कारों में प्रमुख हुए। कबीरदास जी ने सिद्ध और जैन परम्पराओं में प्राप्त पूर्व गीत-रचना से लाभ उठाया और उसमें स्थिरता दी, कबीर ने अपना रमैनी स्वयंभू के रामायण की पद्धति में गायी। स्वयंभू के रामायण में १६ मात्राओं की चौपाइयों के कई चरण मिलते हैं, चार चरण की ही चौपाई हो ऐसा नियम उसमें नहीं है। दो चरणों को ही स्वतन्त्र पूर्ण चरण मान लिया गया है। वहाँ दो चरणों वाली कई चौपाइयों के बाद एक पद मिलता है। कबीर ने अपनी रमैनी में चौपाई तो ज्यों की त्यों ले ली, घत्ता को बदलकर साखी नाम दे दिया, साखी दोहे का ही नया नामकरण है। वैसे भी रमैनी की व्युत्पत्ति भी रामायण से ही जान पड़ती है।

रमैनी के अतिरिक्त कबीर ने सबद और साखियाँ भी लिखी हैं। सबदी गुरु गोरखनाथ की उद्भावना थी, गोरखनाथ ने पद भी लिखे थे। कबीर ने गोरख के पदों की शैली पर नये पद रच डाले और उनको सबद नाम से पुकारा अवश्य है किन्तु पद-रचना में कबीर ने विकास किया है। गोरखनाथ के पदों में टेक दोहरी पंक्तियों की है और दोनों पंक्तियों में तथा पद के अन्य चरणों में कोई अंतर नहीं है। तुक केवल दो चरणों के ही मिलते हैं। अन्य चरणों के तुकों और टेक की तुक में मात्रा सम्बन्धी तालैक्य भी नहीं है। कबीर के पदों में टेक दोहरी नहीं है, एकहरी है। टेक और स्थायी की पंक्तियों का तुक और तालैक्य तो एक है किन्तु टेक की पंक्ति छोटी है। कबीर के पदों में चरणान्त के तुक मात्रा और स्वर की दृष्टि से टेक के तुक से तालैक्य रखते हैं। उदाहरण आवश्यक है—

गोरख—**अवधू जाप जपौ जपमाली चीह्नौं जाप जप्यां फल होई।**
अगम जाप जबीला गोरख चीन्हत विरला कोई।। टेक
कँवल बदन काया करि कंचन चेतनि करौ जपमाली।
अनेक जनमनांपातिग छूटै, जपंत गोरख चवाली।

× × ×

चौ अखिरी चतुरवेद थापिला चारि षाणीं चारि वाणीं।
मछिन्द्र प्रसादै जतीगोरख बोल्या, अजपा जपिला धीर रहाणीं।[1]

वारहमासा—

मोर पिया सखि गेल दुर देस।
जौवन दए गेल साल सनेस।।
मास असाढ़ उनत नव मेघ
पिया विसलेख रहओं निरथेध।।
कौन पुरुष सखि कौन से देस।
करब मोयँ तहाँ जोगिनी भेस।।

—वि० पदावली, पद संख्या २०८

१. गोरखबानी, पद संख्या १३, पृ १०१।

कबीर—संतो आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहुँ गया न आया ।।
क्या मकसूद मच्छ कछ होना, संखासुर न संघारा ।
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कवन को मारा ।।
× × ×
दस अवतार ईसरी माया करता कै जिन पूजा ।
कहंहि कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ।।[1]

स्पष्ट है कबीर के पदों में गोरख के पदों की अपेक्षा संगीतात्मकता का अंश अधिक है । पद के प्रत्येक चरण की स्वर-योजना नियन्त्रित है, गोरख के पदों की भाँति व्यतिक्रमित नहीं है । फिर भी गोरख का प्रभाव स्पष्ट है । गोरख के पदों का अवधू संबोधन कबीर के अनेक पदों में 'संतो', 'अवधू', 'पंडित', 'भाईरे', के रूप में मिलता है । रागों का कोई उल्लेख कबीर के पदों में भी नहीं है । पदों की रूप-रचना और स्वर-योजना शास्त्रीय नहीं है ।

लोक-गीतों में गीति-परम्परा

लोक-गीत मानव अभिव्यक्ति के सहज श्वास-प्रवास हैं । रुदन और गान के रूप में जब से लोक का सृजन हुआ, गीत प्राप्त होते आ रहे हैं । माँ पुत्र-वियोग में रो पड़ती है, कन्या ससुराल जाते समय अश्रुमाला पहिनती है, पति-पत्नी वियुक्त होकर विलाप करते हैं । आनन्द की विह्वलता में भी अभिव्यक्ति नादात्मक होती है । गीत जीवन का सहचर है । नाना प्रकार के प्रपञ्चों और विडम्बनाओं के बोझ गीत की एक ही तान से हल्के हो जाते हैं । अनजान बच्चे निरर्थक गुनगुन से अपना मनबहलाव करते हैं, स्त्रियाँ चक्की पीसते समय या धान कूटते समय गाती हैं, श्रमजीवी नर-नारी गीतों के सहारे अपनी थकान भुलाते हैं, संसार के भार से विरक्त जन प्रभु के समक्ष अपना आत्मनिवेदन प्रस्तुत करते और लोकोत्तर आनन्द-लाभ करते हैं । साहित्य को प्रेरणा और स्वरूप देने में इन गीतों का योगदान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है किन्तु इनका अस्तित्व केवल मौखिक परम्परा में रहा है अतएव इनके आदि रूप का पता लगाना असम्भव ही है ।

लोक-गीतों का साहित्य में उल्लेख—साहित्य लोक-प्रवृत्तियों के संस्कृत, परिष्कृत एवं परिमार्जित प्रतिबिम्ब का ही संचित रूप है अतएव लोक-गीत जो सहज एवं अपरिमार्जित वृत्ति का प्रकाश करते हैं उसमें प्राप्त नहीं होते, फिर भी साहित्य में सर्वदा ही लोक-गीतों के अस्तित्व का उल्लेख पाया जाता रहा है । वेदों में पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत तथा विवाहादि के अवसर पर लोक-गीतों के गाये जाने की चर्चा मिलती है । इन गीतों के लिए वेद में 'गाथा'[2] शब्द का प्रयोग होता था, ये गाथाएँ ऋचाओं से भिन्न थीं किन्तु थीं लय-युक्त । मैत्रायणी संहिता और आश्वलायन के गृह्य सूत्र

---

१. बीजक शब्द (८), पृ० १०६ ।
२. **'कण्वा इन्द्रस्य गाथया'**।—ऋग्वेद, ८।३२।१

में सीमन्तोन्नयन के अवसर पर वीणा पर गीतों के गाये जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।[1]

महाभारत में विवाह और राजसूय यज्ञ के अवसर पर गाथाओं के गाये जाने का कथन मिलता है। रामायण में राम-जन्म और राम-विवाह के अवसर पर गंधर्वों द्वारा गीतों के गाये जाने का विवरण महर्षि बाल्मीकि ने दिया है।[2] अनेक प्रसंगों में यह संकेत मिलता है कि संगीत और नाटकों पर गंधर्वों का एकाधिकार था। हर्ष के अवसरों पर वे गीत, नाच, नृत्य और नाटच किया करते थे। महाभारत में रामायण-नाटक और कौवेर रम्भाभिसार नाटक का उल्लेख हुआ है। ये नाटक गीति नाटक मात्र होते थे। इनमें घन, सुषिर, मुरज और तंत्रीवाद्य के मध्य गीतों द्वारा अभिनय प्रस्तुत किया जाता था। आरम्भ में तो गन्धर्व जाति द्वारा ही गीतों के गाये जाने और अभिनय करने की चर्चा मिलती है। बाद में डोम, भाण और नटों का परिचय मिलता है जो गीत, नृत्य और नाटक किया करते थे। पालि साहित्य में लोक-गीतों के गाये जाने का पर्याप्त विवरण खुद्दक निकाय के सुत्त निपात में मिलता है। उल्लेख मिलते हैं कि मांगलिक कृत्यों, व्रतों, उत्सवों तथा मनोरंजनों के सम्बन्ध में स्त्री और पुरुष लोक-गीत तथा लोक-नृत्य में सम्मिलित होते थे। गाथा सप्तशती से ज्ञात होता है कि उस काल में लोक-गीतों के गाने तथा बजाने की प्रथा उन्नति पर थी। अनेक सुमधुर गाथाओं का वर्णन उसमें मिलता है। श्रीमद्भागवत में भगवान श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव पर स्त्रियों द्वारा लोक-गीत गाये जाने का उल्लेख है। भागवत के गोपी-गीत जैसे कई गीतों की चर्चा पीछे की जा चुकी है, उन गीतों को लोक-गीतों का परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में अनेक बार लोक-गीतों के गाये जाने का उल्लेख मिलता है। संस्कृत की प्रसिद्ध कवयित्री विज्जका ने धान कूटनेवाली स्त्रियों के द्वारा गाये जाने वाले गीत का वर्णन किया है। धान कूटने के समय मूसल ऊपर तथा नीचे बार-बार ले जाने से चूड़ियों में खनक होती है और मूसल की जो धम-धम की आवाज़ होती है उसके साथ मिलकर उनका गीत बड़ा ही सुहावना हो जाता है।[3] नैषध चरित में भी स्त्रियों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों का रोचक वर्णन मिलता है।

---

१. सम्मेलन-पत्रिका लोक संस्कृति अंक, पृ० १४०।

२. राम-जन्म के अवसर पर—

जगुः कलगंन्धर्वा ननृतुश्चसुरोगणाः
देव दुन्दुभियो नंदुः पुष्प वृष्टिश्चरवात्पतन् ॥

—बालकाण्ड, अष्टादश सर्ग, श्लोक १७

विवाह के अवसर पर—

पुष्पं वृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात्सुभास्वरी ।
दिव्य दुन्दुभिनिर्घोषैर्गीति वादिन्ननिःस्वनैः ॥

—बालकाण्ड त्रिसप्ततितयः सर्गः श्लोक

३. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, पृ० १४१।

लोक-गीतों का साहित्य (गीति-काव्य) और संगीत के प्रति योगदान

लोक-गीत और साहित्य—लोक-गीतों के परिशीलन से पता चलता है कि इनको तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१. बच्चों के गीत—जैसे टेसू के गीत, साँझी, खेल आदि।

२. स्त्रियों के गीत—जैसे

संस्कार गीत, सोहर, विवाह, ज्योनार आदि—

ऋतु सम्बन्धी गीत—कजली, सावन, होली, बारहमासा।

व्रत सम्बन्धी गीत—तीज, शीतला, गोवर्धन आदि।

३. पुरुषों के गीत—अहीरों के गीत, चमारों के गीत, कहारों के गीत, सन्तों के गीत आदि।

बच्चों के गीत प्रायः निरर्थक होते हैं। अनुप्रासिक वर्णों की जोड़जाड़ होती है। प्रायः शिशु निरर्थक वर्णों के योग से अपने गीत बनाते और गाते भी पाये जाते हैं किन्तु जो टेसू, साँझी आदि के गीत पाये जाते हैं वे बच्चों की रचनाएँ नहीं जान पड़ते सम्भवतः बड़ों ने बच्चों के अनुरूप गीत बना दिये। प्रत्येक बोली में ये गीत मिलते हैं।[1]

बच्चों के गीत केवल बाल-मनोरंजन से सम्बन्धित हैं अतः इनका साहित्य एवं संगीत से सम्बन्ध नहीं हैं।

स्त्रियों के गीतों में सारगर्भिता बहुत है। स्त्रियों के गीतों को हम दो वर्गों में विभाजित करते हैं, १—वे गीत जो गाये ही समवेत रूप से जाते हैं और रचे भी अवसर विशेष पर गाये जाने के लिए हैं। ये हैं संस्कार-गीत तथा ऋतु और व्रत सम्बन्धी गीत।

---

१. व्रज—**अटकन बटकन**
दही चटक्कन
बाबा लाए सात कटोरी
एक कटोरी फूटी
मामा की बहू रूठी
काए बात पर रूठी
दूध दही पै रूठी
दूध दही तौ बहुतेरौ
बाकौ म्होंखाय वोकूँ तेहौ
चींटी लागं कें चींल॥

अवधी—**उक्का बुक्का**
तीन तिलुक्का
लौआ लाटी
चन्नन चाटी
चनना में का का
दूली क दूला॥

२—वे गीत जिनमें व्यक्तिगत अनुभूतियों का प्रकाशन प्राप्त होता है और जिनको इनकी निजी परिस्थितियों ने सहज उद्भूत किया है जैसे—बारहमासा तथा अन्य विरह गीत। सभी भाषाओं में ये सबसे अधिक मर्म-स्पर्शी होते हैं। वर्षाऋतु में हिन्दू-नारी परदेशी प्रियतम के दुख में दुखी होती हैं। भोजपुरी लोक-गीतों में कजली[1] पूरवी और विदेसिया[2] विरहानुभूति को लेकर ही गाये जाते हैं। इन्हीं गीतों में प्रायः कौए, मोर, चातक और बादल आदि के द्वारा संदेश भेजे जाने का कथानक होता है। बारहमास तो लोक-गीतों का अति प्रसिद्ध गीत है इसमें विरहिणी की वर्ष भर की करुण-कहानी गायी जाती है।

स्त्री-गीतों के उपर्युक्त प्रथम वर्ग के गीत आज तक अपने पूर्व अनगढ़ और अपरिष्कृत रूप में ही चले जा रहे हैं। इन गीतों में साधारण मनोरंजन होता है अथवा अवसर विशेष के लिये ही ये उपयुक्त होते हैं। इनमें काव्य-सामग्री का प्रायः अभाव होता है इसीलिए इनको साहित्य में अवसर न मिल सका किन्तु द्वितीय वर्ग वाले व्यक्तिगत अनुभूतियों के मार्मिक चित्र वाले विरह-गीत कवि हृदयों के प्रेरक बन गये और जब ये रससिद्ध कवीश्वरों और भाषा-मर्मज्ञों के हाथ में पड़े तो साहित्य में एक अभूतपूर्व निर्माण हुआ जिसे कहा गया—गीति-काव्य। लोक-गीतों के पवनदूत, बादलदूत या शुकदूत आदि परिमार्जित होकर साहित्य के मेघदूत, पवनदूत आदि दूत-काव्य या व्यक्तिगत अनुभूतियों से अनुप्राणित स्फुट गीत बन गये।

---

१. सावन लागें छोटी ननदी, बीरन न आयें तोहार
कारी रात पिया बिन साँपिन, बिजली नागिन ना
घनघन गरजै (हो) बदरवा, छतिया उठै दरकाइ। सावन लागें—
नदिया बाढ़े पोखर पोखे, जो सर टूटे हो करार
ननदी नाहीं आयें तोर बिरना, दुबरा रोकै हो सेवार। सावन लागे—

२. बाट बटोहिया रे तुहूं मोर भइया रे
हमरा सनेस लेले जइहे बिदेसिया।
हमरा सनेसवा रे प्रभु समुझइत हो,
तोरी धनि अलप वयस रे विदेसिया॥
तोहरा बलमुआ के चीन्ह नहीं जनिहौ रे,
कइसे कहब समुझाइ हे विदेसिया।
हमरा बलमुआ के टेढ़ी मेढ़ी पगिया रे
जुलुफि मझोली टेढ़ी बाल रे विदेसिया॥
चिठिया जे लेहलेंन मनहिं मुसुकालें हो
बाँचै लागें बरहो वियोग रे विदेसिया।
हमरा सनेसवा रे धनि समुझइहे हो
चरखा कातहि कुल राखहि विदेसिया॥
बाट बटोहिया रे तुहूँ मोर भइया रे
हमरा सनेस लिहें जाउ रे विदेसिया॥

पुरुष-लोक-गीतों का अधिकांश साधारण मनोरंजन सम्बन्धी होता है। प्रसन्नता के अवसरों पर प्रायः निम्न वर्ग के लोग—धोबी, चमार, कहार आदि असभ्य और अश्लील गीत गाते और नृत्य करते हैं। यह अंश परिष्कृत रुचि के लिए ग्राह्य नहीं है। इसीलिए मौखिक-परम्परा में ही इनका अस्तित्व चलता जा रहा है।

पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीतों में कुछ आध्यात्मिक गीत भी हैं। आध्यात्मिक भावना के भारत की परम्परागत सम्पत्ति होने के कारण यहाँ के लोक-गीतों में भी भजन और स्तुतियों को स्थान मिलता रहा है। जैन और बौद्धमतों के प्रचार से शूद्र जाति में चेतना आई। उनमें से अनेक साधु-सन्त बनकर ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रचार करने लगे। प्रायः इन सन्तों में वे ही लोग थे जो पहले भी लोक-गीत गाया करते थे। उनकी सहज प्रतिभा उनके प्रचार का वाहन बन गयी वे अपना प्रचार गीतों के द्वारा करने लगे। इस प्रकार सन्तों के गीतों की मूल सम्पत्ति भी लोक-गीतों से ही प्राप्त हुई है।

सारांश यह कि गीति-काव्य जिसमें लौकिक अथवा आध्यात्मिक विरह की मर्मानुभूति गेय पदों में हुई है लोक-गीतों की ही देन है, स्त्रियों के विरह-गीत और पुरुषों के भजन परिमार्जित और परिवर्द्धित होकर कला-गीत का रूप ले बैठे और इन्होंने साहित्य के अंग को अतीव समृद्ध बना दिया।

लोक-गीत और संगीत—कला-गीत का मूल लोक-गीत है। लोक-गीत नैसर्गिक हैं, इसमें धुन होती है। लोक धुनें गीतकार की मनस्थिति विशेष और भाव विशेष के अनुसार स्वतः बन जाती हैं इसमें विस्तार नहीं होता, केवल दो एक स्वर उसमें होते हैं। उसमें साज-शृंगार नहीं होता। उसकी स्वर-परिधि छोटी होती है किन्तु उसके अन्तर्गत भावना की अनुभूति बड़ी तीव्र होती है इसलिए लोक-गीत की धुनें चित्त को तुरन्त खींचने की अद्भुत क्षमता रखती हैं। इतना होने पर भी बात ऐसी नहीं कि उनमें स्वर न हों या कोई राग का बीज न हो। राग होती है किन्तु लोक धुनों में छिपी रहती है। जब कोई गायक इन्हीं छिपे हुए रागों के स्वरों को खोज निकालता है, उनका प्रकाशन और विकास करता है तो स्वर और राग दृष्टिगोचर हो जाते हैं और तभी लोक-गीत कला-गीत बन जाता है। इस प्रकार शास्त्रीय राग बनाये नहीं गये लोक-धुनों से स्वतः बन गये हैं। प्रतिभावान गायक न केवल लोक-गीत के छिपे हुए राग को प्रकाश में लाता है वरन् वह तो गीत के भाव-विशेष को अपने स्वरों के विस्तार से साकार करने की चेष्टा करता है। इस प्रक्रिया के स्वरों के चढ़ाव-उतार में विचित्र स्वर निकलते आते हैं, विस्तार बढ़ता जाता है। गायक जितना ही बड़ा कलाकार होगा, उतना ही स्वरों का प्रयोग अधिक और शब्दों का कम करेगा। इस प्रकार लोक-गीत की सरलता अपने आप समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर शास्त्रीय विधि-विधानों का घटाटोप चढ़ता जाता है। लोक-गीतों के शब्दों की भावुकता और तदनुरूप लय की नींव को दबाकर उस पर संगीत की बंदिश और स्वर-विस्तार का रंगमहल सजाया जाता है। शास्त्रीय संगीत की स्वरूप-रचना हो जाने पर भी उसका काम अपने मूल-स्वरूप के बिना नहीं चलता। लोक-गीत की

लोक-भाषा ही उसका एक मात्र सम्बल बनी रहती है। गीत की पंक्तियाँ परिमार्जित साहित्य-भाषा में नहीं बन पातीं, उसके स्वरों को संस्कृत शब्दावली में यथेष्ट प्रसार नहीं मिलता। इसीलिए सारे कला-गीतों की भाषा लोक-भाषा का अवलम्ब लेती है, संगीत का आग्रह कहीं 'चन्द्र' की आवश्यकता समझता है तो कहीं 'चाँद, चन्दा, चन्द, चन्द्रमा या चँदरमा' को। यही कारण है कि संस्कृत या खड़ी बोली जो केवल साहित्यिक-भाषा बनकर प्रतिष्ठित हुई संगीतप्रधान कला-गीतों के लिए उपयुक्त न हो सकीं। भारत की आधुनिक भाषाओं—मराठी, गुजराती, बंगाली आदि में से हिन्दी जिसकी बोलियाँ सबसे अधिक हैं अर्थात् जिसके शब्दों के रूप—उनके प्रत्यय आदि का विस्तार अधिकाधिक हो सकता है–संगीत के लिए सबसे अधिक लोक-प्रिय सिद्ध हुई है। यही कारण है कि तानसेन से लेकर विष्णु दिगम्बर, भारत खंडे, कुमार गंधर्व, गुलाम अलीखाँ, फय्याज़ खाँ, ओंकारनाथ ठाकुर जैसे सभी संगीतज्ञ ब्रज, अवधी, बुंदेली, बिहारी और राजस्थानी मिश्रित-हिन्दी में ही परम्परागत ध्रुपद, खयाल, धमार आदि गाते चले आ रहे हैं।

लोक-गीतों के नाम प्रायः प्रदेश विशेष के नाम पर होते हैं जैसे पूर्वी, मिर्जापुरी, पंजाबी, गुजराती, नैपाली, मारवाड़ी, बंगाली, मुलतानी, कश्मीरी आदि। भारतीय संगीत-शास्त्र के अनेक रागों के नाम इस बात के द्योतक हैं वे कि भिन्न-भिन्न लोक-गीतों के विकसित रूप हैं जैसे—पूर्वी, माड़, मेवाड़ा, पहाड़ी, भोपाली, जौनपुरी, बैग-भैरव आदि।

तेरहवीं शताब्दी से पूर्व संगीत-शास्त्र का कोई प्रमाणिक ग्रंथ नहीं मिलता किन्तु इस काल तक संगीत की समुचित उन्नति अवश्य हो चुकी थी क्योंकि शार्ङ्गदेव-रचित संगीत-रत्नाकर की रचना इसी शताब्दी में हुई। संगीत-रत्नाकार में राग-रागिनियों का वह विधान नहीं प्राप्त होता जो सूर के सूरसागर में मिलता है। १५वीं शताब्दी में उपलब्ध लोचन की राग-तरंगिणी में अवश्य ही १२ जनक और ७५ जन्य रागों का विवेचन मिलता है। इस ग्रंथ में रागों के गाये जाने का समय भी प्रायः वही बताया गया है जो सूरदास के समय में प्रचलित था और जिसका पालन सूरदास जी ने अपने गीतों में किया है। इतना होने पर भी राग-तरंगिणी या इस काल के अन्य किसी भी संगीत शास्त्र ग्रंथ में उतने रागों का उल्लेख नहीं मिलता जितने राग सूर के सूरसागर में उपलब्ध होते हैं। इस तथ्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सूर-काल ही वह काल था जब लोक-धुनों का शास्त्रीयकरण सबसे अधिक हुआ। सूरदास जी के आविर्भाव-काल में ब्रज-प्रान्त कृष्ण-भक्ति स्रोतस्विनियाँ भी सागर बन रहा था, निम्बार्कीय गौड़ीय राधास्वामी, हरिदासीय और पुष्टिमार्गीय भक्तों की भिन्न-भिन्न धाराएँ थीं। सभी प्रकार के भक्तों की अभिव्यक्ति का मूल साधन गीत ही बना हुआ था। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय क्षेत्रों के अखण्ड संकीर्तनों के प्रतिभाशाली गायकों के द्वारा निरन्तर गाये जाने का परिणाम यह हुआ कि अत्यल्प काल में ही साधारण लोक-धुनें शास्त्रीय रागों में परिवर्तित हो गयीं और राग-रागनियों की चरम परिणति सम्पन्न हो गयी। लोक-श्रुति के आधार पर स्वामी हरिदास उस काल के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ माने जाते हैं।

तानसेन जैसे दरबारी कवि का उनका शिष्यत्व ग्रहण करना इस तथ्य का प्रमाण है। कदाचित् उन्हीं के प्रभाव से अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के गीतों में शास्त्रीय छाप लगी। सूरदास जी भी प्रतिभा-सम्पन्न सफल गायक थे अतएव उनकी पद-रचना पर संगीत की शास्त्रीयता का प्रभाव पड़ गया। जैसा पीछे लिखा जा चुका है सूरदास जी ने ब्रज में प्रचलित अनेक लोक-गीतों—सोहर, जन्म-बधाई, ज्योनार, रसिया, होली और मलार आदि को शास्त्रीय स्वरूप देने का सफल प्रयास किया। सूरदास जी का यह उदाहरण इस तथ्य को प्रतिपादित करने के लिए पर्याप्त है कि लोक-गीतों ने ही शास्त्रीय रागों की आवतारणा की।

निष्कर्ष—सूरदासजी के आविर्भाव काल में सन्तों के गीत भजनानन्दियों में प्रचलित हो चुके थे। सूरदास जी भी ठीक उसी प्रकार के गीत गाया करते थे। सूर के विनय के पदों में सन्तों की गीत-शैली से बड़ा साम्य मिलता है। यह साम्य यहाँ तक बढ़ा है कि कुछ पद तो सूरदास और कबीर में इतने मिलते हैं कि पाठान्तर मात्र ही प्रतीत होता है।[1] सूर के पदों का ढाँचा प्रायः वही है जो संतों के पदों का है। भेद यह है कि सूरदास जी ने उस अस्थिपंजर में प्राण-प्रतिष्ठा की है उसका मनोहारी स्वरूप विधान किया है। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने पर उनकी विचारधारा में रसावतार श्रीकृष्ण की रस-लीलाओं का आविर्भाव हुआ। रसावेग के सहज स्फुरण से उनके गीतों की रागात्मकता स्वतः समृद्ध हो गयी। संतों की असाहित्यिक कर्णकटु और नीरस शब्दावली के स्थान पर सुसंस्कृत और सुमधुर भाषा-शैली स्वतः स्वर-विधान की रूपरेखा के लिए उपयुक्त बन गयी। सूरदास जी शास्त्रीय रागों का भी पूर्ण परिज्ञान रखते थे। परिणाम यह हुआ कि उनके पदों का संस्कार शास्त्रीय राग-विधान के द्वारा हो गया। भाव, लीला का अवसर तथा दिन के समय की प्रकृति की अनुरूपता को पाकर सूर के गीतों का गेयत्व पूर्णता को प्राप्त हो गया। उनके गीत चिर नवीन हो उठे।

१—अपनो करम न मेटौ जाई।
करमक लिखत मिटै धौं कैसे जो जुगकोटि रिसाई॥
गुरु वशिष्ट मिलि लगन सुधायो सुरज मंत्र इक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ बिआही, दल एक संचु न कीन्हा॥
× × ×
कहँहि कबिर करता की बातें, करमकि बात निनारी॥
—बीजक शब्द ११०, पृ० २३७

भावी काहू सों न टरै।
कहँ वह राहु कहाँ वह रवि शशि, आनि संजोग परै॥
मुनि वशिष्ठ पंडित अतिज्ञानी, रचिपचि लगन धरे।
तात मरन सियहरन राम वन, वपु धरि विपति भरै॥
× × ×
सूरदास प्रभु रची सु ह्वै है, को करि सोच मरै॥
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद २६४, पृ० ८५

सूर के गीतों का स्वरूप-निर्माण सूर की मौलिक प्रतिभा के बल पर ही हुआ है यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से उन पर पूर्व-गीत-परम्परा के कतिपय स्थलों के प्रभाव माने जा सकते हैं। जयदेव या विद्यापति के गीतों के स्वरूप सूर के गीतों के आदर्श नहीं माने जा सकते। जयदेव का प्रबन्ध गान तो सूर के गीतों से सर्वथा भिन्न ही है, विद्यापति के गीतों की शैली भी सूर के गीतों से नितान्त भिन्न है। विद्यापति के गीत मैथिली और बंगाली की लोक-धुनों पर बने हैं जब कि सूर के गीत ब्रज-लोक धुनों और संत गीतों के शास्त्रीयकरण हैं। दोनों में किसी प्रकार का साम्य नहीं स्थापित किया जा सकता।

सूरदास जी न तो कोरे गायक थे और न ऐसे प्रचारक थे जो गान के माध्यम से अपना मत प्रचार किया करते हैं। वे एक श्रेष्ठ और सधे हुए गायक थे और उनका अभिप्रेत अपने प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन करना था तथा उनकी लीलाओं के माध्यम से पुष्टिमार्गीय सामीप्य भक्ति का रसानन्द प्राप्त करना था। साथ ही उनका समाज केवल अशिक्षितों, असाहित्यिकों और लोक-गीत गवैयों का न था, वे तो रसिकवर विट्ठल नाथ की उस परिष्कृत गोष्ठी के रत्न थे जिसमें आठ प्रतिष्ठित वीणाओं की शास्त्रानुमोदित रागिनियाँ गूंजा करती थीं और जहाँ गौड़ीय, राधावल्लभीय, निम्बार्कीय और हरिदासीय पद-शैलियों का संगम भी बहुधा हुआ करता था। परिणाम यह हुआ कि सूरदास जी की सहज प्रतिभा राग-रागिनी के शास्त्रीय विधान, काव्यशास्त्रीय छन्द-रस-अलंकार योजना और लोक-धुनों की भावप्रवणता के अनायास योग से एक सर्वथा नवीन गीत शैली को जन्म दे सकी। अनुसरण करना सूर का स्वभाव न था, समन्वय की मनोवृत्ति से उनका कोई विशेष सम्बन्ध न था, स्वान्तःसुख के लिए गाने वाले गायक सूरदास जी अपनी निराली तान ही छेड़ते थे, उसी तान ने उनकी नव पद-रचना का स्वरूप-निर्माण कर दिया।

परिशिष्ट २

सहायक ग्रंथ-सूची

संस्कृत

१–उज्ज्वल नीलमणि–ले० श्री रूपगोस्वामी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०

२–कालिदास ग्रंथावली–सं० सीताराम चतुर्वेदी, अ० भा० वि० परिषद्, काशी

३–काव्यादर्श–आ० दण्डी, बी० ओ० आइ० आर० पूना, १९३८ ई०

४–काव्य प्रकाश–ले० आ० मम्मट, व्याख्याकार डा० सत्यव्रतसिंह, चौखंबा, वि० भ० बनारस, १९५५ ई०

५–काव्य मीमांसा–ले० आ० राजशेखर, अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार रा० भा० परिषद्, पटना, १९५४ ई०

६–काव्यालंकार–ले० आ० भामह, चौखंबा सं० सिरीज, काशी, १९२८ ई०

७–काव्यालंकार–ले० आ० रुद्रट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ई०

८–काव्यालंकार सूत्र–ले० आ० वामन, व्या० आचार्य विश्वेश्वर, अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९५४ ई०

९–गीता रहस्य–ले० बालगंगाधर तिलक, अनु० माधव सप्रे, 'केसरी' आफिस, पूना, १९७५ वि०

१०–गीतगोविन्द–ले० श्री जयदेव, अनु० दीन दीक्षित, बैजनाथप्रसाद काशी, १९९७ वि०

११–चन्द्रालोक–ले० आचार्य जयदेव, चौ० सं० 'सिरीज', काशी, १९५० ई०

१२–तत्वार्थ दीप निबन्ध–महाप्रभु वल्लभाचार्य, संपा० नंदकिशोर भट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९६१ वि०

१३–ध्वन्यालोक–आ० आनन्दवर्धन, व्या० आ० विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५४ ई०

१४–नाट्य शास्त्र–ले० आ० भरत मुनि, सं० एम० रामकृष्ण कवि, सेण्ट्रल लाइब्रेरी बरौदा, १९२६ ई०

१५–नारद भक्ति सूत्र–गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० वि०

१६–मृच्छकटिक–सं० वी० जी० परांजपे, पूना, १९३७ ई०

१७–रसगंगाधर–ले० पंडितराज जगन्नाथ, व्या० पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९८६ वि०

१८–वल्लभ दिग्विजय–ले० गोस्वामी यदुनाथ, अनु० पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, विद्या-विभाग, नाथद्वारा, १९७५ वि०

१९–वाल्मीकि रामायण–अनु० चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग १९५० ई०

२०–श्रीमद्भागवत–गीता प्रेस, गोरखपुर, २०१० वि०
२१–श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्–ले० श्री चतुराख्य पंडित, भालचन्द सीताराम सुकथनकर, १६३४ ई०
२२–साहित्य-दर्पण–ले० आ० विश्वनाथ, श्री श्यामसुंदर भिषग्रत्न १६७८ वि०
साहित्य-दर्पण टी० शालिग्राम शास्त्री, श्री मृत्युंजय औषधालय लखनऊ,
२३–शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, गीता प्रेस, गोरखपुर, २००६ वि०

प्राकृत

१–थेरीगाथा–अनु० श्री भरतसिंह उपाध्याय, सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली, १६५० ई०
२–धनियसुत–अनु० भिक्षु धर्म रत्न, बौद्ध विहार, सारनाथ
३–प्राकृत पैंगल्यम्–टी० चन्द्रमोहन घोष, एशियाटिक सोसायटी, बंगाल, १६०२ ई०

हिन्दी

१–अष्टछाप (गोकुलनाथ)–सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायण लाल, प्रयाग, १६२६ ई०
२–अष्टछाप-परिचय–ले० प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, २००६ वि०
३–अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग १, २)–ले० डा० दीनदयालु गुप्त, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, २००४ वि०
४–अलंकार-पीयूष (भाग १,२)–ले० डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', रामनारायण लाल प्रयाग, द्वितीय संस्करण
५–अलंकार-मंजरी–ले० कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा, १६६३ वि०
६–आधुनिक साहित्य–पं० नंददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, २००७ वि०
७–उत्तरी भारत की संत परम्परा–श्री परशुराम चतुर्वेदी, लीडर प्रेस, प्रयाग, २००७ वि०
८–उद्धवशतक–श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १६४६ ई०
९–कला–हंसकुमार तिवारी, मानसरोवर प्रकाशन, गया
१०–कला और संस्कृति–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन लि०, प्रयाग १६५३ ई०
११–कला क्या है ?–ले० टालस्टाय, रूपान्तरकार इन्दुकान्त शुक्ल, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस, १६५५ ई०
१२–कबीर ग्रंथावली–सं० श्यामसुन्दरदास, ना० प्र० सभा, काशी, २००८ वि०
१३–कविता-कौमुदी भाग २–सं० रामनरेश त्रिपाठी, हिन्दी मंदिर, प्रयाग, १६८३ वि०
१४–कविप्रिया–आ० केशवदास, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १६३४ ई०
१५–कविवर बिहारी–श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर', ग्रंथकार शिवाला, बनारस, १६५३ ई०
१६–काव्य कल्पद्रुम भाग १, २–श्री कन्हैयालाल पोद्दार, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, ११६१ वि०

१७–काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध–ले० श्री जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २००५ वि०
१८–काव्य-कला और शास्त्र–डा० रांगेय राघव, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९५५ ई०
१९–काव्य के रूप–श्री गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९५० ई०
२०–काव्य में अभिव्यंजनावाद–श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', युगान्तर साहित्य मंदिर, भागलपुर सिटी, २००० वि०
२१–काव्य-निर्णय–प्रा० भिखारीदास, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२६ ई०
२२–काव्यालोक–पं० रामदहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर, १९५१ ई०
२३–काव्य-दर्पण– ,, ,, १९५४ ई०
२४–केशव-कौमुदी–सं० ला० भगवानदीन, रामनारायणलाल, प्रयाग, २००४ वि०
२५–गोरखबानी–पं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हि०सा० सम्मेलन, प्रयाग, १९९९ वि०
२६–घनआनंद और आनंदघन (ग्रंथावली)–श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, २००६ वि०
२७–चिन्तामणि भाग २–आ० रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मंदिर, काशी, २००२ वि०
२८–छन्द प्रभाकर–श्री जगन्नाथ भानु, विलासपुर, १९२२ ई०
२९–जीवन के तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त–श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', युगान्तर साहित्य मंदिर, भागलपुर सिटी, १९४२ ई०
३०–तुलसी ग्रंथावली भाग २–सं० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, २००३ वि०
३१–तुलसीदास–डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५४ ई०
३२–देव और उनकी कविता–डा० नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
३३–देव रत्नावली–भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग, १९४३ ई०
३४–देव सुधा–मिश्रबन्धु, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, २००२ वि०
३५–नंददास भाग १, २–सं० उमाशंकर शुक्ल, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४२ ई०
३६–नंददास ग्रंथावली–सं० ब्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा, कासी, २००६ वि०
३७–नवरस–श्री गुलाबराय, आरा नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, १९३४ ई०
३८–पद्माकर की काव्य-साधना–श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह, साहित्य सेवा-सदन, काशी, १९९१ वि०
३९–पाली साहित्य का इतिहास–ले० श्री भरतसिंह उपाध्याय, हि० सा० सम्मेलन इलाहाबाद, २००८ वि०
४०–ब्रजभाषा–डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ ई०
४१–ब्रजभाषा सूरकोश भाग १, २, ३, ४–डा० दीनदयालु गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण
४२–ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन–डा० सत्येन्द्र, साहित्य रत्न भंडार, आगरा, १९४९ ई०
४३–बिहारी रत्नाकर–श्री जगन्नाथदास रत्नाकर, ग्रंथकार शिवाला, बनारस १९५५ ई०

४४–भ्रमरगीत सार–सं० श्री रामचन्द्र शुक्ल, साहित्य सेवा सदन, काशी, १९८३ वि०
४५–भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका–ले० डा० नगेन्द्र, ओरियंटल बुकडिपो, दिल्ली, १९५५ ई०
४६–भारतखंडे संगीत शास्त्र भाग १–ले० विष्णु नारायण भारतखंडे, अनु०–श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९५१ ई०
४७–भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २–सं० ब्रजरत्नदास, ना० प्र० सभा, काशी, २०१० वि०
४८–भारतीय साधना और सूर-साहित्य–डा० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना मन्दिर, कानपुर, २००२ वि०
४९–मतिराम ग्रंथावली भाग १-२–सं० कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, १९५१ ई०
५०–मतिराम रत्नावली–सं० शंकरनाथ सुकुल–भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग, १९४३ ई०
५१–महाकवि सूरदास–पं० नंददुलारे वाजपेयी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, १९५२ ई०
५२–मारिफुन्नगमांत भाग १–ले० राजा नवाबअली, अनु० पं० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९५१ ई०
५३–मीरां-ग्रंथावली–सं० परशुराम चतुर्वेदी, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, २००६ वि०
५४–मीरांबाई वृहत् पद-संग्रह–पद्मावती शबनम, लोकसेवक प्रकाशन, बनारस, २००० वि०
५५–रसखान और घनानन्द–सं० बाबू अमीरसिंह, ना० प्र० सभा, काशी, २००८ वि०
५६–रस मीमांसा–आ० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ वि०
५७–रीति काव्य की भूमिका–डा० नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली, १९४९ ई०
५८–लोकोक्तियाँ और मुहावरे–श्री गुलाबराय, एस० चंद एंड कम्पनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण
५९–वाङ्मय-विमर्श–श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, २००६ वि०
६०–विद्यापति पदावली–श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय, द्वितीय संस्करण
६१–समीक्षा शास्त्र–श्री सीताराम चतुर्वेदी, अ० भा० विक्रम परिषद्, काशी, २०१० वि०
६२–संगीत अर्चना–डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९५० ई०
६३–संगीत-दर्पण (दामोदर पंडित)–सं० श्री र० ली० ठक्कर (गुजराती), अनु० डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९५० ई०
६४–संगीत सीकर–डा० विश्वम्भरनाथ भट्ट, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९४५ ई०
६५–संस्कृत साहित्य का इतिहास–श्री कन्हैयालाल पोद्दार, रामविलास पोद्दार स्मारक ग्रन्थमाला समिति, नवलगढ़, १९३८ ई०
६६–संस्कृत साहित्य का इतिहास–श्री बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, बनारस, १९५३ ई०

६७–साहित्य और सौंदर्य–डा० फतेहसिंह, भारती मन्दिर, खुरजा
६८–साहित्य और अध्ययन–श्री गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९५१ ई०
६९–साहित्य का मर्म–आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला
७०–साहित्यालोचन–डा० श्यामसुन्दरदास, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग १९९९ वि०
७१–सूरदास–डा० ब्रजेश्वर शर्मा, हि० प० वि० विद्यालय, प्रयाग, १९५० ई०
७२–सूरदास–आ० रामचन्द्र शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, बनारस २००६ वि०
७३–सूर-साहित्य–आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यभारत, हिन्दी सा० समिति, १९९३ वि०
७४–सूर-निर्णय–श्री द्वारकाप्रसाद पारीख व प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा २००६ वि०
७५–सूर की झाँकी–डा० सत्येन्द्र, शिवलाल अग्रवाल एं० कं० लिमिटेड, आगरा १९५६ ई०
७६–सूर और उनका साहित्य–डा० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ १९५४ ई०
७७–सूर-सौरभ भाग १, २–डा० मुशीराम शर्मा 'सौरभ', आचार्य शुक्ल साधना मन्दिर, कानपुर, २००२ वि०
७८–सूरसागर (द्वादश स्कन्धात्मक)–सं० श्री राधाकृष्णदास, खेमराज श्रीकृष्णदास श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९९१ वि०
७९–सूरसागर (संग्रहात्मक)–नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ,
८०–सूरदास का दृष्टकूट–टीका० सरदार कवि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२९ ई०
८१–साहित्य-लहरी–टीका० श्री महादेवप्रसाद, पु० भं०, लहेरियासराय, १९९६ वि०
८२–सौन्दर्य शास्त्र–डा० हरद्वारीलाल शर्मा, सा० भ० लिमि०, प्रयाग, १९५३ ई०
८३–हितचौरासी सेवक बानी–गो० हितहरिवंश, श्री वृन्दावन धाम, मथुरा, १९७१ वि०
८४–हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास–डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५ वि०
८५–हिन्दी काव्यधारा–राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, १९४५ ई०
८६–हिन्दी साहित्य का इतिहास–आ० रामचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० स०, काशी, २००९ वि०
८७–हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–डा० रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल प्रयाग, १९३८ ई०
८८–हिन्दी साहित्य–आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अतरचन्द कपूर, दिल्ली, २००९ वि०

अंग्रेजी

1–Aesthetic as Science of Expression and General Linguistic–Benedetto Croce, Tr. by Douglas Ainslis
2–Aesthetic–James K. Feibleman, Duell, Sloen and Pearce, New York, 1949
3–A History of Criticism–Saintsbury

4–Loci Critici–Saintsbury 1931

5–Philosophy of Fine Art. vol. IV Hegel 1887

6–Principles of Literary Criticism–I. A. Richards, Roulledge keyan Paul Ltd. London, 1952

7–The Problem of Style–J. Middleton Murry, Oxford University 1949

8–The Social Function of Art–Radhakamal Mukerjee, Hind Kitabs Ltd., Bombay, 1948

9–A General Introduction to Psychoanalysis, Sigmund Frend Porma Books, New York, 1953

10–Illusion and Reality–Christopher Caudwell, People's Publishing House Ltd., Bombay, 1947

11–Surdas–Dr. Janardan Misra United Press Ltd., Patna, 1935